प्रकाशक :
श्री सुन्दरलाल जैन
मोतीलाल बनारसीदास
बाँकीपुर, पटना–४।

प्रथम संस्करण १९५४
द्वितीय संस्करण १९५६

मुद्रक
श्री शान्तिलाल जैन
स्वतंत्र नव भारत प्रेस
कदमकुआँ, पटना–३.

विषय-सूची

साहित्य का प्रयोजन

आदिम काल से साहित्य की रचना होती रही है और आज भी ऐसा कोई लक्षण वर्त्तमान नही, जो यह सूचित करता हो कि साहित्य की रचना भविष्य में नही होगी। यह ठीक है कि किसी काल में साहित्य समृद्धिशाली रहा है और किसी काल में इसका ह्रास हो गया है। लेकिन बहरहाल यह साफ है कि साहित्य-रचना युगों से होती आयी है और यही बात सिद्ध करती है कि साहित्य का प्रयोजन बराबर रहा है; क्योंकि किसी प्रकार की भी मानव-क्रिया निष्प्रयोजन नही होती और वह भी युग-युग से चली आनेवाली प्रक्रिया।

इससे पहले कि साहित्य के प्रयोजन के बारे में कुछ कहा जाय, यह जानना जरूरी होता है कि साहित्य किस प्रकार की क्रिया है, इसकी रचना क्योंकर संभव होती है और इसका प्रभाव-क्षेत्र कौन-सा है।

साहित्य मानव-जीवन के भाव और अनुभूति से तैयार होता है। यहाँ साहित्य से मतलब उस विशेष प्रकार के साहित्य से है जिसका सबध हमारे भाव-जगत् से रहता है। वैसे साहित्य की एक व्यापक परिभाषा भी है, वह है मानव-जीवन की तमाम उपलब्धियों का लिखित भडार। लेकिन विशेष रूप में साहित्य उसे कहते है, जो भावों, अनुभूतियों को एक साँचे में ढालकर पाठकों या श्रोताओं को प्रभावित करता है, लीन करता है और उसके सम्मुख कलात्मक भ्रम की सृष्टि करता है। यह भ्रम कलात्मक ही होता है; क्योंकि इस भ्रम का रसानुभव करने के बाद पाठक जीवन की सुन्दरता की ओर ही बढता है।

इस परिभाषा के विस्तार में जाने पर यह ज्ञात होगा कि साहित्य में सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों, दृश्यों और मनोवृत्तियो की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दो में, साहित्य-रचना ऐसी मानव-क्रिया है, जो सामाजिक जगत् से सामग्री ग्रहण कर उसे एक विधान में इस तरह गुम्फित करती है

कि व्यक्ति उसे पढकर या देखकर मुग्ध हो जाय, उसमें तल्लीन हो जाय अर्थात् रसमग्न हो जाय। जो कृति इततना काम नही कर सकती, उसे साहित्यिक कृति नही कहेंगे; नही तो, फिर ज्ञान-सवंधी कृतियो और साहित्यिक कृतियो में भेद नही रह जायगा। समाजशास्त्र की एक किताव ज्ञान का वाहन वन सकती है, भाव का नही, जव कि एक कवि की रचना भाव का वाहन होती है, ज्ञान का नही। यह दूसरी वात है कि भाव के ग्रहण के वाद पाठक को कवि के जीवन संबंधी निष्कर्षो का वोध हो, कवि का सदेश उसे प्राप्त हो या जीवन को परखने का एक दृष्टिकोण उसे मिले। लेकिन ये सव व्यक्त भावो के वोध के वाद ही प्राप्त होते हैं। इन उपलब्धियों के सहारे पाठक का ज्ञान विकसित हो, यह भी संभव हो सकता है। लेकिन हर हालत में आरम्भ भाव-ग्रहण से ही होगा।

साहित्य की यही विशेषता उसका एक वुनियादी स्वरूप है। इससे दो वातें साफ हो गयी: साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र भाव-जगत् है और यह सामाजिक जगत् की एक वस्तु है।

यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्यों साहित्यकार पाठक या दर्शक को रसमग्न करने के लिए रचना करता है? यह प्रश्न हमें साहित्य के प्रयोजन पर ले आता है।

साहित्य विभिन्न सास्कृतिक क्रिया-कलापों का ही एक पहलू है। और, इन क्रिया-कलापों का सर्वदा उद्देश्य रहता है मानव को उच्च से उच्चतर वनाना, उसे परिष्कृत करना। साहित्य का भी यह कर्म होता है; लेकिन 'मानव को परिष्कृत करना' यह एक अस्पष्ट वाक्याश है। परिष्कार के मानदड वहुत तरह के हो सकते हैं। इसलिए यहाँ इस मानदड को स्पष्ट करना होगा, खास तौर से साहित्य-कर्म को ध्यान में रखकर।

साहित्य का स्रष्टा सवेदनशील व्यक्ति होता है, या अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा उसमें भावों और अनुभूतियों को पकडने की शक्ति ज्यादा होती है। सिर्फ अनुभूति की पकड़ काफी नही, खुद वह अनुभूति और भाव-धारा से उत्तेजित होता है, झंकृत होता है। तभी उस साहित्यकार की वाणी फटती है। सामाजिक अनुभूति तो उसकी सामग्री रहती है; लेकिन जव तक वह

आत्मानुभूति नही बन जाती, तब तक वास्तविक साहित्य-रचना नही होती है। मान लीजिये कि एक महान सामाजिक घटना घटित हुई। मिसाल के तौर पर पंजाब-हत्याकाण्ड को लीजिये। बर्बरता की यह नग्न घटना संवेदनशील साहित्यकार को बहुत प्रभावित करती है और उसके मानव-संबंधी मूल्यों पर गहरा धक्का लगता है। अगर वह सचेत साहित्यकार है, तो इस धक्के को वह चुनौती मानेगा और फिर उस घटना के प्रभाव से जो अनुभव होगा, उसे वह अपनी रचना में व्यक्त करेगा। ऐसा करने के लिए तब तक वह प्रवृत्त नही होगा, जब तक कि उसके अन्दर यह प्रेरणा पैदा नही होगी कि मानव को ऐसे पतन से अवगत किया जाय, इससे उसे बचाया जाय। दूसरे शब्दों में, सामाजिक अनुभूति जब आत्मानुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त होती है, तब सामाजिक मंगल की भावना भी उसमें जुड़ जाती है। कम-से-कम सच्चे साहित्य के बारे में तो यही बात मानी जाती है। रामानन्द सागर का उपन्यास "और इन्सान मर गया" इस बात का अच्छा प्रमाण है: पंजाब-हत्याकाण्ड में मानवीय मूल्यों का जो पतन हुआ, उससे लेखक की आस्था डोल गयी और वह यह कहने को मजबूर हुआ कि "इन्सान मर गया"। लेकिन अगर यह किताब इतना ही प्रभाव छोड़ती, तो शायद हम उसे निष्प्राण यथार्थवादी कृति ही कहकर छोड़ देते। इस उपन्यास की तह में जाने पर यह स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है कि "यद्यपि लगता है कि इन्सान मर गया, तौ भी ऐसा निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अब भी आशा की किरणें वर्त्तमान है।" इस स्वर में मंगल की ध्वनि स्पष्ट है। इसीलिए हमने कहा कि आत्मानुभूत सामग्री के आधार पर रची रचना में सकारात्मक स्वर का समावेश अनिवार्य रहता है, अनुभूति का यही तकाजा होता है।

इससे इन्कार नही किया जा सकता है कि ऐसे लेखक और कवि हो गये हैं, जिन्होने साहित्य को सिर्फ मनोरंजन और आनन्द के साधन के रूप में पेश किया है। मनोरंजन को हम भी साहित्य का अनिवार्य प्रयोजन मानते हैं; लेकिन हमारे मुताबिक दूसरे प्रयोजन की इतिश्री इसीसे नही हो जाती है, बल्कि असली प्रयोजन तो इसके बाद ही सिद्ध होता है।

पहले कहा जा चुका है कि पाठक या दर्शक को तल्लीन करना, रसमग्न करना साहित्य का पहला कर्म है। इसे साहित्य का पहला प्रयोजन भी कह लीजिये। लेकिन हम इसे प्रयोजन न भी कहें, तो काम चल जायगा; क्योंकि रस की उत्पत्ति तो साहित्य का वुनियादी कर्म है। इसी कर्म के कारण तो साहित्य साहित्य कहलाता है। इसलिए इसे हम तो साहित्य की एक वुनियादी बात मानते है।

रसमग्न करने की शक्ति ही तो पाठक या दर्शक को साहित्य की ओर प्रवृत्त करती है। रस और आनन्द की माँग हमारी सांस्कृतिक जरूरतों में से एक है। इस जरूरत की पूर्ति किये बिना मानव-जीवन फीका हो जाता है।

लेकिन रस के लिए 'रस' की उत्पत्ति साहित्य नही करता और न मानव की जरूरत मात्र रस-ग्रहण से ही पूरी हो जाती है। जिन साहित्यकारों ने साहित्य को सिर्फ मनोरजन का माध्यम बनाया, वे नाकामयाब रहे है, उनका साहित्य अवकाश-प्राप्त वर्ग के चन्द लोगो तक सीमित होकर रह गया या फिर उनका साहित्य इतना दुरूह हो गया कि रसोद्रेक की शक्ति भी उसकी खत्म हो गयी और क्रमश इस प्रकार का साहित्य वास्तविक जीवन की अनुभूतियों से विच्छिन्न हो गया। जब-जब और जिन-जिन कलाकारों ने साहित्य को भावों के विलास और ऐयाशी का माध्यम बनाया, तब-तब उनका हश्र ऐसा हुआ है; क्योंकि मनोरजन कोई निर्विशेष वस्तु नही। यह एक सापेक्ष प्रवृत्ति है। व्यक्ति सर्वदा जीवन से पलायन के लिये मनोरजन नही चाहता, या यों कहिए कि विना व्यापक सामाजिक अनुभूति से उसका लगाव स्थापित किये मनोरंजन होता ही नही, कोरे काल्पनिक जगत् के तथ्यो से कुछ क्षणों के लिए वह वहलाया जा सकता है, जिस तरह नानी की कहानियाँ बच्चों को वहलाती है। लेकिन पाठक को अनुभूति से झंकृत नही किया जा सकता और विना इसके रस का उद्रेक नही होता। इसका मतलव यह हुआ कि जिस रचना से वास्तविक मनोरजन हो, उसमें वह तत्व भी जुडा रहता है, जो पाठक या दर्शक को व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि पर ला खड़ा करता है और जो सामाजिक मंगल का स्वर भी वुलन्द करता है। साहित्य का यही असली प्रयोजन है।

वस्तुतः साहित्य की विशेष महत्ता इसी प्रयोजन के कारण है। आदमी को बदलने, समाज को बदलने के लिए जो अनेक तरह की प्रक्रियाएँ हैं, उनमें साहित्य भी एक है और काफी महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाकर नयी सामाजिक व्यवस्था कायम करने के वाद ही अनिवार्य रूप से नया आदमी पैदा होगा, यह सिद्धान्त गलत साबित हो चुका है। आज सब विचारक यह मानते हैं कि जहाँ सामाजिक व्यवस्था को बदलने की कोशिश की जाय, वहाँ साथ ही आदमी को भी बदलने के लिए सास्कृतिक आन्दोलन चलाये जायँ। और, साहित्य सांस्कृतिक आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है। तात्पर्य यह कि साहित्य आदमी को बदल कर, उसे अच्छा-से-अच्छा बनाकर अपना कार्य पूरा करता है। इसी अर्थ में वह सामाजिक मंगल का विधायक है। यह क्योंकर संभव होता है?

ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र मानव का भाव-जगत् है। रसोद्रेक के बाद इस क्षेत्र में विस्तार होता है। साहित्य मानव को सुख-दु:ख के विभिन्न प्रसंगो में रमाकर, उसकी मार्मिकता में विभोर कर उसे संकीर्णता, क्षुद्र स्वार्थपरता से ऊपर उठाता है, सामान्य अनुभूति से परिचित कराता और इस तरह सामान्य मनुष्यता का भाव मानव के अन्दर भर देता है। इसीको हमने भावों का परिष्कार कहा है। देश, राष्ट्र की सीमा को पारकर विशाल मानवीयता के लिए प्रेम जगान से हमारा भावात्मक परिष्कार होता है।

भावात्मक परिष्कार के अतिरिक्त सामाजिक मगल की साधना साहित्य और भी कई तरह स करता है।

हरेक युग की अपनी-अपनी माँगें रहती है। ये माँगें सामाजिक प्रगति से संबधित रहती है और सामाजिक प्रगति का मतलव होता है ह्रासकालीन जीवन-मूल्यो का अन्त कर ऐसे नये मूल्यो की प्रतिष्ठा करना, जो जीवन को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाये। इन नये मूल्यों के अलावा कुछ मूल्य ऐसे होते हैं, जिनकी स्थापना के लिए सदियों से चेष्टा की जा रही है; मगर सफलता नहीं मिली है। इन जीवन-मूल्यों की स्थापना की साहित्य पर वड़ी भारी जिम्मेदारी

स्पष्ट है कि ब्रेडले साहित्य में धर्म, नीति या उपदेश को कोई महत्त्व नही देते। उनके अनुसार कविता स्वय अपना साध्य है, कविता में सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक तत्त्व हो सकते हैं; पर उनसे काव्य का कोई भी सीधा सबध नही है, उससे काव्य के उत्कर्ष या उसके सौंदर्य में कोई सहायता नही मिलती। परन्तु इसका यह मतलब नही कि साहित्य और मानव-कल्याण में कोई विरोध है, वस्तुतः साहित्य भी एक तरह का मानव-कल्याण ही है। सिर्फ इसका मार्ग भिन्न है। साहित्य से हमारा सौंदर्य-बोध बढता है, हमारी कलात्मक दृष्टि का विकास होता है और यह सौंदर्य-बोध, यह कलात्मक दृष्टिकोण स्वय प्रगति का एक उपादान है।

क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त अभिव्यजनावाद' में बहुत कुछ उसी तरह के मत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अभिव्यक्ति को मूर्द्धन्य स्थान पर आसीन कर दिया है। उनके अनुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं और जब तक दोनों का सफल सामजस्य नही होता, तब तक कविता हो ही नही सकती। मात्र अनुभूति को तो वे कविता मानते ही नही। ज्यों ही अनुभूति अभिव्यक्ति से विच्छिन्न होती है, त्यों ही कविता का स्वरूप नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये हम महादेवी वर्मा की दो पक्तियों को लें—

तुम विद्युत् बन आओ पाहुन!
मेरी पलको में पग धर-धर!

अगर हम इसीको कहें कि हे 'पाहुन, तुम बिजली के रूप में मेरी पलकों पर पैर रखकर आओ' तो क्रोचे के अनुसार यह कविता नही होगी; क्योंकि समुचित अभिव्यक्ति के बिना कविता का सारा सौदर्य बिखर जाता है।

क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न ने "नवीन आलोचना" शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

We have done with all moral judgment of art ......some said that poetry was meant to instruct, some merely to please; some to do both Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete.

अर्थात्, हमलोगों ने कला का नैतिक विचार त्याग दिया है। कोई कहता है कि कविता का काम शिक्षा देना है और कोई कहता है, आनन्द देना; कोई दोनों। वस्तुतः कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

दूसरे वर्ग के विचारक कला को जीवन के लिये मानते हैं। उनके अनुसार कला का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह जीवन के उन्नयन का, उसकी प्रगति का एक साधन है। अतः जिस साहित्य से जीवन की प्रगति न हो, जीवन का कल्याण न हो, वह साहित्य साहित्य नहीं है। महाकवि तुलसीदास ने साहित्य के प्रयोजन के सबंध में कहा है—

कीरति भनिति, भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

अर्थात् कीर्ति, कविता और वैभव वही उत्तम है, जिससे गगा की तरह सबकी भलाई हो।

प्रसिद्ध उपन्यासकार टाल्स्टाय का मत है—

"In every age and in every human society, there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art."

अर्थात्, प्रत्येक युग और प्रत्येक मानव-समाज में अच्छे और बुरे का एक धार्मिक मानदड रहता है। यही धार्मिक दृष्टिकोण कलागत भावना का मूल्याकन करता है।

प्रसिद्ध प्राचीन रूसी साहित्यकार तथा समीक्षक चेरनिश्वेस्की कला के उद्देश्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि कला का उद्देश्य उन सभी वस्तुओं तथा व्यापारों की अभिव्यक्ति है, जिनमें लोग रुचि रखते हो और जिनका सबंध मानव-मात्र के हित से हो।

मैथ्यू आर्नल्ड का विचार है कि जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है, वह स्वय जीवन के प्रति विद्रोही है।

अतः दूसरे वर्ग के विचारक धर्म, नीति और उपदेश को कला का आवश्यक अंग मानते है। उनके अनुसार साहित्य का प्रयोजन मानव को पलायनवादी या निष्क्रिय बनाना नही, प्रत्युत् उसे जीवन-संग्राम में रत होने के लिये प्रोत्साहित करना है। इस वर्ग के साहित्यकारों ने मानव को कल्याण-पथ का पथिक बनाया है और इसीमें उनके साहित्योद्देश्य की सिद्धि भी है। कलावादियों से इनका विरोध यही है कि ये उनकी तरह मानव-कल्याण को गौण नही, वरन् साहित्य का मुख्य प्रयोजन मानते है।

साहित्यिकों और आलोचकों का एक तीसरा वर्ग भी है, जो उपर्यक्त मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों मत न तो सर्वथा ग्राह्य है औन न अग्राह्य। दोनों में अपने-अपने गुण और दोप है। अत. यह तीसरा वर्ग दोनो के गुणों को ग्रहण करता है और दोषों का परिमार्जन। इस वर्ग में प्रसिद्ध आधुनिक कवि और आलोचक टी०एस०एलियट औरसंस्कृत के आचार्य मम्मट का नाम लिया जा सकता है। एलियट पहले तो कहते हैं कि कविता में नीति, धर्म और शिक्षा का कोई स्थान नही है; पर फिर पीछे कहते है:—

"Poetry as certainly has something to do with morals, and with religion and even with politics perhaps, though we cannot say what."

अर्थात्, कविता का नीति, धर्म और राजनीति से कुछ सबंध है; पर वह व्याख्येय नही।

मम्मट ने भी साहित्य का प्रयोजन बतलाते हुए अन्त में 'काता संमति' उपदेश का उल्लेख किया है। अर्थात्, कांता का उपदेश जितना मधुर और प्रभावशाली होता है, कविता का उपदेश भी उतना ही मधुर और प्रभावशाली होना चाहिये, इसीमें उसके उपदेश की सिद्धि है।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का संबंध ढूँढने की जैसी प्रबल चिंता समालोचकों में पायी जाती है, वैसी साहित्य-सर्जक कलाकारों में नही। साहित्यकारों की एसी जो भी प्रवृत्ति है, वह उनकी अन्तश्चेतना का अग बनकर रहती है और उनके द्वारा रचित साहित्य में प्रकट होती है और तभी आलोचको को विभिन्न साहित्यकारो की कृतियों में समाज की झलक भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलती है। हिन्दी में इस प्रकार के अनुसधान की चेष्टा अपेक्षाकृत नयी है; क्योंकि हिन्दी का आलोचना-साहित्य ही अपेक्षाकृत अल्पवयस्क है। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि आलोचना रचनात्मक साहित्य के निर्माण के बाद ही आ सकती है।

अस्तु, इस प्रश्न को लेकर आलोचकों के कई वर्ग बन गये हैं और सभी वर्गों के अपने मतवाद है। पर सब-के-सब कम-से-कम इस बात पर एकमत हो सकते हैं कि साहित्य मनुष्य को लौकिक चेष्टा है और इसकी उत्पत्ति भी लोकगत है। इसके दो मुख्य कारण हैं : (१) सभी प्रकार के साहित्य को—वह मौखिक, अलिखित लोक-साहित्य हो, अथवा लिखित कविता, कहानी और उपन्यास—वाणी अथवा भाषा और लिपि का आश्रय लेना पड़ता है। वाणी, भाषा और लिपि स्वतः सामाजिक जीवन की उपज है। इस प्रकार साहित्य को अपने अस्तित्व के लिए जिन मौलिक और प्रथम माध्यमों का सहारा लेना पड़ता है, वे माध्यम समाज की देन हैं; (२) साहित्य-सर्जन करने-वाला व्यक्ति कितना भी व्यक्तिवादी क्यों न हो, वह अन्ततः सामाजिक प्राणी है। वह अपनी अनुभूतियों को अपने और आसपास के जीवन से ग्रहण करता है। यह सर्वथा अलग का सवाल है कि कौन साहित्यकार कितनी दूर तक अपनी अनुभूतियों को सारे समाज की अनुभूतियों का प्रतिनिधि बना पाता है और कौन नही।

अन्य कलाओं की भाँति साहित्य की एक मूल प्रवृत्ति प्रेषणीयता है; क्योंकि इंसान अपने हर्ष-शोक, आशा-आकांक्षा को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इसलिए कला में कलाकार के मनोभावों और अनुभूतियों की झलक मिलती है। जिस कृति में इन मनोभावों का जितना अधिक साधारणीकरण हुआ रहता है, उसकी अपील भी उतनी ही व्यापक होती है। साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन अपेक्षाकृत सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इसकी पद्धति और स्थिति अधिकांश में प्रतिविम्बिक है।

पर यह प्रतिविम्ब क्या केवल साहित्यकार के निजी मनोभावों का होता है? आखिर किसी भी व्यक्ति की अनुभूतियाँ कहाँ जन्म ग्रहण करती हैं? समाजगत जीवन में ही तो? पर सामाजिक जीवन का प्रतिविम्ब साहित्य में सीधे नहीं उतर आता; वल्कि वह साहित्यकार के मनोभावों, विचारों का रंग लेकर उतरता है। इसलिए साहित्य में लोक-जीवन का जो प्रतिविम्ब मिलता है, वह वडा ही सूक्ष्म और तीर्यक रहता है। फिर, जो लेखक जितने वड़े दायरे से अनुभूतियों का विम्ब ग्रहण करता है, उतनी ही व्यापक उसकी कला की प्रेषणीयता होती है, इसलिए साहित्य के कलात्मक उत्कर्ष के लिए उसका व्यापक सम्वन्ध समाज-जीवन से रहना आवश्यक है।

पर इस सामाजिक सम्वन्ध का स्वरूप कैसा हो? क्योंकि उसपर ही विम्ब-ग्रहण की क्षमता निर्भर करती है। यह सबंध मूलतः रागात्मक ही होना चाहिए। सामाजिक प्राणी के लिए यह अनिवार्य भी है; क्योंकि समाज-सघटन के पूर्व से ही जवकि मनुष्य प्रकृति का अंगमात्र था और अहेरी का जीवन बिताता था, प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से उसके हृदय में रागात्मक वृत्तियों का उन्मेष हुआ। जिन पशुओं से उसे आहार मिला, जो निरीह होकर उसके पास आये, उन्हें वह प्यार करने लगा; जो खतरनाक थे, उनसे डरना सीखा और उनपर आघात करना भी। जिन फूलों के रंग और गध से उसकी इन्द्रियों को तृप्ति मिली, जिन वृक्षों से शीतल, सघन छाया और मधुर फल मिले, उन सबके प्रति उसकी आसक्ति बढ गयी। उसी प्रकार विषैले, कड़वे फलों

और कटीली झाड़ियों से विराग उत्पन्न हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य की रागात्मक वृत्तियो की उद्भावना समाज-संघटन के पूर्व बन गयी थी। उनके आग्रह पर मनोभावों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा उत्पन्न हुई। फिर संकेतों और भावसूचक ध्वनियों का जन्म हुआ। सकेतों की चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता तथा भावों के अर्थ की स्थापना जब ध्वनियों में हो गयी, तो सार्थक शब्द और भाषा बनी। यहाँ स्मरण रहे कि संकेतों और भावों की प्रतीकात्मकता की स्थापना का अर्थ है अनेक व्यक्तियों पर उन संकेतों और भावों के निश्चित अर्थ ही का ज्ञापित हो जाना, अर्थात् उनका सबके लिए बोधगम्य, ग्राह्य और मान्य होना। यह निरन्तर के व्यवहार और अभ्यास से ही हुआ होगा।

पर यदि भाषा सामूहिक जीवन की उपज है, तो हमें मानना पड़ेगा कि भाषा निश्चय ही समाज-संघटन मे अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई होगी। उसी प्रकार, प्रारंभ में मनुष्य का भावकोष सीमित था, शब्द थोड़े थे, उनके अर्थ भी सरल थे; क्योंकि जीवन की परिस्थितियाँ सरल और गिनी-चुनी थी। जैस-जैसे समाज का जीवन जटिल होने लगा, भावों, अनुभूतियों और भाषा में संश्लिष्टता का प्रवेश होने लगा। इस प्रक्रिया को विभिन्न काल के साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। जैसे, वैदिक ऋषियों की ऋचाओं और मंत्रों में भावाभिव्यक्ति की योजना नितान्त सरल और सीधी है; क्योंकि उस काल का जीवन ही सरल और सीमित था। पर, ज्यों-ज्यों समाज-संस्थाएँ सघटित होती गयीं, त्यों-त्यों मनुष्य के भावलोक में भी जटिलता आती गयी। साथ ही, शब्द-कोष और अर्थकोष में भी अभिवृद्धि होती गयी। फलतः साहित्य में क्रमशः संश्लिष्ट भावों की योजना होने लगी।

इस विवेचन से हम दो स्पष्ट निष्कर्षों पर पहुँचते हैः (१) समाज का जीवन जितना जटिल होता जायगा, साहित्य में उतनी ही संश्लिष्टता आती जायगी; (२) साहित्य में जितने प्रकार के भावों की योजना आयगी और जितनी व्यापक अनुभूतियों का बिम्ब ग्रहण होगा, उसकी अपील, उसकी प्रेषणीयता उतनी ही व्यापक, विशुद्ध और मार्मिक होगी।

इसलिए साहित्य समाज-जीवन को किसी भी स्थिति में छोड़कर नही चल सकता। साहित्यकार की स्थिति हारिल-जैसी है। वह व्योम में कितनी ऊँची उडान क्यो न ले, उसके चंगुल में धरती का एक तिनका अवश्य ही होना चाहिए अन्यथा वह उड़ नही सकेगा, या उड़ेगा भी, तो पुनः धरती पर लौट नही सकेगा !

किन्तु साहित्य में समाज की प्रतिच्छवि किस प्रकार उतरे ? इस प्रश्न पर मतो का घोर विरोध है। एक ओर तो मार्क्सवाद के आर्जो को तोते की तरह दुहरानेवाले प्रगतिवादी आलोचक है। दूसरी ओर, वैसे लोगोका गिरोह है, जिन्हें साहित्य की स्वतन्त्र, शाश्वत सत्ता का इतना प्रवल आग्रह है कि उसपर किसी भी मौलिक तत्व की छाया उन्हें सह्य नही। इन विरोधी मतवादों के कारण साहित्य के स्पृहणीय मूल्यो का प्रश्न वेतरह उलझ गया है; क्योंकि दोनों दल अपने प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपादित मूल्यों का सर्वथा वहिष्कार और खडन करके चलने में अपनी विजय मानते है। पर, क्या जीवन कभी वहिष्कार के मार्ग पर चलकर पनप सकता है ? वह तो विरोधों को समेट कर विस्तार और गति पाता है।

प्रगतिशीलता का दभ करनेवालों के विश्वास की आधार-शिला मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या है। मार्क्स का मत है कि जीवन की अभिव्यक्ति विरोधी पदार्थों के द्वन्द्व के माध्यम मे होती है। पदार्थ जड और भौतिक है, सदा परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाला और परिवर्त्तनशील है। उसका परिमाण ही परिवर्त्तित होते-होते गुण में परिणत हो जाता है और जड़ चेतन में। इस क्रम में शाश्वत कुछ नही है, है केवल परिवर्त्तन की प्रक्रिया। इस गतिशील समाज-सघटन को धारण करनेवाली मौलिक शक्ति है उस समाज की आर्थिक व्यवस्था। आर्थिक व्यवस्था की वुनियाद पर ही समाज-सस्थाओं जैसे, राज्य, सरकार, धर्म, विवाह, आचार-विचार आदि का ढाँचा खड़ा होता है। सामाजिक जीवन में ऐसा कोई भी सवध नही, जो आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित नही हो।

अब देखिए हमारे प्रगतिवादी आलोचक किस प्रकार इस समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का साहित्य में प्रयोग करते हैं।

उनका कहना है कि समाज में व्यक्ति-व्यक्ति का रागात्मक संबंध आर्थिक स्वार्थों के अनुसार स्थापित होता है, इसलिए अन्ततः साहित्य में वर्ग-स्वार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। जो साहित्य शोषित वर्ग के, अर्थात् बहुमत के स्वार्थों की हिमायत करता है और वर्ग-संघर्ष की अग्नि में प्रभु-वर्ग के विरुद्ध घृणा और आक्रोश, वासना और जुगुप्सा का घी डालता है, वही स्वस्थ साहित्य है और जो साहित्यकार और साहित्य इस लकीर से रंचमात्र भी अलग होता है, वह हेय और त्याज्य है।

वस्तुत. यह कुत्सित समाजशास्त्रीयता न मार्क्सवाद के साथ न्याय करता है और न साहित्य के साथ। एक तो मार्क्स ने कही भी आग्रह नही किया है कि समाज के आर्थिक विश्लेषण का साहत्यि मे इस प्रकार से यान्त्रिक प्रयोग किया जाय और न यह बुद्धिगम्य ही दीखता है कि १९ वी सदी में प्रतिपादित सिद्धान्त को ज्यों-का-त्यों आज भी हम स्वीकार कर लें और अन्य उद्घाटित 'सत्यों' और अनुभवों को व्यर्थ जाने दें; दूसरे, साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब तो होता है; पर इसका यह अर्थ नही कि साहित्य और इतिहास, साहित्य और अर्थशास्त्र में कोई मौलिक भेद नही बच जाय। साहित्य समाजगत जीवन की अनुभूतियो को भावलोक में ग्रहण करता है। इसलिए उसमें मतवाद के आग्रह पर किसी शिष्ट सिद्धान्त का मौलिक निरूपण कदापि स्पृहणीय नही। यदि उसमें बहुमत अर्थात् शोषित वर्ग के भावों की अभिव्यक्ति नही हो पाती, जन-जीवन का बिम्ब नही उभर पाता, तो इन तथाकथित प्रगतिवादी मित्रों को, यदि उन्हें अपने मत पर पूर्ण आस्था है, निश्चिन्त रहना चाहिए कि वैसा साहित्य स्वतः सीमित और प्रभावहीन बनकर रह जायगा।

जो लोग प्रगतिवादियो के मत के विपरीत साहित्य की शाश्वत सत्ता का नारा बुलन्द करते हैं, वे भी दूसरे छोर से ही बातें करते है। वे साहित्य को भावविलास का क्षेत्र मानते है। उन्हें साहित्य में किसी भी भौतिक तत्व या

शक्ति की अभिव्यक्ति कबूल नही। उनके लिए भौतिक जीवन का कोई साहित्यिक उपयोग नही। वे यह भी शायद नही मानते कि मनुष्यो के रागात्मक संबंध और उनके मनोभावों पर जीवन की आर्थिक परिस्थितियो का कोई असर पडता है। वह मत न केवल समाजशास्त्र के विपरीत है, बल्कि मनोविज्ञान के भी। हाँ, यह केवल सौन्दर्य-शास्त्र और रचना के शिल्पविन्यास को अपना पथप्रदर्शक मानता है। इस कसौटी पर खड़ी उतरनेवाली रचना ही उन्हें मान्य है।

पर इस मत को लेकर चलनेवाले साहित्यकार बहुधा अपने व्यक्तिगत मनोभावों को लेकर इतना उलझ जाते है कि उनकी रचना की प्रेषणीयता बिल्कुल शून्य हो जाती है।

अतः इन दोनों प्रकार के मतवाद के कारण प्रतिक्रियात्मक साहित्य का ही निर्माण हो सकता है। समाज और साहित्य के संबंध का अगर अर्थ है तो केवल तात्कालिक रूप में। जैसे आज के मशीन-युग में रहकर हम मध्ययुगीन भावो की अवतारणा करें, तो निश्चय ही उसमें जीवन की अभिव्यक्ति रहेगी; पर ऐसे जीवन की, जो विगत हो गया है, और जिसकी अनुभूतियाँ साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा का अंग बनकर रह गयी है, वैसे साहित्य से जन-जीवन का रागात्मक तादात्म्य स्थापित नही हो सकता।

उसी प्रकार साहित्य की शाश्वत सत्ता का कोई अर्थ हो सकता है, तो यही कि साहित्य मनुष्य की एक विशिष्ट चेष्टा है। सामाजिक जीवन की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब उसमें सतत उतरता रहता है और उसके जरिए मनुष्य अपने भावकोष की अभिवृद्धि भी करता है।

———

साहित्य और दर्शन

सतही तौर पर विचार करने से ऐसा पता चलता है कि साहित्य और दर्शन में कोई संबंध नही। साहित्यकार और दार्शनिक, दोनों के व्यक्तित्व में काफी अन्तर है। अगर दार्शनिक शुष्क तर्क और रसहीन सत्य की खोज में व्यस्त रहता है, तो साहित्यकार भावों के इन्द्रधनुष, कला की रगीनी के पीछे पागल। एक तार्किक होने की चेष्टा में रत और दूसरा भावनाओं को छूने में लीन।

लेकिन यह विभिन्नता सिर्फ ऊपर से देखने को मिलती है। दरअसल दोनों में काफी गहरा रिश्ता है। दोनों एक-दूसरे पर अपना असर डालते है। यह कभी नही भूलना है कि साहित्य और दर्शन दोनो इन्सान की क्रियाशीलता, सृजनात्मकता के दो रूप हैं। कलाकार जब पच्चीकारी और कारीगरी से ऊपर उठकर अपने विषय का चुनाव करता है, तब वह जीवन और अस्तित्व के बारे में अपनी राय पेश करता है—उनका चित्र भी देता है और तब वह कल्पनाशील ढंग से दार्शनिक बन जाता है। ठीक उसी तरह दार्शनिक परिभाषाओं, अनुसन्धान और सामंजस्य से ऊपर उठकर जब जिन्दगी का नक्शा खीचता है, वह सारे मानव अनुभवों की पृष्ठभूमि में एक बौद्धिकता के साज-संगीत का निर्माण करता है, नवीन और विशाल कविता को जन्म देता है। प्लेटो के मुताबिक सुकरात का कहना है कि दर्शन एक उच्च कोटि का सगीत है। इससे यह स्पष्ट है कि दोनो में से कोई भी एक-दूसरे की अवहेलना नहीं कर सकता। इसलिये यह देखा भी गया है कि उच्चकोटि के लेखक के पास एक जीवन-दर्शन रहता है और उच्चकोटि के दार्शनिक में साहित्य का प्राचुर्य। एक बात और है, दार्शनिकों द्वारा बताये हुए ज्ञान और आचार उतना मनोहर नही जान पडते, जितना कि साहित्यकार की कलाकृति में; क्योकि उनमे हृदयग्राहिता की कमी दीखती है। साथ-साथ अच्छी कलाकृति में यह ताकत होती है कि वह इन्सान को बेहतर बनाये।

हो सकता है, कुछ लोग दर्शन की "आत्मा" और साहित्य की देह में सघर्ष

देखते हों। लेकिन, यह एक भ्रान्तिपूर्ण बात है; क्योंकि शरीर और आत्मा को अलग-अलग दरबों में रखकर नहीं समझा जा सकता। सन्त्याना ने कहा है कि सौंदर्य सुख का निरवैयक्तिकरण किया हुआ स्वरूप है। इस संसार में जहाँ बहुत कुछ करना बाकी है, बहुत-से काम के पूरा होने में बहुत सारी मंजिलें तय करनी है—साहित्य और दर्शन को साथ मिल कर, सामंजस्य स्थापित कर आदर्श और लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना है।

दरअसल प्रत्येक युग का अपना दर्शन होता है और उस दर्शन पर आधारित उसका साहित्य। युग दर्शन बनाता है वैज्ञानिक अनुसधानों और टेकनोलाजी के क्षेत्र की क्रान्तियों के बल पर। आर्थिक और औद्योगिक विकास में ये सहायक होती हैं और समाज में एक जबरदस्त परिवर्त्तन आता है। और, सामाजिक उथल-पुथल और परिवर्त्तन के बाद नयी मान्यताएँ स्थापित होती हैं, नये मूल्य जन्म लेते हैं। इन्ही मान्यताओं और मूल्यो का शिखर दर्शन होता है और फिर वही मान्यताएँ और मूल्य दर्शन के पर्वत-शिखर से नीचे उतर कर साहित्य की नदी द्वारा देश-देश में, जन-जन में व्याप्त हो जाते हैं। मान्यताएँ और मूल्य ऊपर चढकर दर्शन बन जाते हैं, और फिर नीचे उतर कर साहित्य बन जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है—अमुक दर्शन से अमुक साहित्य का कोई रिश्ता ही नही रहता। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिये कि वैसे दर्शन और साहित्य का जन-जीवन से कोई संबंध नही। उदाहरण के लिये फासिज्म का दर्शन और गेरहार्ड हापुरमान का साहित्य जन-जीवन को दबाने के लिये बने। लेकिन ऐसे दर्शन और साहित्य अधिक दिनों तक चल नही सकते, टिक नही सकते। फिर भी, इस उदाहरण से दर्शन और साहित्य के रिश्ते का अन्दाज मिल सकता है। अगर फासिज्म नही आता, तो गेरहार्ड हापुरमान की रचनायें भी वैसी नही होती। एक मिसाल और। अगर रूस में 'साम्यवाद' का जीवन-दर्शन नही बनाया जाता, तो माइकेल सोलोकोव द्वारा 'वर्जिन स्वाइल अपटर्नड' या क्वाएट फ्लोज-दी डान, जैसी पुस्तकों की रचना नही होती। रूसी क्रांति के पहले के रूसी उपन्यास को देखिये, उनके विषय और उनका 'प्रतिपादन' एकदम भिन्न था। दास्ता-

वस्की या तुर्गनेव के उपन्यास सोलोकोभ अथवा एलेक्सी टाल्स्टाय से एकदम भिन्न है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस तरफ दास्तावस्की और तुर्गनेव में और दूसरी तरफ सोलोकोभ और एलेक्सी टाल्स्टाय में युग-दर्शन की समानता है। दोनों कोटि के लेखक दो युग, दो भिन्न जीवन-दर्शन, दो भिन्न प्रवृत्तियों से प्रभावित थे; उनके अनुभवों के क्षेत्र भी भिन्न थे, उनके अनुभव भी भिन्न ।

आधुनिक समाज को मोटे तौर पर तीन युगों में बाँटा जाता है—सामन्तकालीन युग, पूँजीवादी युग और समाजवादी युग। आज समाज पूँजीवादी युग और समाजवादी युग की सधिवेला में खड़ा है। सिद्धान्ततः पूँजीवादी युग का खात्मा हो रहा है और आनेवाला युग जनतान्त्रिक समाजवादी ही होगा। इन तीनों सिद्धान्तों के अपने खास-खास जीवन-दर्शन हैं। अगर हम इन तीनों सिद्धान्तों अथवा युगों के साहित्य या साहित्यिक प्रवृत्ति की ओर नजर डालें, तो पता चल जायगा कि जिस तरह से ये तीनों सिद्धान्त एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, इनका साहित्य भी एक दूसरे से अलग और भिन्न है। अगर सामन्तवादी युग मे राजा-महाराजाओ के प्रेम से साहित्य ओत-प्रोत था, विलास और वैभव की ही तस्वीर साहित्य में मिलती थी, तो पूँजीवादी दर्शन-धारा के अन्तर्गत साहित्य ने व्यक्ति की पूजा की, व्यक्तिगत आजादी का पुष्टिकरण किया। और, आनेवाले समाजवादी समाज के लिये जो "प्रगतिशील" साहित्य रचे गये हैं, उसमें दीन-दुखियारे सर्वहारा की प्रतिष्ठा की गई है, उन्हें सम्मिलित, संगठित करने का आह्वान किया गया है। व्यापक सामाजिक कार्यक्रम का विशद नक्शा खींचा गया है। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य पर दर्शन का प्रभाव अवश्यभावी रूप से पडता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य है। ठीक इसी तरह महान साहित्यकार दार्शनिक बन जाते हैं, और अपनी रचनाओं द्वारा नवीन जीवन-दर्शन की अनुभूति समाज को कराते है। उदाहरण के लिये रवीन्द्रनाथ की 'गीताजली' और जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' पर्याप्त होगी। फिर भी 'गीतांजली' और 'कामायनी' पढ़ते समय यह न भूलना है कि ये किताबें भारतीय रिनेसाँ के कारण ही लिखी जा सकी और रहस्यवाद और

छायावाद की अंतिम सीढ़ियाँ ये इसलिये बन सकी कि भारतीय समाज और साहित्य में वह अपने को ढूंढने को है। आज जमाना स्वतन्त्रता को बौद्धिक और भावुक ढंग से अपनाने का है। आज के जमाने में हिन्दुस्तान में 'गीताजली' और 'कामायनी' जैसी पुस्तकों का लिखा जाना अगर असंभव नही, तो कठिन जरूर है। यह इसलिये नही कि अब 'प्रसाद' और रवीन्द्रनाथ जैसी प्रतिभा नही हैं; बल्कि इसलिये कि अब ऐसी पुस्तकों के लिये भारतीय इतिहास कदापि तैयार नही। आज भी प्रतिभावान व्यक्ति पैदा हो सकते हैं; लेकिन उनकी प्रतिभा रवीन्द्रनाथ और 'प्रसाद' की प्रतिभा जैसी नही होगी। मनुष्य की प्रतिभा का भी सचालन युग-दर्शन ही करता है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य और विज्ञान, दोनो ही मनुष्य की सूक्ष्म मानसिक क्रिया के द्योतक हैं। दोनो ही विकसित सभ्यता के सूचक हैं और कारण भी। जब सभ्यता अविकसित अवस्था में थी, तब साहित्य की रचना में वह विविधता, वह सूक्ष्मता, वह व्यापकता और वह कलात्मकता नही थी, जो विकसित सभ्यता के काल के साहित्य में मिलती है। इसी तरह वैज्ञानिक चिन्तन भी सभ्यता के विकास के साथ अधिक सूक्ष्म होता गया है। लेकिन इस स्थल पर दोनो में थोड़ा बुनियादी अन्तर है।

सभ्यता और विज्ञान :

विज्ञान सभ्यता के विकास का सबसे बडा कारण है। एक वैज्ञानिक आविष्कार सभ्यता में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला देता है। अगर हम सभ्यता के विकास के इतिहास पर नजर दौड़ावें, तो यह पता चलेगा कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने निर्णयात्मक कार्य किया है। जब मनुष्य को लोहे का प्रयोग मालूम हुआ, तो उसने हल बना डाला और हल से कृषि होने लगी। कृषि से मनुष्य के जीवन-स्तर में विकास और वृद्धि हुई। इतना ही नही, लोहे के

आविष्कार ने हमारे जीवन को अनेक तरह से सुसमृद्ध किया। वह युग सभ्यता के विकास का एक महान् युग था। इसी तरह क्रमशः एक के बाद एक आविष्कार होता गया। बहुत पीछे न जाकर, हम पिछले दो-तीन सौ वर्षों की कहानी पर दृष्टिपात करेंगे। स्टीम इजीन के आविष्कार ने औद्योगिक क्रान्ति ला दी और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव-सभ्यता का अद्भुत विकास हुआ। फिर बिजली का विकास और अब अणुशक्ति (एटम शक्ति) का आविष्कार। आज हम अणु-युग में रह रहे हैं। कहाँ हमारा प्राचीन गुफा और कहाँ एम्पायर स्टेट बिल्डिग; कहाँ बैलगाड़ी और कहाँ हवाई जहाज! इस तरह आज वैज्ञानिक आविष्कार ने वे वस्तुयें उपलब्ध कर दी है, जिनकी प्राचीन काल में कल्पना भी नही की गयी थी। इन आविष्कारों के फलस्वरूप हमारी सभ्यता अति विकसित अवस्था में है और रोज इसका विकास होता जा रहा है और यह सब विज्ञान के कारण। सभ्यता के विकास के अन्य कारण भी हैं; पर विज्ञान प्रमुख है।

सभ्यता और साहित्य :

साहित्य सभ्यता के मामले में ऐसा पार्ट अदा नही करता है। साहित्य के प्रधान उपकरण हैं भाव, चिन्तन। भावना, कल्पना उसके सहायक अंग हैं। हर युग के अच्छे साहित्य में इसी 'भाव' का प्रस्फुटन विभिन्न रूपों में होता रहा है। एक युग के साहित्य में और दूसरे युग के साहित्य में जो प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है, वह वस्तुतः युग की बदली हुई मान्यताओ के कारण उत्पन्न होता है। युग की मान्यताओ के अनुरूप हमारे भावो के स्वरूप बदलते रहते हैं और इसीलिए हमें अन्तर दीखता है।

साहित्य और विज्ञान के सामाजिक कार्य :

प्रश्न उठता है, युग की मान्यताएँ कैसे निर्धारित होती हैं। सभ्यता का दौर तो बहुत लम्बा होता है। मिसाल के तौर पर, औद्योगिक क्रान्ति के वाद से हम औद्योगिक सभ्यता के दौर से गुजर रहे है; लेकिन इसी दौर में कई युग आये-गये, कितनी ही मान्यताएँ बदली। आखिर इस परिवर्तन का क्या कारण है? एक सभ्यता के दौर से गुजरने का मतलब होता है निरन्तर

विकासशील सभ्यता के दौर से गुजरना। औद्योगिक सभ्यता के दौरान में नई-नई आवश्यकताएँ और समस्याएँ उत्पन्न हुई है। वे ही नई मान्यताओ की माँग करती है और इसीलिए मान्यताओं का वह परिवर्त्तन-चक्र है।

हमारे इस विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट लक्षित हो रही हैं। एक यह कि साहित्य सभ्यता या युग की आवश्यकताओं को पूरा करने, समस्याओं को हल करने और उनके तकाजों का जवाब देने की चेष्टा करता है। इस माने में वह विज्ञान की तरह युग या सभ्यता के विकसित होने में मदद पहुँचाता है; लेकिन यह मदद बहुत सीमित दायरे में होती है। इसीलिये इसका प्रभाव विकास के मार्ग में वैसा निर्णयात्मक नही होता है, जैसा विज्ञान का। लेकिन निर्णयात्मक प्रभाव डालने की संभावना और क्षमता साहित्य में भी अवश्य है। अब तक सिर्फ इस क्षमता और संभावना का साहित्यिको ने आविष्कार नही किया है। आधुनिक युग के कुछ यूरोपीय साहित्यकार अवश्य इस आविष्कार में लगे हैं। खैर, यह तो संभावना की बात हुई।

दूसरी बात, जो स्पष्ट है, वह यह कि साहित्य के मूल उपकरण, भाव और वस्तु युग के परिणाम होते हैं। आज सभ्यता जिस अवस्था में पहुँच गयी है, आज युग की जो अनुभूतियाँ हैं, उन्हींका उल्लेख तो प्रधानतया आज के साहित्य में होगा और पूर्वकाल में भी ऐसा ही होता रहा है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य सभ्यता के परिणामों की अभिव्यक्ति करता है, जबकि विज्ञान में परिणाम की अभिव्यक्ति के साथ-साथ नये विकास का सूत्र भी निहित रहता है। एक परिणाम है, तो दूसरा कारण। एक कृति है, तो दूसरा कर्त्ता।

पहले जो हमने कहा है कि सभ्यता के मामले में साहित्य विज्ञान की तरह पार्ट अदा नही करता है, उसका तात्पर्य उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह साहित्य और विज्ञान के सामाजिक कार्य (Social functions) का विवरण है। इस प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य का जिक्र करना आवश्यक है।

विज्ञान-जनित विकास का मूल्यांकन और साहित्य :

यह ठीक है कि सभ्यता का विकास टेकनोलोजी, जो वैज्ञानिक जगत् की विजय है, के विकास के अनुरूप होता है; लेकिन जब हम इस विकास के मूल्यांकन पर विचार करना चाहेंगे, तो केवल वैज्ञानिक मानदंडों से काम नहीं चलेगा, बल्कि साहित्य में उसके परिणामों की जो अभिव्यक्ति हुई है, उसपर भी हमें गौर करना होगा। वैज्ञानिक मानदंडों से तो यह पता चल जायगा कि अमुक टेकनोलोजी किस हद तक विकास का सूचक है। पर प्रश्न है, उस विकास के गुण-अवगुण क्या हैं, उसके सिक्के के दोनों रुख कैसे हैं। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक विकासजनित सभ्यता के भौतिक मूल्यांकन के लिए हमे साहित्य की ओर जाना पड़ेगा।

अमुक युग के अच्छे साहित्य मे मानव जिस रूप मे व्यक्त होता है, उससे युग की अच्छाई-बुराई का पता मिल जाता है। टेकनोलोजी के परिणाम-स्वरूप जो सभ्यता बनी, उसमें इन्सान का कैसा स्वरूप बना, इसका दिग्दर्शन तो साहित्य ही में मिलता है। साहित्य ही हमें बताता है कि अमुक युग के मानव की क्या दशा रही है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान का मनुष्य-जीवन, मनुष्य के भाव और वृत्तियों पर कैसा प्रभाव पडा, उसका चित्र हमें साहित्य में मिलता है और उस चित्र से हमें गुण-दोष तथा नैतिक मूल्य का पता चल जाता है। साहित्य यही रुक नही जाता है। वह जब किसी युग के मानव के दो पहलुओं को सामने रखता है, तो उसके साथ-साथ वह नई समस्याएँ भी उपस्थित करता है। ये समस्याएँ भौतिक विज्ञान और मानव विज्ञान, दोनों के लिए चुनौती होती हैं। दोनो को अपनी दिशा का सकेत मिलता है। यह साहित्य का एक प्रमुख कार्य है, जहाँ तक कि विज्ञान से इसका संबंध है। इस तरह यह स्पष्ट है कि विज्ञान की नैतिक कसौटी साहित्य है। अमुक टेकनोलोजी के भले-बुरे का दिग्दर्शन समाज-विज्ञान और साथ-साथ साहित्य में होता है। यह क्योकर होता है, अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

साहित्य की पद्धति :

अगर स्थूल मनोविज्ञान की भाषा में बात करें, तो कहना पड़ेगा कि

साहित्य भाव-जगत् की वस्तु है, जबकि विज्ञान बुद्धि-जगत् की। लेकिन यह स्थूल कथन ही होगा। गहराई में जाने पर भाव और बुद्धि-जगत् का ऐसा अलगाव नही दीखता है। साहित्य की प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर ही इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। "गोदान" उपन्यास का उदाहरण ले लीजिये। वह कौन-सी प्रेरणा थी, जिसने इस रचना के लिए प्रेमचन्द को मजबूर किया ? वह प्रेरणा थी प्रेमचन्द के अन्दर जागरूक नैतिक भावना। समाज में विषमता है, अन्याय है, शोषण है, आर्थिक विषमता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा की भावना है। इन सबका परिणाम है हमारी वर्त्तमान दुखद जीवन-दशा। प्रेमचन्द पर इस दशा का गहरा प्रभाव पड़ा। इसे देखकर उनकी बुद्धि और नैतिक भावना बेकरार हो उठी और मानव-कल्याण-प्रेम और नैतिक अपील से उत्तेजित होने के कारण उन्हें 'गोदान' रचने की प्रेरणा मिली। दूसरे शब्दो में, प्रेमचन्द की बुद्धि, भावना और चरित्र ने उन्हें गोदान रचने के लिए प्रेरित किया।

जब उन्होने रचना आरंभ कर दी, तब भी केवल भावप्रवणता के सहारे ही उन्होने यह कार्य पूरा नही किया। अपने बुद्धिबल से जीवन-दशाओ का विश्लेषण भी उन्हें करना पडा। फिर, जो विषय-वस्तु उन्होंने उठाई, उसके प्रति उन्हें एक दृष्टिकोण बनाना था। इस तरह बुद्धि, भाव और दृष्टिकोण के सम्मिलित प्रयास से "गोदान" का निर्माण हुआ। और, हरेक अच्छी साहित्यिक रचना के पीछे यही प्रक्रिया रहती है।

विज्ञान की पद्धति :

विज्ञान की पद्धति बिल्कुल दूसरे प्रकार की है। वैज्ञानिक पहले समस्या का बयान करता है, फिर वह जाँच-पड़ताल तथा पर्यवेक्षण कर के तथ्य-सग्रह करता है। अन्त में उन्ही तथ्यो से जो निष्कर्ष निकलता है, उसीको वह स्पष्ट कर देता है। इस पद्धति में वैज्ञानिक के व्यक्तित्व का लोप होता है, सिर्फ तथ्य का व्यक्तित्व रहता है। वैज्ञानिक में व्यक्तित्व की सूक्ष्मता और भिन्नता नजर नही आ सकती है, सिर्फ उसकी समझ और पर्यवेक्षण की शक्ति में भेद नजर आता है। विज्ञान की इस पद्धति में एक लीक है,

जबकि साहित्य की प्रक्रिया का प्रस्फुटन कैसे होगा, पहले से कोई रचनाकार भी नही बता सकता है। प्रत्यक्ष रूप से लगता है कि विज्ञान की पद्धति में भाव का कही भी पुट नही रहता, सिर्फ बुद्धि का ही वह चमत्कार है। यह ठीक है कि विज्ञान में बुद्धि पर जोर है; पर जैसाकि कहा जा चुका है, मनोवैज्ञानिक भाषा में बुद्धि ऐसा कोई कम्पार्टमेंट नही, जो भाव से बिलकुल ही अलहदा हो। दोनो का कुछ अन्योन्याश्रय सबध है।

साहित्य और विज्ञान में भिन्नता :

जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि साहित्य और विज्ञान की कार्यपद्धति बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। इसी भिन्नता के कारण जहाँ विज्ञान कारण बन जाता है, वहाँ साहित्य उस कारण के परिणाम का दिग्दर्शन कराता है, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव :

साहित्य और विज्ञान के संबंध में और एक बात पर विचार करना समीचीन होगा। वह है साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव। यह निर्विवाद है कि साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में पड़ता है। एक है, साहित्यकार के जीवन-दर्शन का क्षेत्र, दूसरा है साहित्य की विषय-वस्तु। जो युग वैज्ञानिक आविष्कारो से प्रभावित होता है उसमें लेखक के दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता का जोर स्वाभाविक है, जैसाकि आज है। आज का लेखक, कवि वैज्ञानिकता को छोड नही सकता है। कविता में जो पहले निराकार उडान मिलती थी, कल्पना का जो विलास मिलता था, कल्पना में जो चित्रात्मकता मिलती थी, वह आज नही मिलेगी। आज की कविता में चित्रात्मक कल्पना मिलेगी। उपमान यथार्थ जगत् के रहते हैं और कल्पना कल्पना के लिए नही की जाती है, उससे एक ध्वनि ही निकालने का प्रयास आज का कवि करता है। यह है विज्ञान का प्रभाव, जहाँ तक वस्तु के निर्वाह का सम्बन्ध है।

विषय-वस्तु पर भी विज्ञान का प्रभाव पडता है। आज के साहित्य में

विज्ञान जगत् के अनेक ऐसे विषय आने लगे है, जो पहले के साहित्य में नहीं आ सकते थे। पहले का साहित्यकार रेल की इंजीन, फैक्टरी के भोंपे को साहित्य की मर्यादा के अनुकूल विषय नही मानता था; पर आज ऐसी बात नही। आज किसी भी प्रकार के विषय पर प्रतिबन्ध नहीं है। यह वैज्ञानिक युग की ही देन है।

साहित्य और राजनीति

प्रत्येक युग की एक-एक आधिकारिक प्रवृत्ति होती है, जिसका उद्‌गम सामाजिक शक्तियों के बीच से होता है। मध्ययुग की वह आधिकारिक प्रवृत्ति धर्म था, १९ वी सदी में अर्थव्यवस्था और वर्त्तमान सदी में राजनीति है। अन्यत्र यह बात कहाँ तक लागू है, यह विवादास्पद प्रश्न हो सकता है; पर अपने देश और समाज में तो क्या धर्म, क्या सस्कृति, क्या शिक्षा, क्या साहित्य, सब जगह राजनीति की छाया पड़ रही है। अन्य क्षेत्रों में इसकी कैसी प्रतिक्रिया है, यह हमारा प्रतिपाद्य नही है; पर हम इतना अवश्य जानते है कि साहित्य के पिछले खेवे के जो जीवन्त लेखक-आलोचक है, वे अथवा आज के भी अनेक लेखक राजनीति के इस प्रभाव से अत्यधिक चिन्तित और सतर्क है। वे इस प्रभाव को साहित्य के लिए सर्वथा घातक मानते है। इस तरह के रुख के लिए उनके पास पर्याप्त ठोस दलीलें भी है। प्रमाण के रूप में वे छायावाद के उतार और प्रगतिवाद के ज्वार के साथ आनेवाली अनेक अधिकारी लेखको की रचनाएँ-कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास और आलोचनाएँ पेश करते है।

पर यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि पुराने साहित्यिको और नये लखकों के, जो कि साहित्य में राजनीति के प्रभाव को घातक मानते है, तर्कों में अन्तर है। पुराने साहित्यिक राजनीति के प्रवेश से इसलिए घबराते है कि राजनीति के मूल्य अन्ततः साहित्य के मूल्यो पर छा जाते है, साहित्य की "शाश्वतता" नष्ट हो जाती है और साहित्य-रचना के नाम पर पार्टियो के प्रचार-साहित्य और पैम्फलेट लिखे जाते है।

राजनीति से घबरानेवाले जो आज के लेखक हैं, वे वास्तव में कोरे सिद्धा-
न्तों के जरिए ही जीवन की गुत्थियों को सुलझाना चाहते हैं। वे अपनी
बौद्धिकता का दामन पकड़ कर बढ़ते हैं और भूल जाते हैं कि तात्कालिक
सामाजिक सत्यों से दूर रहनेवाली बौद्धिकता उन्हें हवा-महल में ले जाकर
छोड़ देगी। सामाजिक सत्यों से तात्पर्य जन-जीवन को आन्दोलित करने-
वाली शक्तियों से है। उन शक्तियों के आवर्त्त में घूर्णित होनेवाले गँदले फेन
और तिनकों से जिसे वितृष्णा हो जाती है और जो जीवन-धारा में उतरना
नहीं चाहती, वैसी ही बौद्धिकता आज के जीवन और साहित्य में राजनीति की
छाया देखकर साहित्यकार को युक्तिपोषण (Rationalization) की ओर
प्रेरित करती है। फिर वे साहित्य में राजनीति के प्रवेश को दलबन्दी का परिणाम
समझने लगते हैं।

इन दोनों दृष्टिकोणों में कुछ-न-कुछ तथ्य अवश्य है। राजनीतिक पूर्वग्रहों
के कारण डा० रामविलास शर्मा की आलोचनाएँ कुत्सित समाजशास्त्रीयता की
दलदल में जा फँसी हैं और यशपाल जैसे प्रौढ़ और अनुभवी कथाकार
की उपन्यास-कला की परिणति "मनुष्य के रूप" और "पार्टी कामरेड" में
हुई है। कविता की तो और भी दयनीय दशा हुई। इसका साक्षी कविवर
नागार्जुन की कविताएँ हैं। कविता की यह मात्र दुर्दशा नही, बल्कि उसका
भविष्य भी संदिग्ध हो गया है; क्योंकि प्रगतिवादी आन्दोलन ने काव्यवस्तु
को इतना परिसीमित कर दिया कि कविता के नाम पर पिटे-पिटाये भावों
और खोखली भावुकता का प्रदर्शन होने लगा। अननुभूत भावों की दुहराहट से
घोर मोनोटोनी (एकरसता) की सृष्टि हुई, जिसने एक ओर पाठकों को
कविता-मात्र से वितृष्ण कर दिया, दूसरी ओर कवियों को भी कला के
दायित्वों से मुक्ति दे दी। जब भावों में ही नवीनता और नयी अनुभूतियों का
आवेग नही रहा, तब फार्म और टेकनीक को नवीनता और काव्य-शिल्प की
सभावनाओं की खोज व्यर्थ ही है।

ऐसी कुंठा और बन्ध्यता से विरक्त आज के कुछ लेखकों ने, जिनके विचारों
का उल्लेख हम ऊपर कर चुके है, प्रतिक्रिया में बिलकुल उल्टी दिशा पकड़

ली है। इसके कई कारण हैं; पर उनका उल्लेख एक तो हमें विषय-वस्तु से दूर ले जायगा; दूसरे, हमपर भी कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दोषारोपण करने की गुंजाइश हो जा सकती है।

अस्तु, जब हम साहित्य में राजनीति के प्रवेश करने के सवाल पर विचार करें, हमें प्रतिक्रियाओं के रपटीले पथ से यथासभव दूर ही रहना चाहिए। इस प्रयास में साहित्यिक मूल्यों की सत्ता को प्रधानता देते हुए समाज-जीवन को आवेश-उद्वेग प्रदान करनेवाली शक्तियों को समझना होगा। उनसे दामन बचाकर चलने की कोशिश में हम आत्मलीन और असामाजिक होकर रह जायँगे। यह भय हमें सप्तक पर राग आलापनेवाले कवियों की अनेक रचनाओं को देखकर होता है, और वह भी इसीलिए कि आज ये ही कवि कुछ सक्रिय और सघटित रूप से लिखते हैं और इनका ही (अच्छे से अधिक बुरा) प्रभाव उदीयमान कवियों पर पड़ता है।

साहित्य में राजनीति का प्रवेश केवल राजनीतिक दलो के प्रचार की आवश्यकता पर नही हुआ है। इसका कुछ दूसरा ही बुनियादी कारण है। वह कारण तभी स्पष्ट होगा, जब हम समझ लेंगे कि साहित्य के क्षेत्र में राजनीति के आने का अर्थ किसी भी राजनीतिक पार्टी-विशेष के आदेशानुसार प्रचार-साहित्य तैयार करना नही, बल्कि जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए जनता का राजनीतिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार से अधिक सचेष्ट होना और फिर उसकी अनुभूतियों को, जिसका रग और टोन (tone) राजनीतिक है, साहित्य में ग्रहण करना है। साफ शब्दों में कह साकते है, आज हमारे जीवन में किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन राजनीति के माध्यम से ही संभव है। इसलिए वर्त्तमान सामाजकि गतिरोध को (जिसकी तह में मुख्यतया आर्थिक स्वार्थो का विकार है) दूर करने के लिए जनता राजनीति का भरोसा रखती है। इस राजनीति का साहित्यिक मूल्य इतने भर के लिए है कि यह नये समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील जनता की आशा-आकाक्षा, सुख-दुख को व्यक्त करती है। इस अर्थ में ही साहित्य की राजनीति-उन्मुखता सामयिक परिस्थिति का परिणाममात्र नही है, यह तो प्रगतिशील जीवन की चेष्टा है।

यह कोई नयी प्रवृत्ति भी नहीं है। चिरकाल से ही साहित्यकारों ने युग की आवश्यकताओं से प्रेरणा ली है। मध्य युग में धर्म के कारण जीवन के सूत्र उलझ गये थे, प्रेरणाएँ अवरुद्ध हो चली थीं। समस्याओं का निदान हमेशा धार्मिक सुझावों के जरिए हो पाता था। इसका असर साहित्य पर किस तरह पड़ता है, यह तुलसी के "रामचरित मानस" में स्पष्ट है। उसी प्रकार आज राजनीतिक क्षेत्र में ही सामाजिक जीवन के अनुभव-केन्द्र हैं, जिनकी अवहेलना साहित्य के लिए हानिकारक ही होगा? हाँ, यह अलग सवाल है कि क्या जनता का राजनीति की ओर इतना झुक जाना वांछनीय है? यह सवाल वस्तुतः साहित्य का प्रश्न नहीं रह जाता।

आज हमारे साहित्य में राजनीति की इतनी प्रमुखता जो आ गयी है, वह केवल सिद्धान्त-रूप में नहीं। यह तो यथार्थ अनुभूति का परिणाम है। संवेदनाशील हृदय जिन अनुभव-स्थलों को छूता है, वे राजनीतिक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत हैं। इसलिए साहित्यकार को जग-जीवन की अनुभूतियों से झगड़ना नहीं है; बल्कि आवश्यकता है उन अनुभूतियों की संतुलित अभिव्यक्ति की। साहित्य भाव-जगत् की वस्तु है। यदि भाव-विधान में परिवर्त्तन हो गया है, तो नयी भाव-वृत्ति को ही ग्रहण करना साहित्यकार का धर्म है, वह फिर जिस क्षेत्र से भावों को ग्रहण करना चाहे, करे। यदि उसने राजनीति की महत्ता को ग्रहण कर लिया है, तो ठीक ही है। पर इतने से उसका काम तो नहीं ही चलेगा; क्योंकि अच्छे-बुरे साहित्य की जाँच की कसौटी केवल विषय-वस्तु अथवा भाव-जगत् नहीं है। उनकी परख तो साहित्यिक मूल्यों के आधार पर भी करनी होगी। तभी साहित्य निरा "प्रचार का माध्यम" नहीं रहेगा।

साहित्य का भविष्य

कहना मुश्किल है कि साहित्य का भविष्य कैसा है। कौन-से साहित्य का भविष्य? अपने साहित्य का? या सारे साहित्य मात्र का? दोनों का जवाब देना है, तो पहले साहित्य के भविष्य पर ही विचार किया जाय। साहित्य का जन्म कैसे हुआ? कौन-सी सामाजिक शक्तियों ने साहित्य को जन्म दिया? इसके बारे में मतैक्य नहीं है। निर्विवाद हम इतना ही कह सकते हैं कि इन्सानी जरूरतों, इच्छा-आकांक्षाओं की भित्ति पर ही साहित्य की सृष्टि हुई। और जब-जब मानवीय आवश्यकताओं, इच्छाओ में परिवर्त्तन आया, साहित्य में भी तदनुसार परिवर्त्तन हुआ। जीवन और साहित्य, दोनो एक दूसरे के पूरक रहे हैं। हाँ, साहित्य में व्यक्त जीवन वास्तविक जीवन से कुछ भिन्न होता है। इसके कई कारण हैं। साहित्य का जीवन कुछ अनहोना-सा, आदर्शोन्मुख रहता है।

साहित्य की रचना क्यो कर सभव हुई? अभिव्यक्ति के लिये और कई सामाजिक कारणों की वजह से। साहित्य के पहले, समाज-वैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है, चित्र, नृत्य और संगीतकला जन्म लेकर प्रौढ़ हो चुकी थी। आदिम मनुष्य चित्र शायद इसलिये बनाता था, विशेष कर, जानवरों के, कि उन्हें पहिचाना जा सके, उनको मारने या उनका सामना करने के लिए पर्याप्त शिक्षा दी जा सके। सगीत और प्रथम कविता का प्रादुर्भाव भी शायद आदिम मनुष्यो में हिम्मत और जोश भरने के लिये, डर भगाने के लिये, सम्मिलित शक्ति का अन्दाजा लगाने के लिये, सामूहिक ताकत का अह्वान करने के लिये और अन्त में निराशा और थकान मिटाने के लिये हुआ होगा।

कई मानों में कविता और साहित्य के संबध में आज भी यही कुछ बातें कही जा सकती है। यों तो मानव-प्रगति और विकास की हद ही नही। इन्सानी हरारत और कर्म बेतरह आगे बढे हैं; लेकिन उसका भाव अभीतक आदिम है, कही कुछ तबदीली नही हुई है। और, क्या यह खतरनाक बात नही? इसकी तरफ

हमारा ध्यान जाना चाहिए। और, जब भावों का परिष्कार सभव नही हो पाया, तब इसका अर्थ यही हुआ कि ऐसी शक्तियाँ जो भावों का परिष्कार कर सकती है, अभी अपने में कारगर होने के लिए ताकत नही ला पाई है। साहित्य उनमें से एक तो अवश्य है।

साहित्य-चिंतना की प्रक्रिया पर एक सरसरी नजर डालें। मनुष्य में आदिम तटस्थता थी, फिर आदिम आत्मनिष्ठता आई। तटस्थता और आत्मनिष्ठता के स्वरूप से मानव की पहिचान आज भी पूर्ण रूप से हो पायी है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह आदिम मनुष्य के लिये असंभव था कि अपने बारे में कदाचित गंभीर होकर सोचे। प्रकृति की आश्चर्यजनक वस्तुओ को देखना, उनके बारे में कुछ निश्चित मत निर्धारित करना ही मानव-मस्तिष्क का शायद पहला बौद्धिक काम हुआ। इसीलिये हम देखते है कि सबसे पहले ज्योतिष-शास्त्र (astronomy) का विकास हुआ। चाँद, तारे और सूरज आदि के बादे में सर्वप्रथम मानव-जिज्ञासा जगी थी; उनको मानवीय रूप दिया गया। संध्या और ऊषा का नारीकरण, मानवीकरण, इस बात का प्रमाण है कि आदिम मनुष्य की वस्तुनिष्ठता वैज्ञानिक न होकर काल्पनिक थी। लेकिन इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि आदिम मनुष्य ने चिंतन के पहले प्रहर में अपने बारे में कुछ नही सोचा। अपनी दुनिया से जो चीजे शायद सबसे ज्यादा दूर है, उनके बारे में सोचा—आसमान के ग्रहो और नक्षत्रों के बारे में। हाँ, उनका रूप मानवीय दिया; क्योंकि संस्कृति और सभ्यता के बचपन में सोचने की प्रक्रिया और रुचि का केन्द्र सोचनेवाला स्वयं है। ज्योतिष के बाद पदार्थ-विज्ञान का विकास, उसके बाद रसायनशास्त्र का, उसके बाद जीवशास्त्र का, उसके बाद मानवशरीर-शास्त्र का, उसके बाद समाज-शास्त्र का, उसके बाद मनोविज्ञान का, इत्यादि। विकास की इस रेखा का अगर हम अध्ययन करेंगे, तो पता चलेगा कि दूर से अपने नजदीक आने की कोशिश मानव की हमेशा रही है। इस क्रम में उलट-फेर की कोई गुजाइश नही है।

साहित्य की प्रक्रिया भी कुछ ऐसी ही चली है। यह समानता कुछ

अकारण नही है। यह इसलिये है कि सोचने की प्रक्रिया इसी तरह चली है, चलती है। साहित्य में सबसे पहले प्रकृतिवाद (naturalism) आया। कुछ साहित्य के मर्मज्ञो का कहना है कि साहित्य में सबसे पहले यथार्थवाद (realism) का समावेश हुआ। यह एक अनुसंधान का विषय है। मेरी समझ से तो प्रकृतिवाद का यथार्थवाद से पहले आना लाजिमी है। स्मरण रहे, मैं यहाँपर साहित्य के तार्किक विकास की रेखा बतलाने की कोशिश कर रहा हूँ। गो, यह भी ठीक है कि साहित्य के विकास की रेखा तार्किक विकास की रेखा के अगल-बगल होकर ही चलती रही है। प्रकृतिवाद के दौर में साहित्य में मानव-चित्रों और मूल्यो का सर्वथा अभाव पाया जाता है। वर्णन और किस्सापन इस आन्दोलन के प्रमुख टेकनीक रहे है। एक उदाहरण देने से बात साफ हो जायगी। एक ड्राइंग रूम को लीजिये। प्रकृतिवादी 'ट्रिटमेन्ट' के मुताबिक ड्राइंग रूम के करीब-करीब सारे 'डीटेल' मिल जायँगे। कुर्सियाँ कितनी है, कहाँ पर है, टेबुल कैसा है, कहाँपर है, किस माप का है, किस रग का है, कितना दाम हो सकता है, पियानो के रूप रग से लेकर आवाज तक की तस्वीर मिलेगी। कमरे में कितने चित्र है, उन चित्रो की विशद व्याख्या भी मिल जायगी। किसका कमरा, कौन-कौन व्यक्ति इसमें अक्सर बैठते है, आदि, सब चीजो के बारे में काफी जानकारी मिल जा सकती है। "ट्रिटमेन्ट' कुछ ऐसा होता है कि मानव-पात्रो को भी हम कुरसी या टेबुल या पियानों की तरह वस्तुओं के अन्तर्गत ही शुमार करने लग जाते है; मनुष्य नही, वस्तु के रूप में। उनके दुख और सुख, हास और कदर्य, अर्थात् उनके मानवीय गुणों से हमारा परिचय कदापि नही होता है। प्रकृतिवाद के वाद को आदिम वस्तुनिष्ठा का एक अभिन्न रूप हम मान सकते है। अपने बारे में लिखते हुए भी, अपने को प्रमुख स्थान देते हुए भी अपने को निरी वस्तु बनाकर विश्लेषण करना प्रकृतिवाद का ध्येय था।

साहित्य की प्रगति में दूसरा स्थान आता है यथार्थवाद का। ऊपर दिये गये उदाहरण को ही लें। यथार्थवाद के अन्तर्गत प्रकृतिवाद की सारी चीजें तो रही, साथ-साथ मानव-स्थितियो के वर्णन, चित्रण को भी जगह मिली यथार्थ-

वादी अन्दाज में। इसमें कल्पना और आदर्श के लिये कोई गुंजाइश नहीं। दुनिया में, आसपास मे जैसा होता है, जैसी जिन्दगी बिताई जाती है, उसीका चित्रण यथार्थवादी आन्दोलन मे किया जाय। पात्र अथवा चित्रण में कोई अस्वाभाविकता न आये। ऐसा न हो कि साहित्य स्वर्ग की परियों के प्रेमोच्छ्वास की कहानी बन जाय। यथार्थवाद ने एक कदम आगे रखा; पर जमाने की रफ्तार ने इसे भी पुराना और निकम्मा बना दिया। एक तो इसकी आदर्शहीनता, स्वप्न की कमी; दूसरे यह एक गलत किस्म के प्रकृतिवाद में आगे जाकर परिणत हो गया—एक तरह की पत्रकारिता में। साथ-साथ यह सवाल उठा कि यथार्थ चित्रण क्यों? मानव-जीवन की प्रगति में विश्वास रखनेवाले साहित्यिक ऐसा तर्क करने लगे कि इसान की तरक्की का एक मरकज हो, मकसद हो और साहित्य अपनी असख्य शक्तियों द्वारा उस मकसद को हासिल करने में मदद दे। वह काल्पनिक चित्र तो कभी न रखे, यथार्थवादी चित्र पेश करे और साथ-साथ विकास के कार्यक्रम मे दिलचस्पी लेकर उसी दिशा में सहायक बने। इन प्रेरणाओं की वजह से एक नये वाद का जन्म हुआ, जिसे समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं। रूसी क्रान्ति के जमाने में लेनिन और गोर्की ने इसी विचारधारा का प्रचार किया। अच्छी चीज साबित हुई यह। लेकिन बाद में चलकर इसका भी यथार्थवाद के घेरे में पतन हो गया। पतन को अगर छोड़ भी दें, तो भी समाजवादी यथार्थवाद ने 'दूसरी जमात' (secondary group)—राजनीतिक और आर्थिक सकट, विषमता, सगठन आदि का चित्र पेश किया; लेकिन पहली जमात (primary group) ने परिवार, पड़ोसी, प्यार, मैत्री, ममता, खेल आदि से साहित्य को वचित रखा। यह स्मरण रहे, पहली जमात ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाती-सँवारती है। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य की प्रगति रुक गई। आज की दुनिया का साहित्य यहीपर आकर रुक गया है। सबसे उन्नत और समृद्धिशाली साहित्य का भी यही हाल है। विश्व-कम्युनिस्ट-आन्दोलन ही साहित्य के इस पतन के लिए जिम्मेदार है।

एक नवीन साहित्य-दर्शन की आवश्यकता है। वह ऐसा साहित्य-दर्शन

इस देश में द्राविड-पूर्व और द्राविड सभ्यता का प्रकाश फैला हुआ था। उस सभ्यता की निर्मात्री जातियों में संगीत की अपनी पुरानी परम्परा थी, जो आज भी दक्षिण भारत के लोगोंमें किसी अंश तक विद्यमान है। प्राचीन काल में तामिलों के कुछ संगीत-ग्रन्थ प्रमुख थे, यथा (१) "अगस्त्य", जिसके कुछ ही सूत्र उद्धरण के रूप में अन्य ग्रंथो में पाये जाते हैं, (२) "इन्द्र काकलीयत" (यमलेन्द्रकृत) (३) गुणानूल, (४) कुथानुल, और (५) भारत आदि। इन ग्रन्थो के अधिकांश भाग नष्ट हो गये है। जो अंश उपलब्ध है, वे भाष्यकारों द्वारा दिये गये उद्धरणों के रूप में।

सारंगदेव दक्षिण भारत में ईसवी सन् की १४ वी सदी में पहुँचे थे। उनके पहुँचने के पहले दक्षिणी संगीत के जो प्रकार नष्ट हो गये थे, उन्हें सारंगदेव ने मार्गी शैली का संगीत लिखा है। उनके द्वारा वर्णित कुछ रागों के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार आर्य-द्राविड शैली का निर्माण हुआ। मार्गी शैली के सम्बन्ध में लिखा है कि इस शैली का निर्माण भरत मुनि ने किया और उन्होने गंधर्वो और अप्सराओ को सिखलाया। इस शैली में वाद्य-यंत्रो के अलावा नृत्य का भी उपयोग किया जाता था। इस शैली के गायकों को शास्त्रीय विशुद्धता का पूर्ण निर्वाह करना पड़ता था। स्वर-जगत् की असीम संभावनाओ की खोज करने का कोई अवसर नही था; इसलिए इस शैली का संगीत अन्त में कुछ रूढ़ियों के रूप में बचा और फिर नष्ट हो गया। जन-जीवन के अमृत-सम्पर्क से दूर रहनेवाली कला का यही अन्त होता है।

इसके विपरीत जन-जीवन में प्रचलित संगीत की 'देशी शैली' थी, जिसके विकास में गायको की स्वाधीनता ने बड़ी सहायता पहुँचायी। इसकी लोक-प्रियता इतनी बढी कि मार्गी शैली स्वत. लुप्तप्राय हो चली। दक्षिण भारत के संगीत पर लिखित पुस्तक "चतुरदंडी प्रकाशिका" में यहाँ तक लिखा है कि आज हमारा जो भी संगीत है, वह 'देशी शैली' का है और इसपर 'मार्गी शैली' का लेशमात्र भी प्रभाव नही है।

मार्गी और देशी शैली की यह प्रतिद्वंद्विता लाक्षणिक अर्थ में आज भी हम

देख रहे हैं। अगर हम आज के शास्त्रीय सगीत को मार्गी शैली का मान लें, तो फिल्मों के हल्के-फुल्के गाने देशी कहे जायँगे।

भारतीय सगीत के आचार्यो का मत है कि प्रत्येक स्वर विभिन्न वस्तुओं के अणुओं पर विशेष रूप से आघात करता है। इसके फलस्वरूप नाना प्रकार की प्रतिक्रियाओ और सवेदनाओ की सृष्टि होती है। प्रभाव और स्वरूप के आधार पर भरतमुनि ने स्वरो को छ रागों मे विभक्त किया है। फिर प्रत्येक राग के साथ पत्नी-रूप में राग-रानियाँ हैं, फिर उनकी सन्तानें।

स्वरो के वर्गीकरण का प्रयास बहुत जमाने से चला आ रहा है। इस सम्वन्ध में सवसे पहले तो भरतमुनि का नाम आता है। उनके "नाट्यशास्त्र" में एक साथ ही नृत्य, अभिनय और सगीत की चर्चा है। उनके बाद ९ वी सदी के नारद का नाम आता है, जिनकी पुस्तक है "सगीत मार्त्त ड"। सारगदेवकृत "सगीत रत्नाकर" तो इस विषय का अनिवार्य ग्रन्थ ही है। इन ग्रन्थों के आधार पर ही आजकल हमारे शास्त्रीय सगीत का निर्देशन होता है।

आधुनिक काल मे भी अनेक सगीताचार्यों ने इस दिशा में अनुसंधान किये हैं और इस कला को आगे बढाया है। उनमें स्व० पडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और पडित भातखडेजी के नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन महान कलाकारो की परम्परा में कई अन्य उल्लेखनीय सगीतज्ञ है। पर सबके बावजूद शास्त्रीय सगीत का भविष्य विशेष उज्ज्वल नही दीखता। उनके स्थान पर सिनेमा और रेडियो के हल्के गाने लोकप्रिय हो चले है। इस प्रवृत्ति की हम कितनी भी भर्त्सना करें, इसकी बाढ को रोकना सम्भव नही। इस प्रकार के सगीत पर कुछ तो अपने सगीतशास्त्र का प्रभाव है और कुछ यूरोपीय सगीत की आर्केष्ट्रा का। इसके समुचित विकास पर ही हमारे सगीत का भविष्य निर्भर करता है। यह कडवा सत्य है और हमें स्वीकार करना है; क्योंकि हम देख रहे हैं कि किस प्रकार हमारे सामने से शास्त्रीय सगीत लुप्त होता जा रहा है। रूढ़ियो की दीवार पर कितनी भी मीनाकारी और गुलकारी क्यों न की जाय, जन-जीवन के उद्दाम प्रवाह में उसका कटकर गिर जाना स्वाभाविक है, ऐतिहासिक सत्य है।

कल्पना

कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; लिहाजा इसका सम्बन्ध दिमाग से है और यह सिर्फ मनुष्यो तक ही सीमित है। कल्तना का वर्णन हम दो दृष्टिकोण से करेंगे। एक कल्पना का मनोवैज्ञानिक पक्ष होगा और दूसरा साहित्यिक। पहले पक्ष के अन्तर्गत हम कल्पना की परिभाषा और उसकी क्रियाओ का वर्णन करेंगे और दूसरे के अन्तर्गत साहित्य पर इसके प्रभाव और इसकी अहमियत का। जाहिर है, मनोवैज्ञानिक पक्ष कल्पना की बुनियादी बनावट से सम्बन्ध रखता है और साहित्यिक पक्ष उसके गुण और परिमाण सम्बन्धी खासियतों से।

हमने ऊपर कहा है कि कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; किन्तु 'याद' (memory) और कल्पना मे अन्तर है, यद्यपि दोनो ही उच्च मानसिक क्रियाएँ है। 'याद' चाहे वह दृष्टि-सबघी हो अथवा नही, हमेशा वास्तविक बीती हुई घटनाओ का प्रतिनिधित्व करती है, वह प्रतिरूप (representation) ठीक नही भी हो सकती है। ऐसा भी सम्भव है कि हम उन घटनाओं के कुछ अश भूल गये हों और कुछ बदले में जोड दिये हो, जो असलियत में हमारे कल्पित चित्र ही है। किन्तु 'याद' का सम्बन्ध हमेशा बीती घटनाओ से है और अतीत में हमारा गहरा आकर्षण 'याद' पर यकीन करने को मजबूर करता है।

दूसरी ओर, कल्पना स्वतन्त्र है। बीते अनुभवों की कल्पना करने की जरूरत आपको नही है। आप अपने मस्तिष्क से चीजो को इकट्ठा करके रख सकते है। इस भिन्नता की जड अक्रियात्मक (passive) कल्पना में निहित है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। मिसाल के लिये जब आप किसी लेखक भी नायिका का वर्णन पढ़ते है, आप उसकी आँखें, उसके बाल तथा उसके हाथ आदि के बारे में पढते है। और, तब आप उसकी सुन्दरता को अपनी कल्पना में खीच लाते है और प्रत्येक पृथक् कल्पना-चित्र (जैसे नाक, आँख आदि)

आपकी मर्जी पर भविष्य की घटनाओ से सयुक्त होने के लिये निर्भर है। अगर आपने नायिका को देखा होता, तो आप उसे सिर्फ एक और पूर्ण कल्पना-चित्र के रूप में याद करते। जब आप निष्क्रिय कल्पना से सक्रिय कल्पना की ओर जाते है—जब आप वस्तुओं के एक बडे ढेर से किसी कलात्मक मकसद की पूर्ति के लिये एक चीज की रचना करते है, तब जिस चीज की सृष्टि होती है, वह सर्वथा नई है, अनुभवो की नकल हरगिज नही।

कल्पना दो तरह की होती है—एक तो क्रियात्मक (active) और दूसरा अक्रियात्मक (passive)।

(१) अक्रियात्मक कल्पना के मिसाल के तौर पर किसी उपन्यास के पाठक को लीजिये। एक मनोरजक कहानी के जुमले कल्पित और चित्रित दृश्यो के अनुवाद-स्वरूप है। लेखक ने अपने प्लॉट को यथासम्भव विस्तृत किया है, उसे शब्दो के रूप में चित्रित किया है। कल्पनाशील पाठक उन शब्दो में मशगूल होकर लेखक के चित्रो का पुन चित्रण ही करता है।

दूसरा मिसाल, उपन्यासो को लीजिये। अगर वे उपन्यास अच्छे है, तो पाठक को कल्पना को आधार मिलता है और मिलती है गति और प्रेरणा। और, इसके प्रतिकूल वे बुरे है, तो पाठक की कल्पना घुटकर रह जाती है। कभी-कभी चित्र कलाकार की कल्पना-शक्ति के अभाव का प्रदर्शन करते है। ऐसी हालत में पाठक की कल्पना दब (Suppressed) जाती है, क्योकि जब कभी वह एक दृश्य की कल्पना करने लगता है, चित्र की यादगार उसके रूपको को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और अपनी बृहत् शक्ति के द्वारा उन्हें चेतना (Consciousness) के बाहर फेंक देती है। 'लिटन' की "लास्ट डेज आफ पाम्पियाइ" को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। यह लेखक की कल्पना का द्योतक है और पाठको की तरफ से इसी कल्पना की उम्मीदवार है।

कभी-कभी कलाकार पाठको की कल्पना के ऊपर बहुत-कुछ छोडकर तटस्थ हो जाता है। और, कभी-कभी कोई एक घटना बहुत बार इतने विस्तार से चित्रित की जाती है कि पाठक को ऐसा आभास होता है कि कलाकार जैसे कह रहा है—"तुम्हारे अन्दर कल्पना-शक्ति है ही नही। मुझे अपने

पास आने दो सहायता के लिये।" इसका नतीजा यह होता है कि जो बात हास्य की प्रेरणा जगाती, वह क्रोध और ईर्ष्या का कारण बन जाती है।

(२) क्रियात्मक या रचनात्मक कल्पना (Active or creative)। इस तरह की कल्पना एक क्रियात्मक ध्यानावस्था (Attention) के बाद आती है। जब कोई शिल्पकार राम या कृष्ण की मूर्त्ति बनाना चाहता है, तो वह उनसे संबंधित पौराणिक कथाओं की मीमांसा करता है और खास-खास लक्षणों को चुनकर रख लेता है। बाद में, इन्ही चुने हुए ट्रेट्स (traits) को एक आदर्श मूर्त्ति के रूप में उपस्थित करता है, तब क्रियात्मक रूप से निर्मित किया गया चित्र एक मूर्त्ति के रूप में प्रकट किया जाता है। इसी तरह जब कोई ऐक्टर 'हैमलेट' का पार्ट करना चाहता है, तो वह खेल के हर शब्द और क्रिया की छान-बीन करता है, जो इस खेल में खास तौर से रखे जानेवाले हैं और सक्रिय रूप से अपने को उस चरित्र में लीन कर देता है। इस तरह अपनी छान-बीन समाप्त करने के बाद 'हैमलेट' का जो स्वाभाविक वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया जाता है, वह सम्पूर्ण हैमलेट-कल्पना, जो क्रियात्मक ध्यानावस्था की हालत में शक्ल अख्तियार कर रही थी, का प्रदर्शन मात्र है। जब एक 'रोमैन्टिक' लेखक किसी कथानक की सृष्टि करता है, वह अपने प्लॉट की हर तफसील पर प्रयास करता है; जैसे--वह गणित की कोई समस्या है और वह उसे हल कर रहा हो। उस कहानी की गति इतनी सुगम होती है कि जब आप एक घटना से दूसरी घटना पर पहुँचते हैं 'तो सारी घटनाएँ एक खास केन्द्रबिन्दु पर झुकती हुई-सी प्रतीत होती है, जो कहानी की सबसे प्रमुख घटना है। यह कहानी हमारे उन कल्पना-चित्रों का मौखिक अनुवाद है, जो पूर्वगामी प्रयास के फलस्वरूप बनते है। संक्षेप में, जब कभी किसी वस्तु की रचना होती है—चाहे वह चित्रकला हो अथवा मूर्त्ति-कला, संगीत हो या साहित्य अथवा विज्ञान, वह रचना एक लम्बी अवधि की सक्रिय ध्यानावस्था के कल्पना-चित्रों की उपज है।

वाल्टर पेटर, अपने जमाने के अंग्रेजी गद्य साहित्य के सबसे बड़े साहित्यिक, ने कहा है कि अच्छी चीज लिखने के लिये उपमाओं (जो शब्दों

के द्वारा प्रकट होतीं है) की अन्त प्रवृत्ति की भावना होनी चाहिये यानी शब्दो की आत्मा को तबतक ध्यान में रखना चाहिये (जैसे—निस्तेज, सम्बद्ध, लेख, उत्तेजना आदि) जबतक कि उन शब्दो का इस्तेमाल हमेशा अचेतन (Unconscious) में एक कल्पना-चित्र की सृष्टि करे, जो इसके मूल अर्थ का चित्रण करता हो। जब हम किसी नक्शे की नकल करना चाहते है, तो एक पतला कागज उसके ऊपर डालकर रूप-रेखा खीच लेते है। उसी तरह शब्द पतले कागजो की तरह होने चाहिये, जो लेखक के कल्पना-चित्रों की नकल करने की क्षमता रखते हों और उन चित्रो के उतने ही निकट हो कि जब कभी पाठक उस पहले कागज को लेखक के कल्पना-चित्रो पर से उठा ले, तो वे उतने ही सत्य और स्वाभाविक प्रमाणित हो।

साहित्यिक पक्ष—साहित्य और कल्पना में गहरा रिश्ता है। वही रिश्ता, जो फूल और सुगन्ध, दीपक और परवाने, दिन और रात तथा बादल और बूँदो में है। कल्पना के बगैर साहित्य की रचना की बात ही हम नही सोच सकते। चाहे आप कविता कर रहे हो या कहानी लिख रहे हों—आपको कल्पना करनी ही पडती है। कविता और कहानी की बात तो छोडिये, जब आप किसी दृश्य या घटना का वर्णन करते है, जिसे आपने स्वय देखा और महसूस किया है या जब आप ऐसे लेख लिखते है जो वर्णनशील (descriptive) कहे जाते है, आपको कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। अन्तर इतना ही है कि कविता, कहानी या गद्य-गीत आदि में कल्पना ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लेती है तथा लेख आदि मे कम। इसलिए अन्तर डिग्री का है। किसी भी साहित्य की रचना के लिए चाहे वह गद्य हो या पद्य, कल्पना की हस्ती अवश्यभावी है। कल्पना एक आधारभूमि है, जिसकी सतह पर साहित्य का निर्माण होता है।

चित्र-कला में कल्पना रगों और कूचियों के सहारे व्यक्त होती है और जिस दृश्य या वस्तु की रचना होती है, वह चित्रकारी की कल्पना है। रग और कूची तो एक माध्यम-मात्र है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि वह माध्यम बहुत ही परिमार्जित और कला की दृष्टि से श्रेष्ठ

हो, जो चित्रकार की कल्पना को ठीक-ठीक और उतनी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सके। इसी तरह मूर्त्ति-कला में कल्पना की हस्ती मूर्त्तियों तथा दूसरी-दूसरी वस्तुओ में निहित है, जो शिल्पकार बनाता है। यहाँपर छेनी और पत्थर उसकी कल्पना का माध्यम है। साहित्य में कल्पना कविता, कहानी, लेख, नाटक आदि की शक्ल अख्तियार करती है और उसका माध्यम है शब्द। कल्पना शब्दो के माध्यम से ही जाहिर होती है। इसलिए शब्दों के इस्तेमाल में प्रवीणता आवश्यक है।

कल्पना परोक्ष रूप से भी साहित्य पर असर डालती है। यह हमको सामाजिक और सास्कृतिक पैटर्न के मुताबिक चलने को मजबूर करती है। हम नंगे स्त्री-पुरुष की कल्पना स्वाभाविक रूप से नही कर सकते है और अपनी कहानी में ऐसे चरित्रो का चित्रण नही कर सकते, जो हमेशा नगे रहें। इस कल्पना पर हमारी सस्कृति का प्रभाव है। यहाँपर एक सवाल उठता है, कल्पना किन-किन तत्त्वों से प्रभावित होती है? हमारी कल्पना दो तत्त्वों से निर्धारित होती है। एक है—वाह्य वातावरण और दूसरा—मानसिक या मनोवैज्ञानिक। बाह्य वातावरण के अन्तर्गत आते है—भूगोल, यानी जलवायु, तापमान, वर्षा और स्थिति, सस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, वहाँ-की शासन-व्यवस्था, आर्थिक रूप-रेखा आदि। मिसाल के लिए, आप ग्रीन-लैंड में रहनेवाले लोगोकी जिन्दगी की कल्पना स्वाभाविक हालत में कर ही नही सकते। आप वहाँकी ठण्ड और सर्दी की कल्पना तभी करने की कोशिश करते होगे, जब आप वहाँके बारे में पढते है। बात-बात में ऐसी कल्पना नही की जा सकती। इस तरह वाह्य वातावरण से कल्पना निर्धारित होती है।

मानसिक वातावरण है इसान की अपनी मानसिक प्रतिक्रियाएँ, जो एक खास घटना, दृश्य या वातावरण के किसी भी तत्त्व को देखकर होती है। इसमें इसान की मनोवृत्ति, भाव (emotion), दिमागी ताकतें और उसका अपना दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है। तो, साहित्य पर प्रभाव डालनेवाली कल्पना इन सारी बातों को लेकर चलती है। कल्पना के पीछे इस तरह बाह्य और अन्त.वातावरण की लम्बी कहानी है। इसीलिए हर इसान की कल्पना भिन्न

होती है; क्योंकि हर व्यक्ति का मानसिक वातावरण अलग होता है। किन्तु इसका यह मतलब नही कि मानसिक वातावरण एक अलग चीज है और बाह्य वातावरण अलग। ये दोनो वातावरण एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते है। दोनो अन्योन्याश्रित है। बहरहाल कल्पना दोनो वातावरण की सम्मिलित उपज है।

एक बात और। कल्पना हमारे विचारों को शृंखलाबद्ध और सिलसिलेवार बना देती है और इसके साथ-साथ हमें किसी चीज पर केन्द्रीभूत होने की कला भी बताती है।

स्वप्न—अवचेतन का सत्य

विलियम जेम्स ने एक बार कहा था कि कुछ मनुष्य २४ घंटे में केवल १५ मिनट चिंतन करते है और शेष तो इस शक्ति का प्रयोग ही नही करते। ऐसा प्रतीत होता है कि जेम्स साहब का कथन बहुत हद तक सत्य है। मनुष्य का ध्यान उसकी बनी हुई आदतों और पारस्परिक क्रियाओ तक ही अधिकांशतः रह जाता है। चिंतन करना हमारी सब क्रियाओ में सबसे कठिन दिखाई देता है। सुस्ती शायद मनुष्य के रग-रग में छायी हुई है। अपनी शक्ति के उपयोग में हम शायद आवश्यकता से अधिक कंजूस हो जाते है। तर्क-शास्त्र कहता है कि मनुष्य विवेकशील पशु (rational animal) है; परन्तु यह कहना बेहतर होगा कि मनुष्य तर्काभास करनेवाला (rationalising) पशु है।

हमलोग हर एक घटना को अपने ही विचारो के साँचे में ढाल लेते है। हमारे सामने हर समय अभियोगिता करने की समस्या है। केवल परम्परा पर चलने से वर्त्तमान जीवन में सफलता नही प्राप्त हो सकती है। जीव-विद्या-विज्ञान (biology) हमको चेतावनी दे रहा है कि हर समय जो परिवर्त्तन हो रहा है उसके साथ-साथ हमको भी परिवर्त्तन लाना है। इसके लिए हमको

जीव-आधार-प्रवृत्तियों और अन्य मानसिक अवस्थाओ का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान ने वताया है कि मनुष्य के व्यवहार में वहुत प्रकार की प्रेरणाएँ काम करती है। इनमें से कुछ सीखी हुई (learnt) और कुछ जन्म-जात (unlearnt) होती है। इनमें कुछ शारीरिक हो सकती है, जैसे—भूख-प्यास आदि, कुछ सामाजिक हो सकती है, जैसे—जाति का विकास, अन्य लोगों से राग-द्वेष, सहानुभूति और कुछ प्रेरणाएँ वैयक्तिक भी हो सकती है। यह विभाजन पूर्णत सत्य नही हो सकता है; परन्तु हमारे वर्त्तमान प्रश्न के लिए कामचलाऊ माना जा सकता है। प्रश्न उठता है कि स्वप्न-अवस्था में कौन-से सिद्धान्त काम करते है?

साधारणत: जव हमको सवेग होता है, तो हमारा मानसिक सतुलन कुछ समय के लिए बिगड जाता है और फिर दोबारा पहली अवस्था में आ जाता है। परन्तु वह अवस्था विना एक प्रभाव डाले नही जाती है। भूकम्प, एक शिशु के प्रति उसकी स्वर्गीय माता का प्यार, एक अध्यापक का कक्षा में एक विद्यार्थी को अपमानित करना, यह सव अपना स्थायी प्रभाव डालते है। कहा जाता है कि महाभारत का कारण यही था कि द्रौपदी ने दुर्योधन को एक बार घर पर बुलाया था और उसकी अज्ञानता की खिल्ली उडायी थी। इसी तरह कई उदाहरण दिये जा सकते है। इन सबसे प्रमाणित होता है कि वर्त्तमान की जाग्रत अवस्था ही पूर्ण मन नही है, वल्कि एक और महान क्षेत्र भी है, जिसको "अचेतन" कहा जा सकता है। समुद्र के स्थल पर बहते हुए एक बरफ के टुकडे की तरह मन का $\frac{1}{10}$ भाग चेतन है और $\frac{9}{10}$ अचेतन रह जाता है। यह भाग गतिशून्य नही है; बल्कि हर समय सक्रिय रहता है। यह अचेतन-क्षेत्र अधिकतर हमारी नैतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओ से संबंधित रहता है। चोरी, अन्याय, दुख, चिड़चिड़ापन, घमड, रति, वासना आदि सब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से "रोग" है। ये सब क्रियाएँ कुछ व्यक्तियो के नियन्त्रण के बाहर होती है। यहाँ हम टेवलेट और अन्य रसायनो से

चिकित्सा नही कर सकते है; क्योंकि इनका आधार मनोवैज्ञानिक है। ऐसे मनुष्यो को हम असाधारण भी नही कह सकते है, क्योकि साधारण और असाधारण मनुष्य में प्राकारिक अन्तर नही है; बल्कि अश का अन्तर है। दोनो का मूल सिद्धान्त एक है। वृक्ष एक है, अन्तर केवल शाखाओ में है—क्योकि दोनों व्यवहार-जीवन में एकत्रित पाये जाते है। इसी कारण हमारी रुचि साधारण व्यवहार और नैतिक शास्त्र में होती है।

मानसिक अवस्था का अध्ययन करने मे वातावरण का बहुत मुख्य स्थान है। हमारा गत अनुभव एक ऐसी नीव है, जिसपर पूर्ण जीवन निर्भर करता है। फ्रायड का कहना है कि पहले ५ वर्षों मे हमारे पूर्ण जीवन का नक्शा तैयार हो जाता है। वह कहता है कि मानसिक रोग सब अर्जित होते है। रोग की प्रवृत्ति वशानुक्रमिक हो सकती है, जैसे—ओजस्वी स्वभाव। इन सबके अच्छे या बुरे विकास पर हमारा वातावरण बहुत प्रभाव डालता है। जितना अधिक सघर्ष होगा, उतनी ही हमारी चेतना जाग्रत होगी। हमारी अवस्था का ज्ञान हमारी चेतना के विकास का कारण है। एक ही घर में एक बालक कवि, दूसरा डाक्टर, तीसरा कलाकार और चौथा पागल हो जाता है। एक पागल अक्सर एक सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाला (potential genius) भी हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि यह सब कैसे होता है और क्यो होता है। मनोविज्ञान हम को बताता है कि इन सबमें हमारे "अचेतन" मन का बहुत हाथ है। हर स्थान और समय में मनुष्य के लिए एक ऐसा "कोड" (code) होता है, जिसके नियमो का पालन करना उसके लिए आवश्यक है। परन्तु आजकल का जीवन बहुत जटिल हो गया है। मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओ का समाज के मनगढन्त विचारो के साथ सघर्ष होता है, जिसका परिणाम दुख, निराशा इत्यादि होते है। चेतन अवस्था में बहुत-सी इच्छाएँ अतृप्त रह जाती है, जिनके कारण अचेतन मन पर बहुत प्रभाव पडता है। देखने में आया है कि बहुत लोग लिखने या बोलने में गलतियाँ (slips of tongue) करते है। कई लोग बार-बार हाथ या किसी और अग को धोते है। कुछ सर्वदा अपने मे व्यस्त रहते है और कुछ समझते है कि हम राजा है। वातावरण के सघर्ष के कारण इच्छाओ का निग्रह

(repression) और प्रतिरोध (resistance) होता रहता है। ऐसे सब रोगो में हमारा "नैतिक कोड" (moral code) ढीला पड जाता है। स्वप्न-अवस्था में भी ससार की समीक्षा बहुत कम हो जाती है। वहाँ आदमी अपनी कल्पना के अनुसार स्वय को देखकर झूठी सात्वना दे सकता है। वहाँ एक पुरुष के लिए माँ, पत्नी, बहन, बेटी इत्यादि सब एक हो जाती है। विश्लेषण द्वारा रोगी लोगोने इन चीजो को बताते हुए यह प्रमाणित किया है कि हमारे अचेतन ने जन्म से अब तक सब अनुभवो को सँभालकर रखा है। विश्लेषण (psychoanalysis) में वैज्ञानिक एक वैरागी की तहर रोगी के दु.ख-सुख में स्वय नही डूब जाता है; बल्कि निग्रह किये हुए विचारो को "ऑपरेशन" की तरह बाहर निकालता है।

मनोविज्ञान का कहना है कि स्वप्न-अवस्था एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें तृप्त इच्छाओ को पूर्ण होने का अवसर मिलता है।" Dreams are wish-fulfilments of desires!" जिस प्रकार हमारी भाषा शब्दों द्वारा हमारे विचारो को प्रकट करती है, उसी तरह स्वप्न विचारो को अचेतन द्वारा प्रकट करता है—स्वप्न एक प्रकार की प्राकृतिक और व्यक्तिगत मानसिक भाषा है। Dream is a natural and individual psychical language.

फ्रायड के कथनानुसार स्वप्न में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते है—एक तो अतर्गत (latent) और दूसरा प्रत्यक्ष (manifest)। जिन पदार्थों को हम स्वप्न में देखते है, वे सब जाग्रत अवस्था से ही प्राप्त होते है। इनका वास्तविक अर्थ कुछ वैज्ञानिक विधियों द्वारा प्राप्त होता है। इनका कहना है कि हमारे विचार कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने स्वप्न में आते है। प्रश्न उठता है कि यह परिवर्त्तन क्यो होता है और किन सिद्धान्तो के अनुसार होता है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि हमारे स्वप्न हमारी निद्रा के अभिभावक है। असन्तुष्ट वासनाएँ, जो कि अचेतन में धकेल दी गयी थी, अगर उसी आकार में प्रकट हो जायँ, तो स्वप्न देखनेवाला शीघ्र ही उठ जाता है। जैसे, कुछ व्याकुलता के स्वप्नो (anxiety-dreams) में देखा गया है कि अगर

राजा की मृत्यु हो, तो मनुष्य सोया रहता है। परन्तु अपने पिता की मृत्यु में जल्दी घबरा कर उठ जाता है। वस्तुओ के आकार के बदलने से हमारा शारीरिक तनाव अधिक सुविधा से हट जाता है। इसीलिए कुछ प्रतीको (symbols) से काम लिया गया है। यह मनगढत नही है; बल्कि एक देश की सस्कृति, जनता के अन्धविश्वास, कविता, आपस के माजाक और मानसिक रोगियों के इतिहास (case-histories) का विश्लेषण करके बनाये गये है। हम देखते है कि एक देश का झडा उसके राजनैतिक, सास्कृतिक और दूसरे मुख्य गुणो का सकेत करता है। सफेद रग पवित्रता का और लाल रग लालसा का सकेत करता है। वैसे ही हर एक वस्तु का बहुत प्रकार से सकेत किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अभी तक इस कार्य में सफल नही हो सके है कि हर हालत में कौन-सा साकेतिक अर्थ एक वस्तु के लिए सत्य हो सकता है, परन्तु स्वप्न देखनेवाले के भूत, वर्त्तमान और भविष्य का अनुभव लेकर हम कुछ अदाज अवश्य ही लगा सकते है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न की वस्तुएँ अधिकतर रति-अगों का सकेत करती है। स्वप्न में असली अर्थ प्राय अमुख्य भाग में पाया जाता है। एक वस्तु कई पदार्थों का सकेत कर सकती है। कई स्थानो पर स्पष्ट वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती है। यह सब एक जटिल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

फिशर साहब अपने 'साधारण मनोविज्ञान' (पृष्ठ ४१२) में एक स्वप्न का अर्थ इस प्रकार निकालते है। एक २० वर्ष की नवयुवती को एक ५० वर्ष के पुरुष से प्रेम हो गया। यह पुरुष उसके पिता की आयु का था। उस लडकी ने इस इच्छा का निग्रह किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसको हिस्टीरिया हो गया। उन्ही दिनों एक नवयुवक ने उस लडकी मे काफी रुचि दिखाई और उसके साथ विवाह भी करना चाहा, परन्तु कोई उत्तर नही मिला। एक दिन उसको यह स्वप्न आया—वह अपनी बहन के घर गयी, जहाँ दो आदमी बैठे थे। एक के हाथ में एक बालक था और दूसरा आदमी कुछ अस्पष्ट था। बहन ने कहा कि बालकवाला आदमी उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके साथ बाहर सैर करने को जाना चाहता है। वह लडकी ऊपर गयी और कुछ

समय तक यह निश्चय न कर पायी कि किस रग के कपड़े पहने। आखिर में उसने नीले और पीले रग के कपडे पहन लिए; परन्तु नीचे आने पर वहन ने कहा कि वालकवाला मनुष्य किसीके अन्तिम सस्कार में चला गया है। उसको दुख हुआ कि वह भी उसके साथ जाती। दूसरा मनुष्य उसके विचारो से ओझल हो चुका था। अव नीद खुल जाती है।

यह स्वप्न उस युवती की मानसिक अवस्था का पूर्णत. सकेत करता है। वह वूढे से प्रेम करती है और इसीलिए वालकवाला मनुष्य उसके भविष्य के विवाहित जीवन का सकेत करता है। जो मनुष्य अस्पष्ट नजर आता है, वह नवयुवक है, जिससे उसको कोई सहानुभूति नही है। पीले रग के कपडे विवाह का सकेत करते है; परन्तु इसके साथ नीला रग उसके प्रेमी के वुढापे की ओर सकेत करता है। नीचे आकर जब वह वालकवाले मनुष्य को किसीके अन्तिम सस्कार में जाते हुए देखती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह नवयुवक के साथ भविष्य में सब सम्बन्ध तोड देना चाहती है। इस स्वप्न के पश्चात् यह देखा गया कि वह युवती उस बूढे आदमी के साथ वहुत दिनो तक रही।

इसी प्रकार स्वप्नों का अर्थ निकाला जाता है। इस विधि को पूर्णत सत्य नही कहा जा सकता है; परन्तु खोज हो रही है। साधारण जीवन में वस्तुएँ एक सुव्यवस्थित रूप में हमारे सामने आती है; परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हम स्वप्न की घटनाओ को भी इसी साँचे में ढालकर समझें। फ्रायड का सिद्धान्त कुछ वातो पर विश्वासजनक नही है। स्वप्न में अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति के अतिरिक्त उत्सुकता, भय, समाज के प्रति विरोध इत्यादि पाया जाता है। वच्चो के स्वप्न मे तो वस्तुओ के आकार वदलने की आवश्यकता ही नही। वड़ो में भी हर एक स्वप्न में इच्छा-पूर्त्ति नही होती है। यह सब वहुत कृत्रिम प्रतीत होता है। किसी प्रकार खीचकर हर घटना को लाया गया है। इसलिए यह सिद्धान्त के दृष्टिकोण से असतोषजनक है। वास्तविक दृष्टिकोण से भी यह सदेह से खाली नही है। युद्ध के समय में हजारो फौजी केवल लड़ाई ही स्वप्न में देखते है। फ्रायड कहता है कि यहाँ भी इच्छा का अभाव नही है। यहाँ मनुष्य के गत अनुभव को दुहराया जाता है।

तार्किक दृष्टिकोण से भी देखा जाय, तो कुछ गडबडी नजर आती है। एक वस्तु के गुण आवश्यक, आकस्मिक और सहचारी भी हो सकते है। हम दो विरुद्ध लक्षणों को फ्रायड की तरह एक जगह नही रख सकते है। फ्रायड भ्रम को भी एक सत्य अनुभव मान लेता है। इसके अनुसार स्वप्न मे हमारी इच्छाओ को वास्तविक सतोष मिलता है। "We say that dream-wish is converted into a hallucination and as such commands belief in the reality of its fulfilment". यह तो माना जा सकता है कि स्वप्न मे कुछ तनाव या उत्तेजना शान्त हो जाती है, परन्तु फ्रायड की तरह एक कदम आगे बढकर यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि स्वप्न मे इच्छा प्रकट ही नही होती; बल्कि एक भावात्मक सतोष भी प्राप्त होता है। एक मनुष्य, जो कि पडोसी से प्रेम करता है, वह उसकी मोटर को स्वप्न में पाकर सतुष्ट नही हो सकता। इसी कारण स्वप्न में इच्छाओं की तृप्ति नही हो सकती।

जहाँ तक फ्रायड ने हमको एक नवीन विधि दी है और वे हमारे ज्ञान में वृद्धि ले आये है, उनकी सराहना की जा सकती है; परन्तु हम रोलैंड डालवायज (Roland Dalviaz) के साथ यह कहेंगे कि वह सिद्धात और विधि को स्पष्ट नही रख सके है और न ही अपने सिद्धान्त को निष्पक्ष होकर प्रमाणित कर सके है। स्वप्न के विश्लेषण मे अगर उनकी विधि को छोडकर कोई और विधि पर चला जाय, तो हमारा परिणाम कुछ और निकलेगा। वे स्वप्न के अशो पर ध्यान देते हुए स्वप्न की एकता को भूल गये है। अचेतन केवल कुछ निशानियो द्वारा प्रकट ही नही होता है; बल्कि कुछ नवीनता का भय लाता है। अगर सब स्वप्न याद रहें, तो शायद हमलोग उनमें से अधिक को एक सुव्यवस्थित आकार में ला सकते है। स्वप्न में एक नही, बल्कि अनेक कारण और शक्तियाँ काम करती है। इसमें चेतन-अचेतन दोनो का स्थान पाया जाता है। कभी तो इच्छा की पूर्त्ति, कभी किसी जीव-सम्बन्धित माँग (biological need) की तृप्ति, कभी जाग्रत अवस्था का सीधा-सादा नक्शा और कभी भविष्य की झलक—ये सब कई शक्तियो के मिलने के स्थान है। शरीर की यह माँग है कि हम

कुछ समय के लिए सोयें; परन्तु इस प्रवृत्ति के साथ कुछ विघ्नकारक वस्तुएँ (disturbing factors) भी हैं, जिनमें से इच्छा एक है। स्वप्न में इच्छा की पूर्त्ति हो, यह आवश्यक नही है। हमारी स्वप्न-अवस्था एक प्रकार का समझौता (compromise) है, जिसमें "चेतन" और "अचेतन" दोनो को आंशिक सफलता और असफलता प्राप्त होती है।

क्या ईश्वर है?

विश्व में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसके सामने भगवान का प्रश्न न उठता हो। यह वह विचार है, जिसपर चिंतन किए बिना दुनिया आगे बढ सकती है। साधारण जनता और दर्शन-शास्त्र में इसपर वहुत समय से वाद-विवाद होता आया है; परन्तु इस प्रश्न का अभी तक एक उत्तर नही दिया गया है। क्या हम भी नीत्शे (Nietzche) की तरह यह कहें कि "कल मुझे शैतान ने कहा था कि भगवान मर चुका है" या यह समझें कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में भगवान है।

एक धार्मिक मनुष्य के लिए तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। इस्लाम में भगवान को अन्तर्दृष्टि (intuition) के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। ईसाई धर्म में ईसामसीह को भगवान माना गया है। वह एक सत्ता के रूप में लिया गया है और प्रेम, न्याय उसके आवश्यक लक्षण है। ईसाई लोग इस वात को भी मानते है कि मनुष्य अपने-आप कभी भगवान तक नहीं पहुँच सकता है। इसके लिए उसको भगवान की क्षमा (forgiveness) पर निर्भर होना पड़ेगा; क्योकि मनुष्य आरम्भ से ही पापी (original sin वाला) है। हिन्दू-धर्म में भी शास्त्रो का सहारा लेकर भगवान को मान लिया गया है। यहाँ आत्मा को ही ईश्वर समझा गया है। इन सवमें हम यह देखते है कि भगवान को पहले मान लिया गया है और फिर इसका अनुमोदन तर्क और

अन्य प्रमाण इत्यादि मे किया गया है। "भगवान है, क्योंकि उसको होना चाहिए"—यह उनर्क। युक्ति है। जेनोफेनिज (Xenophenes) ने भी कहा है कि "अगर एक गाय भगवान के बारे में सोचेगी तो, उसका भगवान एक बहुत बड़ी गाय होगी, जिसके बहुत बडी-बडी सीगे होंगी"। यह सब विचार उच्च कोटि के नही दिखाई देते है। हम कुछ युक्तियो को लेते है और फिर एक ऐसे विचार पर पहुँचेंगे, जिसमे वर्त्तमान वैज्ञानिक ज्ञान और साधारण जनता के विचारो को भी स्थान मिले।

यह कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु या घटना का कारण होता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नही, जो कि कार्य-कारण के सिद्धान्त से मिलायी न जा सके। कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती है, जिनका कारण हम नही जानते; परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनका कारण ही नही है। विज्ञान के नियम इस बात के प्रमाण है कि हर वस्तु अन्य वस्तुओ से सम्बन्धित है। अगर हम एक घास के टुकड़े को छूते है, तो उस समय भी पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्ध मे आते है। प्रकाश और ध्वनि की लहरे पूर्ण जगत् मे चल रही है। हर एक वस्तु एक दूसरी वस्तु पर ध्यान डाल रही है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति वस्तुओ को एक ही केन्द्र पर रखे हुई है। पूर्ण जगत् एक कार्य है, जिसका कारण ईश्वर है। ईश्वर को सर्वप्रथम कारण (first cause) कहा जा सकता है। हम कार्य-कारण की परिपाटी (series) को अनिश्चित रूप से आगे नही बढा सकते है। यह एक तार्किक माँग है कि हम किसी निश्चित स्थान पर ठहर जायँ।

यह भी कहा जा सकता है कि विश्व में एक अवस्था दिखायी देती है। सूर्य पूर्व से ही निकलता है। जगल के पशुओ का रग झाड-पत्तो के रग से मिलता-जुलता है। एक मृग के पाँव बहुत हलके होते है, ताकि वह शत्रु से स्वय को बचा सके। मछलियो के फेफडे इस तरह बनाए जाते है कि वे जल में रह सकें। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक अग की बनावट ऐसी है कि उसको व्यावहारिक जीवन से सामजस्य करने मे सहायता मिलती है। पक्षियो का शरीर भी इसी कारण बहुत हलका होता है। जिस तरह एक घडी को देखकर उसके बनानेवाले तक

पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार इस जगत् की मशीन को देखकर कहा जा सकता है कि ईश्वर इसका बनानेवाला है। ईश्वर को हम प्राकृतिक (natural) नही, बल्कि प्रयोजनात्मक (teleological) कारण मान सकते हैं।

यह युक्ति अधिक सतोषजनक नही दिखाई देती है। कार्य-कारण का सिद्धात भौतिक पदार्थो में लागू हो सकता है, न कि प्राकृतिक (जगत्) पदार्थ और अप्राकृतिक (ईश्वर) पदार्थ में। यह भी सदेह किया जा सकता है कि हम कार्य-कारण की श्रेणी मे एक वस्तु पर क्यो ठहर जायँ और ईश्वर को अनादि मान लें। जगत् में व्यवस्था और अव्यवस्था, बनाव और बर्बादी साथ-साथ चलते है। तूफान, आँधी, भूकम्प आदि में लाखो जीव नष्ट हो जाते हैं। जगत् में बहुत-से स्थान और वस्तुएँ ऐसी हैं, जो मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। बडी मछली छोटी मछलियो को खा जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रचना या निर्माण के बजाय क्षय और विनाश इस जगत् के नियम हैं। दुनिया में सुख-दायक वस्तुओ का अश बहुत कम दिखायी देता है। हर क्षण जो लाखो प्राणी जन्म लेते हैं, उनमें से कुछ ही पूर्णत जीवित रहते है। विश्वास के दृष्टिकोण से तो माना जा सकता है कि इस जगत् का कोई कारण है या यहाँ एक महान व्यवस्था पायी जाती है; परन्तु यहाँ तर्क का अनुमोदन असफल हो जाता है।

ईश्वर को अपने नैतिक जीवन के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ तर्क को नही लिया गया है। नैतिक जीवन में मनुष्य कर्म करता है—सत्यता और त्याग से काम लेता है, परन्तु फिर भी दुख पाता है। जो मनुष्य पाप करते हैं, उनको सुख और आनन्द मिलता दिखायी देता है। अगर ऐसा सर्वदा होता रहे, तो जगत् नही चल सकता है। इसलिए हमारे सामने नैतिक जीवन में कुछ पूर्व मान्यताएँ हैं। पहला यह कि अपने कर्मो के लिए मनुष्य स्वय उत्तरदायी है। उसके अन्दर इच्छा-शक्ति है और वह जो कुछ करता है, उसका परिणाम उसको न्यायानुसार मिलना चाहिए। यह भी मानना पडता है कि कोई ऐसी शक्ति है, जो कि हर एक वस्तु और जीव के हिसाब-किताब और लेन-देन को ध्यान में रखकर जगत् में न्याय, सत्यता, सुख-दुख इत्यादि, सबका सतुलन करती है। यह एक नैतिक माँग है कि अधर्मी को दुख

मिलना चाहिए और सत्यता के साथ रहनेवाले को सुख मिलना चाहिए। ऐसा हम इस जीवन में नही पाते है इसलिए मृत्यु के पश्चात् एक और जीवन को भी मानना पड़ता है।

कहाँ तक ईश्वर को बनिये की तरह सब पदार्थों का हिसाब-किताब रखने वाला माना जा सकता है यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। क्यों न हम न्याय-दर्शन के अनुसार केवल काल और दिक् पर चितन करें और इस तरह पूर्ण जगत की सत्यता को समझने का प्रयत्न करे। यह भी सदेह किया जा सकता है कि सत्यता को सुख के साथ और अनैतिकता को दुख के साथ क्यों इकट्ठा किया जाय। हमारी इच्छा ऐसी होती है परन्तु पूर्ण जगत के साथ यह सिद्धान्त लागू होता है कि नही यह भी हमको देखना है। एक बड़ा दोष इस युक्ति के साथ यह है कि इसमें भगवान के अतिरिक्त हमको आत्मा के अमरत्व को भी मान लेना पड़ता है।

कुछ तर्क-शास्त्रियो ने कहा है कि हमारे विचारों में से एक विचार ऐसा है जिसको मुख्य और विचित्र कहा जा सकता है, और यह भगवान का विचार है। इस विचित्रता को बहुत प्रकार से बताया गया है, कुछ के अनुसार यह विचार असत्य नही हो सकता, यह भ्रम नही हो सकता, इसकी तह में कोई वास्तविक वस्तु है। कुछ दूसरे चिताशील व्यक्ति ऐसे है जिनका यह विश्वास है कि हर एक मनुष्य में एक प्रकार की अपूर्णता की चेतना पायी जाती है। ऐसी चेतना तभी जाग्रत हो सकती है जब कि कोई वस्तु पूर्ण हो। इस पूर्ण वस्तु को ईश्वर कहा गया है। यह सबसे अधिक भावात्मक विचार है और एक ऐसा मानदण्ड है जिसको देखकर हम अपनी अपूर्णता के बारे में निर्णय बनाते है।

वह युक्ति भी दोषरहित नही है। पूर्णता (perfecticn) शब्द की गुणवाचकता स्पष्ट नही है। हर एक व्यक्ति इसको पृथक् पृथक् तरीके से समझता है। इसके वास्तविक अर्थ के अभाव में इसको मानदण्ड बना लेना सन्देह से खाली नही है। यह भी देखते है कि अस्तित्व तो ऐसा लक्षण नहीं है जो कि विचार में रहे। इसको अपने अनुभव में प्रमाणित कर सकते है।

पूर्णता के विचार से हम ईश्वर के अस्तित्व के विचार पर पहुँच सकते हैं न कि ईश्वर पर। यह सोचना आसान है कि हमारी जेब में दस रुपये हैं परन्तु वास्तविक रूप से ये १० रुपये नही भी हो सकते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न के साथ और भी प्रश्न उठाये जा सकते है; जैसे, उसका सम्बन्ध इस जगत के साथ क्या है। क्या वह इसके बाहर है या अन्तर्गत है? अगर सर्वशक्तिमान है तो यह दुःख का चक्रवर्ती नाटक कैसा? परन्तु ये सब प्रश्न इस समय हमारे क्षेत्र के बाहर हैं।

ऊपर दी हुई युक्तियो पर चिंतन करने से यह दिखायी देता है कि वे सब दोष से परिपूण है। चिंताशील व्यक्तियो ने अधिकतर ईश्वर के विचार के विकास पर ध्यान दिया है परन्तु यहाँ पर भी ईश्वर को मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण से देखा गया है। यहाँ हम विज्ञान और अन्य प्राकृतिक घटनाओ से शिक्षा ले सकते है। प्रकृति के लिए कोई वस्तु अच्छी-वुरी नही दिखायी देती है। जिस मल-मूत्र को मनुष्य घृणा से देखता है उसका डाक्टर लोग वडे ध्यान से विश्लेषण करते है। हमको भी जगत में हर वस्तु को एक ही प्रकार से देखना चाहिए। मन का स्थान अन्य दूसरे पदार्थों से अधिक ऊँचा नही। यह भी एक पत्थर और नदी की तरह एक भौतिक पदार्थ है। चेतना का विकास सघर्ष के कारण होता है। पग-पग पर हमको परिवर्तन से टक्कर लेना होता है। एक बालक का जगत उसके खिलौने, माता-पिता, नर्स आदि होते है। कोई समय था जब कि हमारे शास्त्र "अहं ब्रह्म" का प्रचार करते थे परन्तु एक भूखे के लिए एक काल्पनिक आत्मा से अधिक वास्तविक वस्तु "अन्न" है। वह तो "अन्न ब्रह्म" का मन्त्र पढता है। समय बदल गया है। प्राचीन समय में मनुष्य हवा में पक्षियों की तरह उड़ा नही करते थे। हमारी आर्थिक माँगें बहुत सरल थी। जीवन में शान्ति थी परन्तु आजकल सघर्ष है। अगर कोई सर्वशक्तिमान वस्तु है तो पहले तो यह जीव नही हो सकती क्योंकि एक जीव में सर्वदा अपूर्णता पायी जाती है। अगर ऐसी शक्ति है भी तो शायद देश के बँटवारे और बगाल के अकाल और अन्य दुखदायक घटनाओ के समय ऐसी शक्ति गहरी निद्रा की गोद में सो रही थी। हम सोचते है कि प्रकृति ही ईश्वर

है। टेबुल, कुर्सी, समाज, परिवार—हर वस्तु भगवान है। यह एक अद्भुत शक्ति नही है बल्कि साक्षात् हमारे सामने है। अगर हम एक स्वच्छ विधि से अन्य पदार्थो के साथ सामजस्य स्थापित कर सकते है तो स्वर्ग, नर्क, मोक्ष आदि की प्राप्ति यही मिल सकती है। गाँधीजी ने कहा है कि सत्य ही भगवान है। विवेकानन्दजी कहते है कि हम फुटबाल खेल कर, निर्धनो की सेवा करके, एक मनुष्य-की सत्यतापूर्वक चिलम भर कर भगवान को समझ सकते है। मन्दिर-मस्जिद मे केवल जाने से भगवान की प्राप्ति नही हो सकती है।

यह हम मानते है कि प्रकृति की शक्तियाँ बहुत विशाल है। परन्तु निष्क्रिय होकर बैठ जाना मानवता नही है। हमारी भावनाएँ और सवेग हमको एक सातवें आसमान पर बैठे हुए ईश्वर पर ले जा सकते है परन्तु ये मनगढत कल्पनाएँ है। ऐसे विचारो का एक बडा लाभ यह है कि यह हमारे लिए एक नैतिक लगर (anchor of morality) की स्थापना कर देते है। यह कहना अधिक साहसिक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि प्रकृति ही ईश्वर है। बुद्धिमान लोग समुद्र और पहाड़ो में ईश्वर को देखते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार नास्तिक वह नही है जो मन्दिर-मस्जिद में नही जाता है बल्कि ऐसा मनुष्य है जिसको अपने पर विश्वास नही है और जिसके हृदय में रोगी को देख कर सेवा -भाव जाग्रत नही होता है।

प्रचार

प्रचार एक आम जानकारी की चीज बन गई है और उसी तरह इसका इस्तेमाल (प्रयोग)। हम अपने दैनिक जीवन में, राजनीति, व्यापार, नैतिक मूल्यों तथा इनकलाबों की बुनियाद और परवरिश के लिये प्रचार का उपयोग करते है। आधुनिक युग की यह खासियत है कि वह रोज–रोज प्रचार के नये और प्रभावोत्पादक टेकनिकों (तरीको) के आविष्कार में प्रयत्नशील है।

प्रचार विचारपूर्वक योजित प्रतीकों का एक सिलसिलेवार इस्तेमाल है। यह इस्तेमाल खास कर अनुमोदन और सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक टेकनीक के

जरिये सम्भव है। इसके मकसद (उद्देश्य) इस तरह दो है—मत, आदर्श और मूल्य में तब्दीलियाँ (परिवर्त्तन) लाना और उन्हें वश में रखना और फिर पूर्व निर्णय किये गये सिद्धान्तो के सहारे प्रत्यक्ष क्रियाओ में परिवर्त्तन लाना। प्रचार प्रत्यक्ष हो सकता है। तब इसका मकसद भी प्रत्यक्ष होगे या अपन लक्ष्य को घुमाकर रख सकता है। प्रचार एक सामाजिक, सास्कृतिक बनावट में ही सम्भव है क्योंकि इसके बिना न तो इसको मनोवैज्ञानिक और न सास्कृतिक शक्लो को ही पहचाना जा सकता है। इसका इस्तेमाल एक खास समूह के द्वारा दूसरे समूह के खिलाफ किया जा सकता है या विशाल राजनैतिक और जनता के सम्बन्ध में भी हम इसका उपयोग करते हैं। फिर एक घरेलू राजनैतिक-आर्थिक योजना के फैलाव के लिए शासक-वर्ग के द्वारा भी इसका इस्तेमाल होता है।

प्रचार से सम्बन्धित कुछ ऐसे अज्ञात इस्तेमाल है जिनमें दृष्टिकोण और मूल्य आते हैं। उदाहरण के लिए इतिहास, भूगोल और साहित्य के जरिये राष्ट्रीय मूल्यो की बुनियादी शिक्षा आदि हैं, सच पूछिये तो, इसे हम प्रचार नही कह सकते। जब इसका प्रवेश एक निश्चित कायदे के आधार पर होता है, तभी प्रचार की हस्ती जाहिर होती है। अतीत के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वस्तुत, विचारपूर्वक निश्चित किये गए आदर्शों, विचारों और मूल्यो में तथा अप्रतिपादित पौराणिक शिक्षाओं में बहुत कम अन्तर दिखाई पडता है। इसलिए प्रचार शब्द का इस्तेमाल पहले अर्थ में करना श्रेयस्कर होगा।

प्रचार की सबसे मुख्य मनोवैज्ञानिक विशेषता है इसकी स्वीकारात्मकता। प्रचारक लोगों का मत हासिल करने के लिए कई तरह के 'टेकनीक' का इस्तेमाल करते हैं। प्रचार के विश्लेषण के लिए इन बुनियादी बातो का होना नितान्त आवश्यक है—(१) मकसद (लक्ष्य), मकसद का सम्बन्ध हमेशा आम जनता के साथ रहता है जिसमें हम अपने सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रचार करना चाहते है। (२) प्रतीक, (३) मनोवैज्ञानिक 'टेकनिको' का इस्तेमाल और (४) प्रचार की ग्राह्यता तथा विचारों, दृष्टिकोण, मूल्यो और खास कर क्रियाओं को मोड़ने में इसका असर।

छिपे हुए प्रचार के मकसद कभी-कभी ही मालूम किये जा सकते है किन्तु

प्रत्यक्ष प्रचार के मकसद पहले से ही प्रतिपादित किए रहते है इसलिए यहाँ प्रतीकों को मापने और उनके लक्ष्य ढूढ़ने में ज्यादा वक्त नही लगाना पड़ता। 'इन्टरव्यू', प्रश्न-सूचियों और वोट के द्वारा हम विचारो और दृष्टिकोण की तब्दीलियो को माप सकते है। और आखिर में, प्रत्यक्ष क्रियाओ में जो परिवर्तन होते है उन्हें मालूम कर सकते है तथा उन्हें उम्मीदवारो के चुनाव, राजनैतिक इकलाब, आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन और व्यक्तिगत आदतो में सुधार, आदि के रूप मे भी माप सकते है।

जैसा हमने पहले कहा है, प्रचार सबसे पहले नये आदर्शों और मूल्यो को अपने मुताबिक मोड़ता और बनाता है और इसके लिये व्यक्तियो का पूर्वनिर्मित ज्ञान और उनकी प्रेरक शक्तियों को ध्यान मे रखना जरूरी हो जाता है। सबसे पहला कदम होगा किसी चीज की इच्छा को जगाना। सबसे मुख्य और बुनियादी आकर्षण के केन्द्र ये है—आर्थिक हिफाजत, समूह और व्यक्तिगत विचारों की रक्षा, प्रेम का सतोष और पारिवारिक तथा दूसरे व्यक्तियों की मगलकामना। कभी-कभी नये अनुभवों की चाह भी पैदा की जाती है। किन्तु सभी प्रचार के लिए ये बातें लागू नही भी हो सकती है। हाँ, इतना हम जरूर कह सकते है कि मत प्राप्त करने के लिए सबसे प्रभावोत्पादक केन्द्रविन्दु वही है जो एक या ज्यादा से ज्यादा ऐसे जरूरी प्रेरकों को छूता है। इसान की बुनियादी इच्छाएँ भावों की सतह पर ही आधारित होती है इसलिए अनुभवी प्रचारक ज्यादातर प्रेम, क्रोध, डर, उम्मीद या इसी किस्म की भावनाओं का व्यवहार करते है।

मनुष्य की इच्छाएँ जब सफल नही हो पाती तो वे और भी तीव्र हो जाती है। प्रचारक इसी स्थिति से फायदा उठाता ह। जब जनता के खाने और रहने, बचाव और सम्मान की इच्छाओ को कुचल दिया जाता है, तव प्रचार के उन्ही टूटे तारो को सहेज कर एक यन्त्र का निर्माण करता है और अगर उसकी ये इच्छाएँ कुचल नही दी गई है तब ऐसी हालत मे वह, साधनों के जरिये यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वे इच्छाएँ असलियत में दफना दी गई है।

इस तरह, किसी इच्छा की हस्ती से परिचित कराने के वाद, प्रचारक आगे बढता है और इच्छाओ को पूरी करने के लिए प्रोग्राम देता है

इस तरह प्रचारक की हस्ती प्रतिद्वन्द्विता और द्वन्द्व में ही कायम है और जैसा हम ऊपर देख चुके है, इसका खास उद्देश्य इच्छाओ और क्रियाओ में परिवर्त्तन लाना है। इसका प्रतीक साधारणत लक्ष्य और स्थिति के मुताबिक प्रचार के साधनो का प्रयोग होता है किन्तु कुछ निश्चित साधारण नियम है जो हर किस्म के प्रचार में लागू किये जा सकते है। पहली बात तो यह नजर में रखनी है कि यह उसी खास समूह के बुनियादी उद्देश्यों और इच्छाओं से सम्बन्ध रखता है जिस पर हम इसे लागू करना चाहते है। लक्ष्य है स्वीकृति की प्राप्ति, विचारों की नही। दूसरी बात है प्रतीकों के द्वारा भावनाओं का उभाड। ये प्रतीक प्रतिज्ञा और सतोष पर निर्भर हों। तीसरी बात है, जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना है, उन्हें स्पष्ट रूप से आम लोगो के सामने रखना। इसके साथ-साथ उनके समाधान का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। कुछ सरल और बुनियादी बातों का सिलसिलेवार और आग्रहपूर्ण पुनरावृत्ति भी जरूरी है। एक बार जब आधारभूत इच्छाएँ घर कर लेती है, तब सीधी और खुली बातों का इस्तेमाल किया जाता है और जिन साधनो का प्रयोग किया जाता है वे है अतिशयोक्ति, अभियोग, सफेद झूठ आदि

प्रचार का असर आम जानकारी की चीज है। प्रचार लोगो पर ज्यादा-से-ज्यादा असर डाल सके, इसके लिए प्रचारक को भावों को प्रभावित करना होगा। इसके साथ-साथ उसे स्पष्टवादी बनना जरूरी है। सबसे ज्यादा महत्व की चीज है कि प्रचार व्यक्तियों के पूर्व-निर्मित सिद्धान्तो और दृष्टिकोणो को स्पर्श करता हो और इसकी दिशा सिर्फ एक ओर प्रवृत्त हो। बहुत से प्रचारक एक दृष्टिकोण के रखने के बाद फिर एक विरोधी दृष्टिकोण रखते है। इस तरह जनता के ऊपर बुद्धि के सहारे निर्णय का भार सौप देते है। किन्तु इस तरह का प्रचार ज्यादा प्रभावोत्पादक नही होता। इसमें बेशक कुछ अपवाद हो सकते है। यह बात महत्वपूर्ण है खास कर प्रचार के लेखको के लिए, जो कहते है कि जनतत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रचार पर किसी किस्म

का प्रतिरोध नही लगाया जायगा और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों की खीच-तान से एक स्थायी और उपयुक्त दृष्टिकोण की रचना होगी। किन्तु यद्यपि यह दृष्टिकोण विज्ञापन के क्षेत्र में, सामाजिक क्रान्तियों और सस्थाओं तथा गूढ राजनीतिक-आर्थिक मामला में मदद पहुँचा सकता है, इसमें कई भ्रातियाँ है।

प्रचार के एक विस्तृत विश्लेषण के बाद हम एक खास विन्दु पर पहुँचते है—वह है जनतत्रीय व्यवस्था में प्रचार का असर। इसे समझने के लिए खास कर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओ से सम्बन्धित प्रचारों की जानकारी के लिए मत की रचना कैसे होती है, इसकी क्रिया क्या है, इसे समझना जरूरी है। इसकी चार आधारभूत स्थितियाँ है—किसी विषय का जन्म, प्रारम्भिक वादविवाद सस्कृति की बनावट में उस विषय की परिभाषा की अनवरत कोशिश; समस्या के ऊपर फिर वाद-विवाद, मतो की भिन्नता और अन्त में वोट आदि के जरिये एक खास मत का अभ्युदय। व्यवस्थित एक-मत के आधार पर नेताओं और कानून का चुनाव होता है और जनता का रुख की प्रत्यक्ष शक्लों को आगे बढाया जाता है। उसके लिए सिर्फ समाचार छाँट कर रखे नही जाते, उन्हें मत के अनुकूल बनाने की कोशिश भी की जाती है और मत-रचना की दूसरी और तीसरी सतह पर ही खासकर, प्रचारक अपना काम शुरू करता है। इन्ही स्थलों पर, समस्या (issue) के बल का बौद्धिक नाप-तौल भी आरम्भ हो जाता है। आज की जो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ है, उनका आधार अन्तर्राष्ट्रीय है और हमलोगों को रिपोर्टों पर निर्भर करना पडता है जो कुछ ऐसे स्रोतो से आते है जिन्हें हम नही जानते। ऐसी हालत में, किसी समस्या को रखने और उसका पूरा बयान देने के लिए कुशलता और ईमानदारी बहुत आवश्यक है। फिर भी इन मामलों में आम जनता को प्रेस, रेडियो आदि की मेहरवानी पर ही निर्भर करना पडता है। यह मान लेने पर कि वह समस्या हमारी भावात्मक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इसे ग्रहण करने के लिए हर नुक्ते पर जो बहस की जाती है वह इसान की बौद्धिक खूबियो को प्रभावित करने के उद्देश्य से की जाती है। इस तरह विवेक (rationlity) फैलने लगता है, बहुत ही गडबडी और परेशानी नजर आती है और इसका

नतीजा यह होता है कि यह इंसान की भावात्मक और विवेक-हीन प्रेरणाओं को तीव्रतर बना देता है। ये प्रेरणाएँ अन्तर-विरोधी अपीलों की गुत्थियों को काट कर एक स्थायी मत की बुनियाद कायम करने में सफल होती है ये प्रतिस्पर्द्धात्मक इच्छाएँ और उन्हें हासिल करने के साधन इतना तनाव पैदा करते है कि आखिर में इंसान 'क्यो' और 'क्या' यानी विवेक का सवाल भूल कर अपनी समस्याओ की एक सीधी-सादी हल पर, जो उसे मिलता है, यकीन करने लगता है। जैसा श्री लासवेल ने कहा है, आज की जनतत्रीय व्यवस्था ये मान रखती है—बातचीत के जरिये हुकूमत में विश्वास, मुक्त वादविवाद में आस्था, लोगो के मत मे विश्वास तथा उन मुहावरो में विश्वास जो आम मकसदो पर बातचीत करते हो। विस्तृत आधुनिक जनतत्रीय व्यवस्थाओ में प्रचार के इस्तेमाल ने उन प्रतीको और इस्तेमालो को गलत करार दिया है जो ऐतिहासिक तौर पर जनतत्रीय व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं ।

इस किस्म की व्यवस्था की एक और खासियत यह है कि प्रजातन्त्र हुकूमत में भावनाओं के आधार को खत्म कर दिया गया है। फलस्वरूप प्रजातत्रीय क्रान्तियों जैसे युद्ध आदि के समय सारी जमात खुले ससर्ग में आती है। साथ ही, प्रचार के खिलाफ बलन्द किये गये नारे गडबडी फैलाते है जो जनतत्रीय व्यवस्था की बुनियाद के लिए बडे ही भयानक है। इसकी मुस्तकिल हस्ती के लिए हमको नैतिक कोड, न्याय-कानून, सत्ता का हक और उनके इस्तेमाल के रूप मे अपने अधिकार में रखना होगा, चाहे ये शक्तियाँ प्रतीको के जरिये या प्रत्यक्ष ताकतो के लिए लागू की जायँ। कहने में यह जितना आसान मालूम पडता है, दरअसल उतना आसान नही है। किन्तु किसी भी प्रचार की जाँच-पडताल में हमेशा तीन सवाल पैदा होते है—प्रचारक 'कौन' है ? वह 'क्यों' प्रचार करना चाहता है ? क्या वह जनतत्रीय व्यवस्था के कानूनो को मद्दे-नजर रख कर चल रहा है या सत्ताग्रहण करने के बाद वह इन कानूनो को खत्म करने की योजना बना चुका है ?

ऊपर लिखे गये साधनों के अतिरिक्त कुछ और प्रमुख साधन है। दरअसल वे ही बुनियादी साधन है, इन्हें हम 'कक्रीट' साधन भी कह सकते है। ये है—

प्रेस, रेडियो, प्लेट-फार्म तथा आँकडे। प्रेस जिसके अन्तर्गत अखबार, पर्चे, किताबें आदि को रखते हैं, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सुखी जीवन की कल्पना

संस्कृत के किसी पडित ने कहा है—हमारी कामनाएँ कभी बूढी नही होती, हमलोग ही जीर्ण हो जाते हैं। प्रकृति ने मानव के मन मे ऐसी प्यास जगा रखी है कि वह कभी मिटती नही, सतोष नही मिलता, कामनाएँ चिर नवीन बनी रहती है। अनादिकाल से हम जीवन की परिस्थितियो से सघर्ष करने के इतने आदी हो गये है कि किसी भी दशा में हमें वर्त्तमान परिस्थिति से पूर्ण सतोष नही मिलता। यह असतोष सतत जीवन-सघर्ष की भूमिका है और मानव-सभ्यता की प्रगति का मूल रहस्य भी।

जब हम वर्त्तमान परिस्थिति से असतुष्ट होकर नयी व्यवस्था बनाने की चेष्टा करते हैं उस समय हमारे आगे भविष्य का एक नक्शा होता है, जिसमें हमारी सुखी जीवन की कल्पना वर्त्तमान व्यवस्था से बिलकुल अलहदा हुआ करती है और यदि उसकी निकट-भविष्य में पूरा होने की सम्भावना न रही, तो सारी योजनाएँ, सारे मनसूबे बेकार हो जाते हैं। इतना ही नही, उस सिलसिले की असफलताएँ अनेक गुत्थियाँ पैदा कर देती हैं। इसलिए जब आप अपने लिए सुखी जीवन की कल्पना करते हैं, आपका ध्यान उन तमाम साधनो का उपयोग करने की ओर रहता है, जो आपको उपलब्ध हैं। हाँ, उनके उपयोग के तरीके में परिवर्त्तन करने और अनुपलब्ध साधनों को प्राप्त करने का इरादा भी आपके मन मे अवश्य रहता है।

सुखी जीवन की हमारी जो भी कल्पना होती है, वह दरअसल हमारी अपूर्ण आकाक्षाओं का आधार लिए रहती है और आप ही क्या, कौन ऐसा व्यक्ति है जिसकी सभी आकांक्षाएँ पूर्ण है। ऐसी दशा में क्या यह बुद्धिमानी की बात है कि हम सब के सब अपनी आकाक्षाओं की पूर्त्ति के लिए डेढ चावल की खिचडी पकावें? वैसा करके आप अपने जीवन की कल्पना को ठोस आधार दे सकेंगे?

सुखी जीवन की आपकी कल्पना वास्तव में व्यापक सुखी समाज का नक्शा है, जिसमें एक सामान्य स्तर के वाद आपकी तरह अन्य व्यक्तियों को भी अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन की मनोनुकूल योजना वनाने का हक रहेगा, पर्याप्त अवसर रहेगा, अन्यथा असमान अधिकार और असमान अवसर के कारण आपका जीवन कभी सुखमय नहीं हो सकेगा। आपका जीवन तभी सुखी रहेगा जवकि उसका व्यापक सामाजिक हितों से विरोध न हो। सुखी समाज वही है, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति का सम्वन्ध सामजस्यपूर्ण और सहयोग का है, सघर्ष हो तो केवल विपरीत प्राकृतिक कारणों से। ।

इस वुनियादी शर्त को कवूल कर लेने के वाद जरा सोचिए, आपका जीवन किस प्रकार सुखमय हो सकेगा ? इसके लिए आप अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओं को खतिया लीजिए और यह भी याद रखिये कि आपकी आकाक्षाएँ ऐसी ही हों जो कि आपकी न्यायपूर्ण आर्थिक आय के अन्दर पूरी की जा सकें।

फिर विचारिये, क्या आप गाँव का जीवन पसन्द करते है या शहर का? जहाँ तक आज के जीवन का सवाल है, क्या शहर, क्या गाँव सर्वत्र विरूपता फैली हुई है। पूरे जीवन में सदियो की गदगी व्याप्त है। किसी जमाने में वहस चला करती थी कि गाँव का जीवन सुखमय है, या शहर का। आज इस सवाल का रूप ही वदला हुआ है। आज तो दोनो जगह जिन्दगी में हद दर्जे की सफाई चाहिए। पूरे कायाकल्प की आवश्यकता है।

आज हमारे गाँवों में क्या वचा है ? चारो ओर गदगी है। न शिक्षा का समुचित प्रवन्ध है, न स्वस्थ्य-रक्षा के साधन सुलभ हैं। यातायात के साधनों की भी नितान्त कमी है। सड़कें किसी काम की नहीं। जो है भी, वे टूटी-फूटी धूल और गदगी से भरी हुई। फिर सभ्यता और नयी हवा आवे तो कहाँ से? अखवार रोज पहुँच नही पाते। रेडियो भी रखना आसान नही है।

किसी जमाने में ग्रामीणों की सरलता और निश्छलता कवित्वपूर्ण चर्चा का विषय हुआ करती थी। पर आज एक भी गाँव मुश्किल से मिलेगा, जहाँ घर-घर में फूट न हो, चार-पाँच दल न वने हों और वे दल झूठ, फरेव से लेकर सर फोड़ौवल तक किसी भी हरकत से वाज आते हों। इतना ही नही, वहाँ जानमाल

की सुरक्षा का प्रश्न भी अहम हो गया है। छोटी-बड़ी डकैतियों की जो खबरें आज अखबारों में छपा करती है, उनमें से अधिकाश गाँवो में होती है।

गाँवों के जीवन का स्तर आज बिलकुल नीचा है। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था घाटे पर चला करती है। खेतों की उपज घट गयी है और खेतों की पैदावार की कीमत हमेशा शहरी औद्योगिक पैदावार से कई गुना कम हुआ करती है। नतीजा है कि गाँव शहर को जितने मूल्य का सामान देता है, उससे कही अधिक मूल्य के सामान खरीदता है। इस प्रकार गाँव का जीवन शहर के निरन्तर शोषण से ऐसा त्रस्त हो रहा है कि प्रकृति का सौन्दर्य अनाकर्षक और निरर्थक हो गया है।

शहरों की भी अपनी समस्याएँ है। आधुनिक विज्ञान के बल पर वहाँ अनेक साधन उपलब्ध हो सकते है, पर वास्तव में उनकी सुलभता मुट्ठी भर लोगों के लिए ही है। अधिकाश लोग निम्न मध्यमवर्ग या निम्न-उच्च-मध्यम वर्ग के है। उनकी आय उन्हें अपनी कल्पना का सुखमय जीवन देने के लिए सर्वथा अपर्याप्त होती है।

शहरी जीवन का ढाचा ही ऐसा कुछ है कि वहाँ मानवता और ममता के लिए कम से कम गुजाइश है। वहाँ व्यक्ति व्यक्ति न रह कर समूह की इकाई मात्र होता है। उसका व्यक्तित्व अनादर और अस्वीकृति के वातावरण में उपेक्षित होकर विनष्ट या विकृत हो जाता है।

शहरी जीवन का एक मौलिक अभिशाप है पारिवारिक जीवन का विघटन। परिवार छोटे पैमान पर पूरे समाज का प्रतीक होता है। वहाँ की ममतार्द्र और सहयोगपूर्ण जीवन से व्यक्ति को सामाजिक हितों की रक्षा की प्रेरणा मिल सकती है। अत यदि यह इकाई विघटित हो जाती है, तो इसका अर्थ है कि पूरा सामाजिक जीवन विषम होने वाला है।

शहरी जीवन मे गति ही गति है। ठहराव कही नही है, जहाँ पर रुक कर इसान अपनी अनुभूतियों को सग्रथित कर सके। प्रकृति इतनी दूर रहती है कि कुदरती ताजगी भूल से भी पास नही फटकती।

इन सब कारणों से सुखी जीवन की आपकी कल्पना आज न गाँवो में मूर्त्त हो सकती है और न शहरो में ही। दोनो जगह पर जीवन की आर्थिक बुनियाद कमजोर है। अगर आर्थिक संतुलन को सही-सही दुरुस्त कर दिया जाय तो अपने देश में शहर और गाँव के जीवन-स्तर का भेद मिट जायगा। अर्थात् आधुनिक जीवन के साधन गाँवो में भी उपलब्ध होने लगेंगे और शहरों में व्यक्ति का सबध ममतापूर्ण और मानवसुलभ हो जायगा।

इन बुनियादी शर्तों के पूरा हो जाने के बाद आप अवश्य चाहेंगे कि आपको भोजन, वस्त्र और मकान मन-माफिक मिले। मकान ऐसा हो, जिसमें धूप और हवा का प्रवेश हो, ऊँचाई पर हो, फर्श पर सिल न हो, कमरे बड़े-बडे हो, और सफाई की समुचित व्यवस्था हो। भोजन रुचिकर और पौष्टिक मिले, कपडे आपके स्वच्छ, मनलायक सिले, धुले रहें। पानी का उचित प्रबन्ध हो, क्योकि इस गर्म मुल्क में पानी की कमी हर दर्जे की तकलीफ देती है। आप अपने अहाते में फूलों की क्यारियाँ भी पसन्द करेंगे।

सुखी जीवन की कल्पना में ईमानदारी की मिहनत के लिए अवश्य जगह होनी चाहिए, अन्यथा आपके इरादे गलत रास्ते पर चले जायेंगे। सच्ची मिहनत आपको समाज का उपयोगी सदस्य बनावेगी और आपको अततः आध्यात्मिक संतोष मिलेगा।

मिहनत के साथ-साथ आराम का समय और मनोरजन के साधन भी आप चाहेंगे ही। मनोरंजन को व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल होना है, पर गप्पें लगाना सबसे बढ़ियाँ मनोरंजन है, सुलभ भी है। अगर आप संजीदे है, तो आपका मनोरजन दूसरी तरह से होगा।

आप यह भी चाहेंगे कि आपका पारिवारिक जीवन आदर्श हो, हर सदस्य अपना उत्तरदायित्व समझे और उसका निर्वाह करे। आज परिवार का अर्थ है कि एक व्यक्ति कमाये और १० व्यक्ति उसका उपभोग करें, ऐसी व्यवस्था में सुखी जीवन की कल्पना मृगमरीचिका ही होगी।

परिवार आपका औसत हो। उसमें दो एक बच्चे अवश्य हो, अन्यथा

जीवन अन्त में एकरस हो जायगा। पर बच्चों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध अवश्य रहे।

पर ये मोटी बातें हैं और कल्पना की उडान बडी बारीक और ऊँची होती है। इसलिए जीवन-योजना की इस रूपरेखा में आप निश्चय ही समय-समय पर रुचि-परिवर्तन के अनुसार तरह-तरह के रग भरते जायगे।

जीवन में हास्य-विनोद का स्थान

It would be better for us to be once more a small outlandish people and yet be renowned for this spirit than to bestride the earth anh lose our lingering gloom, suspicion and hate.

—*J. B. Priestley.*

हँसी अथवा विनोद जीवन का एक महान वरदान है। क्या आपने अनुभव किया है कि आप उदास है, कोई चीज आपको अच्छी नही लगती, सब कुछ सूना-सूना लगता है, आप बीमार-सा अनुभव करते है और इसी समय आपका विनोदी मित्र आता है और विनोद की एक ही दो फुलझडियो से आप की सारी उदासी मिट जाती है, आप स्वस्थ हो उठते है, हर चीज सुहानी लगने लगती है, हर काम में एक नये उत्साह का अनुभव होने लगता है। इटली के हास्यरसावतार ग्रीवाल्डी का नाम कौन नही जानता। उसकी पुस्तके उदास से उदास व्यक्ति को भी हँसा देती है। मानसिक चिताओंवाले व्यक्ति के लिए तो उसकी रचनाएँ रामवाण औषधि है। सो एक बार ग्रीवाल्डी की ही तबियत कुछ खराब हो गई। परिवर्तन के लिए वह देहात चला गया। पर वहाँ भी उसकी तबियत अच्छी नही हुई। तब वह एक डाक्टर के पास पहुँचा। डाक्टर ने काफी परीक्षा के बाद कहा कि महाशय, आपको कोई रोग नही। आपको केवल दुश्चिता है। अकारण चिता का बोझ मन पर रखने के कारण आप रोगी-सा अनुभव करते है। इसलिए मन से चिता को बिलकुल दूर कर दीजिए और इसके लिए सरल उपाय यह है कि आप ग्रीवाल्डी की किताबें

पढिए। पढते ही लोटपोट हो जाइएगा। डाक्टर की वात सुनकर ग्रीवाल्डी इतना हँसा कि उसके पेट में वल पड़ गए। और जब डाक्टर को मालूम हुआ कि यह रोगी ही ग्रीवाल्डी है तो वह भी हँसते-हँसते लोट गया।

वस्तुत. हँसी जिन्दगी की तकलीफो का सबसे वडा इलाज है, स्वस्थ रहने का सबसे वडा साधन। जव आप दिल खोलकर हँसते है तो एक क्षण के लिए आप अपने सभी दर्दों को भूल जाते है और एक अपूर्व नैसर्गिक प्रवाह में तरगित होने लगते है। इसका एक वडा अनुकूल असर आपके मानसिक और शारीरिक स्नायुओ पर पडता है। हँसी-विनोद में एक क्षण के लिए आपके मन और शरीर जैसे दुखो और चिताओ के भार को फेंक कर हल्के हो जाते हैं, और इस एक क्षण की विश्रान्ति में ही सुस्ता कर नई शक्ति और उत्साह पा लेते है। सही है कि हँसी से हम मुस्तकिल उलझनो वा समस्याओं को उड़ा नही सकते, मगर विनोद में जो एक क्षण की मुक्ति मिलती है, उससे उलझे मन को राहत जरूर मिलती है। और मानसिक मुक्ति शक्ति का स्रोत होती है। इसलिए ससार के मानसिक उपचार के शास्त्रियों ने एकमत से मानसिक उपचार में हँसी का महत्वपूर्ण स्थान माना है।

हँसी-विनोद न केवल स्वस्थ शरीर का लक्षण है वरन् स्वस्थ चरित्र का भी। व्यवहार में आप देखेंगे कि जो व्यक्ति हँसोड़ वा विनोदी होता है उसका चरित्र भी स्वच्छ और विश्वसनीय होता है तथा जिस व्यक्ति का चेहरा मुहर्रमी होता है, उसका चरित्र भी सन्देहजनक और कभी-कभी खतरनाक होता है। इसलिए कहा गया है कि आदमी की मुखाकृति उसके अन्तर की सूचिका है (face is an index to the mind)। वस्तुतः विनोदहीनता एक आन्तरिक व्याधि है। रोगी चित्त और स्वभाववाला व्यक्ति ही झुझलाया हुआ, अहकारी, क्रुद्ध अथवा व्यग्यपूर्ण चेहरा वनाए रखता है।

चूंकि विनोद महच्चरित्र का लक्षण है, आप देखेंगे कि ससार की महान् आत्माएँ विनोदप्रिय हुआ करती है। भगवान् की अन्य शक्तियो के साथ उसका यह महान् वरदान भी इन्ही सृष्टि के वरपुत्रों को मिलता है। आधुनिक युग के सबसे वडे मसीहा महात्मा गाँधी कितने विनोदप्रिय थे यह किसी से छिपा नही है।

एक बार आगा खाँ भवन से छूटकर गाँधी जी वर्धा में जमना लालजी बजाज के घर पर आये। उस समय जमनालालजी के भतीजे राधाकृष्ण जी जेल में ही थे। गाँधी जी को देखकर बजाज जी की बूढी माँ ने कहा—'बापू ! आप तो जेल से छूट गए। अब राधाकृष्ण को भी छुडा लाइए गाँधी ने हँसते हुए कहा—'मेरा काम जेल भेजवाना है, जेल से छुडाना नही' और अब सारा घर कहकहे से गूज उठा। गाँधी जी न केवल विनोदप्रिय थे वरन् सिद्धान्त-रूप मे भी हँसी के महत्व को मानते थे। एक बार सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने गाँधी जी से पूछा कि आप बात-बात में, जटिल से जटिल समस्याओं पर भी, हँस क्यों पडते है। गान्धी जी फिर हँस पडे और बोले कि 'हँसी मन की गाँठें बडी आसानी से खोल देती है—मेरे मन की नही, तुम्हारे मन की भी।' राजेन्द्र बाबू न केवल मसविदा तैयार करने में मुन्शी है वरन् विनोद करने में भी। १९५१ की बात है। राष्ट्रपति दिल्ली विश्वविद्यालय में पधारे थे। उनके चारों ओर हस्ताक्षर लेनेवाले विद्यार्थियों की भीड थी। विद्यार्थियों को छूट थी कि वे चाहे जो लिखकर लायें, राजेन्द्र बाबू उस पर दस्तखत कर देंगे। एक विद्यार्थी को शरारत सूझी। उसने छकाने के लिए अपनी नोटबुक में लिख लिया कि 'मेरी सरकार बडी खुशी के साथ आपको स्वर्ग का गर्वनर मुकर्रर करती है।' वह बडी चुस्ती से राजेन्द्र बाबू के सामने आया और राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर भी कर यिा। मगर इस बार जब उसने अपनी नोटबुक देखी तो उस पर लिखा था—'मेरी सरकार बडी खुशी से आपको स्वर्ग का गर्वनर मुकर्रर करती है, मगर अभी वहाँ जगह खाली नही है इसलिए आपको नरक का गर्वनर नियुक्त किया जाता है।'

जवाहरलाल जी की जिन्दादिली के क्या कहने ! एक बार का किस्सा है, किसी मित्र ने उन्हें खाने पर बुलाया था। भोजन के बाद सगीत के कार्यक्रम में अब सितार बजानेवाला था। पर चूकि काफी रात हो गई थी मित्र ने जवाहर लाल से कहा—बहुत थक गए हो, जाओ सो रहो। पर जवाहरलाल जी कब माननेवाले थे। बोले—तुम फिक्र न करो। सितार सुने बहुत दिन हो गए। आज तो जरूर सुनूँगा। जवाहरलाल जी की यह रसिकता देखकर

काशी के रायकृष्णदास जी, जो उस दावत में शामिल थे, उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब का यह शेर गुनगुनाने लगे—

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के।

जवाहरलाल जी की तंद्रा जैसे एकाएक फट गई, और वागवाग होकर छूटते ही बोले—ठीक कहते हो—इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया. ..... . ।

गाँधी जी राउण्ड टेवुल कान्फरेन्स के लिए विलायत गए थे। साथ में सरोजिनी नायडू भी थी। गाँधी जी को देखने के लिए सडक पर भीड हो गई। उनकी शक्ल और पोशाक देखकर एक लडके ने जोर से कहा—यह तो जोकर है। और, सरोजिनी नायडू ने तुरन्त जवाब दिया—बिल्कुल मिकी माउस की तरह।

वस्तुत· हँसी भगवान् की दी हुई महान् विभूति है। वह व्यक्ति बड़ा अभागा है जो वेमोल पाई हुई इस वस्तु का उपयोग नही करता। फिर आदमी को क्या हक है कि वह प्रभु द्वारा दिये गये अपने सुन्दर मुखडे को क्रोध, अहकार, ईर्ष्या इत्यादि से कुरुप बना ले। ससार-प्रसिद्ध जापानी कवि नागूची ने भगवान् से प्रार्थना करते हुए यह आशीर्वाद माँगा था कि 'जब जीवन के किनारे की हरियाली सूख गई हो, चिडियों की चहक मूक हो गई हो, सूर्य को ग्रहण लग गया हो, मेरे मित्र एवं साथी मुझे काँटो मे अकेला छोडकर कनरा गये हों और आकाश का सारा क्रोध मेरे भाग्य पर बरसानेवाला हो, तब हे भगवान्, तुम मुझ पर इतनी कृपा करना कि मेरे ओठों पर हँसी की एक उजली लकीर खिच जाय' '।

क्रातिकारी फ्रेंच लेखक वाल्तेयर ने फ्रास की राजधानी में, साहित्यिकारों की सभा में भाषण करते हुए कहा था कि जो हँसता नही, वह आदमी ही नही और जो आदमी ही नही है वह लेखक नही हो सकता। इसलिए, भाइयो, अपनी छाती से ऐसी उद्दाम हँसी फूटने दो कि मनहूस चेहरे भी चमक जायें।,

इसलिए आप देखेंगे कि साहित्यकार प्राय बडे विनोदी हुआ करते हैं।

हिन्दी के जिन्दादिल कवि भारतेन्दु अप्रेल फूल्स डे मनाने के लिए क्या-क्या करते थे, यह किसी से छिपा नहीं है। प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तो हास्यावतार ही थे। और शिवपूजन जी एव प्रेमचन्द जी की हँसी का क्या पूछना। १९३६ की बात है। प्रेमचन्द जी काशी से प्रयाग आए थे, प्रयाग विश्वविद्यालय की साहित्य परिषद् का सभापतित्व करने। छात्रों द्वारा पूछे गए प्रश्नो के सिल-सिले में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था कि 'मेरी सबसे बडी अभिलाषा है कि भगवान् मुझे मनहूसों से सदैव बचाये रखे। मनहूसियत से मेरा दम घुटता है।' सस्कृत के एक कवि की वह उक्ति लोक-प्रसिद्ध है जिसमें उसने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे भगवान् और चाहे जो हो, मगर मेरे भाग्य में यह न लिखा कि मुझे किसी अरसिक के सामने कविता पढना पड़े।

हँसी अथवा विनोद सामाजिक जीवन को बनाये रखने का एक सबल आधार है। इससे परस्पर का मनोमालिन्य मिट जाता है। घनिष्टता और प्रेम बढ़ता है। घृणा, द्वेष, कटुता और अहंकार से सामाजिक जीवन कमजोर हो जाता है। हंसी की यह सार्वजनिक उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों में मनाये जानेवाले विनोद-पर्वो में देखी जा सकती है। पाश्चात्य देशो में 'फूल्स डे' अप्रेल की पहली तिथि को मनाया जाता है। हिन्दुस्तान मे होली का त्योहार एक ऐसा ही पर्व है जिसके विनोद में साल भर की कटुता जैसे घुलकर प्रेम के अबीर में लाल हो जाती है। हँसकर अभिवादन करना तो ससार के सभी देशों में सर्वमान्य शिष्टाचार है।

व्यक्तिगत जीवन में भी हँसी-विनोद से लाभ होता है। विनोद सफ-लता की कुजी है। आप देखेंगे कि एक हँसमुख व्यक्ति भौतिक जगत में जितना सफल होता है उतना गम्भीर वा रूआँसा चेहरावाला व्यक्ति नही। इन्टरव्यू में हँसमुख व्यक्ति ज्यादा प्रभाव डालता है। रोजगार में वह ग्राहकों को खुश कर ज्यादा बिक्री कर लेता है। भाषण में श्रोताओं को मुग्ध कर अपनी ओर खीच लेता है। एक बार ख्यातनामा साहित्यकार किप्लिग एक दुकान पर किताब खरीदने गए। एक पुस्तक को उठाकर उन्होंने दुकानदार से पूछा कि यह कैसी है। दुकानदार ने कहा—मैंने पढ़ी नही। किप्लिंग झंझलाकर

अधिकाश विद्वान यह मानते है कि यद्यपि रामकथा में आगे चलकर उत्तर-दक्षिण तथा विभिन्न युगों की कथाओं और प्रवृत्तियों का सम्मिलन हो गया; किन्तु आरम्भिक रूप में यह सार्वदेशिक गाथा रही होगी, जिसके रूपक आगे चलकर सत्ता-रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। याकोबी ने इसी सिद्धान्त के आधार पर रामकथा की व्याख्या की है, जो ऊपर सक्षेप में दी गई है। इन रूपक के साथ कालक्रम से कुछ ऐतिहासिक तत्त्व भी मिल गए। वैदिक काल में आगे चलकर विष्णु इन्द्र से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए और धीरे-धीरे इन्द्र के स्थान पर समासीन हो गए। शायद और आगे चलकर विष्णु के अवतारी रूप में राम प्रतिष्ठित हुए। अतः राम के साथ सीता और इन्द्र की समस्त घटनाएँ जुड गईं।

वेद में रामायण के अनेक पात्रों, जैसे—इक्ष्वाकु, परशुराम, दशरथ, राम, और सीता के उल्लेख मिलते हैं; पर रामकथा अथवा इन पात्रों के परस्पर सम्बन्ध के नही। राम की गणना ऋग्वेद में दानी और पराक्रमी यजमानों (अर्थात् सम्भवत. राजाओं) में की गई है—

प्रतद्दु.शीमे पृथवाने वेने प्ररामे वोचमसुरे मघवत्सु।
येयुक्त्वाय पच शतास्मयु यथा विश्राव्येषाम्॥

ऋग्वेद की सीता कृषि की देवी है। अनेक स्थलो पर खेती के प्रसग में उसकी वन्दना की गई है और उसे इन्द्रपत्नी कहा गया है—

इन्द्र· सीत निगृह्णतु त पूषाभि रक्षतु।
सा न पयस्वती, दुहामुत्तरामुत्तरां सभाम्॥

(यहाँ भी सीता का एक अर्थ खेत का कूड वा चिराव हो सकता है और और शायद इसी अर्थ में कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में सीता शब्द का प्रयोग दिया है—

सखीभिरश्रोत्तरमीक्षितामिमां
वृषेव सीता तदवग्रह क्षताम्।

ऋग्वेद में दशरथ का उल्लेख एक ऐसे राजा के रूप में मिलता है, जिनके चालीस भूरे घोडे सहस्र घोडों के आगे-आगे चलते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' और

'छादोग्य उपनिषद' में अश्वपति कैकेय का विवरण कैकेय देश के ऐसे राजा के रूप में दिया गया है, जिनके पास पंडित ब्राह्मण भी ज्ञान की शिक्षा के लिए जाते थे। राजा जनक के, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में रामायण के अन्य पात्रों की अपेक्षा ज्यादा है, अनेक प्रसंग 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण', 'बृहदारण्यक उपनिषद' आदि में मिलते हैं। सभी स्थलो में वे एक ज्ञानी राजा के रूप में चित्रित है। इस प्रकार रामकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है और उनके चरित्रो की प्रमुख विशेषताएँ भी निर्दिष्ट हुई है; किन्तु उनके परस्पर सम्बन्ध का आभास नही मिलता।

बौद्ध त्रिपिटक के आधार पर कहा जा सकता है कि राम-गाथाएँ बाल्मीकि के पहले ही प्रचलित हो चुकी थी; क्योंकि न तो ये गाथाएँ ही बाल्मीकि की राम-कथा पर आधारित होती है और न बाल्मीकि-रामायण ही बौद्ध-गाथाओं पर, बल्कि दोनों ही किसी पुरानी रामकथा सम्बन्धी गाथा पर निर्भर जान पड़ती है। अनुमान किया जाता है कि छठी शताब्दी ई० पू० तक ये गाथाएँ प्रचलित हो चुकी थी। इन्ही गाथाओं अथवा रामाख्यान-काव्यों को समेटकर बाल्मीकि ने अपनी रामायण लिखी। इस रामायण में कुल पाँच काण्ड थे (बालकाड और उत्तरकाड नही थे) और अयोध्याकाड से युद्धकाड तक की कथा वर्णित थी। इसमें अवतार का उल्लेख भी न था। पर आगे चलकर इसमें बहुत-से प्रक्षिप्त अंश जुट गए। बालकाड और उत्तरकाड निस्सन्देह रूप से नए है; क्योंकि उनकी शैली रामायण की मुख्य कथावस्तु की शैली से मेल नही खाती। फिर उत्तरकाड में ही अवतारवाद और ब्राह्मणों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक, जिसमें रामायण का प्रक्षेपयुक्त स्वरूप मिलता है, रामकथा हो चुकी थी। ग्रथों में राम अवतार मान लिए गये थे। संस्कृत के धार्मिक ग्रथों में इसके प्रमाण मिलते है। 'हरिवश' में, जो चौथी शताब्दी के अन्त-काल की रचना है, तथा बाद के ग्रंथों, जैसे—'विष्णु-पुराण', 'वायुपुराण', 'भागवत पुराण', 'ब्राह्मण पुराण', 'गरुड़ पुराण', 'स्कंद पुराण' इत्यादि में रामकथा का विवरण मिलता है और इनमे राम को अलौकिक अवतार

के रूप में स्वीकार किया गया है। रामकथा का नाटकीयकरण भी होने लगा था। 'हरिवंश' में लिखा है कि बहुत पहले से ही राम के जीवन-वृत्त को लेकर लोग नाटक खेला करते थे। बाद में तो अवतारी राम की महिमा ऐसी बढी कि रामायणों की रचना का एक सिलसिला-सा बँध गया। 'अध्यात्म रामायण,' 'अद्भुत रामायण', 'आनन्द रामायण' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। रामचरित को लेकर धार्मिक ग्रंथो के अतिरिक्त संस्कृत में जिन विशुद्ध साहित्यिक काव्यों का निर्माण हुआ, उनमें कालिदास का 'रघुवंश' अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसके बाद की रचनाओं में 'भट्टिकाव्य', कुमारदास का 'जानकी-हरण,' अभिनन्दन का 'रामचरित', क्षेमेन्द्र का 'रामायण मंजरी', साकल्यमल्ल का 'उदारराघव' इत्यादि है और बाद की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी उपलब्ध हुई है। नाटकों में भासकृत 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटक, भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'महावीर चरित,' राजशेखरकृत 'बाल-रामायण', 'महानाटक' वा 'हनुमान नाटक' तथा जयदेवकृत 'प्रसन्न राघव' प्रसिद्ध है। कथा-साहित्य में रामवृत्त कम है। हाँ, सोमदेवकृत 'कथासरित्-सागर' में इसका उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है।

संस्कृत-काल के उपरान्त सस्कृत की सभी उत्तराधिकारिणी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामायण की रचना हुई। तामिल में कंबन ने, कनारी में नरहरि ने, मराठी में एकनाथ ने, उडिया में बलरामदास ने और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण लिखी। गुजरात, आसाम और बगाल कृष्णप्रधान प्रान्त रहे है, अत इन प्रान्तों ने अपेक्षाकृत रामकाव्य की रचना कम हुई। फिर भी इनमें बालमीकि-कृत रामायण का अनुवाद और रामकथा-सम्बन्धी अनेक रचनाएँ हुई है। बंगला की कृत्तिवासकृत 'रामायण' और आसामी की दुर्गावरकृत 'गीतिरामायण' तो काफी प्रसिद्ध हैं।

भारतवर्ष से बाहर तिब्बत, स्याम, हिन्दचीन, बर्मा, जावा इत्यादि में रामकथा-सम्बन्धी साहित्य मिलता है और इससे विदित होता है कि किस प्रकार रामाख्यान व्यापक होकर पड़ोसी देशों को प्रभावित कर रहा था। इन ग्रथों में तिब्बती भाषा में लिखी 'रामायण', 'रामायण काकाविन' (हिन्देशिया),

'सेरतकाड' (जावा), 'रेआमकेर' (हिन्द-चीन), रामकियेन (श्याम), इत्यादि प्रमुख हैं।[1]

हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास और उनकी रामायण का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी के मुसलमान कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने ठीक ही कहा था कि—

रामचरितमानस बिमल सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को बेदसम जमनहिं प्रगट कुरान॥

उसी प्राचीन कवि के कथन को हाल के एक विदेशी आलोचक डा० जे० एम्० मैक्फी, एम० ए०, पी-एच० डी० ने अपनी पुस्तक 'दि रामायण आफ तुलसीदास ऑर दि बाइबिल आफ नार्दन इंडिया' में एक बार फिर दुहराया है।

वस्तुतः पक्का साहित्य इसी प्रकार का सर्वव्यापक और सर्वकालीन प्रभाव डालता है। तुलसी का 'रामचरित मानस' हिन्दी का 'क्लासिक' है। जिस रचना में भाषा, मस्तिष्क और समाज-भावना की व्यापक परिपक्वता होगी, वह 'क्लासिक' कहा जायगा।[2]

हिन्दी-साहित्य के चार कालों में (वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल-और आधुनिक काल में) भक्तिकाल सर्वश्रेष्ठ काल है। वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग है। उस युग में हिन्दी के दो अमर कलाकार पैदा हुए—एक सूर और दूसरे तुलसी। दोनों महान् हैं और दोनों की रचनाएँ (खासकर, 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस') हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। पर तुलना की दृष्टि से तुलसी का व्यक्तित्त्व महानतर लगता है। सूरदास ने केवल गीत लिखे, तुलसीदास ने गीतों ('गीतावली' इत्यादि) के साथ प्रबध-काव्य ('रामचरितमानस') भी लिखा। इस प्रकार सूरदास में जहाँ केवल गीति-प्रतिभा का परिचय मिलता है, वहाँ तुलसीदास में गीति और प्रबन्ध दोनों की प्रतिभा मिलती है। फिर सूरदास ने कृष्ण के केवल बाल और किशोर

१. 'रामकथा' रेवरेंड फादर कामिल बुल्के।
२. 'ह्वाट इज क्लासिक ?'—टी० एस० इलियट।

रूपों का चित्रण किया है, उनके समस्त जीवन का नही। अत. उनकी कला समस्त जीवन-व्यापिनी कला नही है। यह सही है कि अपने क्षेत्र में अर्थात् वात्सल्य और शृगार-वर्णन में सूरदास उस्ताद हैं; पर इससे क्षेत्र की संकीर्णता की बात कटती नहीं। दूसरी ओर, तुलसीदास ने राम के जीवन में सम्पूर्ण मानव-जीवन को उपस्थित किया है। उनकी भावुकता जीवन का कोना-कोना झाँक आई है, उनके मानस में जीवन का कोई पक्ष, मानव के चरित्र का कोई पहलू अछूता नही रहा है। उसमें मानव-जीवन का आदि-मध्य-अत सभी वर्णित हैं—

यहि मँह आदि मध्य अवसाना।

इसी विस्तार के कारण तुलसीदास में सूरदास के प्रतिकूल (जिनमें केवल दो रसो—वात्सल्य और शृंगार की प्रधानता है) सभी रस अपनी पूर्णावस्था को आ गये हैं। बालकाण्ड के आरम्भ में वात्सल्य-रस है और जनकपुर के प्रसग में मर्यादित शृगार है। लक्ष्मण-परशुराम सम्भाषण में रौद्र और वीररस हैं। लकादहन में अद्भुत, भयानक इत्यादि है। इस प्रकार यदि चन्दवरदाई और भूषण वीररस के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि है और सूरदास-जी वात्सल्य और शृंगार के उस्ताद हैं, तो तुलसीदासजी सभी रसों के रससिद्ध कवीश्वर हैं। एक बात और। सूरदास का अधिकार केवल व्रजभाषा पर है; पर तुलसीदास का अधिकार व्रजभाषा ('विनयपत्रिका' इत्यादि) और अवधी ('रामचरित मानस') दोनों पर समान रूप से सुदृढ़ है।

इलियट ने कवि की तुलना रगमंच से की है। जिस तरह रंगमंच के आगे तरह-तरह के शिक्षित-अर्द्धशिक्षित, विविध सिद्धान्तवादी रहते है, उसी तरह कवि के श्रोता और पाठक तरह-तरह के व्यक्ति होते हैं। सफल कवि वह है, जो अधिक-से-अधिक पाठकों तक अपने को पहुँचा पाता है। इस कसौटी पर हिन्दी के कवियों में केवल तुलसीदासजी ही ठहरेंगे। एक ओर कबीरदास, केशवदास, निराला, प्रसाद इत्यादि हैं, जिनकी वाणी पाठको की एक बड़ी सख्या समझ नही पाती; दूसरी ओर, कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी सरलता में विज्ञ पाठकों को केवल सस्तापन और तुकबंदी मिलती है, जीवन के घने

अस्तित्व नही। किन्तु तुलसीदास के सम्बन्ध में ऐसी बात नही कही जा सकती; तुलसीदास की पहुँच झोपड़ी से महल तक है। उनका 'रामचरित मानस' सबका कंठहार है। एक ओर 'अपढ़-गँवार व्यक्ति भी उसकी पक्तियों से से रस निचोड लेता है'। गाँव का अक्षर-ज्ञान-हीन आदमी भी उठते-जागते तुलसीदास के वाक्यो का अनजाने ही प्रयोग किया करता है। ऐसे वाक्य गाँवों में लोकोक्ति और मुहावरे बन गये हैं—

(१) का बरखा जब कृषि सुखानी।
समय चूकि पुनि का पछतानी॥

(२) दुहुं न एक संग होंहि भुआलू।
हंसव ठठाई फुलाइब गालू॥ इत्यादि।

दूसरी ओर, तुलसीदास की अद्र्धालियो का गूढ़ार्थ लगाने में बडे-बड़े विद्वद्चक्रचूड़ामणि भो चक्कर खा जाते है। तुलसीदास के एक-एक वाक्य के असंख्य अर्थ लगाए गए है और अब भी विद्वानो को सतोष नही होता। यह कथन उचित ही है कि बालकाण्ड का आरम्भ, अयोध्या का मध्य और उत्तर का अन्त अथाह है। उसकी थाह लेना किसी भी पडित के लिए सम्भव नही। वस्तुतः कवि की वाणी सत्य है कि—

राम चरित जे पढ़त अघाहीं॥
रस विशेष जाना तिन नाहीं॥

कविता के दो पक्ष है—भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष। श्रेष्ठ कवि में इन दोनो पक्षो का समाहार रहता है; यानी उसकी वाणी में ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित रहते है। श्रेष्ठ कवि में तीन गुण होते है—जीवन के मर्म-स्थलो की पहचान, उनके अनुरूप अनुभूति और सम्यक् अभिव्यक्ति। ये तीनों गुण महाकवि तुलसीदास में जिस पुष्ट रूप में मिलते है, अन्यत्र नही। एक 'रामचरित मानस' को ही लें, तो उसमें जीवन के इतने रस-स्थल मिलेंगे, जिनकी गणना करना भी कठिन हो जाय। यदि एकमात्र चित्रकूट-प्रसंग को ही लिया जाय, तो उसमें मानव-जीवन के असख्य सबध जुडे दीखेंगे—

माता-पुत्र का संबध, भाई-भाई का संबंध, पिता-पुत्र का संबध, पिता और विवाहिता पुत्री का सबध, सास-पुत्रवधू का सबध, गुरु-शिष्य का संबंध, राजा-प्रजा का संबंध इत्यादि। शुक्लजी ने ठीक ही चित्रकूट की सभा को रामयाण की एक आध्यात्मिक घटना कहा है। पर किसी ग्रथ में रसपूर्ण स्थलो और मार्मिक संबधो की योजना कर देने से ही कोई महाकवि नही हो जाता। कवि तो वह है, जो उन स्थलो, पात्रों और उनकी परिस्थितियों में डूब जाता है और उनके अनुरूप अनुभव करता है। तुलसीदास में परिस्थिति की गहरी और ईमानदार अनुभूति है। यही कारण है कि रामायण में सभी पात्रो का, चाहे वे साधु हों या खल पात्र, चित्रण स्वाभाविक हुआ है; यहाँ तक कि रावण का पक्ष भी गिरने नही पाया है। फिर, तुलसीदास वाणी के धनी है। उनमें अनुभूति के गाम्भीर्य के साथ उसके प्रकाशन की प्रबल क्षमता है। इसीलिए रामायण में सभी घटनाओ का प्राणपूर्ण प्रकाशन हो सका है। यदि हास्य के अनुरूप शब्दावली देखना चाहते हों, तो नारद-मोह का प्रसंग पढ़िये, जहाँ बन्दर का मुँह लेकर नारद सभा में बैठे है; पर उन्हें पता नही है। सभी हँसते है, नारद अकुलाते हैं—

देख दसा हरगण मुसकाहीं।

यदि रौद्र के अनुरूप पौरुषेय शब्द देखना चाहते हो, तो लक्ष्मण-परशुराम संवाद देखिए—

भाषे लखन कुटिल भई भौंहें।
रद-पद फरकत नैन रिसौहें।

यदि करुणा से भीगी भाषा देखना चाहते हो, तो दशरथ-मृत्यु का हाल देखिए, जिसे देखकर दुख को दुख लग गया था और 'धीरज' का भी धीरज छूट गया था—

सुन विलाप दुखहू दुख लागा।
धीरज हू कर धीरज भागा॥

तुलसी के एक-एक शब्द में लाक्षणिकता बैठी है। एक उदाहरण लीजिए। हनुमानजी लका गए हैं। वहाँ उन्होने विभीषण के घर में राम-नाम अकित

देखा। वे मुग्ध हो गये। इसी घटना का वर्णन महाकवि ने इस प्रकार किया है:—

राम-नाम अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसी के वृन्द बहु, देखि कपी हरषाइ।

यहाँ एक 'नव' शब्द को देखिए। 'नव' शब्द बहु-अर्थी है। इसके अनेक अर्थ होते हैं। 'नव' का एक अर्थ होता है नवा हुआ, दूसरा अर्थ होता है नया, तीसरा अर्थ होता है नौ। यदि पहला अर्थ लें, तो तात्पर्य यह निकलेगा कि विभीषण के आँगन में तुलसी का बिरवा पुराना था। यदि दूसरा अर्थ लें, तो निष्कर्ष होगा कि पौधा अभी-अभी का लगाया हुआ था। यदि तीसरा अर्थ लें, तो विश्वास करना होगा कि भविष्य के मंगल के लिए नौ (जो एक शुभ अंक) विरवे रोपे गये थे। इस प्रकार यहाँ एक शब्द के द्वारा गोस्वामीजी ने विभीषण के परिवार के भूत, वर्त्तमान और भविष्य की धार्मिक वृत्तियों को एक साथ प्रकाशित कर दिया है।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध कवि पोप ने कहा था कि कविता में केवल स्वर-माधुरी ही नही होनी चाहिए, बल्कि उसमें तो ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, जिनके उच्चारण मात्र से काव्य का अर्थ झकृत हो जाय—The sound must echo the sense. काव्य का यह गुण भी हिन्दी के अन्य कवियों की अपेक्षा तुलसीदास में ही अधिक मात्रा मे मिलता है। तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की निम्नलिखित अमर पंक्ति को देखिए—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।

अथवा, इस पंक्ति को—

दामिनि दमकि रही घन मांही॥

आपको पढ़ने मात्र से ही मालूम हो जायगा कि प्रथम पंक्ति में शब्दो के उच्चारण से ही आकाश में घिरते-घुमड़ते बादलों का दृश्य रूप गति (motion) के साथ खिंच जाता है। दूसरी पंक्ति में 'दमकि' शब्द पढते

ही ऐसा लगता है, जैसे चचल बिजली पलभर को चमक कर अकस्मात बादलो में खो गई हो।

अर्थ और शब्द का यह सयोग हिन्दी के कवियो में विरल है। यह तुलसीदासजी की ही विभूति है।

यदि हम केवल छदों को ही लें, जिनकी चर्चा भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रही है, तो भी तुलसी ही बाजी मार लेंगे। चन्दबरदाई छप्पय के उस्ताद थे, सूर पदों के, नद रोला के, भूषण घनाक्षरी के, रसखान सवैया-कवित्त के और बिहारी दोहो के। पर तुलसीदास ? उनका अधिकार तो इन सभी छदों पर समान है। शायद ही उनसे अपने समय का कोई प्रचलित छद छूटा हो। और, खूबी तो यह है कि बड़े सधे हाथो से उन्होने इन छदों को पकडा है, ढीले हाथों से नही।

छदो की चुस्ती के साथ अलकारों की उपयुक्तता भी कविता की कसौटी रही है। इस कसौटी पर भी तुलसीदास ही सबसे अधिक खरे उतरेंगे। जिस तरह सस्कृत में 'उपमा कालिदासस्य' कहा जाता है, उसी तरह हिन्दी में 'उपमा तुलसीदास की' कहना चाहिए और यह नारा गलत नही होगा। तुलसीदास की उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ सटीक होती हैं; क्योकि वे जीवन से ली गई है और जिन्दगी की सही अनुभूति के आधार पर खड़ी की गई हैं। उदाहरण तो असख्य मिलेंगे—

(१) छुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोड़े धन खल बौराई॥
(२) दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
बेद पढ़त जनु बटु समुदाई॥
(३) वर्षा बूँद सहहि गिरि कैसे।
खल के बचन संत सह जैसे॥ इत्यादि।

और, फिर तुलसी-साहित्य में कोई अलकार छूटा ही नही है। वह तो विचारों के साथ अलंकारो का अथाह महासागर है। मेरा विश्वास है

कि एक ऐसा समग्र अलकार-ग्रंथ लिखा जा सकता है, जिसमें सभी अलंकारों के उदाहरण केवल 'रामचरित मानस' से दिये जायें। सुनते है कि पटने के एक व्यक्ति (शायद सुमतिजी) ने ऐसा ग्रथ लिखना चाहा भी था। खेद है कि वह प्रकाश मे न आ सका।

आज कविता की एक नई कसौटी बनी है—जीवन के प्रति जागरूकता। उस कवि को प्रगतिशील कहा जाता है, जो जीवन के सघर्षो और मानव-प्रयत्नो के प्रति जाग्रत हो। आज रीतिकालीन कविता की अवहेलना इसीलिए होती है कि उसमें जीवन के प्रति जागरूकता नही है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिन दिनों यह कसौटी नहीं बनी थी, उन दिनों में उत्पन्न तुलसीदास की प्रतिभा यहाँ भी चमक उठी है। तुलसीदासजी का जन्म भारतवर्ष की परतन्त्रता के काल में हुआ था। चारों ओर शोषण हो रहा था। जनता पिस रही थी। अकाल और प्लेग इत्यादि भी आ धमके थे। भारतवर्ष के भीतरी जीवन में भी फूट आ गई थी। धर्म के क्षेत्र में भी दलबन्दियाँ शुरू हो गई थी। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थिति की स्पष्ट झाँकियाँ दी हैं। उनके ग्रंथों में तत्कालीन अकाल इत्यादि का संकेत मिलता है। तत्कालीन राजकीय-शोषण के प्रति एक विपुल विद्रोह का स्वर उनमें मिलता है।

जैसे—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

उस समय समाज में प्रचलित जात-पाँत के भेदभाव को भी उन्होंने जोरों से झकझोरा—

मेरे जाति पाँति न चाहौं काहू की जाति-पाँति।

अपने समय में प्रचलित सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव के भेद-भावों को भी धक्का देकर दूर करने की उन्होंने कोशिश की थी—

'अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा' और 'शिवद्रोही मम दास कहावै'

इत्यादि पक्तियों से यही प्रमाणित होता है। इस प्रकार समाज के भेद-भाव

को दूर कर और इस तरह आन्तरिक दुर्बलताओं से मुक्त कर तुलसीदासजी एक सबल राष्ट्र की नीव साहित्य के माध्यम से देना चाहते थे। शोषक राजा की निन्दा करके तथा रामराज की प्रशंसा करके तुलसीदासजी ने जनता को तत्कालीन निरंकुश शासन के प्रति उभाड़ा है और उसे राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए प्रेरित किया है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि यदि तुलसीदास न होते, तो गाँव के किसानों की क्या दशा होती, कहा नही जा सकता। तुलसीदास हमारे प्रथम राष्ट्रकवि हैं। उन्होने मृतप्राय जन-जीवन को अमृत दिया था। आज के राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की निम्नलिखित पंक्तियों में अत्युक्ति नही है—

> पैठ संस्कृत सिंधु में पाये जहाँ रत्न।
> ग्रथित करने में उन्हें करके अलौकिक यत्न।
> हार जो इस देश को तुमने दिया उपहार।
> कौन कर सकता है उसके मूल्य का निरधार।
>
> ... ...
>
> जिस कमंडलु के अमृत ने थे बचाये प्राण ।
> वह तुम्हारे हाथ में था दास तुलसी दास।
> जी उठी फिर भावना दृढ़ हो गया विश्वास।

हम राममयण को 'क्लासिक' इसलिए भी कहते है कि भाषा और भाव के जिस क्षेत्र में इस प्रकार के 'क्लासिक' की रचना हो जाती है, वह क्षेत्र बहुत दिनों के लिए बजर हो जाता है और बहुत दिनो तक उसमें साहित्य की फसल नही होती, जैसे उसका सारा रस निचुड़ गया हो। रामायण में भी मानों भाषा (अवधी) और भाव (रामकाव्य) का सारा रस निचुड़ आया और इस प्रकार कि आजतक रामकाव्य के क्षेत्र में दूसरी कोई रचना उसकी बराबरी की नही हुई।

वैसे तुलसीदास के समकालीन सूरदासजी ने भी 'सूरसागर' में रामचरित लिखा और कुछ अन्य समसामयिक जनो ने भी; पर वह समग्रता नही आई।

रामकाव्य के साथ अमर संबंध जोड़नेवाले गोस्वामीजी ही हुए। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' में केवल चमत्कारवाद है; वह अनुभूति नही, जो चमत्कारों को काव्यात्मक बना देती है। यही नही, इसमें तो प्रबध-योजना भी त्रुटिपूर्ण है।

आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' है। 'साकेत' की रचना पर रामकाव्य सम्बन्धी अनेक पूर्ववर्त्ती ग्रंथों का प्रभाव है। इसमें कवि ने तुलसी से कथा ली, वाल्मीकि से चरित्र लिए, कालिदास से प्रकृति-चित्रण की प्रेरणा ली, भवभूति से वस्तु-निर्माण की योजना ली, माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद बध' से पाप-पुण्य का सघर्ष लिया और नवीनचन्द्र सेन से (जो स्थान के नाम पर पुस्तको का नामकरण किया करते थे) नामकरण की शैली ली है।

चूंकि 'साकेत' 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड पर विशेष रूप से आधारित है, इसलिए इसपर तुलसीदास का प्रभाव सर्वाधिक है। 'साकेत' में तुलसीकृत रामायण की असंख्य पंक्तियाँ प्रतिध्वनि और अनगिनत उद्धृत है, विशेषतः अयोध्यावर्णन और मंथरा-कैकेयी-सवाद में। जैसे,—

तीर-तीर देवन के मंदिर। (तुलसी)
तीर पर है देव मंदिर सोहते। (गुप्त)
... ...
जनु प्रेम अरु अनुराग तनू धरि मिलत हम देखत हरि। (तुलसी)
प्रीति से आवेग मानों आ मिला।
और हार्दिक हास आँखों में खिला (गुप्त)
... ...
फारइ जोगू कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा।।
हमहुँ कहब अब ठकुर-सुहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती।।
कोउ नृप होइ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।। (तुलसी)
लगे उस मेरे मुंह में आग।
मुझे क्या; मैं होती हूँ कौन?

नहीं रहती हूँ फिर क्यों मौन ?
देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात,
निकल ही जाती है कुछ बात। (गुप्त)

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि विषम भाँति निहारई॥ (तुलसी)

सरल नृप को छलकर इस भाँति,
गरल उगले उरगी जिस भाँति,
भरत-सुत-मणि की माँ मुद मान,
माँगने चली अभय-वरदान। (गुप्त)

वस्तुयोजना के अतिरिक्त अवतारवाद का विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त भी 'साकेत' ने 'मानस' से ग्रहण किया है।

निर्गुण ब्रह्म सगुण भये कैसे। जल हिम-उपल बिलग नहिं जैसे। (तुलसी)

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है। (गुप्त)

कालिदास के 'रघुवंश' की तरह गुप्तजी के 'साकेत' में इक्ष्वाकु-कुल के मंगलमय संवत्सरों के निदर्शक यज्ञ-स्तम्भ खड़े हैं। 'रघुवंश' की मंदाकिनी की अनुरूपता में 'साकेत' की गंगा भी द्रवित मोतियों का हार बनकर पृथ्वी के गले में पड़ी है। कालिदास की तरह साकेतकार को भी तीर्थराज प्रयाग को देखकर शरद्-ऋतु का ध्यान हो जाता है। चित्रकूट का वृषभ-रूप तो कालिदास की गुहार कर ही रहा है—

मंदाकिनी-वर्णन

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा
सरिद्विदूरान्तर भावतन्वी।
मंदाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावलीकण्ठगतेव भूमेः॥ (रघु० १३।४८)

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,
स्वर्ग-कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी !
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी ।।
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी ।। (साकेत)

तीर्थराज-वर्णन

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभि—
श्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा
रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेश ।। (रघु०, १३।५६)
देखो भाभी, तीर्थराज की यह छटा,
वर्षा से आ मिली शरद की-सी छटा ! (साकेत)

चित्रकूट-वर्णन

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ
शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षु—
दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ।। (रघु० १३।४७)
जिनकी शृङ्गावली विचित्र बढ़ी-चढ़ी,
हरियाली की झूल, फूल-पत्ती कढ़ी ।
गिरि हरि का हरवेष देख वृषवन मिला,
उनके पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला । (साकेत)

पात्रों का आवेश और गंगावतरण वाल्मीकि का ध्यान कराते हैं। पर, यदि 'साकेत' अनुकरणमात्र है, तो फिर उसका महत्त्व क्या ? कला का मूल उत्स आनन्द है और अंधानुकरण में अपेक्षित आनन्द नहीं होता। और, सच तो यह है कि अनेक स्थलों में यह अनुकृति पीछे छूटकर अपने को शिथिल प्रमाणित कर चुकी है। यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि तुलसी के राम-केवट-संवाद में, केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन में जो हृदयोल्लास

है, आनन्दविभोर मन की जो भक्तिविह्वल उमग है, साढसाती के ग्रहभार और मति फेर जानेवाली गिरा की प्रेरणा से बोझिल मथरा की कटूक्तियो में भी नारी-जीवन के कठोर पक्ष का जो प्राणपूर्ण मार्मिक उद्घाटन है, जो मर्मस्पर्शी व्यग्य है, वह गुप्तजी के 'साकेत' में नही है। अपने व्यग्य को स्वभावोक्ति से परम आस्वादनीय बना देनेवाली 'मानस' की मथरा 'साकेत' में अधीर हो उठी है।

कालिदास के प्रकृति-चित्रण की सहज कला—वह 'मधुमंजरी', जो बाणभट्ट ने कालिदास की पक्तियो में पाई थी, गुप्तजी के आदर्श-बोझिल, व्याख्या-सकुल और श्लेषलोलुप वाक्यो में कहाँ? वाल्मीकि की यथार्थता ने लक्ष्मण द्वारा की गई विमाता कैकेयी की भर्त्सना में (जिसमें उसे 'अनार्यों की जनी' कहा गया है) कैकेयी की छाती में अंकित शत्रुघ्न के मुष्टिका-प्रहार में नीतिहीन असत् वस्तुवाद का रूप धारण कर लिया है। अत इन ग्रथों की तुलना की तुला में तौलकर हम 'साकेत' की मर्यादा का मूल्याकन नही कर सकते। यह 'साकेत' की अनुकरण-वृत्ति नही, उसकी मौलिकता थी, उसका नवीन पथ-निर्देश था, जिसने उसे समादृत किया और उसके अनुकरण में 'साकेत सत' आदि प्रबध लिखवाये। अत 'साकेत' के गौरव के मूल्यांकन की कसौटी वे उद्भावनाएँ है, जिनमें मैथिलीशरणजी ने दीन, मूक पात्रों को महा-प्राण बनाया है, उपेक्षित जीवन-प्रान्तर में नये मर्मस्थल बसाये और पूर्वजीवनादर्शो का पुनर्मूल्याकन किया है। हाँ, 'साकेत' न तो रामकथा की अनुकृति है, न विरोध; वह उसका पुनर्मूल्याकन है, उसके सूत्रों की आधुनिक व्याख्या है। 'साकेत' की ये उद्भावनाएँ मुख्यत पात्र-वस्तु-आदर्श-विषयक है। पूर्व-कथाओ में हमने उर्मिला को विदेह-नगरी के स्वयवर में बधूवेष में देखा था। रघुराजकुल के अन्त पुर में प्रवेश करने के बाद उसके दर्शन नही हुए। भवभूति के काव्य में एक बार सीता ने चित्रशाला में उर्मिला की छवि पर तर्जनी रखकर लक्ष्मण से पूछा था—"वत्स, यह कौन है"; फिर रामकथा की विस्तृत चित्रशाला में किसीकी तर्जनी उर्मिला की छवि पर न पडी। इस उपेक्षिता उर्मिला को मैथिलीशरणजी ने

अपने महाकाव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। वह सीता से भी अधिक सम्मान और सवेदना का अधिकार रखती है; क्योकि–'सीता ने अपना भाग लिया, पर उसने वह भी त्याग दिया।' वनगमन के उपरान्त दशरथ, माताएँ, गुरु वशिष्ठ आदि सभी उर्मिला का ध्यान रखते है। कवि राम को चित्रकूट पहुँचाकर उर्मिला के पास लौट आता है और अन्त तक उसके साथ रहता है। इस भाँति साकेतकार ने राम-कथा के आकर्षण-केन्द्र को ही स्थानान्तरित करने की चेष्टा की है। वाल्मीकि के काव्य के आकर्षण-केन्द्र 'नरचन्द्र' राम है, तुलसी के मानस के भगवान राम और भवभूति की करुणा की आत्मा सीता है। गुप्तजी की चिन्ता की काव्यश्री उर्मिला है। एक बार स्वर्गीय डा० इकबाल ने लाहौर में देवेन्द्र सत्यार्थी से कहा था कि 'यह तो मै भी कहूँगा कि वाल्मीकि की कलम से उर्मिला के साथ भारी बेइन्साफी हुई है और मै समझता हूँ कि उर्मिला का हक उसे मिलकर रहेगा। ऐसी जिन्दा कहानियाँ, जिनसे एक तरह से मुल्क की तवारीख पनपती है, हमेशा शायरी की नई-से-नई पोशाक पहनने की आदी रही है।' गुप्तजी ने रामकाव्य की कहानी को न केवल एक नई रागिनी में गाया है, वरन् अन्तरा मे पड़ी उर्मिला को टेक के सम पर खड़ा किया है।

आधार-ग्रथो में लक्ष्मण के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्नायु भी स्पष्ट नही है। वाल्मीकि के लक्ष्मण स्त्री के वशवर्त्ती राजा को बाँधकर और भरत को माता-समेत मारकर राम का राज्याभिषेक करना चाहते है; पर इससे उनका निजत्व प्रगट नही होता, क्योंकि यह आवेश तो वहाँ सभी पात्रो में समानरूप से बैठा है। तुलसी के लखनलाल तो शेषावतार ही थे, जिसके भारभजन के लिए रामावतार हुआ था। स्वभावत वे एक कठोर आदर्शवादी सेवक के रूप में चित्रित किये गये है, जो स्वामी के सामने निज योग-क्षेम को सदा भूला रहता है। उस 'कुसुमायुध योगी' के व्रत-कठोर आवरण के भीतर जो मृदुता और मर्मस्पर्शी क्रदन था, उसकी ओर गुप्तजी ने ध्यान दिया। गुप्तजी ने पहली बार लक्ष्मण को हृदयपक्ष से युक्त किया है। 'साकेत' के

लक्ष्मण शौर्यवादी ही नहीं, सौन्दर्यवादी भी है। मानस की कल्पना विराट् है, साकेत की कोमल।

और कैकेयी ? वह तो गुप्तजी की भावुक कल्पना की सबसे ऊँची चोटी है। कैकेयी साकेत-धाम का आकाशदीप है। दूर भविष्य में जब साकेत के अनेक अंश दूर से दिखाई न देंगे, यह ज्योति नवागंतुको को साकेत-दर्शन की प्रेरणा देती रहेगी। आधार-ग्रथों में कैकेयी एक व्यक्ति नही, टाइप है--रावण की प्रतिरूपिणी। साकेतकार ने उसकी महत्त्वाकांक्षा को विराट् वात्सल्य और उत्कट महत्त्व का पर्याय बनाकर उसके सस्कारजन्य दर्प को परिस्थिति-परक बनाकर तथा उसके अस्पृश्य पाप को वंदनीय पश्चात्ताप देकर कैकेयी को एक व्यक्ति बना दिया है, जिसके कलक को तुलसीदास अध्यात्म की ओट देकर भी न छिपा सके, उसे गाँधीयुग के एक उदार वैष्णव ने ममत्व और ग्लानि के सयोग से कला के कपोल का सौन्दर्यचिह्न बना दिया है। आदिकवि की कैकेयी विद्वानो की राय में सीताहरण और सीता-परित्याग की तरह भाग्य-बहेलिये के तीखे तीरो का प्रतीक-भर है। मानस की कैकेयी देवताओं का उपादान और सरस्वती का शापमय वाहन है। उसमें व्यापार का अभाव है। 'दुरमति' दूर होने पर भी वह अनुताप नही करती। 'साकेत' में उर्मिला और कैकेयी दोनो वेदनामयी है; पर दोनो की वेदना में अन्तर है। उर्मिला की वेदना तरल तो है; पर वह निष्क्रिय है। कैकेयी के अनुताप में वह सक्रियता है, जो भूले-भटको और निराश जनो को बल देती है। हाँ--'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

गुप्तजी ने रावण में सहृदयता खोज ली है और सुमित्रा को क्षात्र-तेज दिया है---'हम परभाग नही लेंगी, अपना त्याग नही देंगी।' साकेतकार ने मानस के निषादराज का मध्यकालीन हीन-परिज्ञान (Inferiority complex) दूर किया है।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि यद्यपि आदिकवि और मानसकार ने उर्मिला को भुला दिया, लोकमानस ने उसे निर्वासित नही किया।

महाकाव्यों से परिच्छिन्न उर्मिला युगों से अपना सम्पूर्ण यौवन-विलास और अकथ वेदना लेकर लोकगीतों में बैठी हुई है। कहीं वह जँतसार में पिसनहारियों के साथ रो रही है—

के रे देले गोहुमा हो रामा, के रे देले चँगेरिया?
कउनी बइरिनिया हो रामा, भेजल जँतसरिया?
सासु देले गोहुमा हो रामा, ननदी चँगेरिया
गोतनी बइरिनिया हो रामा, भेजल जँतसरिया!
जँतवो न चलइ हो रामा, मकरी न डोलइ!
जाँत के धइले हो रामा, रोवइ जँतसरिया!
घोड़वा चढ़ल हो लछुमन करइ पूछसरिया—
केकरी तिरियवा हो रामा, रोवइ जँतसरिया?
तोहूँ नय जानल हो लछुमन तोहरे तिरियवा
जँतवा के दूखे हो रामा, रोवइ जँतसरिया?

'उर्मिला की नींद' आन्ध्रभाषा का एक लम्बा लोकगीत है, जिसे देवेन्द्र सत्यार्थी ने प्रकाशित कराया है। 'विरह की पीड़ा को सुलाती उर्मिला स्वयं सो गई और चौदह वर्षों तक सोयी रही; लक्ष्मण ने आकर उसे जगाया।' इस गीत में शान्ता और सीता का ननद-भाभी-विनोद भी अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित है।

इस प्रकार जिस पारिवारिक रस और सम्मिलित भारतीय परिवार के विनोद और विचार को साकेतकार ने उपस्थित किया है, वह आधारग्रन्थों में नहीं, लोकगीतों में मिलता है।

इस प्रकार कवि ने रामकाव्य की कठिन रागिनी को कोमल सुर में गाया है। यह उसका गौरव है, यही उसकी धन्यता है; पर जैसे एकतान संगीत (Concert) में विविध वाद्ययन्त्र बजते हैं और उनमें से प्रत्येक अपने चरम सुर का प्रकाश करता हुआ भी समग्र संगीत को रूप देने के

लिए उसके ऐक्य में लय हो जाता है और श्रोता को उसकी पृथक् सत्ता का बोध नहीं होता, उसी प्रकार 'साकेत' में रामकाव्य की विभिन्न विचित्रताओं में से प्रत्येक ने अपना चरम कर्त्तव्य करते हुए भी ऐक्य की रागिनी में अपने को विर्सजित कर दिया है, इसमें सदेह है। साकेतकार के काव्य की खण्डताओं की अपेक्षा उसकी समग्रता अधिक प्रत्यक्ष नही होती। यही उसका अभाव है।

'साकेत' में भक्ति, युगानुगामिता और काव्यचेतना का समाहार न हो सका। उसमें अनेक विवादी सुर सुनाई पडते है। उर्मिला 'साकेत' का केंद्रविंदु तो वनी; पर भक्ति ने रामकथा का सम्पूर्ण अपवर्ग उतारकर मानो उसके स्वत्वो का अपहरण कर लिया है। 'साकेत' में कथा की दो अन्तरधाराओं (राम-सीता की कथा और लक्ष्मण-उर्मिला की कथा) के प्रवहमान होने के कारण दो आकर्षण-केंद्र उपस्थित हो गये हैं और पाठक की उत्कंठा एवं संवेदना का केंद्रीयकरण उर्मिला में नही हो पाता। यो नाटकीय स्थानऐक्य के हेतु कथाकार ने रामकथा का समाहार साकेत में करना चाहा है और इसलिए एक वड़े कथा-भाग को सूचनीय रखा है। इससे पाठक को कुतूहल तो होता है; पर उसके मन की तार्किकता को सतोष नही मिलता। वह लक्ष्मण के जीवन-मरण के आकुल क्षणों के वीच हनुमान द्वारा किये गये खरदूषणवध आदि के दीर्घ वर्णन और साकेत की रणसज्जा के मध्य वशिष्ठ की योगदृष्टि के द्वारा आयोजित लका-विजय-दर्शन के आयास की सगति नही बैठा पाता। फिर इस केन्द्रीयकरण के प्रयास के कारण कथा का एक वृहत् भाग वर्णन-प्रधान हो गया है और घटनाएँ परोक्ष वनकर शिथिल हो गई है। प्रत्यक्ष है कि कथा के कई खंड हो जाने के कारण उसकी समग्रता की अनुभूति में चिन्ताजनक बाधा पड़ गई है।

'साकेत' में एक विवादी सुर सुनाई पड़ता है। वह है आर्य-महीपति दशरथ का दौर्वल्य। जिस लोकमत की रक्षा के लिए साकेतकार ने मानस के विधाता की भाँति, प्रजा को सोती छोडकर आधी रात को भाग जानेवाले राम का अनुसरण न कर, तमसा के तीर पर एक सर्वथा भिन्न दृश्य खडा किया, उस आदर्श और लोकमत के समर्थन का एक अच्छा अवसर, वरयाचना के समय, दशरथ के जीवन में आने पर भी कवि ने उसका कोई उपयोग

नही किया। आदिकवि से लेकर गुप्तजी के काव्य तक में अयोध्यानरेश रामकथा के एक मोहग्रस्त कोने में खड़े रहे। दशरथ का यह असशोधित दैन्य और अनुताप 'साकेत' के उदात्त स्वर के प्रतिकूल पड जाता है।

भावुकताबहुल करुणा ने उर्मिला को भी आवश्यकता से अधिक सवेदना देकर किंचित् दयनीय बना दिया है। वियोग के दीर्घ वर्णन के कारण उसका वह कर्तृत्वपक्ष ही दुर्बल हो गया है, जिसपर चढ़कर वह साकेत का नेतृत्व करती।

गुप्तजी ने रामकथा में उर्मिला-विरह, भरत-माडवी-सलाप, साकेत की रणसज्जा, लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन, आदि अनेक नये रसस्थल जोड़े है; पर इन भावपूर्ण स्थलों के साथ ही 'साकेत' में कुछ रसाभास-स्थल भी जुड आये है। मरणासन्न दशरथ की दुर्बल आशा का उल्लासपूर्ण वर्णन, दशरथ की मृत्यु पर विधवा रानियों से अधिक उर्मिला का विलाप और साकेत की रणसज्जा के अवसर पर उसका साकेतवासियो को लका से सोना न लाने की चेतावनी देना—ऐसे ही प्रसग है। इस प्रकार, 'साकेत' में महाकाव्य का-सा भावोन्मेष तो मिलता है; पर भाव-सकलन नही।

फिर भी, 'साकेत' इस युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य है। मौलिक चिंतन और कल्पना-उन्मेष की दृष्टि से ही नही, विषय की दृढ पकड़ की दृष्टि से भी उसने अपने अनुकरण में लिखे गये बलदेव उपाध्याय के 'साकेत-सत' और प्रभातजी की 'कैकेयी' को आगे आने न दिया है। उपाध्यायजी ने कैकेयी के वरों को उसके विवाह की शर्त्त माना है और शत्रुघ्न के द्वारा मथरा को दीवार से रगड़वाकर उसके कूबड़ से खून निकलवाया है। पर, इससे काव्य का कोई मनोरथ सिद्ध नही होता। ये चित्र हमारे सौदर्य-सस्कार के प्रतिकूल पड़ते है। रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित-चितामणि' में रामकाव्य की मर्यादा की रक्षा नही हो पाई है। जिस दृष्टिकोण से उसमें राम, सीता, भरत और लक्ष्मण को देखा गया है, उसने उनके उच्चादर्शों को मलिन कर दिया है। उस मर्यादा की रक्षा के अधिकारी गुप्त ही है; क्योंकि आधुनिक बुद्धिवाद का प्रभाव उनके विश्वास पर नही पडा है।[1]

---

१. साहित्य और समीक्षा—प्रो० केसरी कुमार

रीतिकालीन कविता

रीतिकाव्य का आकस्मिक प्रादुर्भाव नही हुआ, वरन् उसके पीछे अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियाँ काम कर रही थी, साथ ही उसका एक निश्चित साहित्यिक पृष्ठाधार भी था। रीतिकाल का प्रारभ उस समय हुआ, जब मुगल-साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर अवनति की ओर बढ रहा था। मुगल बादशाह और सामन्तो की विलासप्रियता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। औरगजेब की सारी शक्ति वासना के उमडते हुए प्रबल सागर को रोकने में असमर्थ रही। मुसलमानो की देखा-देखी हिन्दू-राजाओ के महलो में सुन्दरी के साथ सुरा का उन्मुक्त व्यापार चल रहा था। उधर मठ और मदिर देवदासियो और मुरलियो के चरणो की छुमछनन से गूँजते रहते थे। भारतीय इतिहास का यह घोर पतन का युग था। यही कारण था कि जिस बिहारी की एक-दो पक्तियाँ जयसिह को रगमहल से बाहर खीच लायी थी, वही उस वातावरण में रहकर निःसंकोच नायिका के नख-शिख का वर्णन करने लगे। परिस्थितियाँ साहित्य पर कहाँ तक प्रभाव डाल सकती है, रीतिकालीन कविता इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त रीतिकाल का ऐहिकतामूलक सरस काव्य भारतीय परपरा का स्वाभाविक विकास है। "यह प्राचीन परंपरा थी मुक्तक कविता की, जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त काव्य-वस्तुओ को छोड नित्यप्रति के सरल, ऐहिक जीवन के छोटे-छोटे चित्रों को आँक रही थी।" सन् ईसवी के आसपास आभीर जाति के ससर्ग से भारतीय साहित्य में एक प्रकार की रचनाओ का विकास हुआ था, जो धारा-वाहिक रूप में नही लिखी जाती थी, बल्कि फुटकल श्लोको के रूप में उनकी रचना होती थी। इस प्रकार की कविताओं का सबसे प्राचीन सग्रह 'हाल की सतसई' माना जाता है। इसके प्रत्येक पद अपने-आपमें स्वतन्त्र और आध्यात्मिकता की चिन्ता से मुक्त है। इसमें जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र अकित है। सतसई के उपरान्त दो और इस तरह के ग्रथ संस्कृत में मिलते है,

जिनके नाम हैं अमरुक कवि का अमरुक शतक और गोवर्धन की आर्यासप्त-शती। आगे चलकर इन मुक्तक काव्यों ने शास्त्रपथी पंडितों को आकर्षित किया और फुटकल पदों में साहित्य-शास्त्र का विवेचन होने लगा। यह प्रवृत्ति बहुत ही शक्तिशाली रूप में हिन्दी की रीतिकालीन कविता में प्रकट हुई।

एक और चिन्ता-धारा थी कामशास्त्र की, जिससे रीतिकालीन कविता यथेष्ट प्रभावित हुई। वात्स्यायन का सूत्र इसका प्रधान ग्रंथ है, जिसमें अंकित शृंगार-भावनाओं तथा केलि-क्रीड़ाओं के चित्रों की स्पष्ट छाप रीतिकाव्य में परिलक्षित होती है।

इन सारी प्रवृत्तियों के प्रभाव के साथ रीतिकाल के ऊपर भक्ति-साहित्य का प्रभाव होना आवश्यक है। ऐन्द्रिय प्रेम में आकण्ठ निमग्न होकर भी रीतिकाल के कवि राधाकृष्ण का नाम नहीं भूल सके हैं। अतः भक्ति का हल्का पुट समस्त रीतिकाव्य पर है; चाहे वह कितना ही कृत्रिम और बाहरी क्यों न हो।

इस तरह युग और साहित्यिक परंपरा से प्रभावित होकर रीतिकाव्य का प्रादुर्भाव हुआ और अपनी विशिष्टता के कारण हिन्दी-साहित्य में यह एक युग के नाम से विख्यात हो गया। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'हिन्दी रीति-ग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिये।' आगे चलकर केशव, बिहारी, देव, मतिराम, भूषण आदि अपनी सरस कविताओं के द्वारा साहित्य में अमर हो गये। रीतिकालीन कवियों ने रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के इतने उदाहरण प्रस्तुत किये कि उतने परिमाण में सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथों में भी नहीं मिलेंगे। शृंगाररस के अन्तर्गत नायिका-भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। कवियों ने कविता लिखने की एक प्रणाली ही बना ली, जिसमें दोहे में ही रस या अलंकार का लक्षण लिखकर फिर उदाहरण-स्वरूप मर्म-स्पर्शी दोहे लिखते थे। बिहारी की तरह जिन कवियों ने इस परिपाटी का पालन नहीं कर स्वतन्त्र रूप में रचना की, उनकी कविताओं में भी नायिका-भेद, नखशिख वर्णन, षट्ऋतुवर्णन आदि आसानी से परिलक्षित होते हैं।

रीतिकाव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है शृंगारिकता। इसीलिये कुछ इतिहासकारों ने इसे शृगार-काल भी कहा है। रीतिकाव्य का शृगार भक्तिकाव्य की तरह आध्यात्मिक नही है, इन्द्रियजन्य अनुभूतियाँ यहाँ एक विराट् अनुभूति में निमज्जित नही हो जाती है, वरन् यहाँ कल्पना-सौंदर्य स्पर्श-सुख से सम्पृक्त है, जिसमें प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता है। रीतिकाव्य का शृगार नितान्त स्थूल और इन्द्रियजन्य है, जिसमें दृष्टि शरीर के सौदर्य पर ही अँटकी रहती है, आत्मा तक नही पहुँच पाती। कुच और कचुकी की परिधि के वाहर मानो ये जा ही नहीं सकते थे—

दुरत न कुच विच कंचुकी, चुपरी सादी सेत।
कवि अंकन के अर्थ लौं, प्रगट दिखाई देत।। —विहारी

अधर रस की जगह भला ऐसे रसिक कवियों को आध्यात्मिक रस कहाँ तक तृप्त करता? मतिराम ऐसे कवि कृष्ण के लिये तप करना नही चाहते। उनकी तो एकमात्र आकांक्षा थी इन्द्रिय सुख की प्राप्ति—

"होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ वन जाय वडो तप कीजै,
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै।"
—मतिराम

परन्तु इस युग को शृगार-भावना विद्यापति की शृगार-भावना की तरह निश्छल और स्वस्थ नही है। विद्यापति का समाज जितना उदार था, उतना रीतियुग का नही; क्योकि मुगलो के आक्रमण के फलस्वरूप समस्त भारतीय सस्कृति में एक प्रकार के सकोच और छिपाव का प्रवेश हो चुका था। अतः रीतिकाव्य में सारा प्रेम-व्यापार लुक-छिप कर होता है—

'चितई ललचो है लखनि, डटि घूँघट पट माँह।
छलसो चली छुपाय कै, छिनक छवीली छाँह।।

—विहारी

इतना होने पर भी रीतिकाल की शृगारिकता में वेश्याविलास अथवा वाजारू हुस्नपरस्ती की वू नही आयी है। इसका रूप सर्वत्र ही गार्हस्थिकस्थ है—इसपर भारतीय कुल-परपरा और शील की छाया रही है। गणिका के प्रेम

को रीतिकाल के कवियों ने रसाभास माना है और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया है। यहाँ तक कि परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया है——

"पाय मुख्य सिगार को सुद्ध परकीया नारि। ——देव

इस तरह रीतिकाल का भावपक्ष उतना उत्कृष्ट नहीं है, जितना भक्ति-काल का। पर, कलापक्ष का इस युग में चरम विकास हुआ। बिहारी के दोहों में अलंकृत गीत-काव्य की वह रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है, जिसे देखकर उसी समय की सर्वश्रेष्ठ इमारत ताजमहल की याद आ जाती है, जिसका सूक्ष्म कोमल सौंदर्य मन को मोह लेता है। रीतिकाल की तुलना हम अँगरेजी साहित्य के पोप के युग से कर सकते है। बिहारी की तरह पोप की कविताओं में हमें कलापक्ष का चरम विकास मिलता है।

रीतिकाल में अलकारों का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि वह साधन की अपेक्षा साध्य ही अधिक ज्ञात होता है। रीतिकाल के अधिकाश कवि रूपरसिक नागरिक थे, अतएव कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे। "कुछ कवियों में अलंकारों का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म तरल प्रयोग मिलता है——वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वारस्य के इतने सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है"——(नगेन्द्र)। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में असगति अलंकार का कितना सुन्दर उदाहरण है——

"दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चितप्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिय, दई नई यह रीति।"

कही-कही भाषा की व्यजनात्मक शक्ति का बडा सुन्दर उदाहरण मिलता है। इसके अतिरिक्त भाषा में चित्रमयता और नाद-सौंदर्य के भी दर्शन होते है। कुछ स्थलों पर वस्तुव्यंजना औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गई है।

रीतिकाल की कला में एक दोष स्पष्ट है कि कवियों ने एक ही उपमान और प्रतीक का बार-बार प्रयोग किया है। मृग, कमल और खजन को छोड़कर आँख के लिये मानों कोई उपमान उन्हें मिलता ही नही था।

इस तरह इस युग की कला में इतनी पच्चीकारी और नक्काशी हुई कि जनजीवन से उसका सबंध छूट-सा गया, जिसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक थी।

फिर भी, रीतिकाल का हिन्दी-साहित्य में सम्माननीय स्थान है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

रीतिकालीन आचार्यत्व

रीतिकाल में काव्यत्व और आचार्यत्व का विचित्र सयोग दिखाई पड़ता है। वस्तुत कविता करना तथा रस और अलकार-शास्त्र का विवेचना करना, दो भिन्न कोटि के काम हैं, जिनमें भिन्न प्रतिभा और विद्वत्ता की आवश्यकता होती है। विश्व-साहित्य में प्राय. ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं, जिनमें एक ही व्यक्ति द्वारा दोनों काम सम्पादित किये गये हों। जहाँ काव्यत्व और आचार्यत्व का सम्मिश्रण दिखाई पडता है, वहाँ साहित्य का ह्रास समझना चाहिये। संस्कृत-साहित्य में एक ऐसी परंपरा मिलती है, जब अपने आश्रयदाताओं अथवा तत्कालीन रसिक नागरिकों को साधारण काव्य-शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रससिद्ध पंडितों में रीति-ग्रथ रचने की परिपाटी चल पड़ी थी। यह संस्कृत-साहित्य के उत्तरार्द्ध की बात है, जब मौलिकता समाप्तप्राय हो चुकी थी। 'चन्द्रलोक' में जयदेव ने भी लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में दिए है। मालूम होता है कि इसी परंपरा का प्रभाव रीतिकालीन कवियो पर पडा था; क्योकि रीतिकाल में सभी कवि दरबारी थे, जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल रस और अलंकार के लक्षण उदाहरण के साथ लिखे थे।

रीतिकाल के आचार्यों में मौलिक उद्भावना का तो नितान्त अभाव था ही, प्रौढ पाडित्य और खंडन-मंडन करने की शक्ति की भी कमी थी। इसके कई कारण थे। आचार्य और आश्रयदाता, जिनके लिये साहित्य-शास्त्र

की रचना होती थी, किसीमें अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने का धैर्य नही था। सव साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा काव्य-रस का रसास्वादन करने के लिये आकुल थे। दूसरा कारण गद्य की विवेचना-शैली का अभाव था। अस्तु, कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। रसनिष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार एव रस का संबंध, इस प्रकार के सूक्ष्म सिद्धान्तो का तो कुलपति जैसे एकाध आचार्य को छोडकर किसीने उल्लेख तक नही किया है।

हिन्दी के रीति-ग्रंथों मे तीन प्रकार की निरूपण-शैली पायी जाती है: (१) 'काव्य प्रकाश' की निरूपण शैली, जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोडा-वहुत प्रकाश डाला गया है। (२) 'शृंगार तिलक', 'रसमजरी' आदि की शृंगार रसमयी नयिका-भेदवाली शैली, जिसमें केवल शृंगार के विभिन्न अगों, विशेषकर नायिका-भेद का ही निरूपण किया गया है। (३) 'चन्द्रलोक' की सक्षिप्त अलकार निरूपणशैली, जिसमें अलकारों के भी सक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं।

समस्त रीतिकाल में अगर आचार्यत्व के अधिकारी हुए, तो पहली श्रेणी में ही, जिनमें सेनापति, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, श्रीपति, सूरति मिश्र और दास उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त कवियों का अध्ययन भी गहरा था और इनका ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा लक्षण पर अधिक रहा। अगर इन्हें गद्य का माध्यम मिला होता, तो इनका विवेचन स्पष्ट और अधिकारपूर्ण होता, इसमें कोई सदेह नही है। कुलपति और दास आदि ने तो पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा-तैसा प्रयोग किया है।

इस श्रेणी के आचार्यों का सबसे बडा दोष है आत्मविश्वास का अभाव। इन्हें अपन पैरों पर खड होने की शक्ति नही थी, बात-बात में सस्कृत के आचार्यों का मुँह जोहा करते थे, उनके प्रतिपादित-सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ बोलने की हिम्मत नही थी। यही कारण है कि उपर्युक्त आचार्य प्रथम कोटि में स्थान नही पा सकते है।

इस श्रेणी के प्रसिद्ध ग्रथ ये है;—सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम,' चिंतामणि के दो ग्रथ —'कवि कुल कल्पतरु' और 'काव्यविवेक,' कुलपति मिश्र का 'रसरहस्य', श्रीपति का 'काव्यसरोज', दास का 'काव्य-निर्णय' आदि। इन ग्रथो में काव्य के लक्षण, प्रयोजन, रस, ध्वनि, अलकार आदि सभी अगो का निरूपण गभीरता के साथ किया गया है। द्वितीय श्रेणी में वे ग्रथ आते है, जिनका मुख्य विषय शृगार रस है। अन्य रसो के सिर्फ नाम भर गिना दिये गये है। शृगार में भी सयोग शृगार की ओर इनका ध्यान अधिक रहा है और उसमें भी नायिका-भेद को सबसे अधिक प्रधानता मिली है। सच पूछा जाय तो इसी श्रेणी के कवि और उनके ग्रथ रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व करते है। पहली श्रेणी के विपरीत द्वितीय श्रेणी के कवियो का उद्देश्य लक्षण-ग्रथ का निर्माण करना नही था, वरन् उनका दृष्टिकोण रसात्मक और कलात्मक था, उनकी दृष्टि लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक थी।

केशव की 'रसिकप्रिया,' मतिराम का 'रसराज,' सुखदेव मिश्र के 'रस-रत्नाकर' और 'रसार्णक', देव के 'भावविलास', 'रसविलास', 'भावनीविलास' आदि, दास का 'रसनिर्णय' और पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि इस श्रेणी के प्रमुख ग्रथ है।

इन ग्रथो में एक स्वर से शृगार को समस्त रसों का राजा स्वीकार किया गया है।

तीसरी श्रेणी में वे अलंकारग्रथ आते है, जिनका उद्देश्य अलकारो को अत्यन्त सरल और सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करना था। इस शैली पर 'चन्द्रलोक' और कुवलयानद के 'अलंकारनिरूपण' का अत्यधिक प्रभाव था। सूरति मिश्र-कृत 'अलकारमाला', रसिक सुमति का 'अलकार चन्द्रोदय', भूपति-रचित 'कठाभूषण', शभुनाथ मिश्र कृत 'अलकारदीपक' और पद्माकर का 'पद्माकरण' आदि इस श्रेणी के मुख्य ग्रंथ है। भामह, दडी और मम्मट की तरह उपर्युक्त ग्रंथों क रचयिता आचार्यत्व के अधिकारी नही है; क्योकि इनलोगो ने अपना

कोई विशेष मत प्रतिपादित नही किया, प्रत्युत् आचार्यों के मतों को सरल और संक्षिप्त रूप मे रखा, जिससे समझने में आसानी हो। इन लेखकों को हम टीकाकार या आधुनिक बोली में 'नोट' लिखनेवाले कह सकते है। इनका मुख्य उद्देश्य अलकार निरूपण था, काव्य-रचना नही।

मौलिक उद्भावनायें और आलोचना-शक्ति

रीतिकाल के आचार्यो ने रस और अलकारनिरूपण में कुछ नवीन उद्भा-वनाये करने का प्रयास किया है। वस्तुतः उनमे कुछ मौलिकता है, या उन्होंने सिर्फ प्राचीन आचार्यों की नवीन उद्भावना का पिष्टपेषण मात्र किया है, यह विचारणीय विषय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बडी स्पष्टता के साथ सबल तर्कों के सहारे यह साबित कर दिया है कि रीतिकाल के भीतर नवीन उद्भावना का नितान्त अभाव था।

रीतिकाल के सभी आचार्यों ने शृगार रस को रसराज कहा है, इसे हम उनकी मौलिकता कह सकते है; पर उनसे शताब्दियों पूर्व 'अग्नि पुराण', 'शृगार तिलक' और 'शृगार-प्रकाश' आदि में शृंगार को रसराज स्वीकार कर लिया गया है; उनका विवेचन भी केशव आदि से अधिक सूक्ष्म, मनोवैज्ञा-निक और गंभीर है।

कहा जाता है कि देव ने सचारियों के बीच छल नायक संचारी की नवीन उद्भावना ही है; पर सच तो यह है कि देव ने जिस तरह से अन्य चीजें 'रसतरगिणी' से ली है, उसी तरह यह भी वहीसे उद्धृत किया गया है। दास ने भी दस भावों में दस और जोडकर हावों की सख्या में वृद्धि करने का प्रयास किया है। परन्तु उनमें से आठ तो 'साहित्यदर्पण' मे वर्णित नायिका के कृतिसाध्य अठारह अलंकारों में से अन्तिम आठ अलंकार है। शेष दो, बोधक और हेला, भी उनके अपने नही है।

रीतिकाल के आचार्यो ने नायिका-भेद का विशद और विस्तृत विवेचन किया है। पूरे दो सौ वर्षों तक इसकी छानबीन वे करते रहे; फिर भी, यह

कहना मुश्किल है कि वस्तुतः उनकी कोई मौलिक उद्भावना है। अवस्था के अनुसार संस्कृत में भरत के समय से ही नायिका के आठ भेद माने है। हिन्दी में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका, इन दोनो भेदों की वृद्धि की गयी है। इनमें प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की 'रसमंजरी' में वर्णित प्रोत्स्यत्पतिका है और डा० नगेन्द्र ने अगातपतिका को भी नवीन उद्भावना नही माना है।

शुक्लजी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अलकारो में भी रीतिकालीन आचार्यो में कोई मौलिकता नही है। भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार-सा प्रतीत अवश्य होता है; पर वह वस्तुतः सस्कृत-ग्रंथो के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप है। दास ने अतिशयोक्ति के जो पाँच भेद दिखाये है, उनमें चार तो भेदो के भिन्न-भिन्न योग है। पाँचवाँ 'सभावना-तिशयोक्ति' तो मंत्रंथातिशयोक्ति ही है।

केशव ने अलंकारों का सामान्य और विशेष, दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी में एक नयी बात मालूम होती है। पर, यह सस्कृत के पूर्व ध्वनिकाल की विचारधारा पर आश्रित है, जबकि भामह, दडी, वामन आदि समस्त काव्य-सौंदर्य को ही अलकार के अन्तर्गत मानते थे।

इन सारे प्रयासों में दासजी की एक नयी योजना ध्यान देने-योग्य है। संस्कृत-साहित्य में अत्यनुप्रास या तुक का चलन नही होने के कारण, सस्कृत-आचार्यों ने इसपर ध्यान नही दिया था, अतः दासजी ने अपनी काव्य-पुस्तक में इसका उल्लेख करके आवश्यक कार्य किया है।

रीतिकालीन आचार्य नवीन उद्भावना के फेर में न पड़कर हिन्दी-भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करते, तो एक महत्त्वपूर्ण काम होता। या, कम-से-कम व्याकरण-द्वारा हिन्दी-भापा की व्यवस्था करते, तो भी च्युतसस्कृति दोष का निराकरण होता, जो ब्रजभापा-साहित्य में थोड़ा-बहुत सर्वत्र पाया जाता है; किन्तु इस ओर किसीका ध्यान ही नही गया।

रहस्यवाद

शब्द की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही अत्यन्त आधुनिक हैं, रवि ठाकुर के काव्य के साथ जनमे हुए। वाद के लिहाज से दोनों ही अत्यन्त प्राचीन है; उतने प्राचीन, जितना भारतीय ब्रह्मज्ञान।

प्रत्येक पदार्थ में चेतना का बोध छायावाद है और इस चेतना के साथ विश्व-चेतना के ऐक्य की अनुभूति रहस्यवाद। वैसे अद्वैतवाद में भी आत्मा और विश्वात्मा का एकीकरण होता है; किन्तु भेद यह है कि अद्वैतवाद में यह एकीकरण अभेद और ज्ञानाधृत होता है, जबकि रहस्यवाद में यह ऐक्य बोधपूर्ण और प्रेमाश्रित होता है। और, चूँकि दो सत्ताओ की एकता की दृष्टि से प्रेम का चरम रूप दाम्पत्य है, इसलिए रहस्यवाद में 'मधुर-भाव' की प्रधानता रही है। सयोग और वियोग प्रेम के आदि और अन्त है। स्वभावत रहस्यवाद में सयोग की मादकता और विरह का ताप मिलेगा। शरीरी चेतन का अशरीरी विश्वचेतन के प्रति प्रेम की यह कहानी अकथ है, 'नैनन-बैनन' से नहीं कही जा सकती, सकेतों से इगित की जा सकती है। परिणाम-स्वरूप रहस्यवाद में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। सक्षेप में, व्यापक सौंदर्यानुभूति, प्रेमोपासना, अन्तर्जगत् का ऐक्य, तीव्र विरह-निवेदन और संश्लिष्ट जीवन-दर्शन रहस्यवाद का भाव-पक्ष है और प्रतीक शैली, साध्यभाषा एव लाक्षणिक अलकार उसका विभाव-पक्ष है।

अनुभव के माध्यम के अनुसार रहस्यवाद के तीन प्रकार—ज्ञानात्मक, भावात्मक और साधनात्मक, कुछेक विद्वानों (रा० च० शुक्ल प्रभृति) के द्वारा कहे गए है। उपकरण के अनुसार स्परजन आदि ने रहस्यवाद के निम्नलिखित भेद माने है—

सौंदर्य रहस्यवाद (Beauty mysticism), भक्तिपरक रहस्यवाद (Devotional mysticism) दर्शनपरक रहस्यवाद (Philosophical mysticism), प्रकृति-रहस्यवाद (Natuıe mysticism),

प्रेम-रहस्यवाद (Love mysticism) और शिशु-रहस्यवाद (Child mysticism)।

रहस्यवाद का आरम्भिक रूप वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में अज्ञात-सत्ता के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित किये गए हैं——

स नः पितेव सून वेऽण्ने
सूपायनो भवा
सच स्वा नः स्वस्तये।

सृष्टि के विकास-क्रम के प्रति होनेवाले कुतूहल की धुँधली, रहस्यमयी अभिव्यक्ति की गई है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानी
नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्
अम्भ· किमासीत् गहन गभीरम्।

और, दार्शनिक तत्त्वों का प्रेमपरक कथानको (यम-यमी संवाद), रूपको और प्रतीकों में अभिव्यंजन किया गया है:

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्व जाते
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वति
अनश्नन्नन्यो अभिचाप शीति।

यहाँ पक्षियों और वृक्ष के रूपकों द्वारा अनुरक्त आत्मा और निर्लिप्त परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त किया गया है।

उपनिषदों में वैदिक रहस्यवाद अधिक विकसित हो उठा है। यहाँ अज्ञात सत्ता के प्रेम-सम्वन्ध की तुलना दाम्पत्य प्रेम से की गई है। भगवान् को 'रसो वैसः' कहा गया है। दार्शनिक तत्त्वों और सृष्टि के विकास-क्रम के प्रतिपादन के हेतु रहस्यमयी भाषा का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

पूर्णमिदः पूर्णमिद
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ।

छांदोग्य-उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सवाद में तत्त्व-प्रतिपादन के निमित्त कथानक-रूपक का सहारा लिया गया है। भेद यह है कि उपनिषदो में वेदों की अपेक्षा सौंदर्य-भावना का सूक्ष्मतर सवाद मिलता है। जैसे,

सहोवाच न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियाभवति
आत्मनस्तु कामाय पति: प्रिया भवति
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति

—वृहदारण्यक

इस प्रकार उपनिषदो में चिंतक का मन स्थूल और बाह्य सौदर्य से हटकर आदर्श और आन्तरिक सौदर्य की ओर बढ़ गया है। फिर उपनिषदो में रहस्य-वाद का माध्यम गद्य है, पद्य नही। यहाँ कल्पना-तत्त्व का तिरोभाव तो नही है; किन्तु चिन्तन की प्रधानता है।

कपिल द्वारा प्रतिपादित साख्यशास्त्र में दाम्पत्य-सम्बन्ध के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना हुई है। ईश्वर को पुरुष और प्रकृति को नटी कहा गया है। यह प्रेम-परक विवेचन एव पुरुष-प्रकृति का रूपक भावात्मक रहस्यवाद की भाव-भूमि को सदा लिये रहता है।

नवीं-दशवीं शताब्दी के लगभग नालन्दा और विक्रमशिला के आसपास बौद्धधर्म के ह्रास से एकतात्रिक संस्कृति फैली। इसके उन्नायक थे सिद्ध (बौद्ध तात्रिक) और शाक्त। इस तांत्रिक साधना में रहस्यवाद ने एक अत्यन्त गुह्य रूप धारण किया। सिद्धों ने माधुर्यभाव का नग्न और अश्लील रूप ग्रहण किया। 'रसोवैस.' की व्यावहारिक अनुभूति के लिए डोमिन आदि के साथ सहवास-सुख का विधान किया गया और इस प्रकार 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। इस चमत्कारवादी सस्कृति ने हठयोग का भी पल्ला पकड़ा। शरीर की रहस्यमयी

व्याख्या की गई। शरीर में ब्रह्मांड की कल्पना की गई और इस प्रकार साधनात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। 'संध्याभाषा' और प्रतीक पद्धति तो अनिवार्यत: अपनाई गई, सद्गुरु को साधना का प्रधान अंग माना गया। संध्याभाषा और प्रतीक पद्धति——

वदल बिआएल गाबिया बाँझे

——ढेराढणपाद

जेहि मन पवन न सचरइ, रवि शशि नाहिं पवेश।
ताहि बट चित्त विराम कस, सरुहे कहिअ उवेश।

——सरहपाद

रहस्यवाद का चरम विकसित रूप कबीर में मिलता है। कबीर ने घट-घट में 'पिंड' देखा है——

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की जा घट परगट होय।।

कबीर का यह 'पिंड' अनिर्वचनीय, अगम-अगोचर, अकल-अनीह और शब्दातीत है। वह महज अनुभव का विषय है——

लिखा-लिखी की है नही, देखा-देखी बात।

कभी-कभी उसकी सघन व्यापकता और पारदर्शी सूक्ष्मता पर कबीर विस्मित हो उठते हैं——

ता कछु आहि कि शून्यं।

यह विस्मय आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता पर भी होती है——

हेरत-हेरत हे सखि रह्यो कबीर हिराइ।
समद समाना बूंद में सो कत हेर्‌या जाइ।।

और, संसार के विपरीत घटना-चक्र पर भी——

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ सिंघ चरावै गाई।

यह विस्मय-भावना रहस्यवाद का प्रस्थान-विन्दु है। विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। कवीर का विस्मित हृदय जिज्ञासु वनकर आत्मा के चिर घन लाल का संधान करने को निकलता है

और पाता है कि समस्त विश्व में उसीकी नूरानी लाली छायी है। वह स्वयं भी वही है—उसीके रग में सराबोर—

लाली मेरे लाल की जित देखौ तित लाल।
लाली देखन मै गई कि मैं भी हो गई लाल॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसीका रूप-विलास है—ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्। इस विस्तार में परमानन्द की अनुभूति होती है और साधक तादात्म्य अनुभव करने लगता है। कबीर को लगता है कि जिस तरह प्रिया 'पीघर' से 'पीहर' आती है और सखी-सहेलियों के बीच केलि-क्रीड़ा करती है; किन्तु फिर भी उसका मन प्रिय पर ही अँटका रहता है, उसी तरह आत्मा 'परम पुरुष' से बिछुड़कर धरती पर आई; किन्तु उसीके लिए सदा विकल रहती है——

ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति रहै पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहै, हरि को भूलत नाहिं॥

सीमा और असीम के इस अन्योन्याश्रय-सबध के ज्ञान, परम तत्त्व से तादात्म्य-अनुभव और अपनापन की अनभूति के साथ ही उस असीम के प्रति समर्पणोन्मुख अनुराग उत्पन्न होता है। भक्त भगवान् से एकाकार होना चाहता है। इस एकाकारिता में ज्ञान दूर तक सहायक नही होता; क्योंकि उसके लिए अकल-अनीह की लीला अभेद्य अन्धकार है। इसमें प्रेम सहायक होता है। कबीर में यह प्रेम अनन्यासक्ति की कोटि को पहुँचा है। प्रगाढ अनन्यता की विभोरावस्था के इस मधुर क्षण मे ज्ञान की गठरी पटककर अपने आँचल में प्रेम के ढाई अक्षर-अक्षत लेकर कबीर 'राम की वहुरिया' बनते हैं। यह 'मधुर भाव' कबीर के रहस्यवाद का केन्द्र-विन्दु है।

कबीर ने उस प्रेमिउ साईं की, जो दुनिया के सभी राहियों पर रग डालता है और केलि के लिए आमंत्रित करता है, आवाज सुनी और व्याकुल हो गए।

सतगुरु हो महराज
मो पै साई रग डारा।

सब्द की चोट लगी मेरे मन में
वेध गया तन सारा।
औषध मूल कछू नहीं लागे
का करे वैद वेचारा।
सुर नर मुनि जन पीर औलिया
कोई न पावे पारा।
साहव कवीर सर्व रग रँगिया
सव रंग ते रंग न्यारा।

अनन्त लोक की यात्रा रहस्यवाद की सामान्य प्रवृत्ति है, जिसमें न केवल 'भावना की ही प्रगति' होती है, वरन् सम्पूर्ण 'हृदय की आकाक्षा' भी। कवीर का सम्पूर्ण अस्तित्व उस ओर प्रवहमान है—

आन न पावै नीद न आवै ग्रिह वन धरै न धीर रे।
जूं कामी को काम पियारा, ज्यूं प्यासे को नीर रे॥

रहस्यवादी का यह अनन्त लोक आनन्द-लोक है, जहाँ अमृत की फुहियाँ वरसती है, अनहद-सगीत नि.सृत होता है और जहाँ सदा विमल प्रभात रहता है——

मोतिया वरसे रौरे देसवाँ दिन-राती।
मुरली-शब्द सुनि मन आनन्द भयौ, जोति बरे दिन-राती॥

इस रहस्य-लोक का सम्मोहन (Hypnotism) कवीर पर इस प्रकार छाया है कि जिस तरह चकोर चन्द्रमा की ओर और चातक घन की ओर उर्ध्वग्रीव होकर ताका करते हैं, उसी तरह कवीर वड़ी उत्कंठा से उस प्रेम-नगरी की ओर देखते है—

जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती।

उस लोक के सामने इस पार की कठोर धरती रहस्यवादी को नही भाती। इसलिए रहस्यवादी कवियो में जगत् के प्रति उपेक्षा का भाव भी यत्किञ्चित मात्रा में रहता है, जिसे आधुनिक भाषा में 'पलायनवाद' कहा

जाता है। कबीर को पी-घर के रंगमहल के सामने नैहर की गलियाँ अच्छी नहीं लगती—

नैहरवा हमकाँ नहि भावै।

साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै।

किन्तु वह लोक ऐसा है, जहाँ चाँद-सूरज भी नहीं पहुँच पाते, जहाँ पवन और पानी की गति नहीं है—

चाँद सूरज जहाँ पवन न पानी, को सदेश पहुँचावै ?

साईं के सर्प-डगर पर चलना अत्यन्त कठिन है। अतः रहस्यवाद में रूमानियत के साथ-साथ प्रेम की दुर्वारिता और प्रेम-पथ के काठिन्य का भी परिचय मिलता है। प्रेम-उद्वेलित कबीर का मन इस रपटीले मार्ग के व्यवधान पर व्याकुल हो उठता है—

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-समझि पग धरौ जतन से बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

प्रेम-पथ का काठिन्य मीरा की पंक्तियों में और अधिक समस्यामूलक रूप में प्रगट हुआ है। इसके दो कारण हैं—मीरा के जीवन की विपरीत परिस्थिति और उनका नारी-हृदय।

पर 'साईं' के डगर का पंथी 'गुरु-मंत्र' का पाथेय लेकर बढ़ता जाता है और जब सारी दुनिया सो जाती है, तब उस निविड प्रहर में वह प्रिय के कक्ष में पहुँचता है—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति सयमी। वह विभोर हो तन्द्रिल-स्वप्निल हो रहा था कि प्रिय के एक स्वर्गिक स्पर्श ने उसे जगा दिया। वह आँख मूँदकर प्रिय की मधुर उपस्थिति और स्पर्श का अनुभव करता है। उसे भय होता है कि आँख खुलने पर वह सलोनी मूर्त्ति तिरोहित न हो जाय—

सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाय।।

आध्यात्मिक परिणय का यह कोमल और प्राण-स्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद को छोड़कर अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

कबीर प्रेम का प्याला पीकर दिन-रात छके रहते हैं—

कबीरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।

कबीर ने प्रेम का यह पैगाम सम्भवत सूफियो से लिया, यद्यपि सूफियो की तरह उन्होंने भगवान् को स्त्री का रूप नही दिया है। जाहिर है, कबीर शेख तकी आदि सूफी फकीरों के सम्पर्क में आए थे।

तो सूफियो की तरह कबीर पर भी परम प्रेम का नशा चढा है, जिसका खुमार उतरने को नही। इस प्रेमानुभूति से एक क्षण के लिए भी साधक अलग नही होना चाहता। वह तो मानो प्रेम-पात्र को अपने लिए सुरक्षित कर लेना चाहता है—

ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देवँ।

किन्तु भौतिक व्यवधान प्रेमानुभूति की एकतानता को रह-रहकर झटका दे देता है और नश्वर शरीर से अनश्वर गीत गाना कठिन हो जाता है। यह भौतिक व्यवधान मृत्यु तक ही है, मृत्यु के उपरान्त तो महा मिलन होता है। इसलिए सूफी मृत्यु की कामना करते है। कबीर इस जीवन में भी मिलन की कामना करते हैं, उस जीवन में तो मिलन निश्चित है ही—

विरहिन उठि उठि भुई परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम।।

इसलिए कबीर को मृत्यु का डर नही है—

विरह कुल्हारी तन वहै घाव न बाँधे रोह।
मरने का ससय नही छूटि गया भ्रम मोह।।

हिन्दी के सूफी कवियो में जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उनके प्रसिद्ध ग्रथ 'पद्मावत' में रहस्यवाद की झाँकियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं। फर्क यह है कि कबीर की पद्धति अन्योक्ति पद्धति है और जायसी की समासोक्ति।

भक्त कवियो में सूरदास और मीरा के कुछेक पद रहस्यपरक है। ऐसे पदो में सूरदास ने एक परोक्ष रहस्य-लोक की कल्पना की है—

चकई री! चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निस दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नही दु:ख भोग।
जहाँ सनक से मोन हस शिव, मुनि जन-रन रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नही, ससि डर गुजत निगम सुवास॥

और, ऐसी कल्पनाओ में सूरदास के रूपक सतों की अपेक्षा अधिक भावात्मक रहे है। सूरदासजी पुष्टिमार्गी थे, ईश्वर के अनुग्रह (Grace of God) के विश्वासी। इस अनुग्रह के प्रति उनकी आश्चर्य-भावना उन्हें रहस्यवादियों के निकट लाती है और उनकी पुष्टि-भावना सतो की गुरु-भावना का परिवर्त्तित रूप-सी लगती है। कबीर की तरह सूर ने भी प्रतीकों का प्रयोग आत्मा और परमात्मा के लिए किया है। भृगी, मधुकर, शुक, सखी, चकई इत्यादि सूर-साहित्य में आत्मा के ही प्रतीक है। सूरदास में नाम, रूप और गुण का सर्वथा परित्याग न देखकर कुछ लोगोंने सूरदास के रहस्यवाद को 'सगुण रहस्यवाद' कहा है, गो कि यह कोई बहुत उपयक्त नाम नहीं।

मीरा कृष्ण को अलौकिक और अनुपम कहती है। उनका परोक्ष-अमर प्रियतम हृदय मे बसता है।

किन्तु यही अविनाशी 'पिया' उनका 'सच्चा बालमा' है। इस प्रकार एक ओर वे भगवान् को अनुपम-अलौकिक मानकर भक्ति करती है और दूसरी ओर वास्तविक रूप से उस प्रियतम के पलग पर पौढने की अभिलाषा भी करती है।

कबीर की तरह मीरा भी इस जीवन के व्यवहार के बीच ही परमात्मा से तादात्म्यानुभूति करती है और इस प्रकार पिण्ड में ब्रह्म देखती है।

हिन्दी के आधुनिक कवियो के साथ छायावाद आया, रहस्यवाद नही। छाया-युग हृदयवाद को लेकर आया है। वह पश्चिम से आनेवाले स्वच्छदतावाद का हिन्दी-रूपान्तर था। उसमे कीट्स, बायरन् और शेली की प्रेरणा थी, कबीर की नही। वैसे कुछेक गीत तो ऐसे निकल ही जा सकते है, जिनमें रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ आ गई हों।

आधुनिक काल के अहिन्दी-भाषी कवियो मे रवीन्द्र का स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

कबीर और रवीन्द्र दोनो परम प्रेम के पथिक हैं। दोनों में प्रिय-मिलन की व्याकुलता है। दोनों में प्रेम का उन्माद और सम्मोहन है। कबीर ने 'सतगुरु हो महाराज मो पै साँई रग डारा' वाले पद में 'प्रेम भिखारी साँई' के केलि-निमंत्रण को सुना। रवीन्द्रनाथ ने इस भाव को 'गीताञ्जलि' में इस प्रकार प्रकट किया है—

सुन्दर, तुमि एसे छिले आजि प्राते,
अरुण वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया मोर वातायन पाने
चेपे छिले तव करुण नयन पाते।
सुन्दर तुमि एसे छिले आजि प्राते।

(हे सुन्दर, तुम आज सबेरे आये थे, लाल रग का परिजात हाथ में लिए हुए। सारी नगरी सोई थी। राह में पथिक भी नही था। तुम अपने सोने के रथ पर अकेले ही चले गए। केवल एक बार रुककर तुमने अपनी करुण दृष्टि मेरी खिड़की पर डाली थी। हे सुन्दर, तुम आज सबेरे आये थे।) पर दोनो में अन्तर है। 'एक की केलि यत्न-साधित है, दूसरे की स्वयं-प्राप्त'; एक अपने और अपने पौरुष को भूलकर भी भूलना नही जानता, दूसरा अपने को और अपनी शक्ति को स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावात्मक; एक का मार्ग साधना का मार्ग है, दूसरे का मार्ग सौंदर्य का; एक करने में विश्वास करता है, दूसरा होने में; एक प्रधान रूप से सत है, दूसरा कवि। ('कबीर'—ह० प्र० द्विवेदी,) रजनीकान्त रवीन्द्र की कोटि में आते हैं—

आमि तोमाय चाहिना जीवने
तुमि अभागारे चेयै छो हे।
आमि ना डाकिते हृदय माझेर
तुमि देखा दिये छो हे।

किन्तु कबीर अभिसारिका बनकर, चुनरी पहनकर, प्रेम-जल में स्नात हो-कर और आँचल में दीप छिपाकर 'पिय' को ढूँढ़ने निकलते हैं—

भीजै चुनरिया प्रेमरस बूँदन।
आरती साज के चली है सुहागिनि
प्रिय अपने को ढूँढन।

यहाँ कबीर मीरा के निकट हैं। मीरा ने भी कबीर की भाँति 'हरि आवन की आवाज' सुनी है और सम्मोहित होकर 'पचरग चोला' पहनकर 'झिरमिट' खेलने को निकलती है।

विदेशों के रहस्यवादियों में प्लेटो, प्लोटिनस (मिस्र), ब्रुनो, स्पिनोजा, डेकार्ट, गेटे, हेगेल, जार्ज फाक्स, जार्ज हरबर्ट, डौन, जान स्मिथ, विलियम ब्लेक, क्रिस्टिना रौसेटी, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, अण्डरहिल इत्यादि की गणना हो सकती है। वर्ड्सवर्थ ने रहस्यावस्था का सकेत निम्नलिखत पक्तियों में दिया है—

That serene and blessed
In which.........breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul,
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy,
We see into the life of things.

ब्लेक की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

To see the world in a grain of sand
And a heaven in a wild flower
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

छायावाद

छायावाद द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ और इस आन्दोलन का दायरा काव्य तक ही रहा। द्विवेदी-युग की कविताओं में तत्कालीन प्रवृत्तियों की स्थूल छाप-भर थी। लेकिन उनमें भाव और अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति का नितान्त अभाव था। अधिकांश कविताएँ विषयप्रधान और वर्णनात्मक थी। भावो को मनोरम कल्पना द्वारा व्यक्त करने की पद्धति द्विवेदी-युग के कवियो ने नही सीखी थी। उन लोगो-पर अपने युग की स्थूल नैतिकता का इतना घोर प्रभाव था कि वे नवीन प्रकार के भावो को ग्रहण नही कर सके। अपने युग की राष्ट्रीय भावना को उन्होंने व्यक्त किया जरूर; मगर उसमें प्रवाह, आवेग और कपन नही भर सके। फिर, द्विवेदी-युग सुधारवादी युग था। इस युग के कवि मौजूदा जीवन में सुधार चाहते थे; लेकिन नयी व्यवस्था के लिए नही, पुरानी व्यवस्था को सुधार कर प्रतिष्ठित करने के लिए। दयानन्द का प्रभाव इस युग पर था। नयी विचारधारा और भावधारा से इस युग का संबध नही था, इसलिए भावों की गहराई में कविगण डूब नही सके। सुधारवाद और अतीत का मोह उनमें ज्यादा लक्षित होता था। अपने समय के समाज से कविगण निकट तो थे; लेकिन समाज के व्यक्ति को कविता द्वारा प्रभावित करने में वे असमर्थ थे, युग का उन्होंने साथ-भर दिया, वह भी स्थूल स्तर पर; लेकिन युग को प्रभावित नही किया।

द्विवेदी-युग के कवियो में भावप्रवणता का जो अभाव दिखाई देता है, उसका एक कारण यह भी था कि उस समय कविगण खडी वोली को कविता की भाषा वनाने के लिए उसे सँवारने में काफी लगे रहे, भाव की ओर प्रवृत नही हो सके। और, फिर सुधारवादी मनोवृत्ति के कारण वे नवीन भावों की खोज कर भी नही सकते थे।

इसी प्रकार की काव्य-रचना की प्रतिक्रिया में छायावादी आन्दोलन खडा हुआ। यह कहना गलत होगा कि बगला या रवीन्द्रनाथ तथा अग्रेजी कविता से परिचय होने के कारण हिन्दी मे छायावादी कविता का दौर शुरू हुआ। यह सही है कि छायावादी कवियो पर रवीन्द्रनाथ तथा कुछ अग्रेजी कवियों का प्रभाव पडा। लेकिन, इसके साथ ही उन कवियों पर प्राचीन भारतीय दर्शन का भी प्रभाव पडा। इसलिए प्रभाव डालनेवाले कलाकारों के आधार पर छायावादी आन्दोलन की उत्पत्ति बताना सरासर गलत है।

इस आन्दोलन की उत्पत्ति का एक कारण—द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया—बताया जा चुका है। दूसरा कारण था तत्कालीन सामाजिक अवस्था। प्रथम महायुद्ध के बाद हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया। अग्रेजों ने युद्धकाल मे बडे-बडे वादे किये थे, लेकिन बदले मे दिया जालियानवाला काड, रौलट ऐक्ट। इसके विरोध मे देशव्यापी हडतालें हुई। फिर गाँधीजी के नेतृत्व में पहला असहयोग-आन्दोलन हुआ। यह जन-आन्दोलन था। इसने देश की जनता में क्रान्ति की नयी लहर पैदा कर दी। यहाँसे हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन बिल्कुल सघर्षशील रूप धारण करता है। फिर तो बारडोली-सत्याग्रह हुआ, प्रसिद्ध नमक-सत्याग्रह हुआ। यह भी देशव्यापी आन्दोलन था। इन आन्दोलनों ने जनजीवन मे सघर्षशील राष्ट्रीय भावना भर दी। याद रहे, आन्दोलन-नेता गाँधीजी ही थे। शान्तिमय तरीके से जन-क्रान्ति का यह नया प्रयोग था। इन प्रयोगों-द्वारा गाँधीजी सामाजिक परिवर्त्तन के नये हथियार का आविष्कार कर रहे थे।

इस तरह एक ओर राजनीतिक सघर्ष का जोर था, दूसरी ओर आर्थिक जगत में भारतीय पूँजीवाद पनप रहा था। भारत मे पूँजीवाद का वह आरभिक काल था। इसलिए वह विकास का विरोध नही रहा; बल्कि मददगार रहा। नियमानुसार उदारतावाद, व्यक्ति-स्वातत्र्यवाद का उदय हुआ। इस तरह राजनीतिक जगत की सघर्षशीलता साथ-साथ उदारतावाद का भी मिलन हुआ। इन दोनो प्रवृत्तियो ने साहित्य में छायावादी आन्दोलन का सूत्रपात किया।

तीसरा कारण भी था। हमारे प्रमुख छायावादी कवि मध्यवर्ग से आते थे। नवीन उदारतावाद से ये प्रभावित थे, ये जीवन में स्वच्छन्दता के कायल थे। पर इनके समाज की अवस्था ठीक विपरीत थी। इनके विचारो, भावो से सामाजिक अवस्था की टक्कर हुई। जातपाँत का बन्धन मौजूद था ही, ऊपर से आर्थिक परेशानी। इन कारणो से मध्यवर्ग के जागरुक नवयुवको में घोर असन्तोष फैला। और वही असन्तोष समाज और रूढ़ि के प्रति विद्रोह के रूप में परिणत हुआ लेकिन विद्रोह के साथ निराशा का भाव भी वर्तमान रहा। इसलिए छायावादी कविता में इन दोनो प्रवृत्तियों का समावेश है।

असल में इन्ही तीन कारणो से छायावादी आन्दोलन खड़ा हुआ। यह ठीक है कि प्रमुख छायावादी कवियों पर विभिन्न व्यक्तियों, मतो के प्रभाव पड़े हैं। रवीन्द्रनाथ की कोमलता, अग्रेजी के रोमैंटिक कवियो की रूमानियत और प्रगीतात्मकता का प्रभाव छायावादी कवियो पर पड़ा है।

इनके अलावा रामकृष्ण, रामतीर्थ और विवेकानन्द के सिद्धान्त का काफी प्रभाव इन पर पड़ा है, खास तौर से निराला जी पर लेकिन यह याद रखने की बात है कि इन सब प्रभावों ने छायावादी कविता के मूल स्वरूप में कुछ तत्व जरूर जोड़े है, लेकिन वे छायावादी कविताओ के मूल स्रोत कदापि नही थे। तात्पर्य यह कि उक्त प्रभावो से छायावाद को कुछ लाभ हुआ जरूर, लेकिन ये उसके बुनियादी स्वरूप के जनक नही थे। छायावाद के बारे में विचार करते समय अक्सर भ्रमवश लोग यह कह देते है कि छायावाद तो रवीन्द्रनाथ और अग्रेजी के रोमैंटिक कवियो की अनुकृति है। ऐसा कहनेवाले विद्वान् यह भूलते है कि कोई भी काव्यधारा अनुकरण पर नही चल सकती, उसका आधार समाज की धरती होता है। छायावादी धारा का सीधा सबध तत्कालीन सामाजिक अवस्था से है।

अब हम छायावादी कविता की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे। याद रहे, प्रसाद, निराला और पन्त छायावाद के प्रमुख उन्नायक थे। छायावादी कविता की सबसे पहली विशेषता है इसका विद्रोही स्वर। छायावादी कवि

सुधार नहीं चाहते थे, आमूल परिवर्तन चाहते थे। वे जीवन को हर मानी में स्वतन्त्र करना चाहते थे। समाज के बन्धन, रूढियों के आग्रह की उन्होंने अवहेलना की, उन सब के खिलाफ उन्होंने स्वर बुलन्द किया। जाति-भेद और सम्प्रदाय भेद के कारण विकास में रुकावटें पडती हैं इस बात का एहसास छायावादी कवि को था। इसलिए राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ साथ सामाजिक स्वतन्त्रता के वे हिमायती थे। विश्वबन्धुत्व, विशाल मानवीयता का जो स्वर छायावादी कविता में है वह उक्त प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

प्रेम, विवाह तथा सामाजिक आलाप मे रूढियाँ रोडा बनी हुई थी। इसका बड़ा तीव्र अनुभव छायावादी कवियों को था। इसलिए व्यक्ति को सभी प्रकार के सामाजिक बन्धन और रूढ़ि से मुक्त करने के पक्ष में वे थे। दरअसल वे जीवन में हर दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद के कायल थे; परम्परागत नीति के भी वे कट्टर विरोधी थे। व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से अपनी जीवन-धारा निश्चित करे, यह उनकी माँग थी। उनके विद्रोह स्वर में यही सकारात्मक तथ्य जुड़ा हुआ था; दूसरे शब्दों में उनका विद्रोह नकारात्मक नहीं, सकारात्मक था।

छायावादी कविता में प्रेम की विवृति बहुत मिलती है। कुछ आलोचकों ने इसे उसका दोष माना है लेकिन यह ठीक बात नहीं। प्रेम का विषय इतने अधिक परिमाण में आया, उसके पीछे कारण थे। सामाजिक रूढियों और परम्परागत नीतियों के प्रति विद्रोह का एक उद्देश्य यह भी था कि प्रेम में स्वतन्त्रता हो, किसी किस्म की बाधा नहीं हो। प्रसाद जी की प्रेम में स्वतन्त्रता हो, किसी किस्म की बाधा नहीं हो। प्रसाद जी की काव्य-रचना 'आँसू' को ले लीजिये। 'आँसू' स्पष्टतया सेक्स-पराजय की कहानी उपस्थित करती है। कवि ने अन्त में कटु यथार्थ से समझौता किया है। लेकिन उसकी विषय-वस्तु वही प्रेम की असफलता है। कवि ने साफ तौर से कहा नहीं है कि समाज के नियम ऐसी असफलता के जनक हैं, वह असफलता को दार्शनिक रूप देना चाहता है जो अपने को भुलावा देने

का ही एक तरीका है। 'आँसू' पढने के वाद पाठक प्रेम की सफलता का कट्टर हिमायती हो जाता है और प्रेम को पराजित करनेवाली रूढियो का विरोधी। इस तरह 'प्रेम' को विषयवस्तु वनाकर कवियो ने माँसलता का आग्रह पूरा किया और यह मौजूदा व्यवस्था के प्रति विद्रोह ही हो सकता था। परम्परागत नीति प्रेम को मासल जीवन से अलग करने का आग्रह करती थी जवकि छायावादी कवि मासल प्रेम, ऐन्द्रियता के उपासक थे। प्रसाद जी और निराला जी भी कविता में इसके प्रमाण है। उदाहरण क लिए प्रसाद की 'आसू', 'लहर' की कुछ कविताएँ, 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' नाटको के गीत, निराला जी की 'जूही की कली' रखी जा सकती है।

छायावादी कविता की दूसरी विशेषता है भाव जगत की व्यापकता। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भाव जगत का इतना प्रसार छायावादी कवियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ। भाव जगत में प्रेम और आशा का रूप तो उन्होंने परखा ही, प्रकृति पर भी इन भावनाओ का आरोप छायावादी कवियों ने किया। प्रकृति से मनुष्य को मिलाने का उनका यह प्रयास यद्यपि काल्पनिक आदर्शवादी था, फिर भी इससे कविता का दायरा तो चौड़ा ही हुआ।

छायावादियों ने विभिन्न विषय पर कविता रच कर दिखा दिया कि कविता हर विपय पर लिखी जा सकती है, जवकि नीतिवादी यह नहीं मानते थे। दुःख, सुख, करुणा की परिस्थिति छायावादी उदार दृष्टिकोण से परखते थे। मानवीय ममता के वे पुजारी थे, इसलिए हर वस्तु में उन्हें प्रेम और सौंदर्य दीखता था।

इस नूतन भावभूमि के साथ उनकी काव्यशैली और टेकनिक भी वदली। स्वच्छन्द प्रवाह सगीत की तन्मयता की अभूतपूर्व सृष्टि छायावादी कवियों ने की है। सगीत और कविता का सुन्दर सामजस्य किया। नये-नये प्रतीको की सृष्टि की, कल्पना की उडान भी खूव ली। उनकी कल्पनाशीलता कही-कही अति पर पहुँच गयी है, फलस्वरूप ऐसी कवितायें भावो की दृष्टि से हल्की हो गयी है। पन्त की आरभिक कविताओ में यह वात मिलती है। छाया-

वादी कविताओं की सब विशेषतायें प्रसाद की 'कामायनी' में मिल जाती हैं। दरअसल 'कामायनी छायावादी' परम्परा की पराकाष्ठा का द्योतक है।

छायावाद का जो परवर्ती विकास हुआ, वह युग के अनुकूल नही था। मध्यवर्गीय निराशा ने विद्रोह को जन्म दिया; लेकिन बाद को वह भिन्न रूप में व्यक्त हुई। वेदनावाद या दुखवाद और पलायन की प्रवृत्ति निराशा की भावना का ही परिणाम थी। पलायन और वेदनावाद ने छायावादी कविता को जीवन से विच्छिन्न कर दिया। युग की परिस्थितियों ने निराशा का जो आधार प्रस्तुत किया था, उसकी परिणति हुई छायावादी कवियों की एकांतिकता और व्यक्तिवाद में। इस तरह क्रमशः छायावाद जन-जीवन से दूर जा पडा; इसमें अत्यधिक कलाबाजी आ गयी। और, तब छायावाद का अन्त हुआ। उसकी प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आया।

प्रगतिवाद

छायावाद अपने अन्तिम काल में वेदनावाद और पलायनवाद का घोर शिकार हुआ। जीवन से अलग होकर एकान्तिक चिन्तन की प्रवृत्ति बहुत बढी। व्यक्तिवाद की लपेट मे छायावादी कवि अपनी परंपरा में जीवनप्रद रचना नही कर पा रहे थे। प्रेम, कल्पना, निराशा और जीवन से पलायन का स्वर बार-बार सुनाई पडने लगा। ये लक्षण इस बात के द्योतक थे कि छायावाद अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुका है और अब इस परपरा के साँचे में भाव ग्रहण करना सभव नही है। कविता मे छायावाद भावजगत् मे क्रान्ति का द्योतक बन कर आया था; स्वाभाविक था कि शैली और टेकनिक मे भी परिवर्त्तन होता। वह हुआ भी।

हर परंपरा के लिए एक समय आता है, जब उसकी संभावनाएँ खत्म हो जाती है। सन् १९३६–३७ के आसपास छायावाद का वही हाल हुआ। इस

साहित्यिक परपरा की कोई सभावना बच नही गयी, इसलिए उत्तरकालीन छायावादी कविता में भावो की दुहराहट मिलती है।

दूसरी ओर सामाजिक परिस्थिति बहुत विषम हो चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन ने सबसे अधिक शोषित वर्गों में नयी जान भरी थी; इन शोषितों ने अपना वर्ग-सगठन भी कुछ बढा लिया था। इस तरह व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ समाजवादी आन्दोलन की भी नीव पड चुकी थी। मध्यम वर्ग के जागरूक युवको को समाजवाद में वह सब कुछ मिला, जो वह खोज रहे थे। जीवन की विषमता इतनी बढ चुकी थी कि मध्यमवर्ग पग-पग पर पराजय अनुभव करता। वह देख रहा था कि उसके सामने ही पुरानी नीति और परम्परा की दीवारें ढह रही है, जीवन के शाश्वत मूल्य धूमिल हो रहे है। उन्होने देखा कि 'प्रेम' जैसे भाव मे भी आर्थिक विषमता के कारण मलिनता आ जाती है। पारिवारिक जीवन का जो पुराना आदर्श था, वह टूट रहा है। परिवार में स्वर का आधार सदैव पुष्ट रहता है, यह पुरानी मान्यता थी। लेकिन आँखो के आगे जागरूक वर्ग देख रहा था कि यह गलत मान्यता है, पारिवारिक स्नेह में कृत्रिमता आ गयी है। आर्थिक विषमता के प्रभाव के कारण स्नेह, प्रेम और भाईचारा का क्रमश ह्रास हो रहा है।

आर्थिक अभाव ने लोगोको लूट-खसोट में प्रवृत्त किया। स्वार्थपरता और अवसरवाद क्रमश. बढ रहे थे। बात यही खतम नही हो जाती। दिनो-दिन अवस्था बिगड़ती ही जा रही थी। उस समय सवेदनशील व्यक्तियो ने अनुभव किया कि पतन का यह सिलसिला रुकनेवाला नही है। उन्होने देखा कि भारतीय परंपरा का नीतिवाद भ्रष्टाचार का साधन बन रहा है, 'सयम' के नाम पर परोक्ष रूप से भ्रष्टाचार होता था। आर्थिक विषमता और भारतीय परंपरा के कारण सेक्स-असन्तोष, सेक्स-अतृप्ति बढती जा रही थी। दमित इच्छाओ का विकृत रूप में विस्फोट हो रहा था, खास तौर से मध्यवर्गीय जीवन में। मध्यवर्गीय जीवन की विश्रृखलता, असतोष और पराजय ने तत्कालीन कवियो को बहुत प्रभावित किया। उन्होने देखा कि जीवन के पुराने मूल्य, आदर्श

और नीति से काम नहीं चलने का। सो उन्होंने नये मूल्य और नये आदर्श की खोज की।

उन्होंने अपने सामने यह भी देखा कि एक वर्ग ऐसा भी है, जो और भी दलित और शोषित है। इसी अवस्था में समाजवाद का संदेश उन्हें मिला। और, तब उन्होंने देखा कि समाजवादी मूल्यो की प्रतिष्ठा पर ही वर्त्तमान विश्रृंखल जीवन में सुन्दरता और सामंजस्य लाया जा सकता है। वे जिस प्रकार की नयी मान्यताओं की खोज रहे थे, वे जिस प्रकार के आदर्श चाहते थे, वह समाजवाद में उन्हें मिले। यहाँ तक कि विश्रृंखलता का उनका जो अनुभव था, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण वे खुद नही कर पा रहे थे; समाजवाद ने वैज्ञानिक विश्लेषण कर नये मूल्यो की खोज करनेवालो को तुष्ट किया। उनमें हार, पराजय और निराशा की भावना थी, उसकी जगह समाजवाद ने आशा बँधायी, सामाजिक परिवर्त्तन कर नये जीवन की प्रतिष्ठा का तरीका बताया। फिर क्या था, सामाजिक न्याय, वर्गविहीन समाज, समता की आवाज साहित्य में गूँजी और उसीका नाम प्रगतिवाद पड़ा।

प्रगतिवाद ने बिलकुल ही नये भावजगत् का बोध कराया। भावभूमि और कलाभूमि दोनों स्तरो पर क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ। इस परिवर्त्तन के स्वरूप को ठीक से समझने के लिए मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को समझना जरूरी है; क्योंकि सभी प्रगतिवादियो ने इसीसे प्रेरणा ग्रहण की।

मार्क्सवाद के मुताबिक वर्त्तमान सामाजिक विषमता के मूल में आर्थिक कारण है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया है। धन पर चन्द मुट्ठीभर लोगोंका कब्जा है। उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर उनका पूर्ण नियंत्रण है। इस तरह सारी आर्थिक शक्ति उनके हाथों में केन्द्रित है। असल में धन पैदा करनेवाला खेतो का किसान और फैक्टरियों का मजदूर है; लेकिन इस धन पर उसका कब्जा नही रहता है। उसके श्रम का फल उसे नही मिलता, बल्कि शोषक-वर्ग के मुट्ठी-भर लोगोको मिलता है। किसान और मजदूरों को जीने भर के लिए थोडी मजदूरी दे दी जाती है, उनके श्रम का बाकी मूल्य शोषक-वर्ग हडप लेता है। आर्थिक शक्ति का

मालिक रहने के कारण बाकी सारी सामाजिक शक्ति शोषक-वर्ग के ही हाथ में है। इसे ही सामाजिक अन्याय कहते है और यह युगों से आया है। इसी अन्याय को खत्म करने के लिए मार्क्सवाद ने समाजवादी आन्दोलन की बात कही है।

मार्क्सवाद यह मानता है कि जब तक धन का असम वितरण दूर नही होगा, जब तक उत्पादन के साधनो पर सारे समाज का अधिकार नही होगा, तब तक वर्त्तमान दु.ख-दैन्य, दरिद्रता और सामाजिक पतन का अन्त नही होगा। सामाजिक न्याय और समता के आधार पर ही नयी सस्कृति की स्थापना हो सकती है।

मार्क्सवाद ने यह भी कहा कि चेतना और सामाजिक मनोविज्ञान आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही निर्मित होते है। उत्पादन के साधनों में परिवर्त्तन होता है, तो उसके आधार पर मनुष्य का दिल-दिमाग भी बदलता है। सामन्त-वाद के बाद जब पूँजीवाद आया, तो जीवन के मूल्य बदल गये, नीति बदल गयी, आचार-व्यवहार बदल गया, मानवीय भावो के स्वरूप बदल गये। इसलिए किसी वस्तु को शाश्वत कहना गलत है। मानस-चेतना निरपेक्ष तत्त्व नही, वह सामाजिक अवस्था की ही उपज हुआ करती है। इसलिए आर्थिक-व्यवस्था के परिवर्त्तन के साथ-साथ उसमें भी तब्दीली होती है।

प्रगतिवाद के प्रसग में मार्क्सवाद की एक और मान्यता याद रखनी चाहिए। वह यह कि आर्थिक समता और सामाजिक न्याय पर आधारित जो नया समाज होगा, वह बगैर जनतन्त्र के निष्प्राण होगा। दूसरे शब्दों में, जनतन्त्र से हीन समाजवाद को सच्चा समाजवाद नही कहेंगे। मार्क्स ने जनतन्त्र को समाजवाद का एक आवश्यक अग बताया है।

सक्षप में मार्क्स के इन्ही सिद्धान्तो और धारणाओं न हमार नये साहित्य को प्रभावित किया। सामाजिक अवस्था इन सिद्धान्तो की सत्यता प्रमाणित करती थी, इसलिए वे बडी आसानी से स्वीकृत हुए।

फिर तो प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक न्याय, समता वर्गविहीनता का स्वर गूँजने लगा। यह स्वर इतना प्रबल और व्यापक हुआ कि सारा हिन्दी-साहित्य इसके प्रभाव में आ गया। निराला और पन्त ने इस नयी धारा को स्वीकार किया; अलावा उनके बड़े-बड़े पुरातनवादी भी प्रगतिवाद की बहुत-सी बातें मानने लगे। इतना तो सभी मानने लगे कि साहित्य को जन-जीवन से संबद्ध करना है।

इस तरह साहित्य पुनः अपनी जगह पर प्रतिष्ठित हुआ। प्रगतिवाद का प्रधान स्वर है दलित लोगों के लिए न्याय की माँग। इस तरह काव्य में किसान-मजदूर की जीवन-अवस्था का वर्णन बड़े पैमाने पर शुरू हुआ। उपन्यास में प्रेमचन्द ने किसान-जीवन को ही प्रधानता दी। प्रगतिवादी आन्दोलन के फलस्वरूप काव्य में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई। पन्त की कविता-पुस्तक 'ग्राम्या' इसका उदाहरण है।

निराला की कविता में दलितों का वर्णन प्रगतिवादी आन्दोलन के पहले से ही आ गया था। उन्होंने अपने आरंभिक काल में ('परिमल' में संग्रहीत) एक कविता लिखी है, जिसका शीर्षक है 'बादल राग'। इसका छठा अंश बिल्कुल प्रगतिवादी ध्वनि प्रस्तुत करता है। फिर 'अनामिका' में 'वह तोड़ती पत्थर', 'परिमल' में 'विधवा'—ये कविताएँ उनकी सामाजिक चेतना का द्योतक है। फिर जब प्रगतिवादी आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसका नेतृत्व ग्रहण करना उनके लिए स्वाभाविक था। इस तरह निराला छायावादी और प्रगतिवादी-परम्परा—दोनों के उन्नायकों में से एक है।

वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष की व्यंजना प्रगतिवादी कविता में हुई। पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ, भागवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी', अंचल की कविताएँ प्रगतिवादी कविता के कुछ उदाहरण हैं। पन्त की ये पंक्तियाँ—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित
श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित

धनबल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' इस काल की महत्वपूर्ण रचना है। इसमें जहाँ कृत्रिम प्रगतिवादियों पर आक्षेप है, वहाँ समाज पर भी कठोर व्यंग्य।

इस तरह शोषक-वर्ग के अत्याचार का विशद चित्र प्रगतिवादी कविता में मिलता है: इस समाज की दयनीय दशा का मार्मिक वर्णन है। इसमें परिवर्त्तन की पुकार है, यथार्थवाद का समावेश है, सामयिक समस्याओं का उल्लेख है और है वर्त्तमान व्यवस्था पर व्यंग्य। टेकनिक की दृष्टि से नये विम्वो, उपमानों और प्रतीकों की सृष्टि की गयी। अन्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावना है, दुनिया के दलितों के हित से अपने हित को मिलाया गया है।

जहाँ तक काव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण की बात है, उसका मतलब है वस्तु-स्थिति का यथातथ्य वर्णन और फिर परिवर्त्तन की माँग।

प्रगतिवादी धारा उन्हीं कुछ प्रवृत्तियों को लेकर चल रही थी। शुरू में इस शिविर में वे सभी शामिल थे, जो सामाजिक न्याय और समता के हामी थे। लेकिन बाद को कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के मातहत कम्युनिस्ट साहित्यकारों ने प्रगतिवादी मोर्चे को अपनी पार्टी का मोर्चा बनाना चाहा, अपनी राजनीति का पुछल्ला बनाना चाहा। तब प्रगतिवादी शिविर में फूट हुई और अब हालत यह है कि उधर कम्युनिस्ट साहित्यकार सोवियत रूस और स्टालिन का गुणगान करते रहे हैं, इधर बाकी कलाकार अपने तौर पर वर्त्तमान सामाजिकता का आग्रह पूरा करते रहे हैं। प्रगतिवाद के जो वास्तविक भाव हैं, उनको अब भी साहित्यकार स्वीकार करते हैं। सिर्फ नयी परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ नये तत्त्व जोड़ने की जरूरत है, जिसकी वास्तविक चेष्टा हो रही है। साहित्य का भविष्य इसी नयी उद्भावना पर निर्भर है। हिन्दी-साहित्य का नया विकास उसके बाद ही होगा।

प्रयोगवाद और उसके आलोचक

उपर्युक्त शीर्षक की एक सीमा है। प्रस्तुत निबंध में, हो सकता है, न तो प्रयोगवाद के सभी आलचको का नामोल्लेख हो, न उनके सभी लेखो पर विचार; फिर भी, इस शीर्षक में अपनी थोड़ी-बहुत साख है; क्योकि आलोच्य मान्याताएँ और आलोचक प्रयोगवाद के ही हैं और इसलिए भी कि प्रयोगवाद पर जो थोडा लिखा गया है, उसका ब त सामान्य होने के कारण इसमें प्रतिनिधि-आलोचना के आकलन का अवसर उपलब्ध हो सकता है।

इन आलोचनाओ के सामान्य और प्रतिनिधि होने का एक कारण यह भी है कि अधिकाशत इनके लेखक अभ्यस्ति के भीतर से कसौटी बनाने के आग्रह को अपर्याप्त पाकर आलोच्य वस्तु के प्रति लापरवाह हो जाते हैं और इस अन्तर्विरोध में एक भिन्न आधार से धावा बोल देते है। परिणाम होता है—स्थापनाएँ भिन्न-भिन्न और फिर भी निष्कर्ष एक।

कुछ आलोचनाएँ इसलिए भी समान हैं कि उनसे किसी प्रकार का निष्कर्ष नही निकलता। मसलन, नए वर्ष के प्रथम मास में प्रकाशित दो आलोचनाओं[1] को देख पाता हूँ, और इन दोनो का सम्बन्ध मेरी अन्तरगता से भी है। इन दोनो में एक व्यक्ति की, जिसे इन आलोचकों की अपेक्षा ज्यादा जानने का तो नहीं, पर जिसके ज्यादा निकट होने का और जिसकी रचनाओं को ज्यादा सही उद्धृत करने का हम दावा कर सकते है, पक्तियों का गलत उद्धरण देकर, और इस तरह, एक कल्पित आधार पर, सामती निर्णय दे दिया है। सही पक्तियो के बारे मे इन उत्साही आलोचकों की क्या राय थी, यह न जानने के कारण (छपे शब्दो में; वैसे तो शायद सही या गलत दोनो के बारे में उनकी राय समान होती) हम इनके सबध में विचार करके हास्यास्पद

---

१. जनवरी '५३ की 'अवन्तिका' के विचार-सचय-स्तंभ में प्रकाशित 'प्रयोगवाद: एक रचना-विलास' और उसी महीने की 'सरस्वती' में प्रकाशित '१९५२ का हिन्दी साहित्य: सिंहावलोकन'।

नहीं होंगे, पर इस प्रतियोगिता में प्रथम आनेवाले 'अवंतिका' के लेखक को शाबाशी जरूर देंगे, जिन्होंने स्मृति-बल पर लिखे मनगढ़ंत उद्धरण के आधार पर आलोचना लिखने की सर्वथा अभूतपूर्व प्रणाली चलाने का और इस प्रकार हिन्दी-आलोचना की समस्त परम्परा को चुनौती देने का साहस तो किया। इन दोनों लेखकों में एक और समानता है। दोनों ने प्रयोगवाद की मृत्यु का समाचार दिया है। प्रथम ने एक 'प्रभावशाली आलोचक दल' के इस निर्णय को मान लिया है कि स्वदेश में इस वाद का अन्त हो चला है और दूसरे ने, जाने किस अध्ययन के आधार पर, यह मंतव्य दिया है कि प्रयोगवाद का 'अवसान वर्षों पहले योरोपीय साहित्य में हो गया' पर स्वदेश में इसका 'सिक्का' चलाया जा रहा है। अर्थात् एक की दृष्टि में स्वदेशी प्रयोगवाद मर चला है (और शायद विदेशी जिन्दा है) और दूसरे की नजर में विदेशी मर गया है और स्वदेशी चल रहा है। दो ही महीने पूर्व, 'पिछले दशक की हिन्दी-कविता' पर लिखते हुए एक तीसरे आलोचक ने यह आशंका प्रकट की थी कि 'अज्ञेय का व्यक्तित्व पूरे काव्यजगत् पर छाता जा रहा है और यह कहना शायद अनुचित नहीं होगा कि उनके बहुत-से विरोधी भी, छिपे तौर से ही सही, उनके प्रयोगों को ग्रहण करते जा रहे हैं।' इसी प्रकार एक आलोचक ने 'प्रयोगवादी कवियों' की विशेषताओं में इसका भी शुमार किया है कि 'वे सभी असफल समालोचक हैं। अज्ञेय हो या माचवे, गजानन हो या नेमिचन्द्र, नलिन हो या केसरी—सभी कवियों ने पहले समालोचना के लिए ही कलम उठाई थी।'[2] संभव है, नन्ददुलारे वाजपेयी के इस कथन से उनका सामना हुआ हो कि 'वास्तव में ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं, जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं।'[3] पर दोनों मिलाकर निष्कर्ष? हम यह नहीं कहते कि परस्पर-विरोधी या अंतर्विरोधी आलोचनाओं से निष्कर्ष निकल ही नहीं सकता;

---

१. 'कल्पना,' नवम्बर, १९५२।

२. 'प्राची' (नयी हिन्दी-कविता : एक विश्लेषण,) भादो, २००८ सं०।

३. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० ३५।

पर इसका यह तात्पर्य नही कि समुचित आधार के अभाव में लिखी गयी समीक्षाओ से भ्राति के अतिरिक्त कुछ और निकल सकता है। यह सिद्ध कहाँ हुआ कि निबन्ध-लेखक, उपन्यासकार या असफल आलोचक के लिए (जबकि लेखक ने आलोचना को हिन्दी की सबसे सस्ती चीज कहकर इस विशेषणयुक्त सज्ञा के व्यग्य हो हल्का कर दिया है) कविता एक वर्जित प्रदेश है या यह कि कलम का स्थानातरित होना असफलता का द्योतक है। वाजपेयीजी का 'कोरा बुद्धिवाद' अपने-आपमे एक अंतर्विरोध लिए है, जिसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ प्रसगवश इतना कह ले कि प्रयोगवाद-सबधी भ्राति का एक कारण हिन्दी-पत्रकारिता भी है, जो पीली उतनी नही, जितनी हिन्दी की औसत कविता की तरह असावधान है। कुछ दिन पहले 'दूसरा सप्तक' पर 'प्रतीक' में एक साथ ही तीन आलोचनाएँ छपी थी, प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त और देवराज की। माचवे वाली आलोचना में लिखा था—"अज्ञेय का कहना है कि 'प्रयोग' का कोई 'वाद' नही होता और प्रयोग अपने-आपमें साध्य है।" देवराजजी के शब्द थे—"भूमिका में 'अज्ञेय' ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही है। प्रयोग साधनरूप है, अपने में साध्य नही।" 'कल्पना' वाली समीक्षा में दो वाक्य एक ही जगह इस प्रकार—'प्रयोगशील कवियों ने आधुनिक कविता का, शिल्प-विधान की दृष्टि से, नया शृगार नही किया है।' 'नयी कविता में भाषा और छद की दृष्टि से क्राति उपस्थित हो गई है'। पाठक भौंचक है कि आखिर अज्ञेय ने क्या कहा और लेखक क्या कहना चाहता है या सब 'गोरखधधा' ही है। यह तो भूमिका हुई और अन्य भूमिकाओ की तरह इस भाग को छोड़ दें, तो भी आपका कुछ बिगडेगा नही।

तो सबसे पहले अज्ञेय, क्योंकि, वे प्रयोगवाद के प्रथम कवि तो नही (न ही वे अपने को प्रयोगवादी मानते है), और यह मानने में मुझे भी कठिनाई होती है कि 'अज्ञेय' ने इस आन्दोलन को जन्म दिया। 'इसका प्रचार तारसप्तक से दूसरा तारसप्तक तक हुआ और फिर बिहार मे पल्लवित, पुष्पित हुआ नरेश

---

१. 'प्रतीक,' जनवरी १९५२।

जी, नलिनजी और प्रो० केसरीकुमारजी प्रयोगवादी कवियों में, पर प्रयोगशील कवियों की रचनाओं के प्रथम संपादक और उनके सामूहिक प्रयोगों के लिए प्रथम व्याख्याता होने का श्रेय उन्हें जरूर प्राप्त है, गोकि प्रसादजी द्वारा किये गए काव्य-पंक्ति के बीच पूर्ण विराम-चिह्न के प्रथम प्रयोग पर निराला जी 'सरोज' में लिख चुके थे और बाद में नलिन ने 'गाथा' की भूमिका में उसका उल्लेख करते हुए हिन्दी की 'स्टाप-एण्ड' वाली 'स्ट्राबेरी और क्रीम' कविता की बुराई की। अज्ञेय ने १९४३ में 'तारसप्तक' का प्रकाशन इस 'मूल सिद्धान्त' पर किया कि 'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे, जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं' और आठ साल बाद 'दूसरा सप्तक' निकला। इन दोनों सप्तकों में अज्ञेय ने जो स्थापनाएँ की, वे संक्षेप में ये हैं—

१. कविता प्रयोग का विषय है। कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या। और, कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी समस्या यही है। 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व आज का कवि भी निबाहना चाहता है। इसलिए प्रयोग।

२. प्रयोग सभी काल के कवियों ने किये है, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। आज का प्रयोगशील कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा भी क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है, इसलिए कि व्यक्ति-सत्य के व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है; पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बाहर आते हुए लावा में भरकर और जमकर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-

---

१. जनवाणी (प्रयोगवाद का पृष्ठाधार) मई, १९५१।

सकेतों, अकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप स, सीधे या उल्टे अक्षरों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।

३. कोई भी 'स्वान्तः सुखाय' नही लिखता या लिख सकता है। अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता अनिवार्य है। भाषा उनके (कवि और ग्राहक, या पाठक, या श्रोता के) व्यवहार का माध्यम है और उसकी माध्यमिकता इसीमे है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा बह भाषा नही है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करनेवाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य (esotric) हो जाना अनिवार्य है; किन्तु वह उसकी शक्ति नही, विवशता है, धर्म नही, आपद्धर्म है।

४. प्रयोग का कोई वाद नही है। प्रयोग अपने-आपमें इष्ट वा साध्य नहीं है, वह साधन है।

प्रयोगशील बनाम प्रयोगवादी

जाहिर है कि सप्तकों में अज्ञेय ने जिस काव्य का शील-निरूपण किया, वह प्रयोगशील का है, प्रयोगवादी का नही। प्रयोगवादी के लिए प्रयोग साध्य है, प्रयोगशील के लिए साधन। प्रयोगशील 'उलझी संवेदनाओं' और साधारणीकरण एवं निवेदन के दोआबे में रहने के कारण आपद्धर्मी बना रहता है। समझौते की समस्या, जो उलझन और साधारणीकरण की युगल-उपलब्धि के सैद्धान्तिक आया की अर्जित समस्या है, उसके लिए बनी रहती है और प्राय. उसके लिए जरूरी हो जाता है कि वह अतीत को मुँह में रखे। इसी अर्थ में वह त्रिशकु है, एक असामाजिक प्राणी के अर्थ मे नही१, जिसमें शिवदानसिह चौहान ने उसे

---

१. क्योंकि समझौते में समाज का ध्यान तो वह रखता ही है। अज्ञेयजी ने भाषा की सामाजिक माध्यमिकता की बात भी कही है। 'स्वान्तः सुखाय' कोई लिख सकता है, इसे भी वे स्वीकार नहीं करते। —लेखक

रखना चाहा है[1]; फिर प्रयोग को साधन मानने के कारण उसका काव्य जितना मुक्त होगा, उतना स्वच्छद नही। प्रयोगवाद का अभिप्रेत मुक्त नही, स्वच्छद काव्य है, जिसमें वस्तुगत दृष्टिकोण के अनुसधान का मान होता है। प्रयोगवाद प्रयोग को साध्य मानता है और शेष को, अर्थात् जीवन और कोष को, कच्चा माल यानी साधन। प्रयोग का प्रयोजन ढूँढना नददुलारे वाजपेयी के लिए ही व्यर्थ हो सकता है। प्रयोगवादी मानता है कि प्रयोगवाद का अर्थ है—भाव और व्यजना का स्थापत्य। उसके लिए, काव्य में भाव और व्यजना के स्थापत्य को धर्म मान लेने पर, अन्य आग्रह महत्व नही रखते। सम्पूर्ण की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति के दायित्व और इसके लिए दृक्वाक्यपदीय प्रणाली की अनिवार्यता को वह स्वीकार करता है; तब जो अनिवार्य नही है[2], वे प्रश्न उसके लिए विधान-बाहरी हो जाते है। अतीत उसके लिए खाद है (और खाद एवं खाद्य का अन्तर प्रत्यक्ष है)। अतीत को शव-साधना से यदि नई प्राणशक्ति मिले[3] तो बुराई नही; पर वह मानता है कि साहित्य में अनुसधान ही नही[4]

---

१. कि 'पूँजीवाद के ह्रासकाल में एक व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक जीवन से तटस्थ कलाकार (किस प्रकार) अपना सच्चा आत्मगौरव खोकर एक असामाजिक प्राणी—त्रिशंकु बन जाता है। ('आलोचना', वर्ष १, अंक २, सम्पादकी

२. जैसे साधारणीकरण, कस्मै देवाय इत्यादि।

३. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को इस शक्ति पर बहुत भरोसा है।

४. अनुसंधान की अपनी उपयोगिता है औरLukacs ने उसकी मीमांसा इस प्रकार की है:—An epic work produces an effect the more enchanting and general the more it succeeds in making the individual and his social activity appear not as contrived scheme as the product of the author's virtuosity, but as something naturally grown, not as something invented, but as something just discovered.

आविष्कार भी होता है और इसे ही मानने के कारण वह सर्वतत्र स्वतन्त्र हो जाता है। चूँकि निर्माण के लिहाज से महान पूर्ववर्त्तियों की परम्पराएँ निष्प्राण हैं, उसने अनुकरण के सिद्धान्त[१] को छोड़ दिया है और चूँकि अपनी की हुई चेष्टाएँ भी अतीत है, वह दूसरो के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है। साहित्य में जो हो चुका, खासकर अच्छी तरह, वह उसके लिए अछूत है[२], अपनी की हुई चेष्टाएँ, दान की हुई कन्याएँ। परम्परा को ढोना हीनता है, परम्परा के उत्तरदायित्व का बोध बल है। इसलिए प्रयोगवाद जीवन के प्रतिष्ठित तन्त्र को नही, जीवन के प्रति जाग्रति को, भाषा के आर्ष प्रयोग को नही, भाषा के प्रति जागरूकता को आवश्यक समझता है।

तात्पर्य यह कि दोनों सप्तको में अज्ञेयजी ने प्रयोगशीलता की व्याख्या की, प्रयोगवाद की नही।

Masses & mainstream, Dec. '49—Idea and Form in Literature.

१. यहाँ केवल अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत से, जिसे दुहरानेवाला आज विरल ही होता है (वैसे हिन्दी में ऐसे विरल जनों का अभाव भी नही है) मतलब नहीं; इसमें परवर्तीकार का प्रेषण-सिद्धान्त भी समाहित है; क्योंकि अभ्यासग्रस्त के प्रति निवेदन के आग्रह का परिणाम भाषागत अभ्यासों की निष्प्राण आवृति यानी जकथक।

२. (क) एलियट ने 'What is a Classic?' में इस बात पर खुशी जाहिर की है कि अंग्रजी साहित्य में कोई classic नहीं है; क्योंकि जिस क्षेत्र में classic का जन्म होता है, उसमें बहुत दिनों तक नवनिर्माण की सम्भावना नहीं होती; क्योंकि वह भाषा की सम्पूर्ण परिपक्वता को खींचकर उसे वर्षो के लिए बंजर कर देता है। (हिन्दी में एक हद तक तुलसीकृत रामायण एक classic है और उसके क्षेत्र में अभी तक कोई महान् उत्पादन नहीं हुआ)। साधारण खेत का भी यही हाल है। अच्छी फसल के लिए कुशल किसान खेत को कभी बिन-बोये ही छोड़ देता है। यह भी देखा जाता है

नकेनवाद[1]

और, अगर हिन्दी के सुधी समीक्षक अज्ञेयजी की उपर्युक्त व्याख्या को प्रयोगवाद की व्याख्या न मान लेते, तो 'प्रयोग-दशसूत्री'[2] (प्रयोगवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप), जिसमें पहली बार प्रयोगवाद का मौलिक शील-निरूपण हुआ और उसे प्रयोगशीलता से भिन्न करके देखा गया, को लेकर शायद यह प्रश्न नहीं उठता कि 'दूसरों से भी अपना अनुकरण वर्जित समझनेवालों ने प्रयोग-दशसूत्री को राजनीतिक घोषणा-पत्र के पिटे-पिटाये[3] प्रारूप में क्यों ढाल दिया।[4] दिलचस्प बात यह है कि प्रश्नकर्त्ता ने यह कहकर भी कि "प्रयोग-वादी काव्य की रूपसम्बन्धी विशेषताओं पर विचार करने के पहले यह आव-श्यक है कि प्रयोगवाद के उस रूप पर भी विचार कर लें, जो 'नकेनवादी'

कि महान् बाप के बेटे में एक प्रकार का हीन-परिज्ञान आ जाता है। पिता की महानता से वह ऐसा आक्रांत होता है कि अपनी शक्ति में उसे विश्वास नहीं होता। उपकार के तौर पर उसे अपने दृष्टिकोण को अद्यतन करना पड़ता है।

(ख) शब्द का कोषगत अर्थ जानकर भाव ग्रहण करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि वे हमें अछूतोद्धार का विरोधी करार न देने लगें।

१. इस नाम के लिए हम किन-किन को धन्यवाद दें। इलाचन्द्र जोशी, प्रभाकर माचवे आदि ने इस नाम से हमलोगों को याद किया है। दो साल पहले हमने इस नाम को अनुपयुक्त समझा था (देखिए 'साहित्य और समीक्षा' में 'नई कविता' शीर्षक निबन्ध)। पर अभी यह नाम पसन्द है और सोचा जा रहा है कि क्यों नहीं 'चित्रेतना' ('नकेनवादियों' का काव्य-संग्रह) का नाम 'नकेन' ही रखा जाय।

२. देखिए, 'प्रकाश', पटना, दीपावली, १९५०।

३. प्रारूप पिटा-पिटाया क्या होगा ?

४. 'कल्पना, नवम्बर, १९५२।

प्रयोगवाद के नाम से विख्यात है"[१] ! प्रयोगों के वाहुल्यभाव के कारण उसपर विचार करना उचित नही समझा। सो बात जहाँ की तहाँ बनी रही और 'प्रयोग-दशसूत्री' की आवश्यकता भी।

कुछ लाचार परिभाषाएँ और असंगतियाँ

पर आलोचकों ने अज्ञेयजी की स्थापनाओं को प्रयोगवाद का आधार मान लिया।[२] शायद नये प्रयोगो ने आलोचकों की अभ्यस्ति को, जिसकी पकड़ में अभी-अभी वे प्रतिष्ठित-से हो चले थे, अचानक एक अप्रत्याशित आघात किया और वे आवेश में, असगतियो पर ध्यान न देकर, एकाएक धावा बोल गए। प्रमाण यह है कि 'स्वप्नवादी' और 'छायावादी काव्य-दृष्टि' वाले आलोचक ज्यादा बहके, खासकर नन्ददुलारे वाजपेयी। यो इसी आवेश में शिवदानसिंह चौहान भी आए; पर कुछ बाद—उनकी अभ्यस्ति (प्रगतिवाद की वीरपूजावाली) भी तो वाद की थी। इसी आवेश में उपपत्तियाँ और परिभाषाएँ गढी गई—एक जोखिम का काम।

डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ और भदेस की प्रतिक्रिया[३] कहा और नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह कि 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रातिदर्शिता के बदले सामान्य मनोरजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न

---

१. वही।

२. "अज्ञेयजी के प्रयास से यह तो लाभ हुआ ही कि आधुनिक हिन्दी-कविता में 'प्रयोगवाद' की स्थिति और स्वरूप का हमें कुछ आभास और परिचय मिल सका और अब हम उन व्याख्याओं की सहायता से प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा करने की स्थिति में आ गए है।" (आधुनिक साहित्य—पृ० २१)

३. विचार और विवेचन, पृ० १४१।

करता है। स्रष्टा और संदेशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता मात्र होता है।"

डा० नगेन्द्र, आर्षवचनो, आनन्द और रस के आधार पर आलोचना करते रहे हैं। इधर उनके श्रमलाघव के अभ्यास ने दो शब्द अपना लिए हैं—'भावात्मक दृष्टिकोण' और 'प्रतिक्रिया'।[१] इस प्रकार अब उनका काम और सरल हो गया है। चाहे किसी भी युग का, किसी भी व्यक्ति का, कैसा भी साहित्य हो, वे इन दोनों शब्दो का बारी-बारी से प्रयोग कर देंगे। कहेंगे, 'जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण था और रीतिकाव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था[३]। 'शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण'[४] उन्हें पतजी में मिल ही चुका है। यह आलोचना के क्षेत्र में आए हुए उस साधारणीकरण का परिणाम है, जिसका आग्रह करते हिन्दी के अभिभावक थकते नही। आलोचना का उद्देश्य मूल्यों का नये सिरे से अनुसधान और विशिष्ट की खोजकर पाठक को उसमें एक पैठ देना है। पर नगेन्द्रजी से यहाँ एक चूक हो गई। यदि वे प्रयोगवाद को भी एक दृष्टिकोण कह देते, तो कुछ बात हो जाती और यदि अपनी अभ्यस्ति से जरा आगे चलकर उसे दृष्टिकोण का अनुसंधान कह देते, तो बड़ी बात।

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ० १५।

२. ये दोनों ही शब्द उनकी आलोचनाओं में इतनी बार जगह-बे-जगह प्रयुक्त हुए है कि ये थककर असमर्थ-से हो गए हैं, उसी तरह जिस तरह पंतजी के काव्य में असंख्य बार आया हुआ शब्द 'चिर'।

४. नगेन्द्रजी में शुद्धता का विचित्र आग्रह है (देखिए उनका वाक्य 'छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है') और इसकी बुराई में एंजिल्स ने कहा था कि शुद्ध-तत्त्व (Pure phenomena) कभी जेरुजेल्म के अल्पायु राज्य के विधान में रहा होगा।

प्रयोगवादी कवि मानता है कि कविता की सच्ची प्रेरणा वस्तु-स्थिति से मिलती है, जबकि वस्तु-स्थिति के संश्लेष (Complex) को लेखक अथवा साहित्यकार एक नये दृष्टि-विन्दु से देखता है। वह दृष्टि-विंदु भी विषयीगत की तरह कुछ अज्ञेय अथवा धुँधला नहीं। वह भी विषयगत ही होता है। लेखक विषय से ही वह नवीन दृष्टि विन्दु प्राप्त करता है और उसीके आलोक में वह विषय को फिर एक नई जगह से, शक्ति के नये संश्लेष के रूप में, देखने लगता है। ऐसा देखना अनिवार्यतः निस्संग देखना है।१ मगर नगेन्द्रजी के लिए एक लाचारी थी। जिन साहित्यकारों को लेकर उन्होंने अपनी मान्यता स्थिर की थी, वे 'वस्तु-जगत् की स्वयं में उलझाने-लुभानेवाली शक्तियों के संश्लेष से ही एक नवीन दृष्टि-विन्दुगत प्रेरणा' ग्रहण करनेवाले नहीं थे। जिस साहित्य को लेकर उन्होंने अपनी कसौटी बनाई, वह एक प्रिया की ही याद से चाँद और ऊषा दोनों के दर्शन करनेवाला साहित्य था।

तो, उन्होंने अपने दूसरे अस्त्र का प्रयोग किया और प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ और भदेश की प्रतिक्रिया कहा, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की और प्रगतिवाद को छायावाद की। मगर लाचारी बदस्तूर बनी रही। वे प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ और भदेश की प्रतिक्रिया कहकर क्षोभ प्रकट करते हैं और उसी स्वर में यह भी कहते हैं कि प्रयोगवाद का, 'वस्तु-परक दृष्टिकोण' की उपलब्धि में, सफल होना अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि वह छायावाद की 'अतिशय भावपरकता में पगा है।' स्थापना और भविष्यवाणी की यह असंगति निश्चय ही एक लाचारी है। यह अस्तव्यस्तता इसलिए भी है कि मूल्य काव्य के भीतर से नहीं आ रहा, आरोपित हो रहा है। लाचारी यह है कि हिन्दी-आलोचना की कसौटी ही रही है हीनता की। उसमें कौन कितना श्रेष्ठ है, यह न बतलाया जाकर यही बतलाया जाता रहा है

---

१. ('साहित्य', जनवरी '५१ कविता और हिन्दी-कविता (श्री नरेश)।

कि कौन कितना हीन है, बुरा है और किसने कैसे विचार प्रगट किए हैं ! और, ये दोनों ही बातें बेमानी नहीं हैं; क्योकि हिन्दी में चारण, संत और भक्त हुए । (हम यह नहीं कहते कि इनमें काव्य है ही नहीं; पर इनमें और कालिदास में जो अंतर है, वह तो प्रत्यक्ष ही है) । इस मानी में कवि व्यक्ति आधुनिक काल में ही पैदा हुआ । ऐसे कवियो का सबसे समृद्ध युग छायायुग रहा । अतः यदि आलोचकों ने इसके आधार पर मान्यता बनाई, तो कोई शिकायत नही । मगर दुःख तो यह है कि अभ्यासो से यहाँ भी मुक्ति नही मिली । चूँकि हम अभ्यस्त हो चुके थे कि विचारों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन होता है और शब्दार्थ से ही काव्य जाना जाता है, हमने छायावादी काव्य को भी उसके प्रकृत स्थल में रखकर नही देखा, बल्कि एक गलत ढंग से सूक्ष्म के प्रति आग्रह, 'आध्यात्मिक भूमि पर पहुँची हुई प्रेम-कल्पना', 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति'[१] के काँटे पर उसे तौला और तब उसे 'शुद्ध कविता' कहा । एक कहानी याद आती है । कही एक चित्र-प्रदर्शनी हुई । एक चित्र को प्रथम पुरस्कार मिला । पुरस्कार-विजेता चित्रकार को खबर देकर बुलाया गया । मगर पुरस्कार लेते समय जब उसकी दृष्टि अपने चित्र पर पड़ी, तो वह चिल्ला उठा—'ले लो अपना पुरस्कार, तुमने मेरा चित्र उल्टा क्यो टाँग दिया है ?' ऐसी परिस्थिति में छायावाद का मर जाना ही अच्छा था और अगर मानते हैं कि वह मर गया, तो उसके अनेक कारणों में एक ये आलोचक-प्रवर भी होगे ।

ऊपर की लाचारी डा० नगेन्द्र और वाजपेयीजी दोनो में समान है । वे अभ्यस्त हैं कि साहित्य के माध्यम से (जैसा हिन्दी में होता रहा है) इतिहास, राजनीति और दर्शन की शिक्षा दी जाती है, इसलिए उन्हें प्रयोगवाद के स्थापत्य में 'वास्तविक सृजन' नहीं मिलता । चूँकि वे प्रिया के ध्यान में चाँद देखनेवाले साहित्य के आदी रहे हैं, इसलिए प्रयोगवाद की वस्तुगतता में उन्हें 'तात्विक अनुभूति' नहीं मिलती । चूँकि वे साधारणीकृत (सरल यानी साधारण) विचारो और

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी ।

शब्दों की हुक्मी कवायद के अभ्यासी हैं; इसलिए प्रयोगवाद की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति में 'स्वाभाविक-क्रमविकास' देख नहीं पाते। चूँकि वे वस्तु पर व्यक्तित्व के समर्पण (जो साहित्यकार की चरम साधना है) की बात पकड़ नहीं पाते, प्रयोगवाद में उन्हें 'सुनिश्चित व्यक्तित्व' नहीं मिलता।

अज्ञेय ने वाजपेयीजी की युक्ति को 'तर्क-विकृति' कहा है। दरअसल यहाँ तर्क है ही नहीं, केवल क्षोभ है; अन्यथा इन भारी-भरकम विशेषणों का महत्त्व ही क्या, जो एक-दूसरे को ठेलते हुए अपनी प्रभविष्णुता खो रहे हैं।

वस्तुत. इन दोनों उपपत्तियों में आत्मसात न कर सकने की अपनी असमर्थता और कसौटी की लाचारी को विशेषणों में छिपाकर उनकी परम्परा से बनी हुई अपनी वर्गस्थिति (Hierarchy) को बनाये रखने की एक बेचैनी है। और, यह बेचैनी, (आलोचना के निरन्तर विकास के अभिलाषी और अध्यता को कष्ट होगा) ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की द्विवेदीकाल में छायावाद के, जिसके समर्थन में इन दोनों प्रवक्ताओं ने शक्तिसंचय किया, विरोधियों की थी। जरा दोनों की नसीहतों और शब्दावली की तुलना कीजिए.—

वास्तव में ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं, जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं। परन्तु इन भले आदमियों को इतना तो समझना ही चाहिए कि कविता के क्षेत्र में कोरा बुद्धिवाद अधिक देर तक नहीं चल सकता।

—न० दु० वाजपेयी

कवि को भाषा पर कमाँड होना चाहिए। आपमें उसका अभाव है। आप का कवि होना वैसी ही अनधिकार चेष्टा है, जैसी मेरे लिए एम० एस-सी० क्लास का प्रोफेसर होना। नाम 'सत्यप्रकाश' और भटकते फिरते हो अंधेरे में। भारत में न तो छायावाद चलेगा और न प्रतिबिम्बवाद, यहाँ तो प्रकाशवाद रहा है और रहेगा।[1]

—लाला भगवान दीन

---

१. साहित्य और समीक्षा—केसरीकुमार।

हम अपने काव्योद्यान में ऐसे फूल लगाना नहीं चाहेंगे, जो हमारी धरती से रस खींचना अस्वीकार करें और जिन्हें प्रयोगो का इंजेक्शन देकर ही जिलाया जा सके। —न० दु० वाजपेयी

कविता-वल्ली को प्रतिभा के वारि से सींचकर 'पल्लव' निकालिये, खुशी से उसकी छाया में बैठकर 'वीणा' बजाइए; पर काव्य-कानन के कल्पवृक्षो की जड़ पर कुमति-कुठार न चलाइये। यह अत्याचार असह्य है। "पल्लव' के नोकीले और जहरीले काँटे इनके दिल में न चुभाइए, 'वीणा' में मोहनी स्वर छेड़िए; मारू राग न बजाइए। —पद्मसिंह शर्मा।

हिन्दी-आलोचना में प्रलाप की यह पुनरावृत्ति है। फूल को इंजेक्शन देने की सूझ खूब रही। मगर उन्हें यह समाचार मिल गया होगा कि हाल में संत विनोबा भावे ने भी चाँडिल में इंजेक्शन लिया है। वे आश्वस्त रहें; उनका काव्योद्यान सुरक्षित रहेगा। उसके फूल तो यों ही ताजगी खो रहे हैं। प्रयोगवाद बंजर को उर्वर करने चला है।

इन दोनों आलोचकों में एक और समानता है, असगति तथा परस्पर-विरोध की और इसके कारणों पर हम विचार कर आए है। नगेन्द्रजी की तरह वाजपेयीजी की लाचारी भी प्रत्यक्ष है और इसलिए 'छायावादी काव्य दृष्टि' में एक ओर वे कहते हैं कि 'कवियों ने नवीन शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्तियों और प्रयोगो का भी अच्छा प्रभाव देख पडा। लेखको की ग्राहिका-बुद्धि ने और उनकी नव सांस्कृतिक रुचि ने अभिव्यंजना को पाश्चात्य शैली से भी सुसज्जित करने की चेष्टा की। जितने नये शब्द और प्रयोग संस्कृत और अंग्रेजी से इस युग में गृहीत और निर्मित हुए और जितने स्वतन्त्र आविष्कार भाषा में किए गए, उतने इसके पूर्ववर्त्ती कदाचित् किसी युग में नही हुए थे। भाषा की समृद्धिशीलता भी साहित्य की ही समृद्धिशीलता का अंग है।'[१] और दूसरी ओर, प्रयोगवादी रचनाओं पर यह अभिमत भी दे देते हैं कि 'प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है, उसकी उपेक्षा

१. वही।

नही की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनिया से बहुत दूर है।'

अभियोग और सवाल

हिन्दी-आलोचना की अदालत में प्रयोगवाद पर जो अभियोग लगाए गए हैं, संक्षेप में, वे ये हैं—

१. प्रयोगवादी रचनाएँ काव्य की चौहद्दी में नहीं आती। वे बुद्धिवाद से त्रस्त हैं। वे वैचिष्य-प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं है।

२. उलझी सवेदनाओं की अभिव्यक्ति से जाहिर हैं कि वह (प्रयोगवादी) अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने में अक्षम है।

३. प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदातिव को भी पूरा नहीं करती।

४. ये कविताएँ अनिवार्य रूप से नही, सिद्धांत-रूप से भी दुरूह हैं। इनमें साधारणीकरण का अभाव है।

५. इनमें भाषा का सर्वदा व्यक्तिगत अर्थात् अनर्गल प्रयोग होता है। इन अभियोगों के साथ यदि हम अज्ञेय की स्थापनाओं और डा० रघुवश, शिवदानसिह चौहान प्रभृति के तर्कों को ले लें, तो कुछ प्रश्न उठ खड़े होंगे; जैसे—

१. क्या प्रयोगवाद कोई वाद है ?

२. यदि हाँ, तो, उसका उद्देश्य क्या है ?

३. क्या बौद्धिकता से काव्य का विरोध है ?

४. क्या उलझी संवेदनाओं (मेरा मतलब Complex Sensibilities से है, जिसका अज्ञेय ने आपद्धर्मी तौर से हिन्दी में कमजोर अनुवाद कर दिया) के कारण कोई कवि नही हो सकता या क्या काव्य सरल संवेदनाओं तक ही सीमित रहता है ?

५. अपनी वैयक्तिक अनुभूति और समाज के प्रति कवि का उत्तरदायित्व क्या है ?

६. क्या साधारणीकरण और सुबोधता काव्य का धर्म है ?

७. क्या भाषा का वैयक्तिक प्रयोग अधर्म है ?

८. प्रयोगवाद की क्या आवश्यकता है, क्या उपयोगिता है ?

वाद की बात

प्रयोगशील का पक्ष है कि "प्रयोग का कोई वाद नही होता। प्रयोग अपने आपमें इष्ट नही है, वह साधन है और दोहरा साधन है; क्योकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है; दूसरे, वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। प्रयोगों का महत्त्व कर्ता के लिए चाहे जितना हो; सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, हृदय के निकट यह सब अप्रासगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नही। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासगिक हो सकता है, तो मोती सामने रखकर ही—'इस मोती को पाने में इतना परिश्रम लगा'—बिना मोती पाये उसका महत्त्व नही है। स्वय वह भी (जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है) उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है; नही तो उस शोध में इतना सलग्न न होता।"[1]

वाद का आग्रह हमारा नही; पर सवाल आग्रह का नही, स्थिति का है। प्रयोग सत्य का साधन है; पर उसका सत्य उससे भिन्न कहाँ है ? स्तब्ध रात्रि में नीड़स्थ शावको की फडफड़ाहट कवि ने सुनी और उस सतानहीन नारी की कल्पना की, जो इस फड़फडाहट में माँ के स्तनों पर फिरनेवाली बच्चे की उँगलियों की याद कर रो-रो पड़ती है।[2] यहाँ सत्य का आकलन वस्तुस्थिति (निस्तब्ध रात्रि में शावकों की फड़फड़ाहट) से उत्पन्न उस दृष्टि में है, जो अनुभावक की आसगति (association—सतानहीन-नारीत्व) से स्थानान्तरित होकर एक नवीन प्रकाश देती है, जिसमें वह वस्तुस्थिति को फिर शक्ति के

---

१. अज्ञेय (दूसरा सप्तक)

२. देखिए, पाटल, अंक ५, वर्ष ९।

एक नये संश्लेष में देखता ह। शोध में संलग्न रहने का मतलब सत्य को अधिक महत्त्व देना है, यह स्थापना विचित्र है। अधिक महत्त्व किससे? साधन यानी भाषा से? पर काव्य-सत्य की तरह काव्य-भाषा अनिवार्य होती है। जहाँ तक परिणाम का सम्बन्ध है, काव्य-प्रयोग की प्रक्रिया वैज्ञानिक शोध-गृह की प्रक्रिया से भिन्न होती है। शोध-गृह की प्रक्रिया में काल का हाथ नहीं होता और वह उपलब्धि के साथ समाप्त हो जाती है। काव्य से उत्पन्न होने-वाले दृष्टिकोण में, जिसे काल-सम्बन्ध प्रतिक्षण प्रभावित करता रहता है, सत्य ग्रहण करता है और इसलिए इसका कहीं अन्त नहीं होता। वर्ड्सवर्थ की काव्य-परिभाषा, कि काव्य पुनर्स्मृति आवेग है, की एलिएट ने इसलिए बुराई की कि अनुभावक और वस्तु के बीच में काल के आ जाने के कारण पुनर्स्मृति ठीक-ठीक हो नहीं पाती।[1] वस्तुतः काव्य में जिन सत्य-सम्बन्धों का यानी दृष्टिकोणों का अनुसंधान होता है, उनके सम्पूर्ण को किसी युग के किसी एक व्यक्ति में पाया भी नहीं जा सकता। इस-लिए काव्य में न तो विज्ञान की जैसी उपलब्धि होती है और न ही उसकी प्रक्रिया की समाप्ति। क्या अज्ञेय 'सत्य' की, जिसकी खोज में वे प्रयोग कर रहे हैं, उपलब्धि (!) के बाद कविता करना छोड़ देंगे?

प्रयोग-संलग्न कवि की तुलना गोताखोर से करना भी विशेष मानी नहीं रखता। गोताखोर अपरिचित सागर से परिचित मोती निकालता है (जिसे पुराने जमाने में कभी लहरों ने किनारे पर फेंका होगा और जिसे देखकर आदमी ललचा होगा), कवि परिचित वस्तु से अपरिचित भाव-संबध लाता है। गोताखोर का मोती पाना बहुत-कुछ भाग्य पर निर्भर है, कवि का शक्ति और केंद्रीकरण पर[2]। मोती बहुत कुछ मुश्तकिल है, काव्य के भाव-मूल्य और व्यंजना के उपा-

---

१. Selected Essays.

२. शायद इसी मोती-भावना से प्रभावित होकर श्री शमशेरबहादुर सिंह ने, इसका और अधिक स्थूल प्रयोग अपने 'कला और साहित्य में प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध में किया है। (देखिए, 'आलोचना' अंक २)

दान नहीं; इसलिए प्रयोगवादी मानता है कि काव्य का अभिप्रेत वह प्रयोग ही है, जिसके स्थापत्य में भाव और व्यंजना एक परिस्थिति-जन्य अनिवार्यता में एकाकार होकर सत्यरूप ग्रहण कर लेते हैं। और, इस प्रकार प्रयोग को साधन नहीं, अपितु साध्य मानने के कारण प्रयोगवाद एक दर्शन हो जाता।

सही है कि सभी युगों में प्रयोग हुए और कहीं-कहीं आज के अनेक प्रयोगों से पुराने प्रयोग ज्यादा समर्थ हुए हैं; पर प्रयोग को सत्य-साध्य रूप में अभी-अभी स्वीकार किया गया है। सक्षेप में, प्रयोगवाद की स्थिति निश्चित है।

बुद्धि बनाम राग

यह इल्जाम कि प्रयोगवाद बौद्धिकता से ग्रस्त होने के कारण काव्य की चौहद्दी में नहीं आता, (क्योंकि वह राग की जागीर है) एक पूर्वग्रह लिए है। इस पूर्वग्रह का एक उदाहरण डा० नगेंद्र का यह कथन है कि 'कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वजनीन सत्य है और कविता की यही सार्थकता है। इसका निषेध करने का साहस टी० एस० एलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसीमें है कि वह राग को संवेदनीय बनाए, बौद्धिक तत्त्व को सवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं'। यहाँ एलियट को चुनौती व्यर्थ दी गई; क्योंकि वह बहुत पहले यह लिखने का साहस कर चुका था कि कविता राग नहीं, राग से बचाव है।[१] और, उपर्युक्त स्थापना की, जो हिन्दी में कम-से-कम बा० श्यामसुन्दर दासजी के समय से चली आ रही है, व्याख्या न होती, तो अच्छा था; क्योंकि वे एक-दूसरे को झुठला रही हैं। यदि 'शेष सृष्टि' में बुद्धि आती है, तो कविता को अधिकार होगा कि वह उससे रागात्मक सम्बन्ध रखे, और यदि 'शेष सृष्टि' का अर्थ बुद्धि को छोडकर और सबकी सृष्टि है, तो सवाल होगा कि उस शेष के साथ सम्बन्ध कौन जोडता है, बची हुई तो केवल बुद्धि ही है? बुद्धि क्या, कविता तो प्रौपेगंडा को लेकर भी बनी रह सकती है और यदि प्रचार में कविता

---

१. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion. (Selected Essays पृष्ठ २१)

प्रायः मरी है, तो इसका कारण प्रचार नही, कुछ और रहा है, आखिर सूर और तुलसी में भक्तिवाद का प्रचार नही था क्या?

हम इस प्रसंग को छोड़ भी देते; पर ऊपर पूर्वग्रह की बात कर आये है। प्रत्येक युग में कविता की प्रवृत्ति कुछ काव्यात्मक भावों में, जिन्हें उस काल की परिस्थितियाँ जन्म देती है, थिर हो जाने की होती है। जब ये परिस्थितियाँ बदल जाती है, उपर्युक्त प्रवृत्ति कवि को नये एवं अपने समय के ही भाव-प्रवण, मेधावी प्राणों के लिए अधिक मूल्यवान भावतत्त्वों एवं साधनों के प्रयोग से रोकती है और इस प्रकार प्रबुद्ध समाज को कविता से वञ्चित करके संकट उपस्थित कर देती है। कविता की उपेक्षा का एक बड़ा कारण यही रहा है। यह पूर्वग्रह ही था, जिसके कारण बौद्धिक रुझान के बावजूद टेनिसन अपनी सफल कविताओं में उसे नही बरत सका।[१] ब्राउनिंग में लौकिक मुहावरो का ऐसा चमत्कार था कि स्वय पाउण्ड ने एक बार उसका अध्ययन करना चाहा; पर उसके पूर्वग्रहानुप्राणित सरल आवेगों में वयस्क मस्तिष्क के लिए कुछ उत्तेजना न होने के कारण उसे अततः निराश होना पडा।

हिन्दी के पूर्वग्रह अपने रहे है और उसमें बुद्धि बनाम राग का सवाल बिल्कुल नया-नया उठा है, एक प्रकार से प्रयोगवाद के साथ ही। इसके दो कारण है; एक तो हिन्दी अपेक्षाकृत नई है और दूसरे संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य का उसपर ऐसा प्रभाव रहा है कि उसमें कविता कामिनी ही मानी जाती रही है। पश्चिम में इस विवाद का लम्बा सिलसिला रहा।[२] काव्य से, अर्से तक, बुद्धि का बहिष्कार होता रहा। Warton ने Donne और Swift को प्रखरमति माना, पर असली कवि नहीं, क्योंकि उसकी मति में उदात्तता और करुणा काव्य की शिराएँ थीं। Matthew Arnold ने Dryden और Pope प्रभृति को कवि स्वीकार नही किया, यह कहकर कि उनकी कविता बुद्धि की भूमि

१. F. R. Leavis (New Bearings In English Poetry).

२. देखिए, वही।

में बनी थी, जबकि असली कविता आत्मा में बनती है। काव्य से बुद्धितत्त्व के निष्कासन और सरल आवेगो के आग्रह ने ऐसा जोर पकडा कि यह कहनेवाले लोग भी निकल आये कि कविता में बचपने की-सी सरलता होनी चाहिए। कवि का कर्म बच्चे की तरह सोचना और बच्चे की तरह समझना है। कवि का कर्त्तव्य हर युग में यही होना चाहिए कि वह जमाने के बौद्धिक बोझ और उसकी संश्लिष्ट भाषा से अपने को बचाये।[१]

पर आज ऐसा कहना दुस्साहस है। आज अपने प्रति होनेवाली चतुर्दिक लापरवाही के बीच कविता मार्ग खोज रही है और यह अनुभव किया जा रहा है कि कविता का जन्म चाहे जादू से हुआ हो, चाहे वियोग से; पर आज न जादू है, न वियोग की महिमा ही। विज्ञान और मनोविज्ञान ने दोनों के रहस्य छीन लिए है। आज मनुष्य की वे सभी प्रवृत्तियाँ, आवेग और सम्बन्ध, जो अब तक रहस्यमय थे, अध्यापन-कक्षाओ में विश्लेषित होते है और कविता की परवाह यदि होती है, तो इसीलिए कि उसका विधाता अपने काल में अन्य की अपेक्षा अधिक जाग्रत होता है। वस्तुत. वह उस बिन्दु पर होता है, जहाँ समय अपना मस्तिष्क खोलता है।[२] जब कविता अपने समय की बौद्धिकता से सम्पर्क-विच्छेद कर लेती है, तब भावप्रवण, जाग्रतमति समाज की उसमें दिलचस्पी नही रह

---

१. The poet must, I think, be regarded as striving after the simplicity of a childish utterance. His goal is to think as a child, to understand as a child He must deliver himself—and the poetic task is the same in every age—from the burden of the intellect of his day and the complexity of the forms of speech which it involves. J. M. Thorburn. (Art and the unconscious).

२. I. A. Richards (Principles of Literary Criticism) Complex sensibility

जाती है। यह अत्यन्त खेदजनक स्थिति है; क्योंकि यह समाज यद्यपि अल्पसंख्यकों का होता है, पर यही बड़े समाज और युग को गति देनेवाला सिद्ध होता है।

हिन्दी-कविता चाव से नहीं पढ़ी जाती और न उचित समादर पाती है। इसके कारणों पर हिन्दी के अभिभावकों को विचार करना चाहिए, आलोचकों को भी; क्योंकि हमारे आलोचक प्रायः कविता के आलोचक न होकर अपने भावों के आलोचक हो जाते हैं और कविता को प्रकट न करके स्वय अपने को व्यक्त करने लगते हैं।

हिन्दी कविता को अब इस उम्र में सयानी-सा अनुभव करना चाहिए। उसे अपने में वयस्क बुद्धि (Adult intelligence) लाना होगा और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खीच सकती है। उसे अपने पुराने हृत्‌रोग से भी मुक्त होना है।

यह शुभ है कि प्रयोगवाद ने युग की मेधा को अनुरक्त किया है और बहुत-से सुशिक्षित, सुसस्कृत, प्राणवान्, प्रबुद्ध लोग, जो अन्यथा हिन्दी-कविता की परवाह नहीं करते, इस ओर खिच आए हैं। कुछ इसे जानने को उत्सुक हैं, कुछ जानकर योग दे रहे हैं। आज कविता बौद्धिकता से न भाग सकती है, न उसे भागना ही चाहिए। आज बौद्धिकता को स्वीकार करके उसे काव्यात्मक करना होगा। आज कोई यह कहकर बुद्धि को उपेक्षित नहीं कर सकता कि 'गायक हूँ कुछ गा लेता हूँ' अथवा 'We are the music-makers, And we are the dreamers of dream'.

सहजपन महज एक धारणा है। कविता के प्रारूप पर प्रारूप तैयार होते हैं।

जटिल संवेदना[1] और काव्य-भूमि

तीसरे अभियोग और चौथे सवाल में एक इल्जाम है और एक नसीहत।

---

१. 'उलझी संवेदना' की जगह हम 'जटिल संवेदना' कहना चाहते हैं और मेरा मतलब Complex sensibility से है, जिसका अज्ञेयजी ने 'उलझी संवेदना' कहकर एक आपद्धर्मी और कमजोर अनुवाद किया है।

इल्जाम है कि 'उलझी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति से जाहिर है कि वह (प्रयोगवादी) अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भाव-भूमि पर पहुँचने में अक्षम है।[1] नसीहत है कि 'अन्तर्चेतना अथवा उपचेतन की सवेदनाएँ प्राय. उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझी हुई सवेदनाओ को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। ..यही मौलिक कवि-कर्म है और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्‌भव हुआ।[2]

यहाँ फिर एक सिद्धात, अभ्यस्ति-वश गलत ढंग से कहा गया। कविता प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में उद्‌भूत हुई; किन्तु सवेदनाओं के व्यवस्थित रूप की अभिव्यक्ति के लिए नही, वरन् उसका जन्म सवेदनाओ के अऋजु, सपूर्ण, संक्षिप्तातिसक्षिप्त और चरमकेन्द्रित प्रत्यक्षीकरण के अनिवार्य माध्यम के रूप में हुआ। यही कविता को अन्य साहित्यागो से अलग करता है।

अभ्यस्ति यह है कि हमारे लिए यह निश्चित-सा हो गया है कि काव्य एक अलौकिक कवि-कर्म है, कवि स्वयंभू है और उसके लिए सृष्टि की उलझनें लीला-मात्र हैं। यह बेईमानी नहीं है; क्योंकि परम्परा काव्य की समझदारी को निश्चित करती है और हम ऐसे साहित्य के आदी रहे हैं, जिसमें फल-प्राप्ति निश्चित रूप से होती रही है तथा जिसमें उलझनों वा द्वद्वों को अलौकिक घटनाओं, महच्चरित्रों इत्यादि से सुलझाया जाता रहा है। साधारणीकरण का यह माध्यम आज भी स्वीकृत होगा, इसमें संदेह है। काव्य प्रतिभा और परिस्थिति के संयोग में रूप पाता है। हम क्यों भूलें कि हम आज उतने भाग्यवान् नही, जितने हमारे पूर्वज थे। तब अपेक्षाकृत एक छोटा समाज था। उसकी व्यवस्था थी। कल्पना के लिए महान् अवकाश था। परस्पर की संवेदना और सम्बन्धों के मूल्य निश्चित थे। तब जीवन इतना सरल था कि वे बडी काट से जीवन के

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी।

२. डा० नगेन्द्र।

निश्चित मूल्य को एक मुहावरे में रख देते थे और उनकी सूक्तियाँ वर्षों तक चलती रहती थी। आज भाषा में यदि उन मुहावरों का मान नही है, तो इसीलिए कि विज्ञान से परिवर्द्धित और मनोविज्ञान से संशोधित आज के जीवन क मानवीय सम्बन्धों और उपलब्धियों को उनमें नौ-छौ करके रख देना असभव है।

हम गाँव की ओर चलने तथा जनभाषा आदि के नारे लगाते हैं; किन्तु इसके वावजूद गाँव खाली होते जा रहे हैं और शहरो की आबादी बढती जा रही है। हमारी सम्पूर्ण सस्कृति नागरिक हो चली है। शहर का यही समाज साहित्य, राजनीति, वाणिज्य इत्यादि मनुष्य की सभी सामाजिक चेष्टाओ का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसी नागरिक सम्यता के भीतर से आज के साहित्य को देखना होगा। शहर के इस समाज को चारों ओर से उत्तेजना और जटिलता घेरे हुई है। यातायात के क्षिप्रगति वाहन, आकाशवाणी, सिनेमा, समाचार-पत्र इत्यादि ने इसके मानवीय सम्वन्धों का इतना व्यापक विस्तार कर दिया है कि आज एक आदमी का दूसरे आदमी से यथार्थ सम्पर्क रखना मनोवैज्ञानिक मानी में अत्यन्त कठिन हो गया है। प्रेषण के इन अत्यन्त सुलभ साधनो से व्यक्ति के अनुभव इतनी जल्दी से विस्तृत हो रहे हैं कि केन्द्र (आत्मा) और वृत्त (मनोवैज्ञानिक कल्पना) का सम्बन्ध ही टूट जाने के खतरे में आ गया है। काव्य प्रत्यक्ष निष्कर्ष है और उसका बडा काम मनुष्य की भावग्रहण-शक्ति का विकास होना है। लेकिन, जिस समाज के माध्यम से वह परपरा की सिद्ध शक्ति लेता है, वह आज विश्रृंखलित और खड-खड है। उसके सम्बन्ध अपरिमित रूप से विस्तृत होकर अनिश्चित हो गए हैं। कल्पना और मूल्य को इस विस्तृत क्षितिज पर टिकाव नही मिल रहा है। कवि के निष्कर्ष बराबर इस नई सम्यता की उपलब्धियों और जटिलताओ से उलझते हैं और वह इन जटिलताओं के बीच काव्यात्मक निर्मिति के लिए एक केंद्रीय शान्ति खोजता है—एक ऐसा बिंदु, जहाँसे वह फिर शुरू करे।[1]

ऐसी परिस्थिति में आप उससे व्यवस्थित वा सरल आवेगों की माँग नही कर सकते; क्योंकि तब उसका अर्थ जीवन से ही भागना होगा।

---

१. A hope for poetry (C. Day. Lewis)

प्रेम, शृंगार, भक्ति, वीरता इत्यादि सनातन काव्य-विषय हैं; किन्तु ये तो पृष्ठभूमि भर हैं, ठीक वैसे ही जैसे चित्र में नदी, आसमान, पहाड़, उपवन इत्यादि। इनकी अग्रभूमि में तो दैनदिन जीवन के उत्थान-पतन ही रहेंगे। आज इसका अर्थ घोर जटिलता है।

आज का कवि इन जटिलताओं से भाग नहीं रहा है; वरन् एक ऐसे केंद्र की खोज में है, जहाँ से वह इनकी वैयक्तिक व्याख्या कर सके, क्योंकि यह वैयक्तिक व्याख्या ही काव्य के लिए एक ऐसा स्थल है, जहाँ वह काव्य बना रह सकता है।

विवादी वातावरण में व्यवस्थित संवेदना की माँग करना गुनाह है; क्योंकि, काव्य प्रत्यक्ष निष्कर्ष है और इसलिए भी कि तब वर्गबद्धता का जहर भी अकारण ही उसे खा लेना पड़ेगा।

और, सरल संवेदना तो भाग्य की बात है और यह भाग्य विरल जनों को ही प्राप्त है। इसके दो सनातन अधिकारी हैं—बालक और गँवार। दो नए अधिकारी हैं—वह व्यापारी ताजमहल को देखकर सोचता है कि इसमें ठीकेदारों ने काफी मुनाफा किया होगा और हिन्दी का वह कवि, जो समझे जाने की आतुरता में बहुरंगी स्तरों की तमाम बारीकियों से पाठक को रखकर कहता है—"स्वाद वही खट्टा-मीठा है" और इस प्रकार उसके अभाव एवं अज्ञान को सहलाकर स्फटिक भाषावाला जनकवि समझा जाता है।

वैसे, वस्तुजन्यता से सरल आवेगों की प्रतिष्ठा काव्य में बनी रहेगी। "मैया मैं नहीं माखन खायो" अथवा "देखो लड़को, बन्दर आया, एक मदारी उसको लाया" जैसी पंक्तियाँ अपनी जगह पर होंगी; पर इसके साथ ही हम 'प्रिय तुम मरो कि मैं दिखलाऊँ दुनिया को इक ताज' अथवा 'पास में खड़े टोल के टोल, अपाहिज अंध, माँगते ताम्र, बाँटते मुक्ति' जैसी पंक्तियों को भी काव्य की परिधि से जटिल संवेदनाओं के नाम पर बाहर नहीं कर सकते; क्योंकि वे जमीन से उद्भूत आवेगों और उनकी व्यंजना का स्थापत्य उपस्थित कर काव्य के सबसे महान् उत्तरदायित्व को पूरा करती हैं।

संक्षेप में, जटिल संवेदनाओं को लेकर भी कवि बना रह सकता है

और आज इसी रूप में वह ज्यादा जी सकता है। खेद है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में सरल और व्यवस्थित आवेगों के अकारण आग्रह से खतरनाक भावात्मक वर्गवद्धता आ रही है और कविता के नाम पर चर्वितचर्वण (Platitutes) उपस्थित किये जा रहे हैं। जीवन के महत्त्वपूर्ण आवेगों से कतराने का यही परिणाम होता है। उलझन के सत्य को रखना एक बात है और सत्य को उलझाना बिल्कुल दूसरी।

दुरूहता और साधारणीकरण

यही जटिलता प्रयोगवादी कविता की दुरूहता का एक प्रधान कारण है, जिसे तरह देकर यह अभियोग लगाया जाता है कि प्रयोगवादी रचनाएँ दुरूह हैं, अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त-रूप से भी और इनके लेखक साधारणीकरण के सिद्धान्त को अपर्याप्त मानते हैं। वहाँ कहना सिर्फ यही है कि प्रयोगवादी रचनाएँ अनिवार्य रूप से ही दुरूह हैं, सिद्धान्त-रूप से नहीं और हम साधरणीकरण के पुराने सिद्धान्त को उस रूप में अपर्याप्त मानते हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है और साथ ही नवीन सिद्धान्त को इस रूप में भी अपर्याप्त मानते हैं, कि जहाँ प्राचीनकाल में साधारणीकरण का अर्थ वह प्रक्रिया था, जिसमें सामाजिक रसोपलब्धि करते थे, वहाँ आज इसका अर्थ यह निश्चित माँग है कि कविता जन-साधारण तक पहुँचे ही, जैसे कभी पहुँची ही हो। इस प्रसग में श्री शिवदानसिंह चौहान ने श्री जैनेन्द्रकुमार का एक पत्र प्रकाशित किया है,[1] जिसमें जैनेन्द्रजी ने 'नदी के द्वीप' के संबंध में, 'याचना' करते हुए लिखा था कि 'अपने को खाली हाथ पाता हूँ।...पढ़ते समय वह दीख रहा है कि किताब का 'भुवन' बहुत ही खास है, 'रेखा' और 'गौरा' प्रियाएं उसीकी हो सकती हैं। उनका प्रेम सबका नहीं है, सब जैसा नहीं है, साधारणतः (साधारणीकृत) होने के लिए नहीं है।' और, इस पत्र के आधार पर चौहानजी का निष्कर्ष हुआ कि 'जैनेन्द्रजी की याचना अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठकों की याचना है, जिनको छोडकर प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच

१. आलोचना, अंक २।

सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है।'

जैनेंद्रजी 'साधारण पाठक नही है,हम मानते है और हम तो सोचते है कि उन्हें उन निन्यानवे प्रतिशत याचकों में भी नही होना चाहिये था, जिनमें चौहान जी ने उन्हे स्थान दिया है।'वे स्वय एक बडे लेखक और उपन्यासकार है, इससे कौन इन्कार करता है और कुछ विज्ञजनों को निर्वसन, सुनीता और इसके यौनो-दार पति आम नही लगें, तब भी वे बने रहेंगे।

और,अगर एक प्रतिशत पाठक भी कविता की नवीन चेतना को ग्रहण कर लेता है, तो प्रसन्नता ही होनी चाहिये; क्योंकि लगभग समस्त आधुनिक हिन्दी-साहित्य आज भी किशोरावस्था में ही पडा है और उसका एक वकील पाठक कुछ ही दिन पहले प्रेमचद जैसे लोकप्रिय कथाकार की मृत्यु पर शोक मनानेवाले हिन्दी के एक सम्पादक से पूछ रहा था—अजी, प्रेमचद कौन थे? हिन्दी के कुछ यात्री-पाठक है 'माया' पढ़नेवाले, कुछ बुजुर्ग है 'कल्याण' पढनेवाले, कुछ कालेज के विद्यार्थी है सिनेमा-पत्रिका खरीदने और मूल से अधिक 'साहित्य सदेश' वाली आलोचना पढनेवाले। बाकी बच गये लेखक-पाठक। ऐसे ही लोगोंसे कविता का सम्बन्ध होना चाहिये। इनमें ज्यादा ऐसे है, जो अपनी ही चीजो में ज्यादा दिलचस्पी रखते है और चाहते है कि लोग उन्हीको पढ़।[१] कुछ ऐसे है, जिनकी अभ्यस्ति रूढिग्रस्त है, कुछ वर्गबद्ध है।

सक्षेप में, सवाल समस्त हिन्दी-जगत् का है। दुरूहता है तथा कवि और पाठक के वीच एक बडी खाई है। पर इसे पाटा कैसे जाय? साधारण पाठकों को देखकर साहित्य बने, तो सकट आ जाय। उच्च सगीत के साधारणीकरण का अर्थ सिनेमा-गीत होगा। उच्च चित्र के साधारणीकरण का अर्थ फोटोग्राफी होगा। कविता के साधारणीकरण का परिणाम तब कुछ ऐसा ही होगा। प्रश्न है कि कविता के स्तर को बनाए रखकर उन्हें सुलभ कैसे किया जाय। यह कहना कम भ्रामक नही कि 'प्राचीन युगो के कलाकारो की रचनाएँ उनके नये

---

१. देखिए, 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है?' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल')

प्रयोग सर्वसाधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे। उनके नये प्रयोगों या उनकी नई शैलियों का विरोध हुआ, तो केवल इस कारण कि वह कलाकार तात्कालिक रूढियों और मान्यताओ से विच्छेद करके चले थे, न कि इसलिए कि उनकी बातें दुर्बोध थी।[1] पहली बात तो यही है कि कला या साहित्य कभी सर्वसाधारण की चीज रही है, इतिहास इसका साक्षी नही है। उच्च कला सदा ही अल्पसख्यकों की वस्तु रही है। फिर अनेक कलाकार अपने समय में दुर्बोधता के कारण दंडित हुए है। छायावाद केवल इसलिए लाछित नही हुआ कि उसके आवेग तत्कालीन हिन्दी-समाज समझ नही पाता था; बल्कि उन आवेगो के साथ आनेवाली अनिवार्य भाषा-भगिमा की अपरिचिति के कारण भी। वान गो अपने जीवन में केवल एक तस्वीर बेच सका था जबकि उसकी मृत्यु के बाद उसकी तस्वीरों का मूल्य कूतना ही कठिन हो गया। आज निराला समादृत है; पर ऐसे कितने है, जो उनकी वाणी को ठीक-ठीक हृदयगम कर पाते है? हाँ, प्राचीन काल मे कला के पारखी और प्रश्रयदाता थे, गोकि थोडे थे और यदि प्राचीन काल में कला को समझनेवाले थे, तो इसीलिए कि उन दिनों इनका सम्बन्ध ऐसे अभिजात्य वर्ग से था, जो कला की विधिवत् शिक्षा पाता था। उस वर्ग के लोग कला तक पहुँचते थे। उसे सरक्षण देते थे। कला का स्तर बना था। आज परिस्थिति उल्टी है। कला का संपर्क उस वर्ग से टूट चुका है। वह आज एक नये जनतन्त्रानुमोदित समाज में खडी है। लोग उसकी ओर नही आ रहे है और उसे ही लोगोके पास जाने को कहा जा रहा है।

इसी विन्दु पर आज की दुरूहता का अध्ययन करना होगा और उसके कारणो एव समस्याओं को खोजना होगा।

तो, दुरूहता के कई कारण है। हम लेविस की इस बात को मानते है कि कविता समझना उतना ही श्रमसाध्य है, जितना कविता लिखना। दोनों मे केंद्रीकरण की एक-सी अनिवार्यता है। इसके हेतु विज्ञ पाठक को भी दीक्षित (Tutored) होना पड़ता है। यह दीक्षा परम्परा से प्राय मिलती ह।

---

१. शिवदानसिंह चौहान

इसलिए परम्परा के अभाव में कविता को समझना और अधिक कठिन हो जाता है। फिर आलोचक पाठकों को कविता पढने का मार्ग न देकर साधारण की भी जटिल व्याख्या करके कविता और पाठक के बीच दीवार बन जाते है। और, हिन्दी में तो पद्मसिंह शर्मा से लेकर आज तक नई के प्रति कभी आस्था रही ही नही। तो खाई का एक कारण यह है, और पाठको की बेबसी भी।

कवियों की बेबसी दूसरे प्रकार की है। हम ऊपर आज की नागरिक सभ्यता, उसके मानवीय सम्बन्धो के विस्तार और अकिंचनता, उसकी असगतियो, भागदौड, कल्पना की परामुखता और चतुर्दिकी जटिलताओं की बात कर आए है और यह भी कि कवि उन जटिलताओ से जूझने के लिए एक ऐसी केन्द्रीय शान्ति की खोज में है, जहाँसे वह काव्य के लिए मार्ग निकाल सके। तब उसका दुरूह हो जाना स्वाभाविक है। वह अनुभव करता है कि विशाल के फलाव में ईमानदारी से वह मानवीय सम्बन्धो की रक्षा नही कर सकता। वह अनुभव करता है कि अपने को दूरतक खैंचकर वह जीवित नही रह सकता और इसके साथ ही वह अनुभव करता है कि इस नई परिस्थिति से जो आवेग उत्पन्न हुए है, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कविता के लिए इसे छोड देना स्वय को बहिष्कृत कर लेना है। कविता की परवाह इन्ही आवेगों के कारण आज होगी। इसलिए उसने एक ऐसे छोटे समाज को लिया है, जो उसके भीतर के पाठक का पर्याय है। आज कविता में यदि प्रेषण है, तो उसी अपने भीतर के पाठक के प्रति; क्योंकि बाहर वह कुछ नही पा रह, जो उसे प्रेषण की प्रेरणा दे और उसका पाठक-समाज है, तो इसीलिए कि आदमी इकाई नही होता और इसलिए भी कि वह इस विबुध समाज की एक मानवीय आवश्यकता की पूर्त्ति कर रहा है, नवीन आवेगो की व्यक्तिगत व्याख्या के रूप में।

इन आवेगो के साथ टेकनीक की बात भी चली आती है। प्रयोगवादी कविता की टेकनीक भी परिस्थितिजन्य आवश्यकता के रूप में उद्भूत हुई है। आज साधरणीकरण नही, ज्ञान के हर क्षेत्र में विशिष्टीकरण हो रहा है। विविध

को ग्रहण करने का अवकाश कमता जा रहा है। और, आज शायद कविता ही आदमी का वह साधन है, जिसकी व्यक्तिगत व्याख्या में उसके मन की मुक्ति साँस ले सकती है। कविता के सामने यह उत्तरदायित्त्व है। इसके लिए उसने सक्षेपशैली अपनाई है और इसीलिए प्रयोगवादी कविताओ मे रागात्मक पौर्वापर्य (Emotional sequence) आया है। यह गणित के त्रैराशिक की वह शैली है, जिसमें मध्यम कड़ी नही लिखी जाती। लेविस ने इसकी तुलना सिनेमा की भगिमा-चित्रण शैली से की है, जिसे नया-नया सिनेमा देखनेवाला समझ नही पाता। यह भी दुरूहता का एक कारण है; मगर अनिवार्य कारण।

मुक्त आसंग

रागात्मक पौर्वापर्य की तरह मुक्त आसग[१] भी आज की प्रयोगप्रधान कविताओं की तत्क्षण दुरूहता का एक प्रबल कारण है और उसीकी तरह अनिवार्य भी; क्योंकि पहला भागती हुई निरवकाश सभ्यता की शिराओं को प्रभावित करने का और दूसरा उसकी निबिडता के, अपने को रक्षित रख, आधुनिक मनोविज्ञान-दीक्षित मानव-मन द्वारा, अवगाहन का आवश्यक साधन है। कवि का स्वभाव वस्तु-छवियों के भीतर देखना और प्रभावपूर्ण प्रकाशन करना है। इस लिहाज से मुक्त आसग कविता की सनातन प्रक्रिया मे ही समाहित है।[२] कवि एक वस्तुस्थिति को देखता है। वह उसके मन में एक भावतरग उत्पन्न करती है। उस भावतरग के अनुशीलन में कवि के उपचेतन से तत्सम्बन्धी अनेक भावतरगें[३] आकर मन के प्रवाह को उद्वेलित करती और उसे जटिल बना

---

१ Free association.

२. हमारा उद्देश्य कला की समस्त प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना नहीं है। वैसे, सिगरेट-धूम से उत्प्रेरित Wasteland जैसी कविता और सड़े पुआल की दुर्गंध से भागकर वायलिन पर अपने जीवन के एक अत्यन्त श्रेष्ठ गत उतारनेवाले कलाकार की परिस्थिति पर भी विचार किया जा सकता है।

३. जिनमें परम्परा और परिस्थिति दोनों का हाथ होता है।

देती है। उपचेतन की इस जटिलता से सभी युगों के कवि लड़ते रहे हैं। आज भी लडाई की बुनियाद नही बदली, हथियार जरूर बदल रहा है। पहले का कवि अपने व्यक्तित्व का आरोप कर[1] तथा तर्कों से घेरकर, उपचेतन की जटिलता पर विजय पाता था, आज का नया कवि मुक्त आसग के सहारे, यानी उपचेतन की ही शक्ति से, उसकी जटिलता को परास्त कर मार्ग निकालना चाहता है और ऐसा वह अकारण नही, बल्कि इसलिए करता है कि पहले की अपेक्षा आज अन्तर और बाह्य की जटिलता इतनी बडी है कि आज उससे मोर्चा लेने के लिए सीधे तरीको का इस्तेमाल करना निरापद नही है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा के कारण नया कवि बाध्यत अचेतन और उससे प्रभावित काव्य-प्रक्रिया के प्रति आत्म-सजग होगा और उसमें औपचेतनिक व्यवधान की बेचैनी ज्यादा होगी। फिर आज विज्ञान के व्यापारो एव राजनीति के प्रवचनो से उत्पन्न कोलाहल में जिसके सभी तर्क जैसे विवादी हो गए हो, किसी तर्क को बल एव अस्था से ग्रहण करना भी कठिन हो गया है; क्योंकि उसमें काव्य की अपेक्षित निस्सगता[2] के खो जाने का खतरा है, जबकि काव्य की उपयोगिता एक ऐसी मानसिक स्थिति की सृष्टि में है, जो आदमी की समझदारी बढावे, जिसमें पहुँचकर आदमी मुक्त वैयक्तिक अनुशीलन के अवकाश में ताजगी पाये तथा जिससे वह एक विकसित दृष्टि एव शक्ति लेकर जीवन के प्रश्नों से उलझे और इस प्रकार जकथक की स्थिति से सस्कृति को आगे ले चले।

अत. नया कवि व्यक्तित्व के आरोप को, वस्तु और काव्य, और इस प्रकार काव्य और पाठक के बीच का व्यवधान मानता है। वह अपने पाठक को बौद्धिक आघात नही, ऐन्द्रिक आघात देना चाहता है। इसलिए अपने काव्य को वह अधिक-से-अधिक वस्तुनिष्ठ रखता है। तो इन्ही कारणो से पुराने

---

१. प्राचीन कवियों के अहभाव एवं गर्वोक्तियों और अपेक्षाकृत अर्वाचीन, किन्तु परम्परागत काव्यधारा के राजनैतिक नारों की पृष्ठभूमि द्रष्टव्य है।

२. कवि का पूर्ण निस्संग हो जाना असम्भव है, इसलिए काव्य में निस्संगता का अर्थ अपेक्षित निस्संगता ही होगा।

आयुधों को अपर्याप्त समझकर नये कवि ने उपचेतन की जटिलता को पराजित करने का नया मनोवैज्ञानिक उपचार ढूँढ लिया है, मुक्त आसग का। वह वस्तु से उत्पन्न भाव-चित्रों को, चिंतन-क्षण मे उपचेतन से निकले तत्सम्बन्धी भाव-चित्रो से घुलने-मिलने देता है और इनके परस्पर घात-प्रतिघातों एव क्रिया-प्रतिक्रियाओं के सहारे उस मूल-स्थल तक पहुँचना चाहता है, जहाँसे प्राप्त शक्ति के नये सश्लेष मे वस्तु को फिर से देखा जाय। इस टेकनिक से अनभ्यस्त रहने और वस्तुसंबधी निजी आसग रखने के कारण साधारण पाठकों के लिए आज की कविता एक हद तक दुरूह होगी। उन्हें दीक्षित एव अभ्यस्त करना होगा, अगर कविता को बनाए रखना है।

भाषा का सवाल

भाषा का सवाल एक बड़ा सवाल है; क्योंकि वह कवि हो ही नही सकता जिसमे भाषा की ममता न हो। सो, यह सिद्धान्त-रूप में स्वीकार किया जायगा कि नई परिस्थितियों के साथ नये किस्म के आवेग ही नही आते, सोचने और कहने का ढग भी बदल जाता है। आज भाषा सबधी प्रयोगो में रुझान रखने-वाला कवि अनुभव करता है कि काव्य की परम्परागत भाषा में थकान आ गई है। बात यह है कि कल्पना शब्दों के अर्थो को प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, प्रस्तुत से अप्रस्तुत, स्थूल से सूक्ष्म, पदार्थ से भावना की ओर बढ़ाती चलती है। काल-क्रम से, कल्पना की इस दौड़ में, पदार्थ और शब्दार्थ इतने दूर जा पड़ते है कि उनका संबध ही ज्ञात नही होता और शब्दार्थ डाली से टूटे पत्ते की तरह विवर्ण होने लगते है। तब काव्य में विरोधाभासों एव अतिशयोक्तियो का चमत्कार दिखलानेवाला काल आता है। आज अनुभव किया जा रहा है कि काव्य के असंख्य शब्द महज अनिश्चित भावना-मात्र रह गए है, और प्रस्तुत पदार्थ अर्थात् मूल से उनका बिलगाव हो गया है। वे केवल अलकाररूप मे शेष है और निश्चित चित्र देने में असमर्थ है।[१] शब्द आसग मे अर्थ-ग्रहण करते है। अत आसगों के बदल जाने पर या

१. मधु-परिवार के शब्द द्रष्टव्य है।

तो उनके अर्थ का आसग-परिवर्त्तन तक विस्तार हो जाता है या वे स्वयं सकीर्ण होकर समग्र के वोध में निरर्थक हो जाते है। उदाहरण के लिए मानव शब्द का अर्थ आज प्राणिविज्ञान है और आज इसका सर्वत्र पुराने आसग की व्यापकता में प्रयोग करना सस्ती भावुकता के खतरे से खाली नही है। फिर शब्द अपने-आपमें प्रतीक भर ही होते हैं और अन्य शब्दों की सगति (Combination) मे ही निश्चित अर्थ का बोध कराते है। किन्तु सगति की चिर एकता भी उनके लिए पिञ्जर बन जाती है। कविता मे तुकान्तता के आग्रह से आए हुए शब्द इसीलिए प्राय निष्प्राण होते है। (चाँदनी के साथ जिसके प्रथम चरण का अन्त होता है, उस कविता में बरबस आनेवाले भामिनी, रागिनी, यामिनी, कामिनी, इत्यादि शब्द ऐसे ही है) आसग और शब्द-सगति के लिहाज से 'ताम्रपत्र सुवर्ण के' में आप अनुभव करेंगे कि 'ताम्र-पत्र' शब्द बेजान-सा हो रहा है। थोड़ी दूर तक सामाजिक विनिमय में शब्द मुद्राओं की तरह है। घिसी मुद्राओ को फिर से ढालना पडता है और बदली स्थिति के साथ उनपर नये चेहरे भी लगाने पडते है। चूँकि आसग (Association), संगति (Combination) स्वर-संस्थान इत्यादि के रूढिबद्ध प्रयोग में कविता के असख्य शब्द, अलकार, चित्र घिस-पिटकर पूरे वजन का अर्थ नही दे रहे है और उनमें निश्चयात्मकता (Accuracy) का अभाव हो गया है; इसलिए प्रयोगवादी कवि उनका सस्कार कर रहा है, कुछ नये गढ रहा है और इस प्रकार अपने शब्दों, अलकारो और चित्रो को निश्चयात्मक रखने की कोशिश कर रहा है। भाषा की थकान को दूर करने के लिए, उसमें नई ताजगी भरने के लिए तथा उसे नये आवेगो एव आसगों के उपयुक्त बनाने के लिए वह शब्दों की नई व्यवस्था, स्वरविधान (Cadences) एव नई शब्द-सगति का विधान कर रहा है; विशेषणो का स्थानान्तर तथा शब्दालोपी वाक्यविन्यास (Elliptic combination)

---

१. तुलना कीजिए—'नभ के स्नेह-स्रवण में' तथा 'नभ के रोमिल वक्षस्थल पर'।

प्रस्तुत कर रहा है। कवि चेष्टा करके भी सम्पूर्ण आवेग की अविकल अभिव्यक्ति नही कर पाता, सम्पूर्ण तक जाने का संकेत और उसकी स्वर-झंकार भर दे पाता है। इसी मानी मे कविता समझी जाने के पहले प्रेषित हो सकती है[१] और इसके लिए कवि को उपर्युक्त साधनों का उपयोग करना पड़ता है और कभी कभी नये शब्द गढना पड़ता है।[२] इतनी चेष्टाओं से युक्त नई कविता की भाषा पर परम्परागत काव्य-भाषा से तद्रिल पाठक का चौकना और खिन्न होना स्वाभाविक है और मर्मज्ञों का दायित्व है कि वे उन्हें एक गति दें। विवेचन किये विना इन प्रयोगों को अनर्गल कहकर टाल देना ईमानदारी नही है।

भाषा के वैयक्तिक प्रयोग की बात सही है। परपरा की रूढियों से मुक्त होने के अनुष्ठान में भाषा का यही रूप होगा। जब ऐसी प्रवृत्ति युग की सामान्य प्रवृत्ति बन जाती है, तब क्लासिकल युग आरम्भ होता है; पर तब भी भाषा के वैयक्तिक स्वर से ही विशेष कवि पहचाना जाता है। वस्तुतः कवि अपने शब्दो का नियामक होता है और शब्द उसके लिए वैसे ही होते है, जैसे चित्रकार के लिए कागज और मूर्तिकर के लिए प्रस्तरखड। फिर आज का युग नये अनुष्ठान का युग है, क्लासिकल नही। आज का कवि भाषा को निजी रखना चाहता है; क्योंकि वह पाठकों में अपने भावों की, एक अभिलषित रीति से, प्रतिक्रिया देखना चाहता है; वह पाठक को अपने काव्य द्वारा एक खास ढंग से प्रभावित करना चाहता है, न कि काव्य को ही उससे प्रभावित करके जकथक की स्थिति बनाए रखना।

कवि का उतरदायित्व

अभियोग है कि प्रयोगवादी कवि वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नही है और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नही करते। वे त्रिशंकु है—यानी लोक-परलोक दोनों से गए हुए। परलोक की बात कहने का दावा हम नही

---

१. Genuine poetry communicates before it is understood.

२. देखिए, चित्रेतना, ज्योतिमिर इत्यादि।

कर सकते; पर महान् कवियों का लोक कभी बना हो,[१] इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता। संस्कृत कवियों का यश गाते हम थकते नहीं, पर वे ही कवि ऐसे थे, जो पान और आसन मिलने पर अपने को धन्य मानते थे और बच्चों को घर में छाँछ पिलाते थे। हाल-हाल तक यही हाल रहा है। एलियट के बारे में एजरा पाउण्ड के जो खत प्रकाशित हुए हैं, वे इस मानी में महत्त्व-पूर्ण कागजात हैं। हिन्दी-कवियों की स्थिति तो प्रसिद्ध ही है। यह उत्तरदायित्व का जवाब नहीं है; मगर इससे मनुष्य के सामाजिक इतिहास में काव्य की स्थिति का पता चलता है—कि कविता या ललित कला सामाजिक जीवन के अन्य जरूरी अंगों की तरह कहाँ तक समादृत हुई। आज भी काव्यात्मक क्राति से अधिक प्रभावित करनेवाली चीज मेहतरों की हड़ताल होगी। कविता आज भौतिक दौड़ में बिजली से होड नहीं ले सकती, वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण के सामने उसकी कल्पनाएँ हतप्रभ-सी हो गई है। मगर इससे न उसका महत्त्व घटता है, न उत्तरदायित्व ही; क्योंकि अपनी स्थिति में वह मनुष्य का चरम उत्कर्ष है।

तो, कविता मनुष्य की सास्कृतिक उपलब्धि है और जैसा निवेदन किया गया है, कविता की उपयोगिता एक ऐसी मानसिक स्थिति की सृष्टि में है, जो आदमी की समझदारी बढ़ावे, जिसमें आदमी मुक्त वैयक्तिक अनुशीलन के अवकाश में ताजगी पाये तथा जिससे एक विकसित दृष्टि एव शक्ति लेकर जीवन के प्रश्नों से उलझे और इस प्रकार जकथक की स्थिति से सस्कृति को आगे ले चले।

आज कवि की स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर उसे मार्क्सवादी बनाने का हुक्म दिया जाता है और ऐसा न बननेवालों को बुर्जुआ, त्रिशंकु इत्यादि कह दिया जाता है; दूसरी ओर, उससे चिरतन काव्य की माँग की जाती है और आधुनिक सवेदनाओं के कारण उसे शुद्ध प्रचारक भी कह दिया जाता है।

---

१. अभी को छोड़कर, जब भाग्यवानों की पुस्तकें छप-कर बिकने लगी हैं और कुछ स्कूल-कालेजों में पढ़ाई जाने लगी हैं।

मार्क्सवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद सभी कविता के भीतर उस संबंध में, जो व्यावहारिक मस्तिष्क उनसे जोड़ता है, आ जायँगे। कविता न तो इनके अपनाने से हो सकती है, न इनसे भागने से। कविता का दायित्व मौलिक दृष्टिकोण के रसात्मक स्थलों की खोज, अपने भाव तथा व्यंजना का स्थापत्य उतारना है। कोई भी वादी ऐसा करके कवि होगा और ऐसा न करने पर केवल वादी। इस प्रकार मनुष्य के वैयक्तिग स्वातन्त्र्य की रचनात्मक प्रतिभा की रक्षा एवं वृद्धि करके कविता सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करती है। तब कवि की अनुभूति का छोर, विकास की दृष्टि से, अवश्य वैयक्तिक होगा; बल्कि जिसे अपना कुछ कहना नहीं है, उसे मुँह खोलना ही न चाहिए। हम व्यक्तित्व के आरोप का निषेध करते हैं और मानते हैं कि कवि को, यथासाध्य वस्तु और पाठक के बीच में स्वयं न आकर काव्य की प्रक्रिया से वस्तु का ऐसा चित्रण करना चाहिए कि उससे उसका निष्कर्ष सहज-प्रत्यक्ष ढंग से निकले। दूसरों की पीड़ा की पूँजी पर कविता करना गद्दारी है। स्वयं अपनी पीड़ा के प्रति भी, काव्य-सृष्टि करते समय, कवि को अपेक्षित निस्संगता बरतनी होगी। काव्य के सत्य और साधारण ईमानदारी में दूर का रिश्ता होता है।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'सोशल रूट्स आफ द आर्ट्स्' में प्रतिपादित विचारों का उल्लेख करते हुए टी० एस० एलियट, जेम्स ज्वायस, एजरा पाण्ड, जाँ पाल सार्त्र इत्यादि को ह्रास-कालीन पूँजीवाद की विशृंखलता, अराजकता और जन-विरोधी व्यक्तिनिष्ठा का प्रतिनिधि कहा है और अज्ञेय आदि को त्रिशंकु। और, 'सोशल रूट्स आफ द आर्ट्स' के लेखक ने इस किताब की भूमिका में स्वयं लिखा है कि 'यह ग्रंथ-सौंदर्य-शास्त्रीय समस्याओं का कोई निश्चयात्मक अध्ययन नहीं है। अधिक-से-अधिक यह एक संकेत-भर है कि हमलोग कला और संस्कृति-संबंधी नई परख की देहरी पर खड़े हैं और इसका श्रेय लाभप्रद मार्क्सवादी तरीके और दर्शन को है।"[१] मार्क्सवादी तरीकों का

---

१ This volume is not a definitive study of aesthetic problems. At best this book signifies that we are on the threshold of a new understanding of art

कैसा व्यवहार हो रहा है, जग-जाहिर है। अभी हाल में Humanite नामक एक फ्रेंच दैनिक पत्र में पिकासो पर एक निवंध प्रकाशित हुआ है। इस निवन्ध में इस बात पर खुशी जाहिर की गई है कि पिकासो कम्यूनिस्ट हो गया है। उसकी कम्यूनिस्ट उगलियो से बने और एक कम्यूनिस्ट पत्र में प्रकाशित उसके एक रेखा-चित्र को, जिसमें माँ अपने बच्चे की मुट्ठी कस रही है, उसके पहले के तमाम चित्रो से यह कहकर श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है कि पहले के चित्रों में आवेग सलिष्ट थे, सामूहिक नही। कभी पतजी कम्यूनिस्टो के प्रिय कवि थे। पर 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वण-धूलि' के प्रकाशन के साथ ही वे अकवि हो गये और उनके ग्रथो में विड़ला और टाटा का सोना दिखाई पडने लगा। अगर काव्य और कला की परख की यही कसौटी रही, तो परख हो चुकी।

तो, सक्षेप मे प्रयोगवाद की यही स्थिति है। उसकी आवश्यकता और उपयोगिता पर स्वतन्त्र रूप से लिखने की इस निवन्ध मे अब विशेप जरूरत नही; क्योंकि विभिन्न परिच्छेदो में हम इस प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं।

सही है कि प्रयोगवाद के नाम पर बहुत सस्ती चीजें भी लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियो द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओ तक में छपने लगी है। और, ऐसी रचनाएँ भी आलोचको के लिए प्रयोगवाद के विश्लेषण का आधार बन रही है। पर इसका उत्तरदायित्व किसपर है? हम 'नकेनवाद' के प्रसग में 'प्रयोग-दशसूत्री' पर विचार करने की आवश्यकता की बात कह आए है। पर चूँकि 'प्रयोगवाद' शब्द भी काफी फीच दिया गया है, हम उसकी जगह 'प्रपद्यवाद' का प्रयोग करते हुए उस दशसूत्री को पुन. उद्धृत करना चाहते है। यहाँ मै वैसी आलोचनाओ का उल्लेख अनावश्यक समझता हूँ, उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के नामवर सिंह जैसे लोग 'नकेनवाद' के संबध में करते पाए जा सकते है।[१]

---

and culture, thanks to the fruitful Marxist method and philosophy.

—Lovis Harap (Social roots of the Arts)

१. देखिए, आल इन्डिया रेडियो, इलाहाबाद से प्रसारित नामवर सिंह की आधुनिक कविता सम्बन्धी वार्त्ता, जो 'प्रवाह' में प्रकाशित हुई है।

प्रपद्य-दशसूत्री

प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप

१. प्रपद्यवाद भाव और व्यजना का स्थापत्य है।
२. प्रपद्यवाद सर्वतंत्र स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दलनिर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।
३. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्त्तियो की परिपाटियो को भी निष्प्राण मानता है।
४. प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।
५. प्रपद्यवाद को मुक्त-काव्य नही, स्वच्छद काव्य की स्थिति अभीष्ट है।[१]
६. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्य ।[२]
७. प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।[३]
८. प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान है।[४]
९. प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छद का स्वय निर्माता है।
१०. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसधान है।

हस्ताक्षरित

नकेन

(नलिन विलोचन शर्मा,
केसरीकुमार,
नरेश)

फक्किका

१. Vers libre : Vers libere : भाष्य के लिए देखिए 'दृष्टिकोण' मासिक के प्रथम अंक का प्रथम निबन्ध।

२. तुलना कीजिए—चरित्रशील और चरित्रवाद, प्रगतिशील और प्रगतिवाद के साथ।

३. Verbi-voco-visual method

४. जैसे चित्रकार वर्ण-योजना का, मूर्त्तिकार प्रस्तर-खंड का।

हिन्दी-गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आज से ९०० वर्ष पूर्व गद्य नाम की कोई चीज हमारे यहाँ नहीं थी। भारतेंदु-युग के पहले का सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य पद्यमय है; फिर भी, भक्ति-काल में ब्रजभाषा-गद्य का रूप पद्यमय टीकाओं और भक्त-कवियों, आचार्यों की वार्त्ताओं में उपलब्ध है। इससे प्राचीन गद्य का रूप हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रथों में भी मिला है, जिनका निर्माण-काल सवत् १४०७ के आसपास है। इसके साथ-साथ राजस्थानी पद्य परपरा है, जिसका सूत्रपात बारहवी शताब्दी के लगभग से माना जाता है। इस तरह ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली गद्य की हमें तीन स्फुट परम्पराएँ मिलती हैं।

ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीनतम रूप हमें गोरखनाथ-कृत ग्रंथ में मिलता है। इसके उपरात फिर हमें भक्तिकाल में कृष्ण-भक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रथ मिलते हैं। उपर्युक्त ग्रंथो की भाषा अव्यवस्थित है। भाषा का थोडा-बहुत चलता हुआ रूप हमें 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता' में मिलता है। इसमें वैष्णव-भक्तों और आचार्य की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी है। पीछे चलकर ब्रजभाषा-गद्य में अरबी-फारसी के भी शब्द मिलते हैं।

राजस्थानी गद्य में दानपत्रों, पट्टो, परवानों, जैन-ग्रथों तथा भिन्न-भिन्न विषय सबधी ग्रथों की रचना हुई। प्रारभिक गद्य पर सस्कृत की समासयुक्त शैली और अपभ्रंश का प्रभाव है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का भी पीछे चलकर कुछ प्रभाव पडा। राजस्थानी गद्य-ग्रथों की तिथियाँ भ्रामक हैं। केवल फतहराय वैरागी कृत 'पंचाख्यान' (१८४७) की रचना-तिथि ठीक मालूम होती है।

खडी बोली गद्य भी काफी प्राचीन नही है। गद्य तथा इसका रूप साहित्य में बिखरा मिलता है।

खड़ी बोली वस्तुतः दिल्ली और मेरठ के आसपास की बोलचाल की भाषा के रूप मे प्रचलित थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे ही

ब्रजभाषा के साथ-साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनायी थी।

जब मुगल-साम्राज्य का पतन हो गया, तो दिल्ली के बाशिन्दे दूसरे-दूसरे शहरों में आकर बसने लगे। उन्हींके साथ खडी बोली का भी प्रचार बढ़ने लगा। धीरे-धीरे समस्त उत्तर भारत के बाजारो में इसने व्यावहारिक भाषा का रूप धारण कर लिया। इसके पहले भी भोज से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश-काव्यों की जो परपरा चलती रही, उसके भीतर खडी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है—

'भल्ला हुआ जु मारिया, बहिनि! महारा कतु।'

इसके अतिरिक्त सत-कवियों की जनभाषा मे भी खडी बोली का रूप मिलता है—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गगा नीर

अकबर के समय में गगकवि ने "चद छद बरनन की महिमा" नामक एक गद्य-पुस्तक खडी बोली में लिखी थी।

इस तरह बहुत दिनों से खडी बोली का जो रूप दृष्टिगोचर हो रहा था, साहित्य में नियमित रूप से उसकी प्रतिष्ठा अग्रेजों के आने पर हुई। शासन की सुव्यवस्था के लिये अग्रेजों को यहाँकी भाषा से अवगत होना आवश्यक था। इसलिए गिलक्राइस्ट साहब ने हिन्दी-गद्य की पुस्तकें तैयार करने का भार लल्लू लाल और सदल मिश्र को सौपा। दो और महानुभाव स्वतन्त्र रूप से गद्य-साहित्य की रचना कर रहे थे, जिनके नाम है—मुंशी सदासुखलाल और सैयद इशाअल्ला खाँ। ये आचार्य चतुष्टय् सवत् १८६० के आसपास हुए। इन चारों आचार्यो के गद्य का रूप एक समान नही है। किसीकी भाषा संस्कृत-मिश्रित पडिताऊ है, तो किसीमें उर्दूपन है। मुंशी सदासुखलाल ने अपनी पुस्तक 'सुखसागर' में शुद्ध तत्सम सस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया है। इंशा-कृत 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। लल्लूलाल ने जॉन गिलक्राइस्ट के आदेश से खडी बोली में 'प्रेमसागर' लिखा, जिससे अरबी-फारसी के चलते हुए शब्दों को भी जबर्दस्ती निकालने का प्रयास किया गया है। लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषा के

रूपों की भरमार है। सदल मिश्र ने अपनी पुस्तक 'नासिकेतोपाख्यान' में यथाशक्ति खड़ी बोली में व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयास किया। इसके पश्चात् ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म-ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में कराया, जिससे हिन्दी-गद्य के विकास में कुछ सहायता मिली। इसी समय अंग्रेजी और बंगला के अखबारों को निकलते देखकर पंडित जुगलकिशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, संवत् १८८३ में 'उदंतमार्तण्ड' नाम का एक संवादपत्र निकाला, जिसे हिन्दी का पहला समाचार-पत्र समझना चाहिये।

धीरे-धीरे हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर और व्यवस्थित होने लगा। पर अभी तक स्कूलों और कचहरियों में उर्दू-भाषा का ही बोलबाला था, हिन्दी में न तो किताबें छपती थीं और न इस्तहार। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने साहित्यिक संघ में आकर हिन्दी का पक्ष लिया। वे स्कूलों के इन्सपेक्टर थे; अतः उनके प्रयास से पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाने लगीं। राजासाहब ने स्वयं पुस्तकें लिखीं और दूसरों को भी प्रोत्साहित किया। पर राजासाहब की हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता के साथ प्रयोग किया गया है, जो आज के हिन्दी-प्रेमियों की आँखों में खटकता है। पर, हमें यह न भूलना चाहिये कि राजासाहब ने देवनागरी लिपि का प्रचार उस समय किया था, जब लोग पद्य तक उर्दू लिपि में ही लिखते थे।

हिन्दी-गद्य को अरबी-फारसी के भार से मुक्त करने का श्रेय राजा लक्ष्मण सिंह का है। उन्होंने विशुद्ध हिन्दी-भाषा का समर्थन किया और अपने विचार का बड़ी कट्टरता के साथ पालन किया। संवत् १९१८ में 'प्रजाहितैषी' नाम का पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी में किया, जिनमें अरबी और फारसी के शब्दों का भरसक प्रयोग नहीं किया गया है। यद्यपि हिन्दी-गद्य के विकास में राजा साहब का यह प्रयत्न स्तुत्य है, फिर भी उर्दू के चलते हुए शब्दों के निकल जाने से भाषा की स्वाभाविकता जाती रही।

अब तक सभी आचार्य हिन्दी गद्य के साथ प्रयोग कर रहे थे, किसीने हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक भाषा का विकास नहीं किया था।

मुंशी सदासुख की भाषा में पडिताऊपन था, तो लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषापन। इंशाअल्ला खाँ की भाषा मे उर्दूपन था, तो सदल मिश्र में पूरबीपन। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की भाषा मे अरबी-फारसी की भरमार थी, तो लक्ष्मण सिंह में संस्कृत की। ऐसी ही संकटापन्न स्थिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने गद्य की भाषा को सुधार करके उसे बहुत ही चलता, स्वस्थ और परिमार्जित रूप दिया। भारतेन्दु की भाषा साहित्यिक होते हुए भी जनता के लिये बोधगम्य थी।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर साहित्यिक रचना होने लगी। भारतेन्दु के प्रभाव और प्रोत्साहन से लेखकों का एक समुदाय तैयार हो गया, जिन्होंने अपनी-अपनी व्यक्तिगत बोली के द्वारा गद्य-साहित्य का शृंगार किया। प० प्रतापनारायण मिश्र की भाषाशैली हास्य-विनोद से पूर्ण और चपल होती है। ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रकृति के कारण चौधरी बदरीनारायण की बोली से मिलती-जुलती है, पर उसमें लंबे-लंबे वाक्यों की जटिलता नही पायी जाती है।

भारतेन्दु युग की भाषा में एक दोष था। भारतेन्दुजी और उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह नहीं जमी थी। भाषा की सफाई और शुद्धता के प्रवर्त्तक के रूप मे द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने व्याकरण के सारे दोषो का परिष्कार करके हिन्दी-भाषा को दोष-मुक्त कर दिया, जिसपर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास आदि साहित्य-महारथियो ने गद्य-साहित्य की विशाल इमारत खडी की। अगर प्रारम्भ मे द्विवेदीजी व्याकरण की भूलो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित नही करते, तो नींव कच्ची रहने के कारण भाषा-शैली परिपक्व नही हो पाती।

आधुनिक हिन्दी-गद्य-शैली दिन-प्रतिदिन शुक्ल पक्ष की चाँदनी की भाँति निखरी जाती है। उसमें इन्द्रधनुषी वैविध्य है। हिन्दी का गद्य-साहित्य आज विश्व में सम्माननीय स्थान प्राप्त कर सकता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, महादेवी, जनेंद्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के गद्य हिन्दी की प्रगति के द्योतक है।

हिन्दी के प्रबंध-काव्य

प्रबंध-काव्य साहित्य का शृंगार है, साहित्य के अन्य अंग इसकी महानता और विशालता की समता नहीं कर सकते। यद्यपि आधुनिक युग की कृत्रिमता, बौद्धिकता और चारित्रिक हीनता के वातावरण में इसका विकास कुंठित-सा हो गया है, फिर भी, इसकी महत्ता अक्षुण्ण है, आधुनिक युग के कुछ उत्कृष्ट महाकाव्य इसके प्रमाण हैं।

प्रबंध-काव्य के दो भेद हैं--(१) महाकाव्य, (२) खण्ड काव्य। महाकाव्य का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होता है। उसमें विराट् मानव-जीवन का चित्रण होता है। खण्ड-काव्य में किसी एक ही घटना को मुख्यता दी जाती है।

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इसके रचयिता हैं पृथ्वीराज के सखा और दरबारी कवि चन्दवरदाई। यद्यपि इसकी प्रामाणिकता सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है; फिर भी, अबतक हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का सेहरा इसीके सिर पर है। इसमें पृथ्वीराज चौहान की कीर्त्तिगाथा का वर्णन किया गया है।

जहाँ तक प्राकृतिक दृश्यों आदि से महाकाव्य के विषयों का सम्बन्ध है तथा भावों की उदात्तता और रसपरिपाक का प्रश्न है, 'रासो' महाकाव्य के लक्षणों की पूर्त्ति करता है। इसका कथानक उतना सम्बद्ध नहीं है, जैसा चाहिए था। किन्तु सभी घटनाएँ पृथ्वीराज के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। इसमें यद्यपि पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता का वर्णन है, तथापि हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष व्यापक रूप से वर्त्तमान है। वीर और शृंगार इसके प्रधान रस हैं, जिनका परिपाक अच्छी तरह हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय महाकाव्य का श्रेय मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' को है। शुक्लजी के अनुसार 'यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबंध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी पद्धति

पर है, पर श्रृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय परम्परा के अनुसार ही है।"

पद्मावत के कथानक में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। इसका पूर्वार्द्ध काल्पनिक है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। इसके नायक चित्तौरगढ़ के राजा रत्नसेन है। मुसलमान कवि होते हुए भी जायसी ने रत्नसेन और नागमती की कथा का निर्वाह बड़ी सफलता से किया है, जिसमें हिन्दूत्व की रीति-नीति और मर्यादा का पालन अच्छी तरह किया गया है। पद्मावत् में प्रेम के दोनों स्वरूप का चित्रण हुआ है। रत्नसेन और नागमती का, जो ऐतिहासिक पात्र है, प्रेम सांसारिक है, जिसमें पार्थिव सयोग और वियोग के दर्शन होते है; पर रत्नसेन और पद्मावती का प्रेम अपार्थिव और अलौकिक भी है, जिसमे कवि ने सूफीमत को आरोपित किया है। पद्मावती के प्रेम में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है।

महाकाव्य का प्रधान रस श्रृंगार है। सयोग और वियोग दोनों पक्षों का बड़ा विशद वर्णन हुआ है। नागमती के विरह में वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप परिलक्षित होता है। पद्मावती का रूप-वर्णन पाठकों को सौंदर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। निस्सन्देह, प्रेमगाथा की परम्परा में 'पद्मावत्' सबसे सरस और प्रौढ़ है।

इसके पश्चात् महाकवि तुलसीदास का 'रामचरित मानस' आता है, जो अपनी पूर्णता और उत्कर्ष में अमर और अम्लान है, जिसकी समता विश्व का एक ही महाकाव्य कर सकता है और वह है, बाल्मीकि रामायण।

"रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें 'रामचरितमानस' में मिलता है।" महाकाव्य के विभिन्न अवयव—कथानक, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, वस्तु-व्यापार-वर्णन, तत्त्व-व्यजना और इतिवृत्त इस तरह सतुलित है कि कला की प्रतिभा की सराहना करनी पड़ती है। तुलसीदास ने महाकाव्य के अन्तर्गत मर्मस्पर्शी स्थलो का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। राम-वन-गमन, भरत की आत्म-ग्लानि आदि कुछ ऐसे स्थल है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त कवि ने प्रत्येक मानव-स्थिति में

अपने को डालकर उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। मानव-प्रकृति के इतने अधिक रूप हिन्दी के किसी भी महाकाव्य में उपलब्ध नही है। किसी में वीररस मिलता है, तो किसी में शृंगार रस। कही करुण रस का परिपाक हुआ है, तो कही वीभत्स रस का। पर 'रामचरितमानस' में नवो रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। मानस में विराट् भारतीय जीवन का प्रत्येक पहलू दृष्टिगोचर होता है। यही नही, 'रामचरितमानस' भारतीय संस्कृति का उत्कृष्टतम प्रतीक है। तुलसी ने भारतीय संस्कृति के तत्त्वो का पूर्ण रूप से आत्मसात करके मानस में मूर्त्तिमान कर दिया है।

मानस की एक और बहुत बड़ी विशेषता है—राम और भरत सदृश अमर और महान् चरित्रों की सृष्टि। "अनन्त शक्ति के साथ धीरता, गम्भीरता और कोमलता राम का प्रधान लक्षण है और भ्रातृत्व के चरम विकास भरत सिर्फ लोकदृष्टि में पवित्र न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए।' राम ने उन्हें धैर्य के साक्षात् स्वरूप कहा—

भरत! भूमि रह राउरि राखी।

केशव ने दो प्रबंध-काव्य लिखे—एक, 'वीरसिंह देव चरित' और दूसरा, 'रामचन्द्रिका'। पहले में वीरसिंह देव का चरित बहुत कम है—दान, लोभ आदि के संवाद भरे पड़े हैं। अतः वह काव्य कहा ही नही जा सकता। 'रामचन्द्रिका' केशव की अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक है। पर यह महाकाव्य की दृष्टि से उतना सफल नही है, जितना अलंकार की दृष्टि से। केशव रीतिकालीन आचार्य थे। इसीलिए आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति उनमें अधिक थी। तुलसी की तरह उनकी दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी।

'रामचंद्रिका' में केशव को सबसे अधिक सफलता मिली है संवादो में, जिनमें परशुराम और रावण-अंगद-संवाद अत्यन्त प्रभावपूर्ण और सफल हैं। महाकवि हरिऔध का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—छन्द और भाव का अभिनव प्रयोग। परंपरागत कृष्ण के अलौकिक और शृंगारिक रूप को इन्होंने लौकिक और लोक-सेवक के रूप

में परिवर्तित कर दिया है। साथ ही, पहली बार हरिऔध ने संस्कृत के वर्णवृत के सहारे अतुकान्त छन्द का प्रयोग किया है। भावपक्ष की दृष्टि से जहाँ वे एक हद तक सफल हुए हैं, भाषा की दृष्टि से उनका प्रयोग नितान्त असफल रहा है।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने नौ-दस छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनके नाम हैं — रंग में भंग, जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, यशोधरा। अन्तिम दो का साहित्यिक महत्त्व विशेष है। इन दोनों काव्यों में गुप्तजी ने काव्य की उपेक्षिता को चित्रित कर उन्हें साहित्य में विशेष स्थान दिया है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरणा पाकर गुप्तजी ने उर्मिला और यशोधरा को प्रबन्ध-काव्य की नायिका के रूप में सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है। 'साकेत' में हम उर्मिला के त्याग, उसकी तपस्या और वेदना से पूर्ण परिचित हो जाते हैं। नवम सर्ग तो पूर्ण रूप से उर्मिला के आँसुओं से सिंचित है। इसी तरह यशोधरा की कर्त्तव्य-भावना, उसके त्याग और उसकी दृढ़ता के आगे गौतम का चरित्र मंद पड़ जाता है। निःसंदेह गुप्तजी को अपने उद्देश्य में सफलता मिली है।

'साकेत' महाकाव्य है, 'यशोधरा' खंड-काव्य। प्रबन्ध-काव्य के नियमों का गुप्तजी ने बड़ी कट्टरता के साथ पालन किया है।

यहाँ पं० रामनरेश त्रिपाठी के तीन खंड-काव्य उल्लेखनीय हैं। 'पथिक' पर गांधीवाद का प्रभाव है। शेष दोनों काव्य भी देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। शुक्लजी ने स्वच्छंद धारा के अंतर्गत इनका उल्लेख किया है।

प्रसादजी की 'कामायनी' आधुनिक युग के महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी कथा वैदिक साहित्य से ली गयी है। मनु मन्वंतर के प्रवर्त्तक के रूप में चित्रित किये गये हैं और कामायनी प्रथम नारी के रूप में। इस महाकाव्य में श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता के विकास का रूपक बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के संघर्ष में हम मान-

षता का चिरंतन संघर्ष और उसके समाधान में मानवता का समाधान पाते हैं। अन्तिम सर्ग में उन्होंने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है।

'कामायनी' के रूप में प्रसाद की नारी-सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। वह विराट और कोमल की मिलित मुस्कान है, जिसमें हमें दर्शन और सौंदर्य का सरल समन्वय मिलता है।

टेकनीक की दृष्टि से 'कामायनी' एक मौलिक महाकाव्य है। उन्होंने इसमें रूढि के पालन की आवश्यकता नही महसूस की है। छदों में भी उन्होंने अपनी कर्त्तृत्व शक्ति का परिचय दिया है।

सियारामशरण गुप्त ने भी दो प्रबध-काव्य की रचना की है—'मौर्य-विजय' और 'उन्मुक्त'। 'उन्मुक्त' में रूपक के सहारे विश्वव्यापी महायुद्ध की नृशंसता का वर्णन किया गया है। प० बलदेव मिश्र का 'साकेत सन्त' नामक महाकाव्य उल्लेखनीय है, जिसके चरित्रनायक भरत है।

अति आधुनिक युग के तीन महाकाव्य उल्लेखनीय है—ठाकुर गुरुभक्त सिंह-रचित 'नूरजहाँ', मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त्त' और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। नूरजहाँ एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिनमें नूरजहाँ और सलीम के अतर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण हुआ है। वियोगीजी ने पृथ्वीराज और गोरी के युद्ध को एक नये दृष्टिकोण से देखा है तथा छंदों का नया प्रयोग किया है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक शसक्त रचना है। महाभारत की पृष्ठभूमि में कवि ने आधुनिक युद्ध की समस्या पर विचार किया है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रबंध की एकता उसमें वर्णित विचारो को लेकर है। वस्तुतः लेखक सम्पूर्ण काव्य में सोचते ही रहे है, दूसरी ओर उनका ध्यान नही गया है।

अस्तु, हिन्दी में प्रबध-काव्य पर्याप्त हैं और उनका साहित्यिक महत्त्व भी यथेष्ट है।

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य बड़े वेग से विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। किन्तु अभी तक जितनी गहराई की उसमें अपेक्षा थी, उतनी नही आ पाई है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'चन्द्रकान्ता संतति' और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों का भी महत्त्व है; किन्तु जीवन की सच्ची अनुभूति का उनमें अभाव है। नाना प्रकार की असम्भावित, सर्वथा अस्वाभाविक कल्पनाओं की आधार-शिला पर निर्मित उपन्यासों का युग बिना किसी आन्दोलन के यों ही स्वतः बीत गया। किसी वस्तु या साहित्य के अस्तित्व के तुरत मिट जाने का मुख्य कारण उसकी अस्वाभाविकता एवं असत्यता है। काव्य-साहित्य के लिए, संभव है, ये कारण लागू न हों; परन्तु गद्य-साहित्य विशेषतः उपन्यास-कहानी में तो तब तक स्थायित्व नही आ सकेगा, तब तक उसके अस्तित्व की रक्षा नही हो सकेगी, जब तक जीवन के कटु सत्य की स्वाभाविकता न रहेगी। तिलस्मी, जासूसी उपन्यासो की उत्तेजक, क्षणिक काल्पनिक प्रवृत्तियों से वे ही पाठक प्रभावान्वित होंगे, जो अबौद्धिक, कम अनुभूतिशील तथा उद्देश्यरहित जीवन-यापन करनेवाले होते है, जिनकी बौद्धिक आँखें अपने आसपास के ही दृश्य देखने की अभ्यस्त होंगी। औपन्यासिक तत्त्वों में आदमी की जीवन-शक्तियाँ विद्यमान रहनी चाहिये, जो उन उपन्यासों में नही है। युग की परिस्थितियो का इसमें दोष हो सकता है, लेखक का नही। यह भी असत्य नही है कि लेखकों का इनकी ओर विशेष ध्यान नही था। हिन्दी-गद्य की पुष्टि का प्रयत्न ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

सहसा उन उपन्यासों की दिशा वहाँसे बदलती है, जहाँसे प्रेमचन्द का युग प्रारम्भ होता है। कल्पना के आधार से पृथक्, सर्वथा उपेक्षित वर्ग के मानव-जीवन को उन्होंने अपने उपन्यासों में सापेक्ष बनाया। दूसरी ओर, गांधी-वाद की राजनीतिक भावनाओ का समावेश उपन्यासों के प्लॉट के लिए नई बात थी। ग्रामीण वातावरण की सजीवता उनके उपन्यास की मुख्य विशेषता समझी गई। पूँजीवाद के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की। पीडित,

शोषित मानवों के ह्रास का अच्छा दिग्दर्शन कराया; किन्तु धरती के ठोस बाशिन्दे की पूर्णता पर उनका विशेष ध्यान नही गया। यदि ऐसा हुआ, तो निश्चय ही उनके उपन्यासो के अध्ययन से पाठक तात्कालीन युगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता। किन्तु शायद उन्हें औपन्यासिक तत्वों को संभालने का इतना अधिक ध्यान रहा कि सर्वत्र अपने आदर्शों में ही उलझे रह गए। निम्न वर्ग की संपूर्ण परिस्थितियों का खाका न खीच सके। समस्त मानव-जाति की सत्ता सिद्ध की गई होती, सिर्फ एक वर्ग में विभक्त मानव की ही सस्थितियाँ न विराजमान रहती, तो निश्चय ही प्रेमचन्द के उपन्यास हिन्दी-साहित्य में अपनी चिरस्थायी विशिष्टता सिद्ध करते। दूसरी बात, उनमें आदर्शों के प्रदर्शन की इतनी अधिक भावना थी कि सबपर उनका समान रूप से स्थायी प्रभाव पडना मुश्किल था। राजनीतिक भावनाओं में कभी यह आवश्यक नही कि उनमें सत्य की ही सबलता सिद्ध की जाय। और, प्रेमचन्दजी अपने युग की ऐसी ही राजनीतियो, आन्दोलनो से प्रभावित थे। उन्होंने उसी समाज को अपना आधार चुना, जिसके पीछे राजनीतिक क्रियायें काम कर रही थीं। 'रगभूमि', 'कर्मभूमि' की दिशाएँ राजनीति की रूढ़ियों की ओर गई। 'सेवासदन' भारतीय मध्यकालीन समाज के वैसे अंग का स्पर्श करता है, जिसके वैधानिक नियम सर्वथा घृणित, अतः त्याज्य थे और भारत के मुख्य पतन के असाधारण कारण कहे जा सकते हैं।

'गबन' और 'गोदान' ये दो उपन्यास प्रेमचन्द के प्रौढ़ विचारों, गहन भावों के द्योतक हैं। पहले में पुरुष-नारी, विशेषतः पति-पत्नी की उन कमजोर प्रवृत्तियो की व्याख्या है, जो मानसिक ह्रास, नैतिक पतन का केन्द्र समझी जाती है। भारतीय आगत संस्कार से प्रभावित एक वैसी पत्नी का चित्रण है, जो नित्य नए आभूषणो के प्रलोभनों में न केवल अपना असाधारण अस्तित्व ही नष्ट करती है, बल्कि अपना सर्वनाश तक कर देने में भी सकोच का अनुभव नही करती अथवा प्रलोभन में इतनी अन्धी बन जाती है, बौद्धिक सज्ञा से इतनी शून्य हो जाती है कि अपने सर्वनाश का उसे कुछ भी ज्ञान नही रहता। मध्यम श्रेणी, विशेषतः क्लर्क वर्ग, के एक ऐसे युवक का चित्रण है, जिसका अभाव ही घर है;

परन्तु जीवन की ऐसी बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षाओ में वह उलझ पड़ता है, जो उसकी सीमा का ज्ञान नही कराती। उसकी कमजोर प्रवृत्तियाँ किस हद तक उसके पतन में सहायक होती है, इसका बड़ा सुन्दर, प्रभावपूर्ण, रोचक ढंग से निरूपण हुआ है। पाठक उसकी स्वाभाविकता की ओर से विमुख नही हो सकता।

मनुष्य की सामयिक परिस्थितियाँ एवं अवस्था के अनुकूल उसकी प्रवृत्तियाँ उसकी जीवन-दिशा का निर्देशन करती है; किन्तु अपनेपन का यदि उसे ज्ञान न रहा, तो निश्चय है, जीवन-दशा के स्वाभाविक, उचित तथा आवश्यक निर्देशों से वह लाभ नही उठा सकता। इस उपन्यास में एक जालपा नाम की वेश्या है; परन्तु उसमें पत्नी-प्रेम की प्रौढ़ता है। गबन की यह एक शक्तिशालिनी पात्री है।

'गबन' के बाद 'गोदान' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति कही गई है। प्लॉट, टेकनीक, कलात्मकता, किसी भी दृष्टि से वह एक उत्कृष्ट उपन्यास उतरा है। ग्रामीण मनोभाव का ऐसा सुन्दर चित्र देना सबके लिए कुछ कठिन है। 'गो-दान' का मुख्य पात्र 'होरी' अपनी विवश स्थितियों से हैरान है; किन्तु सहिष्णु, दृढ़ इतना कि किसीके प्रति उसकी कोई शिकायत नही। न हर्ष, न विषाद, तोष-असन्तोष का कभी उसके साथ प्रश्न न उठा। मानवीय विशिष्ट गुणों से विभूषित होरी अपने ही जीवन का एक अच्छा व्यग्य, किन्तु सबल आदर्श भी है, किसानों का बिल्कुल प्रतीक स्वरूप। सब होकर भी आदर्श-प्रदर्शन की भावना से प्रेमचन्दजी 'गो-दान' को भी पृथक् न रख सके, जिस कारण 'गो-दान' के औपन्यासिक तत्त्व कुछ कमजोर दिखाई देते है। प्रेमचन्द-जी इतने घोर आदर्शवादी थे कि कही-कही यथार्थ की अनुचित उपेक्षा हो जाती है। वे जीवन के चिरतन सत्य से दूर चले जाते थे। स्वयं वे अपने जीवन के सन्निकट नही थे। और, उपन्यास-साहित्य में बहुत-कुछ लेखक का अपना व्यक्तित्व रहता है।

प्रेमचंद का युग अधिक सबल होकर भी स्थायी न हो सका। भारतीय राज-नीति, विशेषतः गाँधीवाद, से प्रभावित शक्तियों पर आधारभूत जिन औपन्या-

सिक तत्त्वों की सर्जना हुई, उनमें एक सीमित, वल्कि सकीर्ण आदर्श-निर्वाह की भावना थी। इस युग को सबल बनानेवाले उपन्यासकारों की सर्जनात्मक शक्ति निर्वल थी, जिसकी वजह से उनके कोई खास उल्लेख की आवश्यकता नही। और, कहना नही होगा कि इसीलिए वे प्रेमचद की प्रवृत्तियों को लाँघ नही सके; फलतः प्रेमचद की ही औपन्यासिक दृष्टि अपने युग में विशिष्ट स्थायी महत्त्व रखती है। विनोदशकर व्यास, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अनूपलाल मण्डल आदि अनेक उपन्यासकार उसी युग को सबल बनाने की चेष्टा में आए; किन्तु वैसी सामर्थ्य उनमें न थी, जिसका कुछ प्रभाव पड़ता।

इन सबसे सर्वथा पृथक् जयशकर प्रसाद के औपन्यासिक कृतित्वों का कही अधिक महत्त्व है। यद्यपि उपन्यासों के प्लॉट अस्वाभाविक है, उनके नाम भी भ्रामक हैं एवं अपने उद्देश्य में वे असफल है; फिर भी, उनके आधार कमजोर नहीं कहे जा सकते। 'ककाल' का विस्तार कुछ आवश्यकता से अधिक बोझिल है। 'तितली' में कलात्मक टेकनीक है। किन्तु दोनो की कवित्वपूर्ण शैली में अस्वाभाविकता का पुट अधिक है। आदर्श की जगह इनमें ठोस सिद्धात की पुष्टि है। मानव के मनोभाव बड़े गहरे ढग से उतरे हैं और उनका अधिक मूल्य है। एक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित उद्गार प्रगट किये गये है। हिंदी-उपन्यास-जगत् में 'प्रसाद' के उपन्यासों से एक नया निर्देश, एक नयी जागृत दिशा का संकेत मिलता है। परन्तु स्वाभाविकता से वे कुछ दूर ही रह जाते है। हाँ, यह उल्लेख्य है कि उनके उपन्यासों में मध्यवर्ग की भाव-भूमि खड़ी की गई है, जिसका ढग नया कहा जा सकता है।

वाजपेयीजी ने भी मध्यवर्ग के बौद्धिक मानव का चित्र उपस्थित किया है; किन्तु उसका रग गाढा नही सिद्ध हो सका। 'पिपासा' के दुर्बल आधार को छोड़िये; 'निमत्रण' तक का भी मूल निर्बल ही कहा जायगा। बल्कि प्रेमचंद-युग के मार्ग को प्रशस्त करने में सियारामशरण गुप्त ने विशेष सहयोग दिया है। उनके उपन्यास 'नारी' और 'गोद' की सत्ता दृढ़ है। प्रेमचन्द के समान ही इन्होंने भी ग्रामीण वातावरण का ही स्पर्श

किया है; परन्तु उनके आदर्श-प्रदर्शन के भाव को नहीं अपनाया है। बल्कि कहना चाहिये, गुप्तजी के उपन्यास मानव-हृदय के भावों को सहज ही स्पर्श कर लेते हैं। उनमें एक विशेष आकर्षण की शक्ति दीखती है। समाज के गलित विधानों का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया गया है। आदर्शवाद के मुलम्मा से बचाये गये इन उपन्यासों से पाठक अधिक प्रभावित हो जाते हैं।

हिन्दी-उर्दू मिश्रित शैली में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने अनेक भावपूर्ण उपन्यास लिखे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता मुहावरेदार भाषा है, वह भी बिल्कुल सजीव। प्रभावपूर्ण शैली एवं आकर्षक वर्णन की दृष्टि से उनका 'राम-रहीम' अधिक सफल और प्रसिद्ध है। 'राम-रहीम' का प्लॉट विशेष सुन्दर नहीं; लेकिन उसकी घटना-प्रधान भाव-भूमि की अधिक महत्ता है। हिन्दी में अपनी जगह वह अकेला उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'पुरुष और नारी', 'सावनी समा', 'गाँधी टोपी', 'सूरदास' आदि अनेक उपन्यास हैं, जिनमें राजासाहब की शैली और मुहावरेदार भाषा की छाप गहरे रूप से मिलेगी।

जीवन की नई जाग्रति, नई चेतना; नवीन संदेश का वाहक उपन्यास 'चित्रलेखा' है, जिसका हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में शीर्ष स्थान है। इसके प्रभविष्णु लेखक भगवतीचरण वर्मा हैं। मौलिक, प्रौढ़ विचारों से अनुप्राणित या प्रभावित और कोई उपन्यासकार इस दिशा की ओर अपनी कलम नहीं उठा सका। मनुष्य की दुर्बल प्रवृत्तियाँ उसके सिद्धान्त की भित्ति को ढाह देती है; किन्तु इस कारण मनुष्य को घृण्य नहीं समझा जाना चाहिये। उसकी इन कमजोर प्रवृत्तियों के पीछे उसका अपना अस्तित्व भी प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। परंतु इन दुर्बल प्रवृत्तियों की तह में यदि उसे अपने अस्तित्व पर झूठा अहंकार है, तब निश्चित है, वह अपना कोई भी अस्तित्व खड़ा नहीं कर सकता। पाप-पुण्य की परिभाषा का एक नया रूप हम 'चित्रलेखा' में पाते हैं। यह रूप और किसी भी भारतीय उपन्यास में दृष्टिगोचर नहीं होता। पाप-पुण्य के प्रति लेखक का परंपरागत भारतीय दृष्टिकोण नहीं है।

कुछ लोगोकी दृष्टि में लेखक उपन्यासकार, अनातोले फ्रांस के 'ताया' के दुर्बल जीवन-तत्वो के अधिक निकट है। लेकिन 'चित्रलेखा' का अवतरण ही भारतीयता की अधिक निकटता का प्रमाण है। यह दूसरी बात है कि वर्माजी 'ताया' के मनोभावो से अनुप्राणित हो; किन्तु मूल में उनकी अज्ञात प्रेरणा का यह भी रहस्य सभव है कि वे चन्द्रगुप्तकालीन भारतीय समाज की उपेक्षिता, नैतिक, स्वाभाविक प्रेम-अधिकार से वचित 'चित्रलेखा' के प्रति गहरी सहानभूति रखते हो।

'चित्रलेखा' के सपर्श में आनेवाले सभी पात्र अपने ही जीवन के अच्छे परिहास है, और सब-के-सब दुर्बल प्रवृत्तिवाले, सत्ताहीन किन्तु तत्कालीन समाज की बागडोर सँभालनेवाले है। इनमें सामन्त बीजगुप्त की प्रवृत्तियाँ सबल एव उदार कही जा सकती है। चित्रलेखा की प्रवृत्ति प्रतिशोधात्मक, परन्तु अपनी सीमिति परिस्थितियों में विवश है। अपने असाधारण सौन्दर्य के लिये उसका स्वाभाविक अभियान सभी श्रेष्ठ राजकीय विद्वज्जनो की ईर्ष्या का कारण है। लेखक मानव के उन दुर्बल अवयवो को पकड़ लेता है, जो आत्म-प्रवंचना की सहयोगी प्रवृत्तियो को उभाडने में अधिक सहायता करते है।

'तीन वर्ष' और 'टेढे-मेढे रास्ते' भी वर्माजी के ही उपन्यास है; किन्तु 'चित्रलेखा' की तरह न इनमें प्लॉट की रोचकता है, न टेकनीक की बारीकियाँ ही। 'तीन वर्ष' पठित, मध्य समाज का कुछ खाका भी खींचता है, तो 'टेढे-मेढ़े रास्ते' में न वस्तु-विशेष का उचित एकीकरण है, न टेकनीक का निर्वाह। अस्वाभाविक विस्तार, निरे उलझे हुये विचार, श्लथ भाव, राजनीति की व्यर्थ जटिल समस्याएँ, ये ही 'टेढे-मेढ़े रास्ते' की नीव है। आज के बौद्धिक धरातल पर छोटे-छोटे जो उपन्यास रचे जाते है, उन्हीमें इसका शुमार किया जा सकता है। अनेक वादो से घिरा हुआ यह उपन्यास जीवन के किसी उद्देश्य, दृष्टिकोण को व्यक्त न कर सका। घटनाओ के तारतम्य में कोई प्रवाह नही।

भारतीय मध्यकालीन समाज के द्वारा प्रताडित अनेक ऐसे मानव-चित्र मिल सकते है, जिनका उपन्यास-साहित्य में अच्छा स्थान हो सकता है।

केवल मध्यकालीन, बल्कि आरंभिक काल के भी चित्रों में ऐसे कई चित्र आ उपस्थित होंगे। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की नई दिशा की सूचक कहलायगा। गुजराती के श्रेष्ठ, सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐसे कई उपन्यास मिलेंगे, जिनका आधार प्राचीन भारतीय समाज के विशिष्ट व्यक्ति हैं। यद्यपि उनके ऐतिहासिक काल का सम्बध बिलकुल सगत-सबध नही माना जा सकता; किन्तु उस समाज मे निवास करनेवाले मानव के मनोभाव असत्य नहीं कहे जा सकते। उपनिषद्कालीन 'लोपामुद्रा' की प्रवृत्तियाँ असत्य नही ठहराई जा सकती। 'तैलप देश' का भी औपन्यासिक वर्णन गलत नही सिद्ध किया जा सकता। पृथ्वीवल्लभ' का उद्भव भी प्रशसनीय है। ऐतिहासिक काल के अंतर्गत जो सामाजिक तत्त्व है, उनपर उपन्यासकार की कलम अवश्य चलनी चाहिये। इस विचार से 'चित्रलेखा' भी अपने में पूर्ण सफल माना जा सकता है। इसी प्रकार का हिन्दी में एक और प्रयास किया गया। 'अंबपाली' उपन्यास भी निकला, जिसके लेखक रामरतन भटनागर 'हसरत' हैं। किन्तु 'चित्रलेखा' उपन्यास की विशेषताएँ उनके उपन्यास में नही आ सकी हैं।

ऐतिहासिक आधार की पृष्ठभूमि में विशेष उपन्यास नही रचे गये। बहुत अधिक जिसकी प्रशस्ति गाई गई या जिसका जीवन स्वय स्वस्थ, महत्त्व-पूर्ण हो अथवा जिसके कृतित्व में बल रहा हो, वह उपन्यास का सहज ही आधार बन सकता है। घटना की मौलिकता नही रहेगी। किन्तु लेखक यदि सवेदन-शील हुआ, तो वह इस ढग से उसे ग्रहण करेगा, ऐसी मूल भावना का निचोड़ देगा कि वह मौलिक ही प्रतीत होगा। वृन्दावनलाल वर्मा का 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', इसके पहले उनका 'गढकुडार'—दोनों ऐतिहासिक घटना के अतर्गत हैं।

इस प्रकार अन्य भारतीय सबल व्यक्तियो को भी उपन्यास का आधार बनाया जा सकता है; परन्तु इस ओर कम लेखको का ध्यान गया है। यदि

ऐतिहासिक अनुसंधान किये जायँ, तो केवल ये ही कुछ विशिष्ट व्यक्ति उपन्यास की आधार-शिला नहीं तैयार करेंगे, बल्कि और कई ऐसे टाइप निकल आयेंगे, जो अवसरानुकूल जगत् में मौलिक क्रांति लायँगे। विदेश में सामयिक आन्दोलन, अवसरानुकूल राजनीतियाँ, युद्धकालीन परिस्थितियाँ ये सब अच्छे नये उपन्यास की ठोस सामग्री समझी जाती है। परतु भारतीय लेखकों की इस ओर दृष्टि नहीं जाती। पिछली क्रातियाँ छूट भी जायँ, तो '४२ की क्रांति पर कहाँ कोई अच्छा उपन्यास लिखा जा सका? बंगाल का अकाल, साम्प्रदायिक विद्वेष की चिनगारियाँ, आजाद हिंद फौज की दारुण कहानियाँ, ये सब उपन्यास की पृष्ठभूमि हैं; पर ये साहित्य के विशेष अंग न बन सके। अभी-अभी का 'गोडसे' उपन्यास का बड़ा भयानक खूँखार खल नायक बन सकता है। हमारी प्रत्येक जीवन-प्रगतियाँ औपन्यासिक तत्त्व मानी जा सकती हैं।

पुरानी ऐतिहासिक जगहों की खुदाई में भी अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। परंतु इस दिशा की ओर अग्रसर होनेवाले उपन्यासकार का प्रौढ़ अध्ययन होना आवश्यक होगा। छोटी-छोटी रूमानी घटनाओं को लेकर लिखे गये उपन्यासों में अध्ययन की अपेक्षा न भी हो; किंतु इतिहास को अपना आधार मानने या बनानेवालों के लिये अध्ययन अनिवार्य है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ऐसे दो उपन्यास हिंदी-जगत् को दिये, जिनका अवतरण ही अनुकरणीय है। लिच्छवी वंश के अंतर्गत आये हुये प्रमुख योद्धाओं का इनमें वर्णन है। 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' ये हिंदी-उपन्यास के लिए नये मार्ग कहे जा सकते हैं। परतु यह मार्ग दुर्गम है, यह समझ लेना चाहिये। नया जीवन, नई प्रेरणा देनेवाली भावनाएँ इनमें गुंफित हैं। वर्णन को देखने पर ऐसे प्रतीत होता है, मानों उस युग में हम पहुँच गये हो। राजनीतिक भावनाएँ भी बड़े सूक्ष्म रूप में व्यक्त हुई हैं।

हिंदी में हास्य-प्रधान उपन्यासों का सर्वथा अभाव है। जी० पी० श्रीवास्तव और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने इस ओर कलम उठाई भी, तो उसका रूप इतना अश्लील खडा किया कि वह अनुकरणीय तो दूर रहा, पठनीय भी

शायद नहीं कहा जाय। घासलेटी साहित्य में उन्हींकी कृतियों का नाम लिया जाता है। 'चाकलेट', 'चुम्बन' आदि का काफी विरोध हुआ है; बल्कि कहानियों में जहाँ हास्य का पुट आता है, वहाँ वह अधिक ठीक जँचता है। उनके जो थोड़े-बहुत निबंध हैं, उनमें स्थल-विशेष पर जो हास्य का प्रसंग आया है, उसमें व्यंग्य की चिकोटी है। उसका रूप भी संयत, श्लील है। शब्द-चित्र के रूप में 'निराला' जी ने भी हास्य का निर्माण किया है; किन्तु उनके उपन्यासों में इसको अधिक अवसर नहीं मिला है। 'कुल्लीभाट', 'सुकुल की बीवी' आदि रचनाएँ हास्यप्रधान ही हैं। प्रो० शिवपूजन सहाय जी का 'देहाती दुनियाँ' हास्य-प्रधान उपन्यास है। मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग है। निरालाजी के दो उपन्यास प्रसिद्ध हैं 'अलका' और 'अप्सरा'। इनके अतिरिक्त 'निरूपमा' और 'प्रभावती' आदि उपन्यास भी कम महत्त्व नहीं रखते।

प्रेमचन्द की प्रवृत्तियों से बिलकुल विमुख भिन्न उपन्यास की एक नई धारा प्रवाहित हुई। कुछ अंशों में कहना चाहिए, प्रेमचन्द की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ इस धारा की ओर टिक न सकी। आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख होना इस धारा की मुख्य विशेषता थी। यह धारा जैनेन्द्रकुमार की है। प्रेमचन्द की प्रवृत्तियों को यही लाँघ सके। इनकी संवेदनशील शैली में एक खास प्रभाव था, भावों में नया आकर्षण। पाठक उसमें अपने जीवन की अनुभूति पाता था। उनके उपन्यास के पात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकता की ओर अग्रसर थे। 'परख', 'सुनीता' और 'त्यागपत्र', हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में क्रान्तिकारी भावनाओं के सर्जक माने गये। परन्तु उनके 'कल्याणी' में साधारण भावना का निर्वाह मात्र है।

एक और बात, वह यह कि उनके उपन्यास में जिस मध्य-वर्गीय समाज का वर्णन है, जिस जीवन को सामने रखा है, वह आदर्शवादियों के लिए अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। किन्तु उनकी सत्यता में जो यथार्थ की भावना सन्निहित है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ लोगोंका कहना है, जैनेन्द्र के उपन्यास भी बँगला के शरत्-साहित्य से अनुप्राणित है। परन्तु मैं प्रभावित मान सकता, अनुप्राणित नहीं। पात्र-पात्रियो के द्वन्द्वात्मक अवतरण पर शरत् का प्रभाव कहा जा सकता है। जैनेन्द्र की प्रवृत्तियों ने उनका संस्पर्श किया है, यह संभव

है। पर उन्हीसे अनुप्राणित नही मान लेना चाहिये। किन्तु इधर जैनेन्द्र की कला शिथिल पड़ गई है और वह जहाँ थी, जितनी थी, वही, उतनी ही रह गई है। वर्त्तमान वातावरण को लक्ष्य कर जैनेन्द्रजी ने इधर कोई उपन्यास नही लिखा।

अब हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान गया और बडे वेग से उनका अनुवाद होने लगा। बँगला उपन्यास-साहित्य का विशेष अनुवाद हुआ और उसका हिन्दी-लखकों, पाठकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पडा। शरत् के उपन्यासो मे मध्यवर्गीय समाज के खोखले, कमजोर, घृणित प्रवृत्तिवाले मानव की भावनाएँ केन्द्रित हुई। उनके अहं में जो प्रवंचना की भावना थी, उसका दिग्दर्शन कराया गया। सबसे बडी बात यह, कि पुरुष और स्त्री का जो समान तराजू पर तौल हुआ, उसका प्रभाव हिन्दी पर अधिक पड़ा। यह स्वीकार करने में संकोच नही होना चाहिये कि शरत् के उपन्यासों को टेकनीक एवं मनोविश्लेषणात्मक भावो की व्याख्या का ढंग हिन्दी के अधिकांश औपन्यासिकों ने अपनाया।

'यशपाल' ने आदमी के उस जीवन को अपने उपन्यासों में पकडा है, जो राजनीति के अधिक निकट और अपनी अच्छी-बुरी परिस्थितियो में विवश एवं ध्यस्त है और समाज के आगे उसे इस रूप में रखा, मानों उसके अवैध नियमों का उग्रतम ढंग से विरोध करता हो। उनका यह ढंग क्रांतिकारी भी कहलायगा। 'देशद्रोही', 'दिव्या' आदि उपन्यासों के ठोस धरातल में सामाजिक, भौतिक, राजनैतिक उपादानों को एकत्र किया गया है। चली आती हुई रूढि और संस्कार की निष्प्रयोजनता सिद्ध करने के ख्याल से भी उन्होंने कुछ उपन्यास लिखे। किन्तु उपन्यास की अपेक्षा यशपाल की कहानियाँ अधिक कलात्मक एवं मर्मस्पर्शी तथा यथार्थवादी है।

'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के दोनो भाग हिन्दी-उपन्यास के विकास-स्तभ माने गये है। पहले की अपेक्षा दूसरा भाग अधिक शक्तिशाली है। शेखर की शशि कभी नही भूली जानेवाली महत्त्वपूर्ण पात्री है अनेक असंभावित घटनाओं का केन्द्र। जैनेन्द्र की औपन्यासिक विशेषताओं को

लाँघकर 'अज्ञेय' ने एक नई विशेषता का निर्माण किया। उन्होंने मानवमन की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था की, जिसका स्तर अति गम्भीर है। इससे सर्वथा पृथक् इलाचद्र जोशी के उपन्यासों का अस्तित्व है। फ्रायड की बौद्धिक चेतना से अभिभूत हो, शरत् के कमजोर पात्रो की सहानुभूति में इधर उन्होंने तीन उपन्यास लिखे—'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित'। मध्यवर्गीय जीवन की अब कोई उपयोगिता नही सिद्ध हो रही है। वह चारो ओर की विभीषकाओं से घिरा है और इसीलिए वह भीरु एव अधिक कमजोर है। उसके अतर्भाव का सूक्ष्म प्रदर्शन जोशीजी ने कराया है। मानव-मन के अवचेतन भाव की पृष्ठभूमि मे कौन-कौन-सी अज्ञात प्रेरणाये काम करती है, यह मानों उनका अधिकृत विषय हो। किंतु वे इस अवचेतन भाव की इतनी गहराई दिखाते है कि वहाँ तक पहुँचने का पाठक धैर्य खो देता है। उनके पात्र इस प्रकार अपनी बौद्धिक चेतना में उलझे रहते है कि उनके लिए किसी खास निर्णय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। ऐसा लगता है, मानो वे उद्देश्यरहित हों। परतु जोशी के उपन्यासों ने सिद्ध कर दिया है कि अब हिंदी-उपन्यास का इतना प्रौढ विकास हो चुका है कि साधारण, सस्ती, रूमानी घटनाओं से सयोजित उपन्यासों का युग इनके आगे खडा नही हो सकता। सिर्फ बुद्धि पर आरूढ मानव-मन के चैतन्य भाव का इतना सूक्ष्म विश्लेषण और कही दुर्लभ है। इनके उपन्यास चिरकाल तक अपना प्रभाव रख सकने की पूरी सामर्थ्य रखते है। यथार्थवाद का ठोस प्रमाण, अधिक सवेदनशील भाव, प्लॉट गम्भीर, किंतु रोचक, बिल्कुल नवीन टेकनीक, जोशीजी के उपन्यास के विशेष अग है। परतु 'प्रेत और छाया' का प्रमुख पात्र पारसनाथ या 'निर्वासित' का दिलीप, ये दोनों काफी उलझे हुये, उद्देश्यरहित एव अति दुर्बल पात्र है, जिनकी वजह से उपन्यास का धरातल बहुत ऊँची सतह पर शायद न खडा हो। किन्तु इनके पूर्व 'सन्यासी' अधिक यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक और स्थायित्व की शक्ति लेकर है। 'प्रेत और छाया' का भुजौरिया जी, 'निर्वासित' का ठाकुर लक्ष्मण सिह, ये मध्यवर्ग के ऊपरवाले स्तर पर रहनेवाले, समाज के लिए गलित, घृणित, बदबू से भरे रेंगते फिरनेवाले जहरीले कीडे है।

भौतिकवाद के अवयवों से पुष्ट राजनीतिक वातावरण से प्रभावित, बौद्धिक चेतना के मूलगत मनोविज्ञान से अनुप्रमाणित तथा विश्व-युद्ध-जनित परिस्थितियों से सबद्ध उपन्यासों का निर्माण वर्त्तमानकाल में अधिक महत्त्व देगा। और जोशी के उपन्यास इनका केंद्र माने जा सकते हैं। अज्ञेय और जोशी के उपन्यास किसी भी विदेशी उत्कृष्ट उपन्यास के आगे निस्संकोच रखे जा सकते हैं।

उपेंद्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' घटनाप्रधान इतिवृत्ति के आधार पर वर्णनात्मक उपन्यास है, जिसका नायक 'चेतन' हमेशा परिवर्तित प्रवृत्ति का पोषण एवं अपने असतुष्ट वासना का पुतलामात्र है—यों ही साधारण बातें हैं, जिन्हें अश्कजी ने अच्छे ढग से कह दिया है। कहीं-कहीं उनका व्यर्थ का विस्तार बोझिल बन जाता है।

नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' प्रगतिशील तत्त्वों से निर्मित एक रोचक उपन्यास है। उसकी भूमिका, जो प्रेमचंद की प्रवृत्तियों की एक अच्छी आलोचना कही जा सकती है, विशेष है। अमृतलाल नागर के उपन्यास हमारे जीवन की चलती-फिरती तस्वीरों का एक अलबम कहे जा सकते हैं।

अनेक वादों, राजनीतिक परिवर्त्तनों एवं युद्धजनित परिस्थितियों का हिंदी के सम्मान्य प्रौढ़ लेखकों पर भी प्रभाव पड़ा। भारत की राजनीतिक हलचलों की ओर वे विशेष रूप से आकृष्ट हुए। सस्ते रोमांस से हटकर, सस्ती भावुकता से पृथक् जिन प्रभविष्णु उपन्यासकारों ने परंपरा के प्रतिकूल नई दिशा की मोड़ ली, उनमें यशपाल, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी विशेष उल्लेख्य माने जाने चाहियें।

इनके अतिरिक्त और भी उपन्यासकार आये; किंतु उनकी औपन्यासिक शक्ति अत्यंत दुर्बल कही जा सकती है। उपन्यास लिखना था, इसलिये लिख दिया। देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल', राधाकृष्ण प्रसाद, उषादेवी मित्रा, रांगेय राघव, गंगाशंकर मिश्र, ओंकारनाथ शरद, उदयराज सिंह आदि ने अनेक उपन्यास लिखे; परंतु वे इस प्रकार कुछ सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों एवं छोटी-मोटी रूमानी घटनाओं में उलझे रह गये कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य उनसे गौरवान्वित

न हो सका । यह नहीं कि उनकी कोई आवश्यकता ही नही थी; बल्कि हिन्दी-साहित्य को समृद्ध तथा विस्तृत बनाने में उनका विशेष हाथ था। अचल के 'चढ़ती धूप' और 'उल्का,' रागेय राघव का 'घरोंदे', राधाकृष्ण प्रसाद का 'आदि और अन्त' आदि उपन्यास भी अवहेलनीय नही हैं। शिवचन्द्र का 'तँमुन्ना' गाँधीवादी परम्परा का एक राजनीतिक उपन्यास है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय की सकीर्ण प्रवृत्तियो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। रामचन्द्र तिवारी का 'सागर, सरिता और अकाल' प्रेमचन्द की शैली का एक अन्तिम उपन्यास माना जा सकता है, हालाँकि प्रगतिशीलता के कुछ ऐसे तत्त्व इसमें समाविष्ट है, जो प्रेमचन्द के औपन्यासिक तत्त्व से सर्वथा भिन्न है।

इन उपन्यासकारों ने बुद्धिवाद की सत्ता पर पलनेवाले, सिर्फ इसीमें आवेष्टित मध्यवर्ग के मानव को अपने उपन्यासों का धरातल बनाया। साथ ही, पाश्चात्य साहित्य की शैली को माध्यम बनाकर, बिल्कुल उन्हींकी टेकनिक का रूप देकर अपने उपन्यासों की सृष्टि की। इतना था कि उनका वातावरण भारतीय रहा।

हाल के प्रकाशित उपन्यासों में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', डा० देवराज का 'पथ की खोज', रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला,' भगवतीचरण वर्मा का 'आखिरी दाँव', धर्मवर भारती के 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोडा', राहुल सांकृत्यायन का 'मधुर-स्वप्न', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'जानी, सुनी और देखी' के विभिन्न भाग, द्वारिकाप्रसाद का 'घेरे के बाहर', मोहन-लाल महतो 'वियोगी' का 'शैतान की देन', मुक्तजी का 'पुलिना के पत्र' और 'मधुर भ्रम', शिवचन्द्र शर्मा का 'नया आदमी', वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' विष्णुप्रभाकर का 'ढलती रात,' प्रभाकर माचवे का 'परन्तु', अचल का 'मरुप्रदीप' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के उपन्यास-लेखकों के पास लिखने के लिए बहुत कम अवशिष्ट रह गया है। या तो वे अपने सीमित अनुभवों को रचते हैं या पाश्चात्य उपन्यासों के अनुकरण और ग्रहण के द्वारा अपनी सामग्री के अभाव की पूर्ति का अवाछनीय प्रयास करते हैं।

यो तो 'नदी के द्वीप' औसत भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में महत्त्व का अधिकारी है; किन्तु उसकी विशेषता के लिए लेखक वर्जिनिया उल्फ की शैली और 'बडिज रैपचर' जैसे उपन्यासो की वस्तु का अधमर्ण है। इसी प्रकार दूसरे उपन्यासों में भी अनुभव का दैन्य सबसे बड़े दोष में दीख पड़ता है, यद्यपि भाषा, शली इत्यादि के दोषों का भी कोई अभाव नही है। 'घेरे के बाहर' लेखको और पाठकों के लिए एक चुनौती है, जो सर्वथा अनियन्त्रित होने के कारण कदाचित अपनी सार्थकता खो बैठता है।

हिन्दी का कहानी-साहित्य

कहानी क्या है ?

बीती बातो की सहज अभिव्यक्ति ही कहानी है। जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ आती है, जो थोडे समय के लिए रह-कर भी हमारे लिए अमर बन जाती है और हमारे हृदय पर अमिट निशान छोड जाती है। कहानी उन घटनाओ की विवरणात्मक यादगार है।

हमारे जीवन का प्रत्येक पल अपनी कहानी कहता रहता है; क्योकि प्रतिक्षण-प्रतिपल हमारे मन में इच्छाओ और अरमानो का उत्थान-पतन होता रहता है। जब मन की अवस्था अधिक तीव्र हो उठती है, तब वह प्रकट होना चाहती है, क्योकि मनुष्य अनुभावक होने के साथ ही प्रकाशक भी है। वह अनुभव करता है और अपनी अनुभूतियो को दूसरो के सामने खोलकर रखना चाहता है। 'कम से कम मैंने आज तक यही माना है और अब भी जब-जब कुछ भी देख-सुन अनुभव कर कोई सवेदना मन में घुसती रहती है, या गाँठ पैदा कर देती है, अपने से उस सवेदना को अलग किए बिना रहा नही जाता।'* अंत: कहानी में बाहर की घटना और अन्तर की अनुभूति का योग रहता है।

---

*जनेन्द्रकुमार।

किन्तु प्रेषण का यह कार्य तो उपन्यास भी करता है—उप (निकट) +न्यास (रखना)। तो क्या कहानी उपन्यास का एक छोटा रूप है ? नही, उपन्यास और कहानी में आकार का ही अन्तर नही, वरन् प्रकार का भी अन्तर है।

कहानी और उपन्यास का अन्तर

वस्तु, पात्र, शैली और उद्देश्य—जिस दृष्टि से देखिए, कहानी उपन्यास से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र साहित्याग दीख पड़ेगा। उपन्यास का कथानक प्रायः इतना विस्तृत क्षेत्र ग्रहण करता है, जिसमें सम्पूर्ण जीवन की तस्वीर उतारी जा सकती है। कहानी सम्पूर्ण जीवन को न लेकर उसके एक पहलू को ग्रहण कर जीवन के संक्षिप्त अश की झाँकी देती है। जैनेन्द्रकुमार के शब्दो में 'इस विश्व के छोटे-से-छोटे खड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते है और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते है।'

इसलिए कहानियों को Slices from life (जीवन के टुकडे) कहा गया है। उपन्यास में एक मुख्य कथा के साथ प्राय कई अन्य गौण कथाएँ भी रहा करती है। किन्तु कहानी में केवल मुख्य कथा को ही प्रश्रय मिलता है। उसमें गौण कथाओं के लिए स्थान नही है। अत पाठकों के लिए उपन्यास में जहाँ कई आकर्षण-केन्द्र है, वहाँ कहानी में उनका मन एक ही विन्दु पर टिका रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि कहानी की वस्तु कटी-छँटी, चुस्त-दुरुस्त होने के कारण अधिक कलापूर्ण है और आकर्षण की एकता के कारण उसका प्रभाव भी अधिक तीव्र पडता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की सुप्रसिद्ध कहानी 'हार-जीत' पर विचार करते हुए एक आलोचक ने लिखा था—'आदर्श कहानी वही हो सकती है, जो उस अशर्फी के समान हो, जो साँचे के एक ही दबाव मे तैयार हो जाती है। उसकी टंकार कभी खोटी नही होती; क्योकि उसकी तैयारी में खरी धातु बरती जाती है।

कथानक के अभाव में उपन्यास की कल्पना नही हो सकती। कथानक उसका प्रमुख अंग है। परन्तु कहानी में मासल कथानक का होना अनिवार्य नही है। कितनी ही कहानियों में कथानक होती ही नही। 'कभी-कभी केवल

कुछ मनोरंजक बातों, चुटकुलों और चित्त को आकर्षित करने वाली सूझो के आधार पर ही कहानी की सृष्टि हो जाया करती है।' भाव-प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियो में कथानक नाममात्र का ही हुआ करता है। यदि जैनेन्द्रकुमार की 'पत्नी' में अथवा अज्ञेय की कहानी 'रोज' में हम कथानक ढूंढना चाहें, तो हमें निराश ही होना पडेगा।

कथावस्तु को छोडकर जब हम चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में पदार्पण करते है, तो यहाँ भी कहानी और उपन्यास की भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगत होती है। चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक अपरिहार्य अग है। प्रेमचन्द के अनुसार मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। कहानी के सम्बन्ध में भी उसके ऐसे ही विचार है। किन्तु आज का कहानीकार चरित्र को चरम वस्तु न मानकर हेतु मानता है। इनके चरित्र एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के साधन-मात्र है। जिन कहानियो में चरित्राकन होता है, उनमें भी पात्रो के सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण न होकर उनके चरित्र के किसी विशेष पक्ष का ही चित्रण होता है। अज्ञेय की कहानी 'शत्रु' में लेखक का उद्देश्य ज्ञान के चरित्र का उद्घाटन करना नही है, वरन् उसके सहारे पाठकों को उनकी दुर्बलता से परिचित कराने के लिए अनुकूल परिस्थिति का सृजन करना है। यही बात यशपाल की कहानी 'परलोक' के लिये भी कही जानी चाहिए। 'कौशिक' जी की 'सभ्यता' और सुदर्शनजी की कहानी 'न्याय-मत्री' में चरित्र-चित्रण का प्रयास तो है; किन्तु 'सभ्यता' में पात्रो की उन्ही प्रवृत्तियों का उद्घाटन हो पाया है, जिनका सम्बन्ध चुनाव से है और इस प्रकार 'न्याय-मत्री' में मत्री की न्याय-सम्बन्धी दृढता का ही परिचय मिलता है। साथ ही, यह भी जान लेना चाहिए कि 'कौशिक' जी और सुदर्शनजी—दोनो प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकार है। अत्याधुनिक कहानीकारों में हम चरित्र-चित्रण का प्रयास कम देखेंगे।

शैली की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास में कुछ कम अन्तर नही है। नाटक की भाँति उपन्यास का आरम्भिक अंश भी परिचयात्मक होता है। उसमें भूमिका का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य रहा करता है। विचारों और घटनाओं

की पार्श्वभूमि के रूप में यत्र-तत्र वस्तु का सविस्तार विवरण भी रहता है। इसके आरम्भ में भूमिका और अन्त में उपसंहार के दर्शन होते हैं। उपन्यास का एक निश्चित आरम्भ है और एक निश्चित पर्यवसान। किन्तु कहानी में भूमिका के लिए स्थान नही है।

If his very initial sentence tends not to the outbringing effect, then he has failed in his first attempt.

—Edgar Allan Poe.

वास्तव में एक पक्ति भी कहानी में फिजूल नही रखी जा सकती। संक्षिप्तता कहानी-कला की जान है (brevity is the soul of story-writing)। यही सक्षिप्तता आधुनिक कहानियों में पायेंगे। इसी सक्षिप्तता और साकेतिकता के कारण रूस की कहानियाँ संसार में प्रसिद्ध है। आधुनिक कहानी का आरम्भ आकस्मिक और अन्त हठात् होता है। लगता है, जैसे कहानी बीच से ही आरम्भ हो गई और उसका अन्त भी तभी हो गया, जब उसे हम अधिक उत्कठित हो सुनना चाहते थे।

उपन्यास के शाब्दिक अर्थ, जो पहले निवेदन कर दिया जा चुका है, से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उपन्यास के सहारे लेखक अपने पाठकों के सामने कुछ रखना चाहता है। वह कुछ प्राय: उसका विचार अथवा सदेश हुआ करता है। कला कला के लिए न होकर जीवन को कलित और समुन्नत करने के लिए है। इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि कहानी में विचार अथवा सदेश नहीं रहा करता; किन्तु इतना अवश्य है कि कहानी का सदेश अपेक्षाकृत अधिक साकेतिक हुआ करता है। यही कारण है कि उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहानीकार प्रेमचन्द अधिक सफल है; क्योकि उनके उपन्यासों में कही-कही उपदेशात्मक प्रवृत्ति के नीचे कला कुछ कुठित-सी हो गई है।

जो भेद नाटक और एकाकी में है, वही भेद उपन्यास और कहानी में भी है। एकाकी की भाँति ही कहानी सक्षिप्त हुआ करती है।

कहानी और एकाकी में साम्य

पश्चिमीय परिभाषा के अनुसार कहानी वह रचना है, जो एक बैठक में समाप्त हो जाती है। पो के अनुसार कहानी के पढने में दो घटों से अधिक समय नही लगना चाहिए।

एकाकी और कहानी दोनों में जीवन चाहिए। एकाकी और कहानी दोनों में जीवन के पक्ष-विशेष को ग्रहण किया जाता है। दोनो भूमिका और उपसहार से विमुक्त है। दोनों में चलती और सरल भाषा की प्रधानता रहती है।

'यहाँ तो सरलता में सरसता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखला देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नही होता।'

एक बात और। जब कोई कहानी की चर्चा करता है, तब लगता है कि वह 'गढी बात' कहेगा।[1] यह सही है कि कहानी में कल्पना का अंग यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहता है; किन्तु यह भी सही है कि उस कल्पना का आधार ठोस वास्तविकता ही हुआ करती है। इसलिए कहानी में नाम और स्थान को छोड-कर सब कुछ सत्य है।

कहानी का मूलाधार

इस कहानी की कहानी बहुत पुरानी है।[2] यह सबसे पहले किसकी जुबानी सुनी गयी, नही कहा जा सकता। कुतूहल और जिज्ञासा की प्रवृत्ति मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति के कारण बचपन में हम नानी की गोद में बैठकर परियो की कहानी सुनना चाहते है और इसी प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए हम कहानी गढ़कर अपने मन के अनुकूल

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कथा और आख्यायिका का भेद बतलाते हुए कहा है कि कथा की कहानी कल्पित हुआ करती है और आख्यायिका की ऐतिहासिक—यद्यपि दंडी ने दोनों में भेद नहीं माना है।

तत्कथाख्यायिकेत्येव जाति सशाद्वयांकिता।
अत्रैवाविर्भाविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।

—दंडी

2. "Whatever men do" is a phrase which describes the theme of the story-teller as well as that of the satirist. The most universal of human interests is the interest of man in his

सृष्टि-रचना चाहते है। अतः सृष्टि के आरम्भ के साथ ही गल्प का प्रारम्भ हुआ होगा।

किन्तु कहानी का जो आधुनिक रूप है, उसका आरम्भ अभी हाल में हुआ है। आज भारतीय साहित्य में हम जिन कहानियो को देखते है, उनपर पश्चिम की टेकनिक और कला का प्रभाव है। और, पश्चिम की आधुनिक कहानियों की उम्र भी थोडी है।† शायद कहानी के इस आधुनिक स्वरूप को, जिसमे जीवन की सक्षिप्त झाँकी और मन की एक विशेष अवस्था की स्वाभाविक परिणति रहती है, प्रकाश में लाने का श्रेय जर्मन कलाकार गेटे को है।

कहानी का आधुनिक रूप और उसका आरम्भ

परन्तु यदि हम इन चन्द पश्चिमाक्रान्त वर्षों के उस पार जाकर भारतीय कथा-साहित्य का सिहावलोकन करें, तो देखेंगे कि कथा-साहित्य की अपार समृद्धि भारती के चरणों में पडी है। यूरोप के अनेक विद्वानों की दृढ धारणा है कि कहानी के क्षेत्र में भी भारतवर्ष जगद्गुरु था और ससार-भर में भारतवर्ष से चलकर ही कहानियाँ फैली है। वास्तव में ये कहानियाँ भारतीय वाङ्मय की अमूल्य देन है।

भारतवर्ष का स्थान

---

brother man. We should expect this universal interest to manifest itself early, and to do so first in a direct and simple rather than in an indirect and critical fashion. And this is what we actually find. The literary critic can with reasonable accuracy trace the rise of satire ; but who shall assign an origin to story ? Even the higher criticism would place genesis—comparatively speaking—fairly near the beginning of things.

—Hugh Walker.

†While however, the short story as a form of literature is of immemorial antiquity, that the particular type of it with which we have here to deal, namely the short story told in prose and in the English language is of quite recent growth.

—Hugh Walker.

भारतीय कहानी-साहित्य का प्रारम्भिक रूप

भारतीय कहानी का लिपिबद्ध आरम्भिक रूप वैदिक साहित्य में मिलता है। ये कहानियाँ सम्भाषण या सवाद के रूप में गद्य तथा पद्य में लिखी है। भाषा सादी और कहानी के उपयुक्त है। यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी सम्बन्धी कथाएँ प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा सकती है।

ब्राह्मण और उपनिषदों में भी कहानी का यही रूप मिलेगा; किन्तु इन ग्रंथों की कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक प्रतीकात्मक (Symbolical) है। इन रूपक-कथाओ के अतिरिक्त महाभारत में छोटी-छोटी कहानियों का एक अच्छा खासा भडार मिलेगा। ग्रथकार ने यत्र-तत्र 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहास पुराण' कहकर उदाहरण के बहाने प्राचीन काल के अनेक अति सुन्दर उपाख्यान लिख दिए है। उसमें तीन मछलियों की छोटी-से-छोटी कहानी भी है और नलोपाख्यान जैसी बड़ी-से-बड़ी कहानी भी।

पाली का कहानी-साहित्य

संस्कृत के अलावे पाली-साहित्य में भी कहानियों के अनेक अनूठे और अमूल्य नमूने मिलेंगे। पाली-साहित्य में जातको का एक प्रमुख स्थान है। इन जातको की सख्या ५४७ है। इनमें 'एक-एक पृष्ठ की कहानी और चुटकुलों से लेकर सवा सौ पृष्ठों तक के लम्बे उपन्यासो का सन्निवेश है। जातक प्राचीन भारत के बहुमुखी सामाजिक और धार्मिक जीवन के बोलते चित्रपट है। इनमें राजा-रक, साधु, लफगे, ईमानदार-उचक्के, सयमी-पियक्कड़ सदाचारी-जुआरी, गुरु-शिष्य, वैद्य-रोगी, सती-वेश्या, बधिक-बहेलिया, बढई-राज, सुनार-लुहार—सबका जीता-जागता खाका है, हू-ब-हू हुलिया है। महाभारत और पचतंत्र की बहुत सी कहानियो का मूल जातको में है।' बौद्ध साहित्य का विद्वान् राइस डेविड्स का कहना है कि यूनानी इसप के चुटकुलों का मूल भी जातकों में ही है।

महाभारत, उपनिषद् तथा जातकों की कहानियो का एक विकसित रूप पुराणों में मिलेगा। यहाँ पहुँचकर कहानियों ने एक प्रेमाख्यानी

रोमांटिक रूप धारण कर लिया है, जिसमें अद्भुत कल्पना का प्रचुर पुट है।

वृहत्कथा का स्थान

कहानी के आरम्भिक मध्ययुग की चर्चा करते समय हम 'भारतीय कहानी के महराथी आचार्य गुणाढ्य' को नहीं भूल सकते, जिन्होंने पैशाची भाषा में 'वृहत्कथा' लिखी, जो मनोहर कहानियों का अपूर्व संग्रह है। रामायण, महाभारत और 'वृहत्कथा' वस्तुतः संस्कृत के समस्त काव्य, नाटक तथा कथा के मूल आधार हैं। 'वृहत्कथा' की कहानियाँ कितनी सरस थीं, यह उसकी रचना की कहानी से विदित हो जायगा। कुछ लोगोंके अनुसार गुणाढ्य का समय ईसवी सन् के पूर्व की पहली शताब्दी है। उस समय सातवाहन नामक एक राजा राज्य करते थे। कहा जाता है कि एक बार संस्कृत भाषा की अल्पज्ञता के कारण उन्हें लज्जित होना पड़ा। तब उन्होंने अपने राजपंडित गुणाढ्य को बुलाया और कहा—आचार्य, हमें शीघ्रातिशीघ्र संस्कृत का ज्ञाता बना दीजिए। गुणाढ्य ने गम्भीर होकर कहा—६ वर्ष लगेंगे। एक दूसरा पंडित बोला—६ महीने काफी हैं। गुणाढ्य के पांडित्य को धक्का लगा। वे तनकर बोले—यदि ६ महीने में कोई संस्कृत सिखा दे, तो मैं उसी दिन से संस्कृत लिखना और बोलना दोनों ही छोड़ दूंगा। विधि का विधान। ६ महीने बाद राजा विशुद्ध संस्कृत लिखने-बोलने लगे और गुणाढ्य संस्कृत बोलना छोड़कर नगर से बाहर हो गए। भ्रमण-काल में उनकी भेंट एक गन्धर्व से हुई, जो शापवश पिशाच हो गया था। उस पिशाच कुलोत्पन्न गंधर्व ने एक ऐसी कहानी सुनायी, जिसे लिपिबद्ध करने को गुणाढ्य व्यग्र हो उठे। पिशाचों के बीच कागज और रोशनाई तो अनुपलब्ध थीं; हाँ, चमड़ों, हड्डियों और लहू का अभाव न था। अतः चमड़ों पर रुधिर की स्याही से पैशाची भाषा में 'वृहत्कथा' लिखी जाने लगी। जब कथा पूरी हो गई, तब गुणाढ्य ने सातवाहन के पास उसे भेजा। लोहू और चाम की इस पुस्तक को देखकर राजा ने नाक सिकोड़ ली और तिरस्कार के स्वर में कहा—'का वा वस्तुसार विचारणा' (इनमें विचार

करने योग्य पदार्थ ही क्या हो सकता है?) जब गुणाढ्य ने यह सुना, तो उन्हें बडा कष्ट हुआ। वे उस ग्रथ को आग में डाल देने को उद्यत हो गये। शिष्यों ने एक बार और सुनाने का आग्रह किया। आचार्य एक-एक पृष्ठ सुनाते जाते थे और सुनाने के बाद उसे आग में डालते जाते थे। कथा इतनी सरस और मोहक थी कि पशु-पक्षी खाना-पीना भूल गये और कहानी सुनने में सुध-बुध खोकर संलग्न हो गये। उनके शरीर का मांस सूखकर कठोर हो गया। एक दिन इनके सूखे मास खाने से राजा के पेट में दर्द उत्पन्न हुआ। निदान के सिलसिले में राजा को सब हाल मालूम हुआ। वे दौडकर आचार्य के चरणों पर गिर पड़े। तब तक ६ भाग जल चुके थे; केवल अन्तिम भाग बचा था। राजा केवल उसीकी रक्षा कर सके। दुर्भाग्य है कि इस सातवें भाग का भी मूल रूप उपलब्ध नही है। हाँ, इनके सस्कृत-सस्करण क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा मजरी' और सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' में सुरक्षित है। इन पुस्तको के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वृहत्कथा' की भाषा सरल, सरस और अनलकृत होगी।

विकास

आगे चलकर 'वृहत्कथा' की शैली दो रूपों में विकसित हुई। एक रूप को हम वाणभट्ट की 'कादम्बरी' में पाते है और दूसरे रूप को 'बेतालपञ्चविंशति', 'सिहासन द्वात्रिंशतिका', 'शुक सप्तति' आदि में। 'कादम्बरी' में कथा का ढग तो वही है; किन्तु भाषा ने अलकारो के भूषण पहन लिये है। 'बेताल पञ्चविंशति' आदि में भाषा तो पूर्ववत् सादी है; किन्तु कथाएँ अपेक्षाकृत अधिक रोमाटिक हो गई है।

मुसलमानयुग

मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतीय साहित्य को बडा धक्का लगा। लगता है, मानो कुछ दिनो के लिए साहित्य का सृजन ही रुक गया। महमूद गजनवी (११वी शताब्दी) के समय से ही हिन्दू राज्य हिन्दू-राजाओं के हाथ से निकलने लगे। शहाबुद्दीन गोरी (मृत्यु स० १२६३) के समय से मुसलमानो के पाँव जमने लगे। गुलाम-वश की स्थापना ने पठानी सल्तनत

दृढ़ कर दी। इस प्रकार तेरहवी शताब्दी में उत्तर भारतवर्ष में मुसलमानों का विस्तृत राज्य कायम हो चुका था। इसी समय से भारतीय कहानियों का दूसरा युग आरम्भ होता है। अतः इसके पूर्व के युग को हिन्दू-युग और इस काल को मुसलमान युग कहेंगे। मुस्लिम-संस्कृति के साथ कहानियों की नवीन परम्परा भी आई। अरबवाले 'सहस्र-रजनी-चरित्र' (Arabian Nights) लाये और फारस के सूफी फकीर प्रेमाख्यान लाये। स० १५६६ में कुतुबन ने 'मृगावती' लिखी और स० १५५६ में मंझन ने 'मधुमालती' लिखी। स० १६०५ में जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' को पूरा किया। इन प्रेम-कहानियो के आधार पर अनेकानेक कहानियाँ हिन्दू और मुसलमान लेखकों के द्वारा पद्य में लिखी गयी। इन कहानियों में वर्णित प्रेम आध्यात्मिक है और इनके पात्र प्रतीक मात्र है। धीरे-धीरे आध्यात्मिक प्रेम ने लौकिक रूप धारण किया और १९-वी शताब्दी के मध्य में 'तोता-मैना', 'सारगा-सदावृक्ष', 'गुलबकावली', 'किस्सए चार यार' आदि कहानियाँ प्रकाशित हुई ; क्योंकि इस समय मुद्रण-यत्र का प्रचार होने लगा था। इन कहानियो के लौकिक प्रेम ने कही-कही अश्लीलता को भी छू लिया है। इन प्रेम-कहानियो के अतिरिक्त इस काल मे कुछ हास्य-विनोद-प्रधान कहानियाँ भी लिखी गई थी। 'बीरबल-विनोद' इसका एक उदाहरण है। इन कहानियो में प्रेम और विनोद के साथ ही अलौकिक पात्र और प्रसग की कल्पना भी धड़ल्ले से की गई है। इन कहानियों में वह साहित्यिक रोचकता अथवा रस नही है, जो हिन्दू-युग की कहानियो की विभूति है।

अंग्रेज-काल

इधर १७५७ से ही अग्रेजों के पाँव जमने लगे। १८५७ की क्राति की विफलता के उपरान्त एक प्रकार से सारे भारत में अग्रेजों का आधिपत्य हो गया। और, जैसा पट्टाभि-सीतारमैया ने कहा, इस क्रान्ति की पुनरावृत्ति की सभावना को रोकने के लिए हमारे नये अभिभावकों ने कई हाईकोर्ट स्थापित किए और अनेक कॉलेज तथा स्कूल खोले, जिनमें भारत की नयी पीढी के लोगो-

की अतिरिक्त शक्ति (Surplus energy) इन्ही वस्तुओं में मग्न रहे। कॉलेज के विद्यार्थी अग्रेजी नाटककारों और कलाकारों के सम्पर्क में आने लगे और उनसे उत्प्रेरित होने लगे। प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-कहानी-साहित्य में एक नवीन युग का विधान हुआ।

प्राचीन और नवीन कहानी-काल में अन्तर

इस नवीन युग की कहानियों और प्राचीन काल की कथाओं में बड़ा अन्तर है। आज का युग यत्र-युग है, विज्ञान-युग है। आज सभी के जीवन व्यस्त है। उनके पास लम्बी कथाएँ सुनने का अवकाश नही है। अतः प्राचीन युग के प्रतिकूल अब छोटी-छोटी कहानियाँ अधिक लिखी जाने लगीं। इन छोटी-छोटी कहानियो के लिए सक्षिप्तता और सांकेतिकता की आवश्यकता हुई। इस प्रकार शैली में भी भेद उपस्थित हुआ। 'एक था राजा और एक थी रानी' की भूमिका के साथ कहानी आरम्भ करने का जो पुराना ढग था, वह बदल गया। अब कहानियाँ अति गतिशील रूप में उस स्थान से आरम्भ होने लगी, जो पाठकों को आकर्षित और प्रभावित कर सकें। आज का बुद्धिवादी युग अभौतिक घटनाओं को शंका की दृष्टि से देखता है। इसलिए अब अलौकिक पात्रों ने सबलता और दुर्बलता, खूबियों और खराबियों से युक्त मानवोचित रूप धारण किया। अति मानुषिक घटनाओं की जगह आकस्मिक प्रसंगों को महत्त्व मिलने लगा। मनोरजन ने मनोविज्ञान के लिए जगह खाली कर दी। सम्पूर्ण कहानी का आधार मनोविज्ञान हो गया। इस स्वतन्त्र चिंतन के युग में कहानी के पात्र लेखक के हाथ के बे-जान कठपुतले न रहकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्पदित व्यक्तित्व रखने लगे। कहानी राज-प्रासाद की चहारदिवारी से बाहर निकलकर हमारे जीवन के अंग-प्रत्यंग में घुस गयी। राजा और राजकुमार के अतिरिक्त निचले स्तर के मनुष्य भी कहानी के नायक बनने लगे; क्योंकि आज का युग पीड़ितों का युग है, उपेक्षितों का युग है। 'अस्तु आधुनिक कहानी में राजा और राजकुमार के स्थान पर जुम्मन शेख, अलगू साह, घीसू चमार, मुन्नू मेहतर, महादेव सोनार, सेठ

छंगामल, लहनासिंह जमादार, वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, प्रोफेसर, कवि, क्लर्क, दीवान, मिनिस्टर इत्यादि सभी लोगोंका चित्र उपस्थित किया जाने लगा।'[१] कहानी के विषय का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ, जिसमें पूर्ववर्त्ती पुरुष और नारी के प्रेम के अतिरिक्त अन्य भावों को भी स्थान मिलने लगा। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्राकृतिक प्रभृति विषयों पर कहानियाँ लिखी जाने लगी। नाटकीय व्यंजना भी आधुनिक कहानियों की एक विशेषता है।

हिन्दी-कहानी-साहित्य का प्रारंभ

हिन्दी-कथा-सहित्य के तीन अग्रणी हैं—देवकीनन्दन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी। खत्रीजी ने तिलिस्म, गोस्वामीजी ने प्रेम-कथाएँ और गहमरी जी ने 'जासूस' दिये।

निर्माण-कला

हिन्दी के कहानी-साहित्य में उस दिन विराट् घटना घट गई थी, जिस दिन (जून १९००) 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिन्दी में मौलिक कहानियों का श्रीगणेश हुआ। १९०० ई० से १९१० ई० तक का काल हिन्दी-कहानी-साहित्य का निर्माण-काल है। स्वभावतः इस काल में किसी निश्चित परिपाटी और सर्वमान्य आदर्श तथा शैली का अभाव था। इसलिए अनेक तरह के प्रयोग हुए। अग्रेजी और बगला की अनेक कहानियाँ अनुवादित या रूपान्तरित होकर प्रकाशित हुई। १९०० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई, जिसे हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी होने का श्रेय प्राप्त है और जो शेक्शपियर के 'टेम्पेस्ट' से प्रभावित होकर भी अनेक कारणो से मौलिक है। रामचन्द्र शुक्ल ने पुराने ढर्रे पर 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी लिखी। मैथिली-शरण गुप्त की कहानी 'निन्नानवे का फेर' (१९१०) हितोपदेश की उपदेशात्मक प्रवृत्ति की याद दिलाती है। माधव मिश्र और सूर्यनारायण

---

१. डा० श्रीकृष्णलाल

दीक्षित ने पौराणिक शैली का एक विकसित रूप प्रस्तुत किया। इधर इतिहास-वर्णित घटनाओ के आधार पर वृंदावनलाल वर्मा आदि ने 'राखी-वद भाई' आदि लिखकर ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा चलायी। इस निर्माण-काल की सर्वोत्कृष्ट रचना बगमहिला की 'दुलाईवाली' (१९०७ ई०) है।

प्रयाग की 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिन्दी-कहानियो के निर्माण-काल का आरम्भ हुआ और काशी के 'इन्दु' के प्रकाशन (१९०९ ई०) के साथ उनका विकास-काल प्रारम्भ हुआ। यह काल १९११ ई० से १९२७ ई० तक रहा। इस काल में हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख कहानीकार प्रकाश में आ चुके थे। जयशकर 'प्रसाद' की प्रथम कहानी 'ग्राम' १९११ ई० में 'इन्दु' में छपी। १९१२ ई० में विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेसी' निकली। १९१३ ई० में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की सरस कहानी 'कानो में कगना' प्रकाशित हुई। इसी साल 'कौशिक' जी की कहानी 'रक्षा-वन्धन' निकली। १९१५ ई० में चन्द्रधरशर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' के दर्शन हुए और १९१६ ई० कथा-साहित्य के सम्राट् प्रेमचन्द की कहानी 'पच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त अन्यान्य लेखकों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया, जिनका प्रवेश-काल नीचे उद्धृत है—

विकास-काल

चतुरसेन शास्त्री—१९१४ ई०
रायकृष्ण दास—१९१७ ई०
वालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—१९१८ ई०
गोविन्दवल्लभ पत—१९१९, ई०
सुदर्शन—१९२० ई०
भगवतीचरण वर्मा—१९२१ ई०
उग्र—१९२२ ई०
निराला—१९२३ ई०
भगवतीप्रसाद वाजपेयी—१९२४ ई०

विनोदशंकर व्यास—१९२७ ई०

वाचस्पति पाठक—१९२७ ई०

प्रेमचंद-शैली और प्रसाद-शैली में अंतर

इस काल में हम निश्चित रूप से दो प्रकार की शैली पाते है—प्रेमचद-शैली और प्रसाद-शैली। हमने अपनी पुस्तक 'प्रसाद और उनके नाटक' में निवेदन किया है कि "कहानी के क्षेत्र मे प्रेमचद और 'प्रसाद' एक दूसरे के पूरक थे। एक में व्यक्त घटनाएँ प्रधान है और दूसरे में व्यक्त व्यापार से अधिक अव्यक्त भावना को प्राधान्य मिला है। प्रेमचद जीवन की मोटी साइकोलौजी पर चलनेवाले थे और प्रसाद मानव-हृदय की सूक्ष्म और सुकुमार मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले। एक ने पुरुष-हृदय को पहचाना और दूसरे ने नारी-हृदय के गहन अन्तस्तत्त्वो के स्पष्टीकरण मे अधिक सफलता पायी। प्रेमचद का कथोपकथन नाटकीय है और 'प्रसाद' का कथोपकथन स्निग्ध और कवित्त्वपूर्ण है, जिसमे अध्ययन का आनन्द आता है। एक की भाषा इतिवृति के अनुरूप प्रसादपूर्ण, सजीव, उर्दू के लोच और रवानी से भरी, मुहावरो की चुस्ती और कलाम की सफाई से युक्त है, दूसरे की भाषा एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाँति धीर व्यक्तित्व लिए खड़ी है। प्रेमचन्द छोटे-छोटे वाक्यों में जो सूक्तियाँ देते है, वे निजी अनुभव की देन होने के कारण हृदय पर पत्थर की लकीर की भाँति अमिट प्रभाव छोड़ती है। 'प्रसाद' रह-रहकर अपनी रसात्मक पंक्तियों में जो कोमलतम भाव भरते है, वे हमारे प्राणों में मधु घोल देते है और हममें सरूर भर देते है। प्रेमचन्द की कहानियों में एक डिजाइन है। वे एक निश्चत गति से आरम्भ होती है और एक निश्चित परिस्थिति में उनका पर्यवसान होता है, जहाँ पाठक की सारी जिज्ञासाएँ एकबारगी शान्त हो जाती है। 'प्रसाद' की कहानियो का अन्त आकस्मिक होता है। वे पाठक को शान्ति देने की जगह उनमें भावोत्तेज भरती है।"

इस काल के सबसे अधिक लोकप्रिय कलाकार प्रेमचन्दजी है और

इस युग की सबसे उत्कृष्ट कहानी है गुलेरीजी की 'उसने कहा था'।

१९२८ ई० से हिन्दी-कहानी-साहित्य के अत्याधुनिक युग का आरम्भ होता है। यदि मौलिक कहानियों का श्रीगणेश करने का श्रेय 'स्वरस्वती' को है और उन्हें विकसित करने का 'इन्दु' को, तो इन कहानियो को अत्याधुनिक रग में रँगने और कहानी-साहित्य में एक नवीन युग के विधान करने का गौरव 'विशाल भारत' और 'हस' को प्राप्त होता है। इस युग के सबसे अधिक प्रिय कलाकार जैनेन्द्र की प्रथम कहानी 'खेल' १९२८ ई० में 'विशाल भारत' में छपी। उसी साल चन्द्रगुप्त विद्यालकार की पहली कहानी भी 'विशाल भारत' में ही छपी। भगवतीचरण वर्मा की पहली कहानी यद्यपि १९२१ में ही छपी थी; किन्तु वास्तव में उनकी कहानियो (जिनमें उनके व्यक्तित्व की छाप है) का सिलसिलेवार प्रकाशन १९३१ से आरम्भ हुआ। इसी प्रकार 'अज्ञेय' की पहली कहानी १९२४ में छपी; किन्तु वह उनका एक बाल-प्रयास था। उसमें न तो वह प्रौढ़ता थी और न वह विद्रोह-भावना, जो हम १९३० के आन्दोलन के उपरान्त प्रकाशित कहानियो में पाते हैं। आज के 'अज्ञेय' के दर्शन वस्तुत. १९३२ से होने लगे। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की पहली कहानी १९३३ में 'हंस' में प्रकाशित हुई। विद्रोह-भावना, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, आध्यात्मिक पुट और भाषा का प्रौढ़ घरेलूपन इस काल की कहानियों की विशेषताएँ हैं। सक्षिप्तता और साकेतिकता उनकी शैली के विशेष गुण हैं। कथानक की मासलता का अभाव भी इन्हें पूर्ववर्त्ती कहानियों से अलग करता है। जैनेद्र की कहानियो में हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोवृत्ति का विश्लेषण मिलेगा। कम-से-कम पात्रों के सहारे जीवन के किसी अग-विशेष की उद्दीप्तता की झाँकी देना और घरेलू भाषा तथा कतिपय वाक्यो में गहन-से-गहन भाव को प्रकट कर देना कोई जैनेन्द्र से सीखे। हाँ, उनकी कहानियो में जो आध्यात्मिक अन्तर्धारा बहती रहती है, वह अभी अस्पष्ट है और इस कारण उनकी कहानियों में धुंधलापन बना रहता है। शैली की दृष्टि से आपकी तुलना चेखव से की जा सकती

अत्याधुनिक काल

है। आपकी कहानियों में जो 'मनोलोक का छाया-प्रकाश' है, वह जेम्स ज्वाइस और लौरेन्स की याद दिलाता है।

'अज्ञेय' की कहानियों में प्रचण्ड विप्लव है और उनकी कला में अपूर्व बल। जैनेन्द्र भावात्मक अधिक है, सत्तात्मक कम। 'अज्ञेय' सत्तात्मक अधिक है, भावात्मक कम। नवीन शैली और विधान दोनों में है; किन्तु जैनेन्द्र में दार्शनिकता अधिक है और 'अज्ञेय' में कला के प्रति मोह।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों का असतोष और व्यग बड़ा तीव्र है। भाषा की सजीवता भी अन्यतम है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार 'फार्म' की ओर अधिक आकृष्ट है। उन्हें कहानियों के नवविधान में सफलता भी खूब मिली है। 'क ख ग' नामक कहानी में जीवन के तीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। 'एक सप्ताह' में हफ्ते-भर की चिट्ठियो के सहारे कहानी लिखी गई है और 'चौबीस घटे' में एक दिन के भूकम्प का दृश्य अकित किया गया है।

शिवपूजन सहाय की कहानियाँ बड़ी सजीव होती हैं। चरित्र-चित्रण की सजीवता के अतिरिक्त भाषा की विशुद्धता और रवानी दर्शनीय है। ओजपूर्ण कहानी लिखने में तो आप सबसे आगे हैं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियो का सबसे बडा आकर्षण है राजा साहब की शैली की मिठास। बँगला के क्षेत्र से आने के कारण उनकी आरम्भिक कहानियों में बगीय भावुकता की झलक है। जनार्दन झा 'द्विज' की कहानियों में काव्य का पुट और करुणा की सजल अभिव्यक्ति है। बेनीपुरीजी जनता के कहानीकार हैं। स्वभावतः उनकी कहानियों में पीड़ित जनों का क्षुब्ध हाहाकार है। इधर जेल में आपने बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं और उन्होंने स्वय मुझे एक दिन बतलाया कि इन कहानियों में झोपडी के रुदन को कला का रूप दिया गया है। यशपाल जजीर में वँधी मानवता की छटपटाहट प्रकट करने में विशेष कुशल हैं। काल-क्रम से जड़ हो जानेवाली मान्यताओ के प्रति विद्रोह का स्वर भी तीव्र है। अधिकाश कहानियाँ 'सेक्स' प्रधान हैं। राधाकृष्ण हास्य और व्यगपूर्ण कहानियाँ

लिखने में सबसे आगे है। अन्नपूर्णानन्द 'कल की बात' खूब लिखते हैं। महादेवी वर्मा और वियोगीजी सस्मरण लिखने में बेजोड़ हैं। उग्र की शैली बेपनाह है। अन्य कवियो ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। पत, निराला और सियारामशरण गुप्त विशेष उल्लेखनीय है। लेखिकाओ में शिवरानी प्रेमचन्द, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा और होमवती देवी प्रसिद्ध हो चुकी है। मुसलमान लेखको में प्रो० अहमद अली और सज्जाद जहीर प्रमुख है।

इधर ख्वाजा अहमद अब्बास और कृष्णचन्द्र की कहानियाँ विशेष लोकप्रिय हो चली है। कृष्णचन्द्र की 'वह आदमी जो मर चुका', 'पेशावर एक्सप्रेस' आदि कहानियाँ और अब्बास की 'सरदार साहब' कहानी अत्याधुनिक कहानियो के मील-स्तम्भ -सी है।

अन्य लेखको में सर्वश्री वियोगी, नलिनविलोचन शर्मा, प्रफुलचन्द्र ओझा 'मुक्त', नरेश, नर्मदेश्वर प्रसाद, विश्वमोहन सिनहा, कृष्णनन्दन सिनहा, राधाकृष्ण प्रसाद, शिवचन्द्र शर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

नवोदित लेखको की बाढ-सी आ गई है। यह शुभ है।

हिन्दी का निबंध-साहित्य

निबध और व्यक्तिगत निबन्ध—सस्कृत शब्द 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ 'बाँधना' या 'सँवार कर सीना' है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रथों के बाँधने या सीने के प्रसग में इस शब्द ने रूप ग्रहण किया। इसी परिवार का एक दूसरा शब्द 'प्रबन्ध' भी अति प्राचीन है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दोनो ही बन्धन के द्योतक है; पर व्यवहार में 'प्रबन्ध' का क्षेत्र निबन्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक रहा और उसमें अनेक मतो का सग्रह होता रहा। 'हिन्दी शब्द-सागर' ने भी इस शब्द का अर्थ 'वह व्याख्या' माना है, 'जिसमें अनेक मतो

का संग्रह हो'। इस परिवार का तीसरा शब्द है 'लेख', जिसका मूल अर्थ 'लिखा हुआ' होता है। यों अंग्रेजी Essay, Treatise और Article के लिए क्रमशः निबन्ध, प्रबन्ध और लेख का प्रयोग हो सकता है; पर व्यवहार में उपर्युक्त सभी प्रकार के गद्यविधानों को निबन्ध कह दिया जाता है। सो, 'निबन्ध' आज एक बहुव्यापक शब्द बन गया है। ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-उपनिषद्, साहित्य, राजनीति इत्यादि किसी भी विषय पर प्रस्तुत भाव-गुंफन को निबन्ध कह सकते हैं। पोप की आलोचनात्मक छदोबद्ध रचना और भारतेन्दु के भाषण तक को निबन्ध की सज्ञा मिल चुकी है।

किन्तु अब पाश्चात्य साहित्य में 'निबन्ध' (Essay) शब्द वैयक्तिक अनुभूतियो पर आश्रित एक ऐसे गद्यविधान के लिए रूढ़ हो गया है, जिसे व्यक्तिगत निबन्ध (Personal Essay) कहते हैं। मराठी में 'व्यक्तिगत निबन्ध' के लिए 'ललित निबन्ध' का प्रयोग चल पड़ा है। प्रो० फडगे का 'नवें लेंणे' ऐसे ही 'ललित निबन्धो का प्रसिद्ध संग्रह है। 'अंग्रेजी विश्वकोश' (Encyclopaedia Britannica) में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'साहित्यिक रूप के लिहाज से निबन्ध औसत लम्बाई की साधारणतः गद्य में की गई एक ऐसी रचना है, जिसमें किसी विषय पर सरल एव स्वच्छद ढंग से विचार किया गया हो और जिसमे विषय का प्रतिपादन उसी रूप में किया गया हो, जिस रूप में उसने लेखक को प्रभावित किया है।"[१] इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट होती हैः एक तो यह कि व्यक्तिगत निबन्ध आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है, न कि वस्तुनिष्ठ (Objective) और दूसरी यह कि प्रतिपाद्य वस्तु की गौणता के कारण प्रतिपादन-शैली मुख एव स्वच्छद होती है।

इस प्रकार के गद्यविधान का आरम्भ फ्रांस में हुआ और उस देश के

---

1. As a form of literature, the essay is a composition of modest length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject and in strictness, with that subject only as it affects the writer.

विख्यात साहित्यकार मॉनटेन (Montaigne) इसके आदि लेखक हुए। मॉनटेन ने ऐसे निबन्धों को 'आत्मा के सवाहन का प्रयत्न'[1] कहा है। उन्होंने निबन्ध को आत्मा का संवाहन कहकर उसकी आत्मनिष्ठता को आत्मकथा की कोटि में ला दिया है। अपनी सफाई में वे कहते हैं कि 'अपने निबन्धों का विषय मैं ही हूँ; क्योंकि मैं ही तो एकमात्र वह व्यक्ति हूँ, जिसे मैं भली-भाँति जानता हूँ।'[2] इस प्रकार मॉनटेन के अनुसार निबन्ध का उद्देश्य केवल आत्म-निवेदन है। इस आत्मनिवेदन की प्रक्रिया में कोई-कोई मन स्थिति (Mood) काम करती है। उसी मन स्थिति के अनुरूप निबन्ध व्यंग्यपूर्ण, विनोदात्मक अथवा गम्भीर हो जाता है। लेखक की इस मनोदशा और उससे उत्पन्न लेखक की आत्मनिष्ठा, स्वाभाविक एवं स्वच्छद पद्धति को ध्यान में रखकर अंग्रेजी के समर्थ आलोचक और निबन्धकार डा० जॉनसन ने निबन्ध को 'एक शृंखलित एव सुव्यवस्थित रचना' न मानकर उसे 'मन का एक हठात् अस्तव्यस्त आक्रमण' तथा 'एक अव्यवस्थित अधपका सदर्भ कहा है।'[3] निबन्ध में आत्मचिंतन की प्रधानता होती है, आदर्श वा सदेश का आग्रह नही। इसी तत्त्व को ध्यान में रख-कर किसीने निबन्ध को 'भोजनोपरान्त का स्वगत' (After-dinner monologue) और किसीने निबन्धकार को 'आराम कुर्सी में पौढ़ा हुआ दार्शनिक' (Philosopher in an easy-chair) कहा है। थैकरे ने इस प्रकार के निबन्ध को 'चक्करदार लेख' (Round-about paper) कहा है; क्योंकि वह वर्ण्य विषय को केन्द्र में रखकर विशेष मनोदशा में स्थित व्यक्तित्व के सहारे विषय के चारों ओर दूर-दूर तक चक्कर काटता रहता है। निबन्धकार बेकन के 'बिखरे चिंतन' (Scattered meditation) को इसी मानी में समझा जा सकता है। 'निबन्ध की विशेषता उसके वर्ण्य विषय में

---

1. These essays are an attempt to communicate the soul.
2. I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly.
3. The essay is a loose sally of the mind, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition.

नहीं, क्योंकि कोई भी विषय उसके लिए पर्याप्त होगा, वरन् लेखक के व्यक्तित्व-आकर्षण में है।'[1] प्रीस्टले के शब्दों में 'निबन्धकार का विषय होता ही नहीं। ससार में जितने भी विषय सभव है, सभी उसके बन्दे है। इसका साधारण कारण यह है कि लेखक का काम अपनी या अपने विषय के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करना है।'[2] वह निबन्ध के एक-एक मुहावरे को व्यक्तित्व में पगा देखता है।[3] आत्मनिवेदन की यह भावना, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति अथवा मन.स्थिति की प्रधानता निबन्ध को गीतिकाव्य के निकट ला देती है। इसलिए निबन्ध को 'गद्यगीत' (Lyric in prose) भी कहा गया है। स्मिथ ने निबन्ध से गीतिसाम्य पर विचार करते हुए लिखा है कि 'साहित्य-रूप के विचार से निबन्ध गीतिकाव्य से मिलता-जुलता है, उस हद तक, जिस हदतक वह किसी केन्द्रीय मन.स्थिति-प्रक्षेप, गम्भीर अथवा व्यगपूर्ण से उत्प्रेरित रहता है। मनःस्थिति को रूप दीजिए और निबन्ध प्रथम वाक्य से अन्तिम तक उसके चतुर्दिक उठ खड़ा होगा, जैसे रेशम के क़ीड़े के चारों ओर रेशम उगता जाता है'।[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक निबन्ध की पाश्चात्य व्याख्या पर विचार करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों

---

1. The point of the essay is not the subject, for any subject will suffice, but the charm of personality—A. C. Benson.

2. But the real essayist has no subject or if you will, hpe every subject in the world at his command, for the simess reason that his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself.

3. The true essay approximates to familiar talk and the essayist is the brilliant and self-revealing conversationalist whose every phrase is salted with personality.

4. The essay as a literary form resembles the lyric, in so far as it is moulded by some central mood—whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay from its first sentence to the last goes round it, as the cocoon grows around the silk-worm.

के अनुसार निवन्ध उसीको कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।'

निबंध की विशेषताएँ—ऊपर की व्याख्याओं और परिभाषाओं के आधार पर स्थूल रूप से अब निवन्धों की विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। मोटे तौर पर वे विशेषताएँ निम्नलिखित है—

१ व्यक्तिगत निवन्ध में निवन्धकार के व्यक्तित्व की सर्वथा प्रधानता होती है। निवन्ध आत्मनिष्ठ होता है।

२. इसमें किसी-न-किसी मन.स्थिति की प्रेरणा रहती है।

३ व्यक्तित्व और मन:स्थिति की दूरी से लिखित होने के कारण निवन्ध में विषय के विकास-क्रम और विचारों की शृखला का अभाव रहता है और मन स्थिति के अनुरूप गम्भीरता, व्यंग्य, विनोद इत्यादि रागात्मक तत्त्वों का वाहुल्य।

४. इसमें शैली की प्रधानता रहती है और उस शैली में कृत्रिम उपादानों का वहिष्कार एव वातचीत के ढग की स्वीकृति रहती है।

५. इसका आकार-प्रकार महाकाव्य एव उपन्यास से न मिलकर शब्द-चित्र (Sketch) अथवा गीति (Lyric) से मिलता-जुलता है।

पश्चिम में व्यक्तिगत निवन्ध का विकास-क्रम—१५७१ ई० निबन्ध-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण तिथि है; क्योकि उसी साल मार्च महीने में फ्रास-निवासी मॉनटेन ने पहला व्यक्तिगत निवन्ध लिखा था। मगर जिस निवन्ध का आरम्भ फ्रास में हुआ, उसका विकास हुआ इगलैंड में। इस सम्वन्ध में फ्रांस के एक साहित्यकार आरलो विलियम्स ने एक वडी महत्त्वपूर्ण वात कही है। उसने कहा है कि फ्रास के निवासियो के स्वभाव की अपेक्षा इङ्गलैंड के निवासियो का स्वभाव निवन्ध-लेखक की मनोवृत्ति के अनुकूल है। अंग्रेजी के प्रथम निवन्धकार होने का श्रेय वेकन को है। पर, मॉनटेन की तरह वे प्रतिपाद्य विषय को सर्वथा गौण नही रख सके। वेकन के निवन्ध गवेषण, विवेचन, तर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण से भरे है। उनमें व्यक्तित्व की प्रधानता

नही है। मॉनटेन साहित्यिक थे, बेकन विचारक। इस कारण बेकन के निबन्धों में मॉनटेन की आत्मीयता नही आ सकी। मॉनटेन में अनुभव है, बेकन में अनुशीलन। कॉउले और विलियम टेम्पेल अवश्य मॉनटन के पथ पर चले। डा० जॉनसन अंग्रेजी निबन्ध-साहित्य में एक नया दिशा-निर्देश लेकर आये। वे स्वभाव से गम्भीर थे। गम्भीर निबन्ध लिखते-लिखते वे बोलचाल को भी गम्भीर बना चुके थे। स्टील और एडीसन की जोड़ी को भी नही भुलाया जा सकता। अपने समय के ये अत्यन्त लोकप्रिय निबन्ध-लेखक थे। दोनों ने अपने निबन्धों में चरित्र-चित्रण और चारित्रिक समस्याओं को विशेष महत्त्व दिया। दोनों में हास्य-व्यंग्य की सजीवता थी और दोनों की शैली में बातचीत की स्वाभाविक लय भी थी। एक प्रकार से १७ वी और १८ वी शताब्दियों के समस्त निबन्धों में सामान्यरूप से कथात्मकता, चारित्रिक विवेचन और सुधार-प्रवृत्ति की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। १९वी शताब्दि अंग्रेजी निबन्ध-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काल कहा जाता है। इस काल के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक हैं —राबर्ट लुई स्टीवेन्सन, गोल्डस्मिथ, हैजलिट, ले हण्ट, इमर्सन, चार्ल्स लैम्ब, मैथ्यू आर्नल्ड, मैकाले इत्यादि। स्टीवेन्सन इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध को प्रभावित करनेवाले प्रथम श्रेणी के निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्धो में अनुभूति-विह्वल व्यक्तित्व की मोहक अभिव्यक्ति हुई है। गोल्डस्मिथ जिस पथ पर चले, उसमें अनेक संभावनाएँ थी; पर उनके उद्‌घाटन का श्रेय, उस पथ को अत्यन्त परिष्कृत रूप में उपस्थित करनेवाले चार्ल्स लैम्ब को मिला। स्वप्नों और कल्पनाओं को सत्यवद् अनुभव करानेवाली निश्छलता से लैम्ब ने अपने समय के पाठकों को चमत्कृत कर दिया था और वस्तुतः लैम्ब की यह उपलब्धि अन्यतम है। हैजलिट और ले हण्ट दोनों एक ही समय साहित्य में उतरे। मगर हैजलिट निराला निकला। उसके निबन्ध 'आत्मकथात्मक' तो थे; पर मधुर नही। उसमें दार्शनिकता भी थी और रोषपूर्ण चोट भी। वह एक ओर बेकन था और दूसरी ओर लैम्ब। अंग्रेजी निबन्ध-लेखकों के राजकुमार लैम्ब की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ उसे नही मिली; पर उसकी आभापूर्ण शैली भी

दूसरो को न मिल सकी। ले हण्ट ने भी अनेक प्रयोग किये। इमर्सन, मैथ्यू आर्नल्ड और मैकॉले प्राचीन आदर्शों के निकट होते हुए भी भावुकता और वैयक्तिक कल्पनाओं के कारण आधुनिक वने रहे। मैकॉले ने अपेक्षाकृत वड़े-वड़े निबन्ध लिखे।

परवर्ती काल के निवन्धकारो में एच० जी० वेल्स, जी० के० चेस्टरटन, इ० वी० ल्यूक्स, लास्की, लिण्डमैन, गार्डिनर, प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-निबन्धों का विकास—हिन्दी-निबंधो का आरम्भ-काल भारतेन्दु-युग है। भारतेन्दु-काल के प्रमुख निवन्धकार हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प०बालकृष्णभट्ट, उपाध्याय वद्रीनारायण 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, वावू वालमुकुन्द गुप्त, प० राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास, वावू तोताराम, मुशी ज्वाला प्रसाद, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट इत्यादि। भारतेन्दु वावू इस युग के पारस थे। युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियो में उनका ही व्यक्तित्व था। उन्होने अनेक प्रकार के विचारात्मक, वर्णनात्मक और भावात्मक लेख लिखे। उनके नाटकों की तरह उनके निवन्धो में भी उनकी मार्मिक आत्मकथा प्रतिभासित है। दुराव-हीनता भारतेन्दु के निवन्धो की विशेषता और आकर्षण है। 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' कथात्मक प्रणाली के साथ स्वप्न-शैली को (जिसमें स्वप्न के माध्यम से मन के उच्छ्वास का चित्रण होता है) उपस्थित करता है—एडीसन के 'दी विजन आफ मिरजा' की तरह। प० वालकृष्ण भट्ट और प० प्रतापनारायण मिश्र की युगलमूर्त्ति अग्रेजी के एडीसन और स्टील को याद दिलाती है। स्टील और एडीसन की तरह ये दोनों भी पत्रकार थे। यदि उनका सम्बन्ध 'स्पेक्टेटर' से था, तो इनका 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' से। ह्यु ज वाकर ने कहा था कि एडीसन में बौद्धिकता की प्रधानता है और स्टील में हृदय-पक्ष की। तुलना यहाँ भी सटीक उतर आती है। भट्टजी में मस्तिष्क का तर्क प्रबल है, मिश्रजी मे हृदय-पक्ष। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही भट्ट

जी की तुलना एडीसन से और प्रतापनारायण मिश्र की स्टील से की थी। उन्नीसवी शताब्दी के अधिकाश लेखक पत्रकार थे या पत्रों में लिखनेवाले थे। और, यदि ठीक-ठीक कहा जाय, तो उनकी रचनाएँ 'लेख' ज्यादा है, 'निबन्ध' कम।

हिन्दी में 'निबन्धो' के आरम्भकर्त्ता सही मानी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र है। भट्टजी ने साधारण-से-साधारण विषयो —जैसे नाक, कान, आँख, पैसा, नही, बातचीत, इङ्गलिस पढै सो बाबू होय, पसद, माँ, आँसू, इत्यादि से लेकर असाधारण-से-असाधारण विषयों, जैसे 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर है,' 'ईश्वर भी क्या ही ठठोल है,' 'भकुआ कौन-कौन है' इत्यादि तक बड़े ही आत्मीय और विशिष्ट ढग से लिखा है। उनके निबन्धों में शब्द-चित्र का चमत्कार, अनोखी सूझ और भाषा का चमकदार प्रवाह है। उन्होने निबन्धो के अनुरूप शब्द और मुहावरे गढ़े भी थे, जैसे 'सुन्दरापा', 'बेजनावट', 'मरपच साहित्य,' 'टटके-टटके' इत्यादि। प० प्रतापनारायण मिश्र एक फक्कड़ जीव थे; पर जाननेवाले जानते है कि उनका यह फक्कड़पन कितनी विपदाओं से घिरा था। उनका यही स्वभाव उनके निबन्धों में उतर आया है। चाहे 'मनोयोग', 'हमारी आवश्यकता', 'नारी' आदि जैसे गम्भीर विषय हों, चाहे 'घूरे के लत्ता बिनै,' 'होली', 'आप', 'तिल,' 'भौं', 'और' आदि जैसे समसामयिक और काल्पनिक विषय हों, हास्य और विनोद की फुलझड़ियाँ और फव्वारे बीच-बीच में पाठकों को लोट-पोट कर ही देंगे। स्टील की तरह तर्कों के बीच उनकी हार्दिकता उमड़-उमड आती है। इसके अतिरिक्त उनके निबन्धों में व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की दो अन्य विशेषताएँ मिलेंगी। एक तो यह कि वे अपने निबन्धों के विभिन्न नामधारी पात्रों में स्वय उपस्थित रहते है और इस कारण सर्वत्र आत्मीयता बनी रहती है तथा दूसरी यह कि उनकी भाषा का स्वच्छद प्रवाह लोक-जीवन के मुहावरों और रोजमर्रो के सहारे पाठको को निकट ले आता है और रचना को एक स्थानीय रग दे जाता है। 'धोखा', 'होली' इत्यादि निबन्धो में भावो और विचारों के चक्कर (diversion) भी खूब है।

'प्रेमघन' के निवन्ध अपेक्षाकृत कम और वर्णनात्मक है, जैसे पावस ऋतु-वर्णन, फाल्गुन इत्यादि। हाँ, बीसवी शताब्दि के आरम्भ में वालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भू शर्मा के नाम से 'भारतमित्र' में चिट्ठे लिखकर निवन्ध को एक नयी गति दी। उनके निवन्ध 'शिवशम्भू के चिट्ठे और खत' के नाम से पुस्तकाकार छपे है। इन निवन्धो में उनका व्यतिगत मौजी और मस्ताना दृष्टिकोण दर्शनीय है। उनके अनुकरण में हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओ में व्यंग्य-विनोद-पूर्ण पत्रों और चुटकुलों की एक परिपाटी-सी चल पडी और आज तक वदस्तूर चल रही है।

वीसवी शताब्दि का आरम्भ द्विवेदी-काल से होता है। इस काल के प्रमुख लेखक है आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० पद्मसिंह शर्मा, प० माधव मिश्र, प० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', श्री गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय इत्यादि। इस काल के निवन्धों और भारतेन्दु-काल के निबन्धो में विशेष अन्तर नही। हाँ, इस युग के निवन्ध पूर्वकालीन विनोद के स्वर को छोडकर निश्चयात्मकता एव विवेचनात्मकता को अगीकार करने लगे है और, साथ ही, इनकी भाषा भी स्थिर-सी है। द्विवेदीजी के निबन्ध-विचारात्मक एव व्यासशैली में लिखे गए है। आपने करीब २५० निवन्ध लिखे है। इतने निबन्ध अव तक किसीने भी नही लिखे थे। उनके निवन्धो के सग्रह है, 'विचार-विमर्श', 'रसज्ञ-रजन', 'रेखाजलि', 'समालोचना समुच्चय', 'आलोचनाञ्जलि' इत्यादि। प० पद्मसिंह शर्मा एक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध रहे है और प्रायः कृत्रिम शैली के प्रसग में उनका उदाहरण दिया जाता है। पर, यही शैली उनकी विशिष्टता है। इसमें जगह-जगह बडी चचल भगिमाएँ है। उनके निवन्धो का सग्रह 'पद्मपराग' है। गुलेरीजी के निबन्ध 'छुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' प्रसिद्ध है। गुलेरीजी शैली के चटपटापन से नीरस विषयों में भी जान डाल देते थे। वे विवेचनात्मक निबन्धो में भी हास्य और शास्त्रीयता का अद्भुत मिश्रण कर देते थे। गहमरीजी ने उपन्यासों के साथ कुछ निवन्ध भी लिखे है, जो भावात्मक है। उनके निबन्धों

की विशेषता विषयानुरूप भाषा है। व्रजनन्दन सहाय के निबन्धों में अनुभूति की वह तन्मयता है, जो पाठको को भावविभोर कर देती है। उनके निबन्धों में काव्य की तरंगें उठती रहती है।

परवर्त्तीकाल के निबन्धकार है रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पूर्ण सिह, धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र कुमार, गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीकान्त झा, माखनलाल चतुर्वेदी, डा० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, केसरी कुमार, दिनकर, श्रीनरेश, शिवचन्द्र शर्मा, डा० रघुवीर सिह इत्यादि। शुक्लजी और श्यामसुन्दर दास से तो सभी परिचित होंगे। पूर्ण सिह ने थोड़ा लिखा है; पर जो कुछ लिखा है, हृदय की सजलता से। उनके निबन्धों में भाषा जैसे आत्मा से छनकर निकली हुई है; वह काव्यात्मक और फिर भी अनिवार्यतः स्वाभाविक है। उनके निवन्धों का अन्तरग आध्यात्मिक भावुकता से बना है। गुलाबरायजी का निबन्ध-सग्रह 'मेरी असफलताएँ' व्यक्तिगत निबन्धों का एक अच्छा सग्रह है। बख्शीजी का भी हिन्दी के व्यक्तिगत-निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। 'दूर के ढोल सुहावने', 'क्या लिखूँ', 'रामलाल पडित', 'नहीं', इत्यादि उनके महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत निबन्ध हैं। बख्शीजी के निबन्धों में प्रायः दो विरोधी बातों का आश्चर्यजनक समन्वय मिलेगा, व्यग्य, पर कटुता नही; तथा गीतिकाव्य की भंगिमा पर पहले दर्जे की सरलता। सियारामशरण गुप्त भी उत्कृष्ट व्यक्तिगत-निबन्धकार है। हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन उनका निबन्ध-संग्रह 'झूठ-सच' है। इन निबन्धों में कहानी का वस्तु-आकर्षण, कविता का उच्छ्वास और उपन्यास का विस्तार है। सब मिला-जुलाकर ये निबन्ध बड़े सफल और मनोरम हो गए है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्धसग्रह 'अशोक के फूल' भी अपने ढंग का अनूठा है; द्विवेदीजी उन विरले व्यक्तियों में है, जो संस्कृत गलाकार हिन्दी को सँवार सके है, जिन्हें सस्कृत के

ज्ञान-भडार से ही नही, अपितु शैली से भी वल मिला है। अनुभव और अध्ययन का ऐसा मेला शायद ही कही मिले। चुटकुले, संस्मरण और काव्य का संयोग भी विचित्र है। और, सबके भीतर से उभड़नेवाला मार्मिक विवेचन जैसे निवन्धों का जलपूर्ण आकाश है। जैनेन्द्रजी के विनन्ध लगभग सवके सब व्यक्तिगत हैं; क्योकि चाहे कैसा भी निबन्ध हो, वे उसे कहानीकार की मुद्रा में लिखेंगे, जैसे वे किसी से वात कर रहे हों। प्रभाकर माचवे का हाल में प्रकाशित व्यक्तिगत निवन्धों का सग्रह 'खरगोश का सीग' है। शिवपूजनजी 'मतवाला' में 'अगिया वैताल' के छद्मनाम से जो हास्य-विनोद-व्यग्य-पूर्ण निवन्ध लिखते रहे, उनका एक संग्रह 'दो घडी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। शिवजी की शैली में वह काट है, जो लेखक की प्रभुता वतलाती है। मस्ती, अनुभूत भाव और वर्णन की सटीकता इन निवन्धों की विशेषताएँ है। लक्ष्मीकान्त झा ने तो हिन्दी को व्यक्तिगत निवन्ध की एक नयी शैली देने का दावा किया है; क्योंकि अपने निवन्ध-संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'इन निवन्धो के द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली का प्रयोग किया है। ये निवन्ध उस शैली के हैं, जिसमें अंग्रेजी के व्यक्तित्वप्रधान निवन्ध हुआ करते हैं।' माखनलालजी अपने निवन्ध-सग्रह 'साहित्य-देवता' में अन्योक्ति पद्धति पर लिखे गए निवन्धो के रचयिता के रूप में आये है। डा० दिवाकर-प्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, श्रीनरेश और शिवचन्द्र शर्मा ने व्यक्तिगत निबन्ध थोड़े लिखे हैं; पर जो लिखे हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और हिन्दी के लिए दुर्लभ है। इधर के प्रकाशनों में दिनकर के 'अर्द्धनारीश्वर' तथा वेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाव' को ध्यान में रखा जा सकता है।

गीति-काव्य की परंपरा

गीति-काव्य में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है। अगर कविता रागात्मक क्षणों की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है, तो निश्चय ही साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा गीत का अधिक महत्त्व है; क्योंकि मनुष्य हर्ष और विषाद के अतिरेक से गीतों में उसी तरह गुनगुना उठता है, जैसे प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आन्नद के अतिरेक से चहचहा उठती है। आदिम युग में, जब मनुष्यों के अधरो पर भोलापन खेलता था और दुनिया की सारी चीजें नवीन थी, तो उनकी अनुभूति विशेषत गीतो में अभिव्यक्त होती होगी। हमारा सम्पूर्ण वेद गीतितत्त्व प्रधान है। सामूहिक रूप से वाद्ययंत्रों के साथ वेदो के गाये जाने के प्रमाण मिलते है। सामवेद तो पूर्ण रूप से गीति-काव्य ही है। इसमें उदात्त और अनुदात्त स्वरों का उल्लेख है। गन्य देशों के प्राचीन साहित्य में हमें गीत मिलते है। प्राचीन मिस्री अपने उत्सवो में धार्मिक गीत गाते थे। ग्रीक साहित्य में भी गाने की प्रथा थी। इसके अतिरिक्त बहुत-से लोकगीत होंगे, जो हमें उपलब्ध नही है। आज भी आदिम जातियों के बीच हम गीत और नृत्य की प्रथा पाते है। त्योहार और विवाह के अवसर पर गीत अनिवार्य रूप से उनके यहाँ गाये जाते है; इससे यह पता चलता है कि साहित्य का प्रारम्भ गीत से ही हुआ होगा।

प्रारम्भिक अवस्था में गीत और सगीत एक-दूसरे से इतने सबद्ध थे कि दोनों की अलग स्थिति थी ही नही। गीतो मे कोई सुस्पष्ट भाव नहीं था, भाषा भी इतनी सशक्त नही थी कि भावो को स्पष्ट कर सके। अतः ध्वनि की ही प्रधानता थी, जो वाद्ययत्रों के साथ मिलकर प्रतिध्वनित होती थी। ध्वनियाँ ही उल्लास और विषाद का द्योतक थी। वाद्ययत्र का भी पूर्ण विकास नहीं हुआ था, इसलिए लकड़ियों के सहारे ही हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी। धीरे-धीरे भाव भी स्पष्ट होने लगे और वाद्ययत्रों का भी विकास हुआ। वेदों में आर्यों के अनेक वाद्ययत्रों का

वर्णन मिलता है, जैसे, दुन्दुभी, अदम्वर, वनस्पति, अघाति, कथवीणा और वीणा आदि।

कालान्तर में गीत औरसंगीत साथ-साथ नहीं रह सके। एक में भावना की प्रधानता आयी और दूसरे में स्वरो की। गीत काव्य का अग हुआऔर सगीत की एक विभिन्न सत्ता स्थापित हुई, जिसका आधार नाद हुआ। इतना होने पर भी एक-दूसरे से एकदम विच्छिन्न नही हुए। गीत छन्द-बधन स्वीकार करता हुआ सगीत का बधन मान लेता है और सगीत में भावों की कुछ-न-कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है। यही कारण है कि सूर, मीरा और कबीर के गीत में दोनों तत्त्व वर्त्तमान दिखाई पड़ते हैं। उपर्युक्त कवियो के गीतो को जब शास्त्रीय नियमो के आधार पर गाया जाता है, तो वह सगीत की वस्तु हो जाते हैं।

वेद इस बात का प्रमाण है कि भारतीय गीति-परपरा आरंभ से ही समृद्ध रही। वैदिक युग के गीतो में तत्त्व और भावना का अपूर्व सामजस्य दृष्टिगोचर होता है। साथ ही, उसमें लौकिक जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र, प्रकृत्ति का विराट सौंदर्य और उसकी विविधता के भी दर्शन होते हैं।

"बौद्धधर्म दुःख-प्रधान है। पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से सुरभित और दु ख के नीहारकणो से बोझिल है।" (महादेवी वर्मा) विरागपूर्ण थेर-गाथाएँ और करुणासिक्त थेरी गाथाएँ अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के कारण वेद-गीतों और काव्य-गीतो के बीच की कड़ी जैसी लगती है। निम्नलिखित पक्तियों में प्रकृति का कितना सुन्दर चित्र अकित है—

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित पत्तच्छदना विहगमा
सुमजुघोसत्थ निताभिगज्जिनो तेत रमिस्सन्ति वनम्हि झापिनं।

(थेर गाथा)

(जब तुम वन में ध्यानस्थ बैठे होगे, तब गहरी नीली ग्रीवावले सुन्दर शिखाशोभी तथा शोभन चित्रित पखों से युक्त आकाशचारी विहगम अपने

सुमधुर कलरव द्वारा, घोष-भरे मेघ का अभिनंदन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।)

इसके अतिरिक्त सस्कृत-नाटकों में प्राकृत के कुछ गीत आये हैं, जो अपनी सरसता के लिये प्रसिद्ध हैं। गाथा सप्तशती के मुक्तक काव्य को भी महादेवी वर्मा ने गीतों की परपरा में स्थान दिया है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिको की रसमयी कीड़ाएँ और उनके घात-प्रतिघात इस ग्रथ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम वीर-गीतो की परम्परा मिलती है। आल्हा-ऊदल खड और वीसलदेव रासो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यूरोप की वीरगाथाओ की तरह इनमें युद्ध और प्रेम की प्रधानता है। आज भी बादलो की गडगडाहट के वीच किसी अल्हैत का वीर हुकार सुनाई पडता है। मौखिक रूप में ही इनका विशेष प्रचार है, अत इनपर लोक-गीतों की छाप स्पष्ट है।

'मैथिल कोकिल' विद्यापति के गीतों का माधुर्य, सौदर्य और लालित्य अनुपम है। साहित्य की तो वह अमूल्य निधि है ही, ग्राम-गीतो के रूप में भी उसका अत्यधिक प्रचार है। मिथिला की स्त्रियाँ गपने कोमल कठ से विद्यापति के गीत बड़े ही मधुर स्वर से गाती हैं। विद्यापति के गीतो पर जयदेव का प्रभाव है; यहाँ तक कि लोग उन्हें अभिनव जयदेव कहकर भी पुकारते हैं। विद्यापति ने राधाकृष्ण की शृगारिक लीला-क्रीडाओं का विशद वर्णन किया है। उनके गीतों में वियोग के साथ-साथ मिलन का भी चित्र है।

"चिर दिन से विहि भेल अनुकूल रे
दुहु मुख हेरत दुहु से आकुल रे।
बाहु पसारिए दुहु दुहु धरु रे,
दुहु अधरामृत दुहु मुख मधुरे,

स्पष्ट है कि विद्यापति ने अपनी कविता में मानवीय शरीर और मानवीय

आनद को प्रधानता दी है। उनका शृंगार इन्द्रियजन्य है,—उसमें आध्यात्मिकता का आरोप नही।

विद्यापति के पश्चात् हिन्दी-गीतो में आध्यात्मिकता का रंग गहरा हो गया। कबीर के गीत दार्शनिकता से बोझिल हैं, उन्होने ज्ञान को गेयता देने का प्रयास किया है। सांसारिक प्रतीकों के सहारे गूढ़ रहस्यों की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने गीतों में की है। उनके गीतों ने हमारे लोक-जीवन को प्रभावित किया है, और सगीतज्ञ एवं साहित्यिक से लेकर साधारण जनता तक उससे रस-ग्रहण करती है। यही उनके गीतों की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

सूरदास ने अपने गीतों में कृष्ण के सगुण रूप का वर्णन किया है। सूर के गीतों में तीव्रता, मार्मिकता और विदग्धता प्रचुर मात्रा में है। भ्रमर गीत में गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त सहज और मनोहारिनी है। कृष्ण के बाल-रूप का भी उन्होंने बडा ही मर्मस्पर्शी चित्र अकित किया है। भक्ति के पद में उनकी दीनता और कृष्ण के प्रति गहरी प्रीति झलकती है। सूरदास के गीतों में राग-रागिनियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उनकी भाषा में नवनीत की कोमलता है।

तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' आदि में गीति-काव्य की रचना की है। यद्यपि सूर के गीतों-सी तीव्रता तुलसी के गीतो में नही है; फिर भी, विविध भावों की व्यजना 'गीतावली' के मधुर पदो में देखने-योग्य है। 'गीता-वली' पर सूर के गीतों का अत्यधिक प्रभाव है। तुलसी के गीतों में लोक-मर्यादा की भावना अभिव्यक्त हुई है, इसलिए भावना का वह आवेग नही, जो सूर में है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से मीरा के गीतो का सौंदर्य अपरिमेय है। सूर की तरह उसने गोपियो के माध्यम से अपनी भावना को अभिव्यक्त नही किया, वरन् उसकी वेदना अनायास गीतो में मूर्त्त हो गयी है। उसके गीतों में निर्झरिणी की गति और स्वर है। प्रेम की इस दीवानी का दर्द गीतो के रूप में अमर हो गया है। संगीत तो मानो उनके समस्त गीतों का मूल स्रोत ही है।

रीतिकाल में गीति-काव्य का विकास नही हुआ। भारतेन्दु ने सूर की पद्धति पर कुछ गीतों की रचना की। उनके नाटको में भी गेय गीत मिलते हैं। देशभक्ति के गीतों मे उनकी मौलिकता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग बौद्धिक है, अतः आज के गीतो में वह तन्मयता, रागात्मकता और सगीत-तत्त्व नही मिलता, जो मध्ययुगीन गीतों के आवश्यक तत्त्व थे। आधुनिक गीत यूरोपीय साहित्य से भी प्रभावित हुआ है। प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, वच्चन आदि आधुनिक युग के प्रमुख-गीतिकाव्य के रचयिता हैं। प्रसाद के गीतों में गहराई है, पत में कल्पना की उडान है, निराला में ओज, सौकुमार्य और लावण्य है, महादेवी के गीतो में व्यथा की आर्द्रता है और वच्चन में मादकता का गहरा रग है।

उपर्युक्त कवियों ने अपने गीतों में राष्ट्रीयता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस तरह आधुनिक गीतों में इन्द्रधनुषी वैविध्य है; साथ ही, उसमें सौदर्य के प्रति आकर्षण और जीवन के प्रति जागरूकता है। अति आधुनिक गीतों में प्रगतिवाद की झलक मिलती है, जिसका दृष्टिकोण विशेषतः आर्थिक और राजनैतिक है।

भारतीय नाटक की उत्पत्ति

नाटक शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है नाचना। यह दृश्यकाव्य के अन्तर्गत माना गया है। दृश्यकाव्य का अर्थ ऐसा काव्य है, जो देखा जा सके अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्यकाव्य को भारत के प्राचीन आचार्यो ने "रूपक" का भी नाम दिया है; क्योंकि इसमें एक व्यक्ति के रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति मे होता है। तात्पर्य यह कि नाटक मे अन्य लोगोंके क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार करते है, मानो वे ही कार्य कर रहे हो। अनुकरण या नकल करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। बालक अध्यापक की नकल करता पाया जाता है, छोटे-छोटे बच्चे बूढा का

अभिनय करते पाए जाते हैं। "अस्तु नाटकों का मूलरूप मनुष्यो के अन्तर्जगत में विद्यमान है। बाह्यजगत् में उसका क्रमशः विकास हुआ।"

अतः नाटक का आरम्भ उसी समय हुआ होगा, जिस समय नकल करने की इस प्रवृत्ति ने नाट्य का रूप धारण किया होगा। मानव जब प्रथम-प्रथम प्रकृति के परिवर्त्तनशील प्रकोपों से भयभीत हो गया, तो स्वभावतः प्राणरक्षा के निमित्त उसके भर्राए गले से देवताओ की आराधना में कुछ अस्फुट गीत निकल पड़े। यही नाटक के मूल गीतो का आविर्भाव हुआ। खुशी की घडियो में वही मानव मारे आनन्द के नाच उठा। पूजा-अर्चना में भी उसे भिन्न-भिन्न भावो के व्यक्तीकरण के लिए भाव-भगिमा की आवश्यकता पड़ी। इस तरह नृत्य का आरम्भ हुआ। फिर तो अपने पूर्वजों की 'वीर-पूजा' में उसके गीत और नृत्य में. पूर्णतया तादात्म्य स्थापित हो गया। वस्तुतः इसी 'वीर-पूजा' के व्यापार में नाटको की सृष्टि का रहस्य छिपा है।

यह तो स्वतः सिद्ध है कि नाटकों की उत्पत्ति गीतो अथवा गीति-काव्यो और कथोपकथन के योग से हुई। ससार में सबसे प्राचीन उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है। ऋग्वेद में इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवताओ से प्रार्थनाएँ की गई हैं, जिनकी गणना गीति-काव्यो में होती है। कही-कही विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियो और राजाओ के यशोगान भी हैं, जिनमें हमें आख्यान के मूल के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त सरमा और पणि, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी (जिनके सवाद को ही कालिदास ने नाटक का रूप दे दिया है) आदि के सक्षिप्त कथोपकथन भी हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नाटक के तीनो मूल तत्त्व—गीत, आख्यान तथा कथोपकथन—ससार की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में विद्यमान है। इसीलिए मैक्समूलर, मेकडानल, कीथ, पीसल, लेवी आदि पश्चिमी विद्वानो का भी एकान्त मत है कि नाटको का आरम्भ भारत-भूमि से ही हुआ, यद्यपि रिजवे ने यह प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है कि भारत में नाटको का आरम्भ बहुत पीछे हुआ है। हँसी तो तब आती है, जब हम देखते हैं कि स्वय रिजवे साहब ने ही यह स्वीकार किया है कि पाणिनि और पतजलि के समय में भारत में

नाटको का यथेष्ट विकास हो चुका था। इस यथेष्ट विकास का बीज-वपन कितने दिन पहले हुआ होगा? इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि भारत में नाटकों का सूत्रपात ऋग्वद के निर्माण-काल के कुछ उपरान्त, वैदिक काल में ही हो गया था।

वैदिक काल के उपरान्त पौराणिक काल आता है। इस युग के ग्रन्थो के अवलोकन से यह निश्चित-सा हो जाता है, कि उन दिनों नाटक का भारत-वर्ष में काफी प्रसार हो चुका था। यों तो नाट्य-कला का प्रचार बहुत प्राचीन है; किन्तु उसके सबध में इतिहास अभी तक मौन है। नाटकों का क्रमवद्ध इतिहास भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से आरम्भ होता है। भरत का समय ईसा से कम-से-कम तीन-चारसौ वर्ष पूर्व का तो अवश्य ही है। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र भी, जिसमें नाटकों और रगशालाओं का वर्णन है, ईसा से ३०० वर्ष पहले का है। इन प्रमाणो से सिद्ध होता है कि ईसा के कम-से-कम तीन-चार सौ वर्ष पूर्व तो भारतवर्ष में नाटकों का अवश्य प्रचार था। महाभारत में 'नट' शब्द का उल्लेख है। इससे यदि नाटक के अभिनेता का अर्थ लिया जाय, तो नाटक का उस समय तक प्रचार हो जाना निश्चित हो जाय; किन्तु कुछ पश्चिमीय विद्वान् सस्कृत-नाटको की प्राचीनता में सन्देह करते हुए नट शब्द का अर्थ केवल नृत्य करनेवाला लगाते हैं। 'हरिवश' में, जो महाभारत का उपसंहार है और जिसकी रचना महाभारत के कुछ ही वर्ष पीछे हुई है, रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख है। उसमें यह भी लिखा है कि वज्र-नाभ नगर में 'कौवेररभाभिसार' नाटक खेला गया था और उसकी रगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखलाया गया था। उक्त पुराण में यह भी कहा गया है कि 'कौवेररभाभिसार' नाटक में प्रद्युम्न ने नलकूबर का और मनोवती ने रभा का रूप धारण किया था। यदि इस कथा को सत्य करार दिया जाय, तो यह मानना ही पडेगा कि कृष्ण के समय में ही सुन्दर-से-सुन्दर नाटकों का सुन्दर अभिनय होता था। अग्नि-पुराण के ३३६ से ३४६ तक के सर्गों में भी श्रव्य और दृश्यकाव्य की विवेचना की गई है।

इस काल के अनन्तर तृतीय शताब्दी पूर्वेसा काल में वैयाकरणी पाणिनि

आते है और शिलालिन् तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख करते है। उनके डेढ शताब्दी बाद पतंजलि आते है और अपने महाभाष्य में 'कंस-वध किया जाता है', 'बलि-बन्धन होता है' आदि वाक्यों का प्रयोग करते है। कालिदास का समय अधिकतर विद्वानो ने प्रथम शताब्दी पूर्वसा मान लिया है और भरत उनके पूर्ववर्ती थे ही। अश्वघोष के नाटक निश्चय ही आज से उन्नीस शताब्दी पहले की रचना है। अत. भारतीय नाट्य-रचना का आरम्भ ढाई हजार वर्ष पहले हो चुका था, इसमें कुछ भी सन्देह नही।

यद्यपि कालिदास के पूर्व भी भास तथा अश्वघोष के नाटक मिलते है; किन्तु इस काल की काफी सामग्री न मिलने के कारण हम उनके सबध में अधिक नही कह सकते।

हमारे नाटकों के ज्ञातकाल का आरम्भ कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर नवी शताब्दी तक भारतीय नाटको का आरम्भिक काल माना जाता है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुतल', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मालविकाग्निमित्र', ये तीन नाटक लिखे है। शकुतला की गणना ससार के सर्वश्रेष्ठ नाटको में होती है। कालिदास के अनन्तर श्रेष्ठ नाटककारों में कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष की भी गणना है, जिनका राज्यकाल सं० ६६३-७०५ वि० था। आपने 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नाटिका तथा 'नागानद' नाटक लिखे है। पल्लवनरेश सिहविष्णु वर्मा के पुत्र महेन्द्रविक्रम भी श्रीहर्ष के समकालीन थे। इनका 'मत्तविलास' नामक एक प्रहसन प्राप्त हुआ है। इनके बाद भवभूति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका समय सातवी शताब्दी का अतिम भाग ह। इन्होंने 'महावीरचरित', 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती-माधव' नामक तीन नाटक लिखे है और तीनो ही कालप्रिय के उत्सव के अवसर पर लिखे गए थे। इसके वाद नवी शताब्दी में विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' और भट्टनारायण ने 'वेणीसहार' नामक नाटक लिखे। विशाखदत्त के दूसरे नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' के केवल छ उद्धरण ही उपलब्ध हुए है। विशाखदत्त को नाट्य-कला की दृष्टि से खूब सफलता मिली है। वस्तु-योजना बहुत सुन्दर है। 'वेणीसहार' में चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। नवी शताब्दी के अन्त में राजशेखर ने 'कर्पूर-

मंजरी', 'वालरामायण', 'वालभारत' और 'विद्वशालभंजिका' इन चार नाटकों की रचना की। ग्यारहवी शताब्दी में कृष्णमित्र ने 'प्रवोधचन्द्रोदय' नामक एक भावात्मक नाटक लिखा, जो इस काल के प्रसिद्ध नाटकों में गिना जाता है।

ग्यारहवी शताब्दी तक सस्कृत-नाटको का यथेष्ट विकास हो चुका था, अच्छे-से-अच्छे नाटको की रचना हो चुकी थी। नवी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक उनका मध्यकाल कहा जा सकता है।

इसके वाद सस्कृत-नाटको का पतनकाल आरम्भ होता है। यवनों का आक्रमण होता है और चतुर्दिक अशान्ति की चिनगारियाँ फूट पडती है। जब जीवन के लाले पडे थे, कौन अभिनय करता और कौन देखता ? साथ ही मुसलमानो की धार्मिक अभिरुचि भी नाटको के विरुद्ध थी। अतः मुसलमानी आक्रमणों के समय संस्कृत-नाटको का खूव ह्रास हुआ। जब पुन शान्ति लौटी तव तक सस्कृत का जमाना बीत चुका था। अतः अव नाटकों की रचना प्रान्तीय भाषाओ में होने लगी।

हिन्दी-नाटकों का आरम्भ वस्तुतः भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र से ही होता है। उनके पहले की कुछ रचनाएँ अवश्य है; किन्तु उनमें कुछ तो नाटक के अन्तर्गत आ ही नही सकती और कुछ नाम के ही नाटक का दावा कर सकती है। अत हिन्दी-नाटकों के इतिहासो को हम निम्नलिखित तीन कालों में विभक्त कर सकते हैः——

१. पूर्व-भारतेन्दु-काल (आरम्भिक काल)
२. भारतेन्दु-काल (विकास काल)
३. वर्त्तमान काल (आधुनिक काल)

पूर्व-भारतेन्दु-काल का आरम्भ लगभग १७ वी शताब्दी में होता है और यह १९ वी शताब्दी तक चलता है। भक्ति-काल में ही कुछ कवियो ने अपने काव्यों में कुछ कथोपकथन का पुट देकर उन्हें नाटक का नाम दे दिया था। ऐसा सर्वप्रथम १६७० के आस-पास की रचना में पाया जाता है। हाँ, अठारहवी शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवी शताब्दी में कुछ रचनाएँ ऐसी अवश्य मिलती है, जिनमें कविता के साथ-ही-साथ नाटक के मूल तत्त्व, नाटक को

रूप-रेखा भी विद्यमान है। जैन कवि बनारसीदास ने सं० १६९३ में जो 'समय-सार' नाटक लिखा, वह वास्तव में नाटक नही कहा जा सकता। उसमें तो केवल जैन-धर्म संबंधी तत्त्वों का पद्यमय वर्णन है। प्राणचन्द चौहान ने स० १६६७ में 'रामायण' महानाटक लिखा है। यह भी विशेपतः चौपाइयों में है; किन्तु कथोपकथन के रूप में होने के कारण यह नाटक कहा गया है। 'देवमाया प्रपंच' की रचना १७ वीं शताब्दी के मध्य में हुई है। इसके रचयिता व्यासजी शिष्य देव हैं। हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' या महानाटक का सं० १६८० में हिन्दी-अनुवाद किया। जोधपुर-नरेश महराज यशवंत सिंह ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का सं० १७०० के आस-पास हिन्दी में अनुवाद किया। इसके अनन्तर सं० १७२६ में अनाथदास ने उनका दूसरा अनुवाद किया। सं० १७३७ में नेवाज कवि ने शकुतला नाटक के आख्यान को व्रजभाषा-पद्य में लिखा। यह नाटक कहलाते हुए भी काव्य ही है। रघुराम नागर ने स० १७७५ में 'सभासार' नामक नाटक की रचना की। इसकी भाषा में खडी बोली का भी पुट है। सं० १८०९ में सोमनाथ ने 'मालती-माधव' का अनुवाद 'माधवविनोद' नाटक के नाम से किया। स० १८७८ ई० में रीवाँ के प्रसिद्ध नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का अभिषेक हुआ। आपने प्रायः तीस ग्रन्थ रचे थे। इन्ही रचनाओं में एक 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक भी है। इस पुस्तक में रामायण की सारी कथा को एक नाटक का रूप दे दिया गया है; किन्तु नाटककार अपने प्रयास में सफल नही हो सका है। कथा-वस्तु-गठन के अंग-प्रत्यग सभी कथोप-कथन में विलीन हो गए हैं। पात्रों की सख्या भी सैकडों है, अत चरित्र-चित्रण भी नाम का ही है। व्रजभाषा में भी न ओज है, न प्रसाद। स० १८९८ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द उपनाम गिरधरदास ने 'नहुष' नाटक की रचना की थी, जिसका प्रथम अंक 'कविवचन सुधा' के प्रथम वर्ष के एक अंक में छपा था। इसकी भाषा भी व्रजभाषा ही है। भारतेन्दुजी के पहले यही हिन्दी का प्रथम नाटक है। यह पुस्तक नाट्यकला के सभी अग-प्रत्यगों से युक्त है; किन्तु दु.ख है कि इसकी पूर्ण प्रति नहीं मिलती। सन् १८६३ ई० में राजा लक्ष्मणसिह ने शकुन्तला का गद्य में

अनुवाद किया। काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिह के राज्यकाल (सं० १८९२-१९४६) में इनके आश्रित कविगणेश ने 'प्रद्युम्नविजय' नाटक लिखा, जो सात अंकों में विभक्त है। यह नाटक गणेश कवि कृत 'साहित्य सागर' के नाटक-निरूपण नामक द्वादश तरंग में दिया गया है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटक-विषयक निवन्ध में जिस "श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक" का उल्लेख किया है, वह सम्भवत यही नाटक है और नायिका के नाम पर उसका यह नामकरण कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त मैथिली में वहुत-से नाटक समय-समय पर लिखे गये, जिनमें कुछ प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ (अधिकांश) अप्रकाशित हैं। स्थानाभाव से उनका विशेष परिचय नही दिया जा सकता।

इसके वाद हम भारतेन्दु-काल में प्रवेश करते हैं। इस बात का अन्यत्र जिक्र हो चुका है कि भारतेन्दु के पहले किसी भी मौलिक हिन्दी-नाटक को यथार्थ नाटक की संज्ञा नही दी जा सकती। इसीलिए कहा जाता है कि भारतेन्दु ने ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य-सदन का शिलान्यास किया।

भारतेन्दु के पूर्व स्वतन्त्र ग्रथों में पद्यों की ही तूती बोलती थी और नाटक केवल नाम के ही होते थे। वास्तव में उनका कलेवर काव्य से निर्मित होता था। भारतेन्दु ने ही सिद्धान्तरूप से नाटकों में गद्य को प्रधानता दी।

आपके पूर्ववर्त्ती कवि नाटककार प्राचीन लोक पर ही बढनेवाले व्यक्ति थे। समय के साथ चलने मे वे असमर्थ थे। अत प्रगतिशीलता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु को ही आगे आना पड़ा। प्राचीन पद्धति का आदर करते हुए भी आपने अर्वाचीन भावों को अपनाया। नाटक विषयक लेख में आपने स्वयं लिखा है, "अव नाटक में कही आशी· प्रभृति नाट्यालकार, कही प्रकरी, कही विलोभन, कही सफेट, पंचसधि वा ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नही रही। सस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी-नाटक में इनका अनुसधान करने वा किसी नाटकांग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी-नाटक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि का शोभा-सपादन

करने से उलटा फल होता है और प्रयत्न व्यर्थ जाता है।" तात्पर्य यह कि भारतेन्दु-जी ने समय के अनुसार प्राचीन और नवीन को समेटकर नाटको की गति-विधि में युग-वांछित तीव्रता ला दी और इसलिए वे नाट्य-रचना को नया रूप देने में सफल भी हुए।

भारतेन्दु के पहले नाटको की कथा पुराण आदि प्राचीन ग्रंथो से ली जाती थी। नवीन युग ने इन नाटको में कुछ और देखना चाहा। साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है। वे नाटको को इसी अर्थ के प्रतिपादन में सलग्न देखना चाहते थे। जनता की विचार-धारा एक ओर वहती जा रही थी और साहित्यकारों की परम्परागत विचार-धारा दूसरी ओर। जनता अपनी कुरीतियो को साहित्य के सहारे दूर करना चाहती थी और साहित्य-निर्माता प्राचीन आख्यानों का अनुवाद कर रहे थे। साहित्य और जीवन में एक खाई पड़ गई थी। भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र ऐसे ही अवसर पर आविर्भूत हुए। उन्होंने युग की नब्ज पहचानी और साहित्य को जीवन से सम्वद्ध कर दिया। अपने नाटको में उन्होने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियो और त्रुटियो का सजीव चित्र खीचा और उन्हें दूर करने के उपाय भी वताए।

भारतेन्दुजी ने कुल अठारह नाटक लिखे, जिनमें 'प्रवास' नाटक अपूर्ण और अप्राप्त है। पाँच नाटको का संस्कृत से, एक का वँगला से तथा एक का अग्रेजी से अनुवाद हुआ है तथा दस नाटक मौलिक है। इनके नाटको का रचनाकाल सं० १९२५ से आरम्भ होता है। सर्वप्रथम 'प्रवास' नाटक में ही हाथ लगाया गया; किन्तु वह अपूर्ण ही छोड दिया गया। इसके वाद भारतेन्दु-जी ने 'रत्नावली' का अनुवाद किया। इसी वर्ष 'विद्यासुन्दर' नाटक भी लिखा गया, जिसका आधार 'सुन्दर' तथा सस्कृत का प्रसिद्ध काव्य 'चौरपंचाशिका' है। स० १९२९ में 'प्रवोधचन्द्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का 'पाखण्ड विडम्बन' के नाम से अनुवाद हुआ। इसकी भाषा 'विद्यासुन्दर' से अधिक प्रौढ है और कविता भी श्रेष्ठ है। स० १९३० भारतेन्दुजी ने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" नामक प्रहसन लिखा, जो इनकी अपनी कल्पना है, मौलिक सूझ है। धर्म की आड में होनेवाले अत्याचारो और अनाचारो का इसमें सफल चित्रण

है। पात्रों के उपयुक्त चित्रण और प्रहसन के योग्य, चलती भाषा ने इस पुस्तक में विशेष जान डाल दी है। इसी वर्ष 'धनंजय-विजय व्यायोग' का भी अनुवाद हुआ, जो सुन्दर उतरा है। स० १९३२ में 'प्रेमयोगिनी' नामक नाटिका की रचना आरम्भ हुई; किन्तु किसी कारणवश उसके केवल चार गर्भाक ही लिखे गए। इसके वाद 'सत्यहरिश्चन्द्र' लिखा गया, जो भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। "वीर-करुण-रस का यह अपूर्व नाटक इसी उपाख्यान के सस्कृत-नाटको से वहुत आगे वढ गया है।" 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भी इसी वर्ष में समाप्त हुआ। इसका अनुवाद इतना सफल हुआ है कि इसके पढ़ने में मूल का ही आनन्द आता है। 'कर्पूरमंजरी' का अनुवाद स० १९३३ में हुआ। इसके अनुवाद में कवि ने कुछ स्वतन्त्रता दिखलाई है। इसी वर्ष वडौदा-नरेश मल्हारराव के राज्यच्युत होने पर 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण लिखा गया, जो रूपक का एक भेद है। 'श्रीचन्द्रावली' नाटिका की रचना भी इसी वर्ष हुई। यह नाटिका भी भारतेन्दुजी की एक उत्कृष्ट रचना है। इसका इतना आदर हुआ कि उसी समय यह सस्कृत और व्रजभाषा में अनूदित भी हो गई। 'भारत-दुर्दशा' की रचना भी इस साल हुई; यह करुणारस से ओत-प्रोत एक लघु रूपक है। सं० १९३४ में 'भारत-जननी' लिखी गई और स० १९३७ में 'नीलदेवी' का प्रणयन हुआ। इसके अनन्तर शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद भी इसी वर्ष आरभ हुआ। परन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसको भारतेन्दु-कृत नही माना है। इसमें अग्रेजी नामो का भी रूपान्तर करके उन्हें सुन्दर हिन्दी-रूप दे दिया गया है। स० १९३८ में 'अधेरनगरी' नामक प्रहसन प्रकाशित हुआ। स० १९४१ में 'सतीप्रताप' का लेखन आरभ हुआ, किन्तु इसके चार ही दृश्य समाप्त हो पाए थे कि भारतेन्दुजी का स्वर्गवास हो गया। वाद में राधाकृष्णदास ने इस पुस्तक को पूर्ण किया।

भारतेन्दु के अतिरिक्त भारतेन्दुकाल (१९०१–१९५० वि०) में कुछ और भी नाटककार थे, जिनमें लाला श्रीनिवासदास, प० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, बालकृष्ण भट्ट, प०

दामोदर शास्त्री, पं० मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या, पं० प्रतापनारायण मिश्र, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास तथा अंविकादत्त व्यास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लालाजी ने 'प्रह्लादचरित', 'तप्तासंवरण', 'सयोगिता-स्वयवर' और 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' चार नाटक लिखे। प्रेमघनजी ने 'भारत-सौभाग्य' नाटक की रचना सन् १८८९ ई० में तथा 'प्रयागरामागमन' रूपक की रचना १९६१ में की थी। 'भारत-सौभाग्य' सफल न हो सका। राधाचरणजी ने सात-आठ छोटे-छोटे रूपक लिखे हैं, जिनमें 'सरोजिनी' अनूदित है और सभी मौलिक हैं। तोताराम का 'कीर्त्तिकेतु' नाटक विशेष प्रसिद्ध है, जो सन् १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था। बालकृष्ण भट्ट ने भी चार-पाँच नाटक लिखे हैं—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा तथा चन्द्रसेन। दामोदर शास्त्री ने सातों काड रामलीला को रूपक का रूप दिया है और बालखेल तथा राधामाधव दो नाटक लिखे हैं। पड्याजी का प्रह्लाद नाटक है। प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु-कृत भारत-दुर्दशा के आधार पर भारत-दुर्दशा नाम का ही एक रूपक लिखा था; किन्तु उसमें भारतेन्दुजी का-सा चमत्कार न आ सका। इसके अतिरिक्त इन्होने जुआरी-खुआरी नामक प्रहसन और गोसकट; कलि-प्रभाव नामक नाटक भी लिखे हैं। काशीनाथ खत्री के दो नाटक ग्रामपाठ तथा निकृष्ट नौकरी उल्लेख-योग्य हैं। राधाकृष्ण ने भारतेन्दु के सती-प्रताप को पूरा किया था। साथ ही, इन्होंने दुखिनीबाला नामक रूपक और महारानी पद्मावती नाटक भी लिखे हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक महाराणाप्रताप सिंह है, जिसकी रचना स० १९५४ में हुई थी। इसका हिन्दी-ससार में खूब आदर हुआ और बहुत स्थानों में अभिनय भी हुआ।

अब हम वर्त्तमान-काल (१९५० वि० से) के प्रथम उत्थान में प्रवेश करते हैं। इस समय परिस्थितियाँ बदल चुकी थी। अब शैली और भाषा पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। इसके पहले प्रचार-काल था, जिसमें शैली और भाषा की ओर विशेष दृष्टि न रहना स्वाभाविक था।

इसके अतिरिक्त इस समय अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव भी खूब बढ़ रहा था। उन्हींकी देखादेखी बँगला नाटकों से नन्दी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना आदि को विदाई मिल चुकी थी। उनके प्रभाव से हिन्दी के नाटक भी अछूते न बचे। यद्यपि भारतेन्दुजी पर भी अंग्रेजी ढंग का प्रभाव पड़ा था, फिर भी, वे नाटक के आरम्भ में शास्त्रीय ढंग की प्रस्तावना तथा नान्दीपाठ आदि के मंगल-गान अवश्य रख देते थे। (उदाहरण—सतीप्रताप, नीलदेवी आदि)। किन्तु उनके बाद अब उसकी भी आवश्यकता नहीं समझी जाने लगी। एक बात और। प्राचीन काल के नाटकों में घटना-वैचित्र्य के साथ रस पर भी ध्यान रखा जाता था; पर अंग्रेजी नाटकों में अन्तःप्रकृति के द्वन्द्व-चित्रण की ही ओर विशेष दृष्टि रहती है। इसका यह प्रभाव पड़ा कि हिन्दी-नाटकों में भारतीय पद्धति और पश्चिमीय पद्धति, दोनों का मेल हो गया।

वर्त्तमान काल के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ नाटककार बाबू जयशंकर प्रसाद हैं। सन् १९१० से 'सज्जन' की रचना के साथ आपके नाटक-रचना-काल का आरम्भ होता है। १९२१ ई० में विशाख निकला। १९२२ ई० में 'अजातशत्रु', १९२६ ई० में 'जनमेजय का नागयज्ञ'', १९२७ में 'कामना', १९२८ ई० में 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कंदगुप्त' और १९२९ ई० में 'एक घूँट' प्रकाशित हुए। इनका अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' है। 'प्रसाद' जी के तेरह नाटकों में आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं। आपके नाटक मुख्यतः ऐतिहासिक हैं और आपको हम प्रधानतः ऐतिहासिक नाटककार कह सकते हैं। दो-तीन नाटकों को छोड़कर शेष बौद्ध अथवा हिन्दूकालीन हैं। उनके नाटकों में प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की सुन्दर झलक है। आपने इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप देने की चेष्टा की है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में उक्त युग के अनुरूप यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सम्मिश्रण है। 'प्रसाद' जी के नाटक बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की अपेक्षा अधिक गूढ और गम्भीर हैं। उनमें न केवल ऐतिहासिक युग की

राजनीतिक-चहल-पहल और प्रणय का घात-प्रतिघात है, वरन् निगूढतम आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व भी है। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक घटना-प्रधान हैं, 'प्रसाद' के नाटक अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान। 'प्रसाद' जी ने प्राचीन नाट्य-पद्धति को छोड़कर कला की स्वतन्त्रता और युगानुगामिता प्रदर्शित की है। फिर भी प्राचीन परिपाटी के 'स्वगत', 'विदूषक' और 'गान' आदि रह गए हैं। उनके नाटक खेलने की अपेक्षा अध्ययन के अधिक उपयुक्त हैं। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है और कहीं-कहीं साधारण दर्शक के लिए दुरूह और दुर्बोध है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्राय: सर्वत्र प्रधानता है और उनके चित्रण में आपको विशेष सफलता मिली है। उनके गीत बड़े मार्मिक होते हैं; किन्तु उनमें अस्पष्टता भी रहती है, जो नाटक की सफलता के लिए बाधा-स्वरूप है। 'प्रसाद' जी के नाटकों का अन्त एक करुणापूर्ण शान्ति में होता है। उनके नाटकों में समुद्र का-सा दिगन्तव्यापी हाहाकार सुनाई पडता है, जिसका निष्कर्ष निकलता है दुःख, वेदना और अन्त में वैराग्य। प्रसादजी की मृत्यु से नाटक-साहित्य ही सूना हो गया है। प्रसादजी के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त ने भी चन्द्रहास नामक नाटक एक पौराणिक आख्यान लेकर लिखा है, जो पहली बार सं० १९७३ में प्रकाशित हुआ था। आपने बँगला के तिलोत्तमा आदि नाटकों का भी अनुवाद किया है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का मधुर मिलन नाटक सं० १९८० में प्रकाशित हुआ, जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन में खेला भी गया था। मिश्रबन्धुओ ने 'शिवजी' नामक एक नाटक लिखा है। प्रेमचन्द ने भी कर्बला और संग्राम नाटक लिखे हैं। बद्रीनाथ भट्ट ने दुर्गावती, चन्द्रगुप्त, वेन-चरित, तुलसीदास आदि अनेक नाटक रचे हैं, जिनमें दुर्गावती बहुत प्रसिद्ध है। लक्ष्मीनारायण के अशोक, सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। अशोक सं० १९८४ में प्रकाशित हुआ था। आपके नाटकों का हिंदी-संसार ने अच्छा स्वागत किया है। जगन्नाथ-प्रसादजी 'मिलिंद' ने प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक बहुत पहले लिखा था, जो १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। 'उग्र' ने भी नाटककार के रूप में काफी ख्याति प्राप्त कर

ली है, यद्यपि उनकी रचनाएँ रुचि को विकृत बनानेवाली ही हैं। आपका प्रथम नाटक है महात्मा ईसा और दूसरा है 'गभीर' चुम्बन । अभी हाल में आपके 'उजबक' और 'डिक्टेटर' भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें 'महात्मा ईसा' को हम उत्तम नाटकों की कोटि में स्थान दे सकते हैं। गोविन्दवल्लभ पंत के 'वर-माला' नाटक की भी काफी प्रसिद्धि है। पंतजी लेखन-कला और अभिनय-कला दोनों में कुशल हैं। अतः उनकी सफलता से किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आपका 'कंजूस की खोपड़ी' नामक प्रहसन भी सुन्दर है। 'अंगूर की बेटी' और 'राजमुकुट' भी अच्छे हैं। सुदर्शनजी का प्रसिद्ध नाटक है 'अंजना', जो सं० १९८० में प्रकाशित हुआ था। आपने 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' नामक एक प्रहसन और 'चन्द्रगुप्त' नाम का एक एकाकी भी लिखा है। कौशिकजी ने कई उपन्यासों के अलावे 'भीष्म' नामक एक नाटक भी लिखा है। माखनलाल चतुर्वेदी ('भारतीय आत्मा') का 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक भी अच्छा उतरा है और उसका अभिनय भी कई बार हो चुका है। सुमित्रानन्दन पंत ने भी 'ज्योत्स्ना' नामक एक नाटक लिखा है, जो केवल नाम का ही नाटक है। ग्रंथ-कार नाटककार के रूप में न आकर कवि के रूप में ही उतरा है। जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के दस-बारह नाटकों को अपनाकर, उनका संस्कार कर, 'हिन्दुस्तानी बना लिया है'। श्रीवास्तवजी ने अनुवादों के अतिरिक्त बारह-चौदह छोटे-बड़े स्वतन्त्र नाटक भी लिखे हैं, जिनमें 'साहित्य का सपूत', 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'भूल-चूक' 'दुमदार आदमी', नोकझोंक', 'उलटफेर' आदि विशेष प्रशंसित हैं। वियोगी हरि ने 'प्रबुद्ध यामुन' नामक नाटक लिखा है। सेठ गोविन्द दास ने भी प्रायः बारह नाटक लिखे हैं, जिनमें 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश', 'स्पर्द्धा', 'शशि गुप्त' आदि प्रकाशित हो चुके हैं। नाटककार के रूप में आपने हिन्दी-साहित्य में एक खासा अच्छा स्थान बना लिया है। चतुरसेन शास्त्री ने दर्जनों कहानियों और उपन्यासों के अतिरिक्त दो नाटक भी लिखे हैं, जिनके नाम हैं 'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग'। द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के अतिरिक्त रूपनारायण पाडेय ने और भी कई बँगला-नाटकों का अनुवाद किया है। इधर बेनीपुरीजी

ने जेल में 'आम्वपाली' नामक एक सुन्दर नाटक लिखा है, जो प्रकाशित हो चुका है। इतना होने पर भी यह तो कहना ही पड़ता है कि आज नाटक के क्षेत्र में किसी विशेष व्यक्तित्व की झाँकी नही मिल रही है। आज कहानी-लेखकों और कवियों की ही भरमार है। फिर भी, जिस द्रुत गति से हमारा साहित्य प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है, उसको देख हमें आशा ही नही, प्रत्युत् पूर्ण विश्वास होता है कि वह समय दूर नही है, जब हमारे बीच फिर महान् नाटककारो का आविर्भाव होगा और तव हमारे हिन्दी-साहित्य में भी ससार की श्रेष्ठतम रचनाओ की समकक्षता प्राप्त करनेवाले नाटकों की कमी न रह जायगी।

आलोचना क्या है ?

साहित्य पाठको को प्रभावित करता है, यह मानी हुई वात है। लेकिन साहित्य के अन्दर अनेक कृतियाँ है—सफल और असफल। सफल कृतियो में कुछ ऐसी भी होती है, जिन्हें अन्य कृतियो को अपेक्षा पाठक अधिक पसन्द करता है। प्रेमचन्द का 'गोदान' उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। उनकी अन्य रचनाएँ भी सफल कृतियाँ है; लेकिन 'गोदान' की तुलना में वे उतनी उत्कृष्ट नही। दूसरी ओर बाबू बृन्दावनलाल वर्मा के असफल उपन्यास है। इन उदाहरणों से दो पक्ष पैदा होते है।

एक, प्रेमचन्द की कृतियाँ क्यों सफल है, बृन्दावनलाल वर्मा की क्यों नही ! दूसरा, प्रेमचन्द का 'गोदान' उनकी अन्य सफल रचनाओं की तुलना में क्यों सर्वश्रेष्ठ है ? दूसरे शब्दो में, इन प्रश्नो को इस प्रकार रखा जा सकता है—हम क्यों किसी रचना को सफल कहते है ? सफल रचनाओ में किसी एक को क्यो सर्वश्रेष्ठ करार देते है ?

इन दोनो प्रश्नो के उत्तर जिस प्रकार की रचना द्वारा दिए जाते है, उसे हम आलोचना कहते हैं। इस परिभाषा की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार होगी।

साहित्यिक कृतियो में कुछ ऐसे गुण होते है, जो हमें प्रभावित करते है, आनन्दित करते है। ये गुण सौदर्यमूलक और सदेशमूलक, दोनो तरह के होते है। आलोचना का काम है कि वह साहित्यिक कृतियों में निहित सौदर्य का उद्घाटन करे, उसका विश्लेषण प्रस्तुत करे और अन्त में यह बतावे कि अमुक कृति का क्या सामाजिक महत्त्व है।

अब इनमें से एक-एक पर अलग-अलग विचार करें। 'गोदान' का उदाहरण सामने रखिये। पाठक जब इसे पढ़ता है, तो उसके मन में तरह-तरह की प्रतिक्रिशएँ होती है। उपन्यास के बीच अनेक स्थल ऐसे आते है, जब पाठक दुःखित होता है, चिन्तामग्न होता है, उल्लसित होता है। ऐसे स्थल भी आते है, जब उसके विचार बहुत उतेजित होते है और वह जीवन की यथार्थता पर अपने तौर पर सोचने के लिए बाध्य होता है। पाठक जब उपन्यास खत्म करता है, तो 'धनिया' का पछाड़ खाकर गिरना 'होरी' के मरने के बाद, और लोगोका कहना, "गोदान करा दो", ये घटनाएँ और बातें भुलाये नही भूलती है। पाठक लगातार कई दिनो तक इनके प्रभाव से पीड़ित रहता है। साथ ही, उपन्यास पढ़ने के सिलसिले में जो तरह-तरह के भाव उत्पन्न हुए थे, जो तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ हुई थी, वे सब अव्यवस्थित रूप में रह जाती है। 'गोदान' ने यह सब जो-कुछ किया, वह उसका सौदर्य है। पाठक कारण भले ही न बता सके; लेकिन वह इसे पढने के बाद एक विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव करता है। यह भी उपन्यास के विदित कला-सौंदर्य का परिचायक है। इतना ही नही, पाठक के विचार भी उत्तेजित होते है। वह 'गोदान' के ससार के बारे में सोचने के लिए बाध्य होता है। फिर, गोदान से जो सदेश ध्वनित होता है, वह भी उसे प्राप्त होता है। वह सदेश स्वीकार करे या न करे, बोध तो उसको हो ही जाता है। याद रहे, कलाकृति में निहित संदेश को कलाकार तर्कों के सहारे पाठक के दिल पर नही उतारता; बल्कि भावो के अनुबन्ध द्वारा।

यह सब कला की जादूगरी है। इसीका तर्कसंगत और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना आलोचना का काम है। साधारण पाठको के मन में

जो अव्यवस्थित प्रभाव थे, उन्हें आलोचना व्यवस्थित करती है।

इतने से ही आलोचना का कार्य खत्म नही हो जाता। उसे यह भी बताना पड़ता है कि 'गोदान' जैसी कृति का क्या सामाजिक महत्त्व है, क्या सामाजिक मूल्य है; क्योंकि अगर किसी कृति का कोई सामाजिक मूल्य नही हो, तो वह निरर्थक है। पाठक उसे मन-बहलाव के लिए पढ सकता है, पर उसका कुछ मोल उसके लिए नही होगा। एक जासूसी कृति और साहित्यिक कृति में यही बुनियादी भेद है। साहित्यिक कृति का सामाजिक महत्व ही उसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है। साहित्य का पाठक एक व्यक्ति होता है, जो समाज का एक प्राणी होता है। दोनो हैसियतों से ही वह कलाकृति का मूल्य निर्धारित करता है। एक व्यक्ति को 'चन्द्रकान्ता सन्तति' अच्छी लग सकती है, वह उसीमें रम सकता है; लेकिन वह उसका दिमागी विलास होगा; क्योंकि उस किताब के पढ़ने के वाद न तो वह खुद अपनी आदमियत में इजाफा करता है और न समाज की प्रगति में सहायक होता है। इस तरह की प्रवृत्ति व्यक्ति को एकान्तिक वनाती है, जीवन से विच्छिन्न करती है और तब अन्त में जीवन का मोह ही उस व्यक्ति में नही रह जाता है। इन सबका बहुत बुरा प्रभाव उसपर पड़ता है। वह व्यक्ति रुग्ण हो जाता है, व्यक्तिगत और सामाजिक हैसियत से। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को उदाहरण के रूप में ही लेना चाहिए। मेरा मतलब उस तरह की तमाम रचनाओं से है, जिनसे कोई सामाजिक हित-साधन नही होता। मगर ऐसी कृतियो की सख्या बढने लगे, तो समाज का ह्रास होने लगता है, प्रगति की ओर वह बढ नही सकता। इसलिए साहित्यिक कृति के लिए सामाजिक मूल्य का होना अनिवार्य शर्त माना गया है। यह आलोचना का काम है कि कृति के मूल्याकन के सिलसिले में इस बात की भी परीक्षा करे।

हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

सृष्टि के आरम्भ से ही मानव-समाज का प्रकृति से गहरा सबन्ध रहा है। डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त को यदि हम न भी मानें, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य बहुत-कुछ अंशों में जङ्गली-जैसा था। प्रकृति के खुले मैदान में रहना और सीधे प्राकृतिक उपादानों से ही अपनी खाद्य-सामग्री ग्रहण करना उसने जाना था। प्रकृति से उसका सम्पर्क बहुत निकट का था। वह उससे घिरा हुआ था। लेकिन वन, पर्वत, कन्दराओं, उपत्यकाओं द्वारा जहाँ वह पोषित तथा रक्षित था, वहीं ज्वालामुखी के विस्फोट, दावाग्नि, घनघोर वृष्टि द्वारा भक्षित भी। बड़ी-बड़ी नदियाँ न केवल अपने उभय कूलों को प्लावित कर कृषि के योग्य जमीन तैयार करती थी, अपितु अपनी सबल धारा से सैकडों बस्तियों का संहार भी कर देती थीं। प्रकृति के प्रकोप से बचने के लिए तब आज की तरह सुलभ साधन तो थे नही। इसलिए, आदिम मानव के हृदय में प्राकृतिक उपादानों के प्रति पूजा की आस्था थी और भय का भाव भी। सभव है, भय ही पूजा का कारण हो। और, उसने इनको एक-एक कल्पित देवता मानकर अर्चना आरंभ कर दी। प्रकाश, अन्धकार, हवा, आग और पानी के लिए मित्र, वरुण, सूर्य, पवन, अग्नि, सविता, पूषण इन्द्र आदि की कल्पना उसी युग की याद दिलाती है। स्मरण रहे, ये देवता उस आदि वैदिक काल के हैं, जब त्रिदेवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की भी उत्पत्ति नही हुई थी।

यह नही कि प्रकृति की उपयोगिता ने ही केवल मानव-मन को प्रभावित किया था। निश्चय ही उसके सौंदर्य ने भी उसको आकृष्ट किया होगा। प्रकृति के रमणीय दृश्य, ऊषा की स्निग्ध छटा, सान्ध्यकालीन समुद्र-तट पर समीर की मन्थर गति, पावस के इन्द्र-धनुष का सतरङ्गा आलोक सदा से मनुष्य के हृदय के उल्लास के स्रोत बहाते रहे हैं। ऋग्वेद की—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासा।

×

प्रबोधसन्त्यरुणे भिरश्वैं
रुषऽऽभाति सुभुजा स्थेन

जैसी सौन्दर्यानुभूतिपरक पक्तियो को निरे उपयोगितावाद की कसौटी पर कसना उनके साथ अन्याय करना होगा। प्रगतिशील शब्दों में ही कहें, तो मानव-तन की भूख ही सव कुछ नही। उस जमाने में भी मन की भूख उतनी ही बलवती होगी, जितनी आज है। इन्ही कारणो से प्रकृति ने मनुष्य के जीवन में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। और, जब उसकी भावनाएँ हृदय की कारा को तोडकर बाहर निकली, विचारों ने वाणी पाई, अनायास ही प्रकृति के चित्रो का उनमें समावेश हो गया। वाल्मीकि या हिन्दी के आदि कवियो ने प्रकृति का चित्रण इसी रूप में किया है। प्राकृतिक दृश्यो के निरीक्षण से उनके मन में जो आनन्द उत्पन्न हुआ, उसको उन्होंने जैसे-का-तैसा वर्णित कर दिया है। अपनी ओर से उसमें कुछ नही मिलाया। सस्कृतवालो को छोड़ दें, तो हिन्दी के सिद्ध और वीरगाथा कालो में भी इसके अनेक उदाहरण मिल जायँगे।

किन्तु सभ्यता के विकास के साथ ही मानव के भावो में भिन्नता आती गई। उसने मानव-मस्तिष्क को क्रमश. जटिल बना दिया। अब उसमें सरोवर के शान्त जल जैसी स्वच्छन्दता, स्थिरता न रह गई। वह प्रकृति में अपने हृदयगत भावों का विश्लेषण खोजने और देखने लगा। प्रेममार्गी· भक्ति-शाखा के कवियो को प्रकृति अपने सुखो के साथ हँसती और दु.खो के साथ रोती दिखलाई देती थी। जायसी के 'पद्मावत' में सारी प्रकृति का पुरुष से समागम के हेतु शृङ्गार, उत्कण्ठा या विरह-विकलता का चित्रण है। कुछ वाद की कविता में ऐसे ही वर्णन का आधिक्य है, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का साम्राज्य है।

और, आगे वढने पर प्रकृति से पृष्ठभूमि तथा उद्दीपन का काम लिया गया मिलेगा। किसी घटना का पूर्वाभास या उसके वाद की अवस्था दिखलाने के लिए भी प्रकृति की आवश्यकता होती है। शृगाल या उल्लू का अपशकुन के लिए तथा

भरे-कलश और मोर का शकुन के लिए बहुधा प्रयोग होता है। बेर का वृक्ष अशुभ माना जाता है, सहकार का शुभ। दृश्यों की इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक योजना द्वारा प्रभाव और प्रेषणीयता में बहुत वृद्धि हो जाती है। राम-वन-गमन के समय अयोध्या में शोक का व्यापक प्रसार हो गया था। तुलसी ने वहाँ प्रकृति को भी रोती हुई चित्रित किया है। क्या जड, क्या चेतन उस मसय सब राम के वियोग में विलाप करते हैं। सूर ने भी कृष्ण के व्रज छोडते समय कुछ ऐसी ही दशा दिखलाई है। यहाँ तक आते-न-आते प्रकृति का निजी महत्त्व बहुत-कुछ कम हो जाता है एवं उसकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त होने लगती है। उसके सारे क्रिया-कलाप अपने न रहकर मानव-मतिष्क के अधीन हो जाते हैं।

चौथे प्रकार के प्रकृति-चित्रण मे प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के लिए होता है। इस कोटि की कविताएँ हिन्दी में सबसे अधिक मात्रा में मिलती हैं। कहने को तो इस शैली की उद्भावना वीरगाथा-काल में ही हो चुकी थी; क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में

"चन्द-वदन चरन-कमल भौंह जनु भ्रमर गध रत,
कीर नास विवौष्ठ दशन ज्यों दामिनी दमक्कत।
भुज-मृणाल कुचकोक सिंहलकी गति वारुन,
कनक काति दुति देह जघ कदलीदल आरुन॥
अलसग नयन भयन मुदित
रुनित अनगह अग तिहि।
आनी सुमन्त आरम्भ बर,
भूलत देख देह जिहि।"

जैसी पंक्तियाँ मिलती हैं; पर रीतिकाल वालो ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिया। जहाँ कही नायक या नायिका की सुन्दरता का वर्णन करना हुआ, बस लीजिए, उपमानों की झडी लगा दी गई, जैसे वर्णित व्यक्ति के अंग अपने में कोई महत्त्व ही न रखते हो। 'मुख-कमल' का रूपक कविता के आदि-काल से चला आ रहा है। तुलसीदास तक इस परम्परा का मोह न छोड़

सके। एक ही पक्ति में एक उपमान चार-चार उपमेयों के साथ लाया गया है—

भवकञ्ज-लोचन कञ्ज-मुख कर-कञ्ज पद कञ्जारुणम्

और रीतिकाल का तो कहना ही क्या ! आँखो के लिए कमल, नाक के लिए शुक, दाँतो के लिए कुदकली, वाँहो के लिए मृणाल, जाँघो के लिए कदलीस्तभ, बेणी के लिए सर्प, चाल के लिए गज—तात्पर्य यह कि हर अग के लिए प्रकृति से उनलोगोने उपमान ग्रहण किए। इनका प्रचलन इतना बढा कि उपमाओं की लडी-सी लगा दी कई। अतएव आज भी अलकारो में उपमा का स्थान सर्वप्रथम है। रीतिकाल की कविता में इसके उदाहरण पग-पग पर मिलेंगे। ऐसी बाढ है कि उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का ध्यान भी वह-सा गया है। श्रीपति कवि कहते हैं—

"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे चपला,
निकाई अति लागत सहल—सी।"

इसे यदि केवल 'व्यतिरेक' अलकार का उदाहरण माना जाय, तव तो कोई बात नहीं; मगर जरा भी गौर करने पर गात की गुराई की चपला की चमक से उपमा देना अनुचित लगेगा। इस तरह 'नित-प्रति पूनों ही रहत आनन ओप उजास' में भी चमत्कार भले ही हो, कवित्व की मात्रा नही-के वरावर है। फिर क्यो न

"खिडकी से मत झाकियो चन्द्रवदनि अभिराम।
नही फेल कर जायगा ब्लैक आउट प्रोग्राम॥"

को भी सत्कविता की उपाधि दे दी जाय ? रीतिकालीन कुछेक कवियो ने प्रकृति से उद्दीपन विभाव का भी काम लिया है। कही तो ये विभाव इतना छा गए हैं कि केवल उन्हीसे रस की निष्पत्ति भी मान ली जाती है। उदाहरणार्थ शृगार का एक विभाव—

'नभ में घनघोर सी स्यामघटा,
अति जोर भरी घहरान लगी।

पिक, चातक, मोरन की धुनिहू,
चहुँ ओरन धूम मचान लगी॥
मलयानिल सीतल मन्द चली,
मदनानल को धधकान लगी।
निरखै किन पीतम पाय परे ?
रहिहै कवलौ अव मान पगी ?"

बहुत-से कवि उपदेश देने के लिए भी प्रकृति का सहारा लेते है। उपदेश देने या दार्शनिक तत्वों का समावेश करने में इस वात का सदा ध्यान रखना होता है कि कल्पना मनमाना काम न करने पाए। साधर्म्य का आरम्भ होना अनिवार्य है। तुलसीदास ने वर्षा और शरद ऋतुओं के वर्णन के साथ बहुत-से उपदेश दिए हैं। चित्रकूट की पयस्विनी नदी का मानस में वर्णन कवि के मानसिक विचारो का ही द्योतक है। दो-एक उदाहरण किष्किन्धा-काण्ड से—

"दामिनि दमकि रही घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाही॥
वरषहि जलद भूमि निरायए।
जथा नवहिं वुध विद्या पाए॥
बूंद अघात सहहि गिरि कैसे।
खल के वचन सन्त सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरी चली उतराई।
जस थोरेहु धन खल बौराई॥
पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप के जस करनी॥"

प्राकृतिक उपादानों को लेकर संस्कृत और हिन्दी में बहुत-सी 'कविप्रसिद्धियाँ' चल पड़ी है। इनमें से अधिकांश वस्तु-जगत् में नही देखी जाती, कुछ भावार्थ के विपरीत होती हैं और कुछ पर तो वास्तव में हँसी आती है। संस्कृत के आचार्यों ने इनका बड़ा विशद विवेचन-विश्लेषण किया है। लेकिन हिन्दी

में ये सीधे सस्कृत से ग्रहण कर ली गई हैं। वृक्षो, पुष्पों के सम्बन्ध में कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ यों है—सुन्दरियो के पटु-मृदु हास्य से चम्पा, वीक्षणामात्र से तिलक, स्पर्श से त्रिभंगु, गर्भकाव्य से मदार, मुख मदिरा से सिंचकर कुल और सहकार, आलिंगन से कुरवक, पदाघात से अशोक और सामने नृत्य करने से कर्णिकार विकसित और पुष्पित होते है। इनमें कल्पना को छूटकर उडान भरने का अवसर दिया गया है। कुछ ऐसे 'कवि समय' है, जो सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के अभाव में चल पडे है, जैसे—अशोक, चन्दन, वेंत, आदि में फूल-फल नही लगते, ऐसा माना जाता है। गोसाई जी ने स्पष्ट 'फूले फले न वेंत, जदपि सुधा बरसहि जलद' लिखा है। पर सत्य इसके विपरीत है। कोकिल का केवल वसन्त में वोलना और चकोर का अगार खाना भी ऐसी ही भ्रान्तियाँ है। कविता में प्रकृति से किनाराकशी ठीक नही; पर उसे इस प्रकार अनुचित ढग से घसीटना भी नही चाहिए। आज के वैज्ञानिक युग में इस तरह के वर्णन हास्यप्रद ही कहे जायँगे। इसलिए अब इनका प्रचलन भी कम हो गया है। फिर भी ये रीतिकाल के प्रकृति-चित्रण के एक महत्त्व-पूर्ण अंग है, जहाँ आचार्यो ने अपनी सारी कला खर्च कर दी है। उन्होने प्रकृति को दूर से देखा है, उससे साहचर्य नही स्थापित किया।

आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही प्रकृति-चित्रण के तरीके भी बदल जाते है। खडी बोली के कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओ को उपमान बनाकर उनकी माला गूँथने की अपेक्षा उनका स्वतन्त्र चित्रण करना ही श्रेयष्कार समझा। प्रकृति, जो मनुष्य के चारो ओर आज भी अपनी राशि-राशि सुन्दरता बिखेरती हुई निष्प्रयास बिखरी पडी है, एकदम अस्तित्व-हीन, स्पन्दनशून्य नही। फिर क्यो उसे अचेतन-निष्प्राण की तरह चित्रित किया जाय, जबकि गत्यात्मकता आज के युग की पहली शर्त्त है? फलतः नवयुग के प्रकृति-चित्रण में दो ही प्रकार के चित्र निकलेंगे—चाहे तो कैमरे से लिया हुआ एक दृश्य का स्नैप या चल-चित्रो की रवानी, जिसमें जीवन की गति हो। खडी वोली की कविता के प्रादुर्भाव-काल में, जब गत्यात्मक चित्रों की ओर कलाकारों का ध्यान नही गया था अथवा उन्हें शब्दो में उतारने की शक्ति

उनके पास नहीं थी, प्रकृति की निश्चल सुन्दरता, जो गतिशील न होकर भी सजीव थी, कविता का विषय बनी। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक आदि में हम यही पाते हैं। खड़ी बोली के पहले महाकाव्य 'प्रियप्रवास' का आरम्भ भी एक ऐसे ही वर्णन से होता है। यथा—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला;
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी कुलवल्लभ की प्रभा।"

यह प्रकृति का एक निष्कलुष चित्र है। इसमें अपनी ओर से कवि ने उसे न तो कुछ दिया है, न उसकी सजीवता ही हरण की है। गुप्तजी के काव्य में भी ऐसे चित्रण प्रचुर मात्रा में मिलेंगे।

छायावादी युग ने प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को एक नई दिशा दी है। छायावाद एक शब्द में प्रकृति-काव्य है। उसमें प्रतीकवादी विधान अपनाया जाता है। उसकी अधिकांश लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ प्रकृति से सम्बद्ध हैं। प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं के मूर्त्त लाक्षणिक रूप से छायावाद की कविता अनुप्राणित हुई है। उसकी व्यंजनाओं में प्रकृति के मूक दृश्यों ने वाणी पाई है, जिसके शब्दों में उसका संगीत मुखर हो उठा है। लहर, हिलोर, तरंग, वीचि और उर्म्मि का अन्तर पहली बार छायावाद ने ही परखा; संध्या की झुटपुट वेला में बाँसों के झुरमुट में 'टी वी टुट टुट' चहकती चिड़िया की ओर पहली बार उसीकी नजर गई। प्रसाद ने प्रकृति के वासनात्मक पहलू को अपना कर उसपर गीत लिखे हैं। प्रकृति से जिस प्रकार का इन्द्रियग्राह्य सुख-दु:ख उन्हें प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने ज्यों-का-त्यों वर्णित किया। विराट् को सीमा में बाँधने की शक्ति उनमें ही थी। 'कामायनी' में प्रकृति के विविध रूपों के अनुपम चित्र उतारे गए हैं। जहाँ मिट्टी की कठोर वस्तुवादी मान्यताओं से पलायन कर प्रकृति की गोद में उन्होंने शान्ति पाई है, वहीं उससे आगे बढ़ने, कर्म करने की प्रेरणा भी ली है।

पन्त किसी समय प्रकृति के कवि ही थे। हिन्दी को जितने अधिक प्राकृतिक चित्र उन्होने दिये है, उतने शायद ही किसी दूसरे कवि द्वारा मिले हों। पर पन्त की सबसे बडी कमजोरी यह है कि वह प्रसाद या महादेवी की तरह तह में नही पैठ सकते। उन्हें डूबने का गम है और 'सतह की चल-जल माली' ही ज्यादा भाती है। यह उनकी अचेतन स्वीकारोक्ति है। इसलिए उनमें मुग्ध करने की शक्ति अधिक है; वह रुककर कुछ देर सोचने को बाध्य नही करते। कही-कही उन्होने प्रकृति को बहुत अधिक मूर्त्तिमान कर दिया है। निस्सन्देह वहाँ उनकी कला अपने उत्कर्ष पर है। एक उदाहरण—

"कौन-कौन तुम परिहित-वसना
म्लानमना भूपतिता-सी ?
धूलि-धूसरा मुक्त-कुन्तला
किसके चरणो की दासी ?
अहा ! अभागिनी हो तुम मुझसी
सजनि, ध्यान में अब आया,
तुम इस तरु की छाया हो
मैं उनके पद की छाया !"

इस प्रकार की कविता समस्त रीति-युग में एक भी नही मिलेगी। उस समय यह सम्भव ही न था। बाद की कुछ प्रगतिवादी कविताओं में पन्त ने प्राकृतिक उपादानों से प्रतीकों का काम लिया है। मेरा आशय 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र', 'गा कोकिल, बरसा पावक कण !' आदि से है। 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण धूलि' में अपराजिता भाषा के साथ चित्रमयी कल्पना पुन निखर रही है।

निराला के चित्रो में दार्शनिकता का अधिक समावेश हुआ है। निराला ध्वनि को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते है। वह किसी बात को सीधी तरह न कहकर एक समा बाँध देते है, एक वातावरण उपस्थित कर देते है। उन्होने अपनी पहली ही कविताओं में कुछ ऐसे क्षण प्रस्तुत किये है, जिनपर पाठक सहसा दो क्षण सोचने को बाध्य हो जाता है। यही उनकी कला की

सफलता है। 'तुलसीदास' में प्रकृति सदैव कुछ कहती-सी जान पडती है। एक दूसरा चित्र सन्ध्या का कितना शान्तिमय कितना सजेस्टिव है, देखिए—

"अस्ताचल रवि चल, जल छल-छल
छवि स्तब्ध विश्व कवि, जीवन उन्मन।
मद पवन वहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।"

इन्हे देखकर वर्ड्सवर्थ की ये पंक्तियाँ, जो पुन.-पुन. प्रशंसित हो चुकी हैं, सहसा याद आ जाती है—

It is a beauteous evening calm and free,
The holy time is quiet as a Nun,

Breathless with adoration the broad sun
Is sinking down in its tranquility."

कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रण में निरालाजी रवीन्द्र से होड लेते-से दीखते है।

महादेवी के काव्य में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन-स्वरूप होता है। उन्होंने अपने अनन्त विरह को प्रकृति के विरह के साथ मिलाकर एकाकार कर दिया है। उनका प्रिय सदैव प्रकृति के धुँधले चित्रो में छिपा रहता है, जिसे खोजने के मिस वह उसके पट-पर-पट उघारती जाती है। 'दीपशिखा' की भूमिका में उन्होंने लिखा—"प्रकृति का शान्त रूप मेरे हृदय को चचल लय से भर देता है, उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्मा को शान्त अस्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रता की प्रतिक्रिया ही सम्भवत मेरी एकाग्रता का कारण रहती है। मेरे अन्तर्मुखी गीतो में तो यह एकाग्रता ही व्यक्त हो सकती है; परन्तु चित्रों मे उनका वाह्य आवरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, वादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय है, जिनपर चित्र बनाना

अनायास और, बना लेने पर, आनन्द स्थायी होता है।" उनका प्रकृति-चित्रण यथार्थ का प्रतिबिम्ब न होकर स्थूलगत सूक्ष्म का भावक है।

प्रकृति की तस्वीर उतारनेवाले कवियो में बच्चन और नेपाली मुख्य है। व्यक्ति की प्रधानता जितनी बच्चन की कविता में है, आधुनिक युग के किसी अन्य कवि की कविता में उतनी नही। व्यक्ति, उसके मनोभाव और फिर उसकी चहारदीवारी—बच्चन को बस इतने की ही आवश्यकता है। इसलिए वह प्रकृति को कही और कभी नही छोड सके है। प्रकृति में बराबर उन्होने अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण पाया है। वह उनके सारे कार्य-व्यापारो की अक्षिणी है। अपनी इधर की रचनाओं में उन्होने प्रकृति के वासनात्मक पहलू को ही अपनाया है। 'मिलन यामिनी' के कुछ गीत सचमुच बहुत सुन्दर उतरे है। एक ओर जहाँ उनमें 'प्रिय शेष बहुत है रात, अभी मत जाओ!' और 'प्रिय मौन खड़े जलजात, अभी मत जाओ!' की उद्दाम वासना और आकर्षण है, तो दूसरी ओर 'कुदिन लगा, सरोजिनी सजा न सर' और 'मै गाता हूँ इसलिए कि पूरब से सुरभित जो सोना शुभ्र-सलोना नित्य बरसता है, उसको कोई बस प्रातकिरण मत कह बैठे' की दुर्दम अनुरक्ति भी। 'प्रहर शीत वात का हुआ निठुर' आदि कुछ प्रगीतों में साकेतिकता का प्रयोग बेजोड है। नेपाली तो जैसे रूप और रूप से अधिक प्रकृति के कवि है। उन्होने प्रकृति की रमणीयता को गीत-चित्रो में बाँधा है। जैसे, हम कोई अत्यन्त मनोरम दृश्य देखकर उसका एक स्नैप ले लेते है, वैसे ही नेपाली की आँखें केमरे की आँखें है। उनके चित्रों में गति तो नही मिलेगी; पर रगो की विविधता दर्शनीय हो जाती है। और, रङ्ग भरने की कला में उन्हें इतना कमाल हासिल है कि कभी वह पुनरारोप नही होने देते। 'नवीन' में उनकी कविता का नया निखार है। अपनी नई दिशा में वह पूरे सफल है। दो-एक कल्पनाएँ—

"दो मेघ मिले हौले-हौले,
बरसाकर दो-दो फूल चले।"

और "उषा ने मले अबीर-गुलाल
कमल के गाल लाल कर दिए"

प्रगतिवादियों का प्रकृति-निरीक्षण छायावादियो और रोमाटिको से तत्त्वत. भिन्न है। जहाँ रोमाटिक कवि प्रकृति के सुनहले पक्ष को देखकर ही उनमे आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता था, वहाँ प्रगतिवादी कवि उसके कुरूप रूप की ओर भी आकृष्ट हुआ है और उसमें भी उसने सुन्दरता पाई है।

"कूड़ा-करकट जो कुछ भू पर,
सब कुछ सार्थक, सब सुन्दर!"

प्रगतिवाद की वर्त्तमान प्रचलित व्याख्या को मार्क्सवाद का व्यावहारिक साहित्यिक रूप मानना अनुचित न होगा। मार्क्सवाद को आधुनिक समाज-व्यवस्था मे सन्तोष नही। वह सृष्टि का पुनर्निर्माण चाहता है। जो कुछ प्राचीन और रूढ़िवादी है. उन सबको तोड-फोडकर वह नई दुनिया नये सिरे से गढ़ना चाहता है। उसकी दृष्टि में साहित्य आइना नही, हथौडा है।—(ट्राट्स्की)। उसका चित्रण कल्पना से दूर विशुद्ध यथार्थवादी होता है। नरेन्द्र शर्मा, अञ्चल, सुमन आदि का दृष्टिकोण प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में प्रगतिवादी रहा है। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तो प्रगतिवाद का जयघोष ही है। इनमें वह अपनी मूर्त्ति-विधायिनी शक्ति छोड सादे पेंसिल-स्केच बनाते दीखते हैं। तुच्छता मे गौरव-दर्शन की प्रवृत्ति ने निराला के विचारो में भी क्रान्ति ला दी है, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने कुरूप 'कुकुरमुत्ता' का भी चित्र दिया है। नरेन्द्र शर्मा के 'मिट्टी और फूल' में भी फूल के सौरभ से मिट्टी की पार्थिवता ही अधिक है। इस दिशा में अज्ञेय अधिक सफल होते, यदि उनके सिद्धान्त और व्यवहार पक्षों में साम्य होता।

यह विचारणीय है कि इन दिनों हमारे अधिकांश कवि गाँवो में न रह-कर बड़े-बड़े शहरो में रहते हैं। फलतः उन्हें नगर-सुलभ-दृश्य ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। उनके सामने प्रकृति को वन-उपवनो, मुक्त अकाश में देखने की अपेक्षा खिड़की से अपने घर के साथ कृत्रिम रूप से बनाए गए गमले की गुलदाउदी और स्वीट-पी को ही देखने का अवसर ज्यादा रहता

है। वे तरु-गुल्मादि आच्छादित शैल-शृङ्गों का गगन-चुम्बन देखने की अपेक्षा पास के कारखाने की चिमनी से उठता धुआँ ही देखा करते हैं। अतः दिनो-दिन हिन्दी-कविता से प्रकृति-चित्रण दूर होता जा रहा है। जहाँ है भी, वहाँ एक बहुत सकुचित वातावरण के चित्र के रूप में गद्यात्मक, सेकेण्ड-हैंड जैसा। दूसरी बात, अब उसकी सुन्दरता-शालीनता की अपेक्षा रौद्रता-भयकरता ही कवियो को अधिक आकृष्ट कर रही है। आजकल नई रचनाओं में विध्वस, कुरूपता के ही चित्र ज्यादा देखने को मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के कवियो में सबसे सशक्त व्यक्तित्व दिनकर का है—यों उनके 'द्वन्द्वगीत' में प्रकृति-चित्रण का दार्शनिकता के साथ संयोग किया गया है। व्यङ्ग और कटुता की मात्रा प्रभाकर माचवे और रागेय राघव में ज्यादा है।

आज के इस प्रयोगवादी युग में प्रकृति-चित्रण की नई-नई प्रणालियों से काम लिया जा रहा है। हिन्दी-कविता एक बहुत सकुचित क्षेत्र में पहुँचा दी गई है। अत दृष्टिकोण और कैनवास में भी प्रसार की आवश्यकता है। कुछ प्रगति के चिह्न भी दिखलाई दे रहे हैं; मगर इस दिशा में परिणतियों से सभावनाएँ ही अधिक हैं। भविष्य में काव्य का प्रकृति से क्या और कैसा सम्बन्ध रहेगा, यह तो कहना कठिन है; लेकिन अगर अनुकरण को छोड़कर चिन्तन-अनुवीक्षण से काम लिया गया, तो निस्सन्देह एक नया अध्याय जुड़ेगा!

भारतीय साहित्य में राधा

राधा की परंपरा

राधा लोक-मानस की सृष्टि है; क्योंकि उसका उल्लेख देशी भाषाओं में पहले हुआ है, सस्कृत-ग्रंथो में बाद को। इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है।

वेद में कृष्ण का नाम तो आया है; किन्तु राधा का नहीं। महाभारत के विस्तृत क्षेत्र में भी कहीं राधा का पता नहीं है। श्रीमद्भागवत में एक

गोपी का, जो कृष्ण की विशेष कृपा-पात्र है, वर्णन तो हुआ है; किन्तु राधा का नहीं।

'राधा' शब्द 'राध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है आराधना करना और इस प्रकार 'राधा' का अर्थ 'राधक' होगा।[1] अत सम्भव है कि भागवत की यही कृष्ण-आराधिका आगे चलकर मध्ययुग मे कृष्ण-काव्य की राधा बन गई हो।

राधा की कल्पना प्रथम शताब्दी के आस-पास हुई, यह निश्चित है; और अनुमान किया जाता है कि लोक-गीतों की राधा दशवी शताब्दी के लगभग संस्कृत के धर्म-ग्रंथों में भगवान् कृष्ण की पत्नी के रूप मे स्वीकृत हुई। काव्य में राधा का प्रथम उल्लेख प्राकृत-ग्रंथ 'गाथा सप्तशती'[2] में मिलता है और इसके बाद 'पंचतंत्र' में। दसवी शताब्दी के आस-पास लिखे गए 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' में राधा पहली बार कृष्ण की पत्नी के रूप में आई है—

स्वयं राधा कृष्ण पत्नी कृष्णवक्षस्थल स्थिता।

—ब्र० वै० पु०

इनके बाद ही दक्षिण में भक्ति की जो लहर आई, उसके फलस्वरूप अनेक सम्प्रदाय उग आए। निम्बार्क ने 'वृषभानुजा' राधा को 'कृष्ण की मूल प्रकृति' मानकर उनके वामपक्ष में बैठाया—

अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा।
विराजमाना मनु रूप सौभगाम्।

और, जयदेव[3] ने उसे कविता की रानी बनाया। सच तो यह है कि साहित्य में राधा की मधुर अवतारणा करने का श्रेय जयदेव को है, यद्यपि कहा जाता है कि उसकी कल्पना अलवरो के पूर्ववर्त्ती साहित्य में हो चुकी थी।

---

१. अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर. (भा० १०—३—२८)
२. विक्रम संवत् के जन्मकाल के आस-पास।
३. बारहवीं शताब्दी।

जयदेव की राधा

जयदेव की राधा अत्यन्त कोमल और मृदुल है। कृष्ण के 'सौदर्य-मन्दिर सुवेशम्' पर वह मुग्ध है; अत, यह जानकर भी कि कृष्ण वहुवल्लभी है—'गोप कदम्व नितम्ववती चुम्वन' वह उनपर न्योछावर है। जयदेव की राधा केलि और विलास-प्रिय यौवन-प्राप्त रमणी है—

राधा माधवयोर्जपन्ति यमुना कुलेरह: केलय:।

उसमें वनवाला की सयल-निश्छल प्रगल्भता और निर्वन्ध प्रेम का अजस्र वेगवान प्रवाह है। जयदेव की राधा धरती की मृत्तिका से रची गई है, अत: उसका शारीरिक पक्ष मासल है—

प्रथम समागम लज्जितया पटु चाटु गतैरनुकूलम्।
मृदु मधुरस्मित भापितया शिथलीकृत जघन दुकूलम्॥

विद्यापति की राधा

जयदेव के वाद वंगाल में चण्डिदास, विहार मे उमापति और विद्यापति और गुजरात में नरसी मेहता ने राधा-कृष्ण सम्वन्वी काव्य रचे। राजस्थान की मीरा तो स्वयं राधा ही वन गई।

'अभिनव जयदेव' विद्यापति ने 'गीतगोविन्द' की यौवना राधा को वय:-संधि में खड़ा किया है——

शैशव-यौवन दुहुँ मिलि गेल;
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन लेल
वचनक चातुरि लहु-लहु हास;
धरणिम चाँद करत परकास।
मुकुर लेई अव करत सिंगार;
सखि रे पूछइ कइसे सुरत-विहार।
निरजने उरज हेरइ कत वेरि;
हासत अपन पयोधर हेरि।

राधा का यह चित्र अत्यन्त मादक है; पर अस्वाभाविक नहीं। शैशव और यौवन की संधि में खड़ी राधा के लोचनों का आकर्ण विस्तार, उसका मधुर-मधुर हँसना, दर्पण लेकर शृगार करना, सखी से उत्सुकतावश सुरत-विहार का हाल पूछना और एकान्त में अपने उरोजो को बार-बार देखना कितना मादक, पर कितना स्वाभाविक है।

विद्यापति की राधा जयदेव की राधा की भाँति ही कौशल-कुशल है, पर जयदेव की राधा में जहाँ यौवन का मासल विलास है, वहाँ विद्यापति की राधा में यौवन सौन्दर्याकर्षण के साथ शैशव की चचलता भी—

खने-खने नयन कोन अनुसरई;
खने-खने वसन-धूलि तनु भरई।

यह चंचल-विलास-प्रिय 'नव यौवनाभिरामा वामा' आगे चलकर कृष्ण-मिलन के उपरान्त तन-मन से कृष्ण में लीन-सी हो जाती है। शायद इसीलिए डा० ग्रियर्सन ने विद्यापति की राधा को भगवान की परम शक्ति (Supreme Mistress) कहा है। पर, अधिकांश पदावलियों में हृदय-पक्ष से शरीर-पक्ष अधिक प्रबल हो उठा है, तन्मयासक्ति की अपेक्षा विलास-वासना अधिक मुखर हो गई है। कृष्ण-मिलन के प्रसग में वह स्थान-स्थान पर अधीर हो गई है और उसे शील एवं मर्यादा बोझ जान पडने लगी है—

सामर सुन्दर ए वाट आएत
ते मोरि लागलि आँखि।
आरति आँचर साजि न भेले
सब सखी जन साखि॥
कि मोरा जीवन कि मोरा यौवन
कि मोरा चतुरपने।
मदन-वान मुरुछलि अछओं
सहओं जीव अपने॥
आध पद धरमत मोए देखल
नागर-जन समाज।

कठिन हृदय भेदि न भेले
जाओ रसातल लाज ॥

विद्यापति स्वभाव से कवि थे—सौंदर्य-निरीक्षण की सिद्धकला के कवि। अत. राधा के सौंदर्य की जो अनुपम सृष्टि विद्यापति ने की है, वह अन्यत्र नही मिलती। विद्यापति का प्रभाव वगकवि गोविन्द दास पर तो पडा ही है, उनकी राधा के सौंदर्य-वर्णनो की प्रतिध्वनि महाकवि सूरदास की पंक्तियों में भी सुनाई पडती है।

चण्डिदास की राधा

चण्डिदास विद्यापति के समसामयिक थे और मित्र भी। चडिदास की राधा एक भिन्न सृष्टि है। वह परकीया है। उसके मिलन में गुरुजन, ननद आदि पुरजन-परिजन वाधक हो रहे हैं—

घरे गुरुजन ननदी दासन, विलंबें वाहिर हे नू।
अहा मरि मरि, सकेत करि, यतना यातना दिनू॥

इन वाधाओं ने उसका चाचल्य छीन लिया है और उसके प्राण को भय, आशका और मिलन की आकुल आनन्दानुभूतियों से भर दिया है। वह कभी कलक के भय से त्रस्त हो जाती है और कभी मिलन के आनन्द की कल्पना से विह्वल।

चण्डिदास की राधा नवनीत-सी कोमल है। इतनी कोमल-करुण राधा दूसरी नही हुई। क्षणभर का वियोग भी उसे असह्य है। संयोग के आनन्द में भी भावी वियोग की कल्पना करके वह सिहर उठती है। चण्डिदास ने भक्ति-विह्वल आँसुओ से उसकी सृष्टि की है। विरह का अश्रुअर्घ्य लेकर खडी चण्डिदास की तन्मयासक्त राधा की प्रीति सचमुच निराली है—

एमन पीरित कभु देखी नाइ शुनि।
पराणे पराण वाँधा आपने आपनि॥
दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।
आध तिल ना देखिल चाय ये मरिया॥

जल बिनु मीन जनु कबहुँ ना जीये ।
मानुषे एमन प्रेम कभू ना देखिए ॥

विद्यापति की राधा केलि-प्रिय है और चण्डिदास की राधा तन्मयासक्त—

तुम मोर पति तुम मोर गति मन नाहि आन भाय।

विद्यापति की राधा चंचल है, चण्डिदास की राधा मुग्धा और भावुक। विद्यापति ने 'राधा की वयसंधि' में सन्धिकालीन चचल-विलास का वर्णन किया है और चण्डिदास ने 'नायिकार पूर्वानुराग' में भावुकतापूर्ण आवेश का। चण्डिदास की पूर्वानुरागिनी 'विनोदनी' भी वस्तुतः 'महायोगिनी' है। श्याम को देखते ही वह शरीर की सुधबुध खो बैठती है। योगिन की तरह एकांत में हाथ पर कपोल रखकर मन की आंखो से देखती, आँसू बहाती रहती है। आँखों में सावन उमड़ा होता है। वस्त्र और वेणी सँभालने का तो उसे कभी ध्यान ही नहीं रहता। यथा,

यमुना जाइया श्यामरे देखिया
घरे आइलो विनोदिनी;
विरले बसिया काँदिया-काँदिया
धेयाय श्याम-रूप खानि।
निज करोपर राखिया कपोल
महायोगिनीर पारा;
ओ दुटी नयने वहिछे सघने,
श्रावण मेघेरि धारा।

और,

चाँचर चिकुर, कभू ना सवर,
केने होइल अगेयान,
चण्डिदास कहे, वेंझेछे हृदये,
श्यामेर पिरीति-बान ॥

इस प्रकार जहाँ जयदेव की राधा का शरीर-पक्ष मांसल है और विद्यापति

की राधा का अंग-अंग थिरकता है, वहाँ चण्डिदास की राधा की दसो इंद्रियाँ मुग्ध-मौन है। विद्यापति की राधा का प्रेम अतृप्त है—

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल

चण्डिदास की विस्मय-विमुग्ध राधा के समक्ष तृप्ति-अतृप्ति का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है।

सूरदास की राधा

सूरदास की राधा व्रजवनिता के शील और मर्यादा के बीच विकसित होनेवाली सौंदर्य-प्रतिमा की प्रतीक है। उसमें वास्तविकता और आदर्श, शृंगार और भक्ति का अपूर्व मेल हुआ है। राधा का यह संयमित और मर्यादित रूप अत्यंत विरल है—

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौ मन कर्मना करि हृदय दुविधा टारि।
स्याम को एक तुही जान्यो दुराचरनी और।
जैसे घट पूरन न डोलै अधखुलो डगडौर।

ऐहिक दृष्टि से सूरदासजी ने राधा के प्रेम का स्वाभाविक विकास दिखलाया है। बचपन में यमुना के किनारे खेलते समय एक दिन संयोगवश कृष्ण और राधा मिल जाते हैं—

गये श्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।
औचकि ही देखी तहाँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।

दोनो में परिचय होता है—'पूछत श्याम कौन तू गोरी' और दोनो मन-ही-मन एक-दूसरे को चाहने लगते हैं—

प्रथम स्नेह दुहुन मन जानि।
सैन-सैन कीनी सब बातैं गुप्त प्रीति शिशुता प्रगटानि।

बचपन की यह प्रीति धीरे-धीरे गहरी होने लगती है। दोनो एक-दूसरे को चाहते है, पर दोनो शीलवश अपने प्रेम को छिपाये रखने का यत्न करते है; फिर दोनो एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने लगे है। दोनो के प्रेम-विकास में नंद,

यशोदा, ललिता आदि सभी सहायक है। चण्डिदास की राधा की-सी बाधा का भय सूरदास की राधिका को नही है। नद राधा को सकोचवश खड़ी देखकर बुला लेते है और बड़े प्यार से कृष्ण के साथ खेलने का आग्रह करते है। जब आसमान में घटा छाई और बिजली चमकती होती है, वे राधा से कहते है कि वह कृष्ण को घर पहुँचा दे—'कह्यो वृषभानु की कुँवरि सो बालिकै राधिका कान्ह घर लिये जा री।' इस प्रकार सूरदास की राधा के प्रेम का प्रस्फुटन पारिवारिक सम्बन्धो के बीच हुआ है। उस प्रेम का आधार न केवल रूप-लावण्य है, वरन् दीर्घ साहचर्य भी।

वयस्क होने पर भी यह राधा जयदेव, चण्डिदास अथवा विद्यापति की राधा से भिन्न रहती है। इसके हृदय की प्रेमधारा मर्यादा के उपकूलो को डुबाकर नही बहती। सूरदास की राधा को मनाते-मनाते कभी-कभी कृष्ण मूर्च्छित तक हो जाते है। स्वय राधा भी मिलने के लिए व्याकुल रहती है; पर, फिर भी, चण्डिदास की राधा की तरह कृष्ण की जरा-सी मनुहार पर मान नही जाती—

भरि भरि अँखियन नीर लेति पै ढारति नाही।
अति रिस काँपति अधर करकि करि भृकुटि तानही।

राधा की इस आन मे किसी प्रकार का दुराग्रह नही, वरन् प्रीति की प्रतीति है।

सूरदास की राधा कृष्ण की प्रेमिका नही, पत्नी है—युग-युग की, जन्म-जन्म की। विरह-काल में उसका रूप अत्यन्त नमस्य और प्रणम्य हो गया है। सूरदास की राधा के विरह की कोई इयत्ता नही है—

मनहुँ विरह दव जरत विश्व सम राधा रुचिर निकेत।
धुज होइ सूखि रही सूरज प्रभु बँधी तुम्हारे हेत।

पर, फिर भी, वह साधारण गोपियों की तरह कृष्ण की निन्दा नही करती—'सखि री, हरि को दोष न देहु।' पर, वही राधा कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटते समय स्वय ललककर आगे नही बढती। प्रेम और सयम के तत्त्वो से गढी सूरदास की राधा सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य मे अकेली है।

दर्शन की दृष्टि से सूरदास की राधा कृष्ण की मूल प्रकृति है—

(१) व्रजहिं बसै आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।

(२) नित्य धाम वृन्दावन श्याम।
नित्य रूप राधा व्रजवाम।

परवर्त्ती काल की राधा

परवर्त्ती काल में, अर्थात् रीतिकाल में, जब कविता सभा की परी बनी, तब उसके साथ विदग्धा राधा को भी व्यभिचारिणी बनाया गया—

कौन संकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहूँ तरसावति।
बावरी, जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंग लगावति॥

कालोपरान्त नवयुग का स्वर्णविहान आया और उस युग के विधाता 'राधारानी के गुलाम' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राधा-कृष्ण के विवाह की कल्पना करके उसके कलंक का परिमार्जन किया—'राधा-मोहन ब्याह सों, जैहैं धोय कलंक।'

'प्रियप्रवास' की राधा

इस प्रकार राधा काव्य की उपेक्षिता नहीं रही है। मध्यकाल में तो वह जैसे काव्य की आत्मा ही बन गई। पर कृष्णकाव्य की अनुराधा अन्ततः शोकपर्यवसायिनी ही रही, किसीने उसके आँसुओ को पोछने की चेष्टा नही की। राधा जीवन-भर रोती रही। वस्तुत. उसके जीवन के अन्तिम दिनो का चित्रण हुआ ही नही।

फिर राधा को किसीने प्रेमिका के रूप में देखा, किसीने प्रेम-योगिनी के रूप में और किसीने परिणीता के रूप में। इस प्रकार सभी ने राधा को एक व्यक्ति के रूप में देखा। वह अपने सुख-साधन के लिए चिंतित है, अपने दु.ख-दर्द के कारण विकल है। सामाजिक उत्तरदायित्व-बोध की वह गरिमा उसे न मिल सकी, जो राम, कृष्ण और सीता को मिली।

तीसरे, राधा मात्र रूप की रानी रही। सभी ने उसके लावण्य का, शारीरिक कान्ति और सौष्ठव का चित्रण किया। मध्ययुग में तो इस रूपासक्ति

को भक्ति का गौरव भी दे दिया गया। पर शायद ही किसीने उसके विचारों की ओर ध्यान दिया।

'प्रियप्रवास' के विधाता, हरिऔधजी, द्विवेदीयुग में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं, यद्यपि स्वयं द्विवेदी-मंडल से बाहर काव्य-साधना करते रहे। द्विवदी' युग एक आदर्शवादी, शुष्क आचारवादी पुरुषकाल था, जिसने रतिशास्त्र को अग्निसात किया था और प्रेम एवं शृंगार को वर्जित-प्रदेश (Forbidden land) मान लिया था। पर नैतिकता से शंकित यह काल नाना चिंताओं से संकुल था और इसी कारण उसका साहित्य विविध-विषयक था और उसकी भाषा विषयोपयोगी। फिर यह संधिकाल था, जिसमें तत्कालीन आचार्यों के आचार और आदर्शवाद से लोहा लेने के लिए छायावादी कवियों का स्वच्छंदतावाद या हृदयवाद उठ खड़ा हुआ था। पश्चिम की आर्थिक क्रांति और स्वदेश के स्वातंत्र्यान्दोलन ने साहित्य में सामाजिक उत्तरदायित्व और देश-सेवा की भावना भरी थी।

उसी काल की अनुरूपता में 'प्रियप्रवास' की रचना हुई है। इसमें नवयुग का कंठ-स्वर बोलता है। भूमिका में हरिऔधजी लिखते हैं—

"इस ग्रंथ का विषय श्री कृष्णचन्द्र की मथुरा-यात्रा है; और इसीसे इसका नाम 'प्रियप्रवास' रखा गया है। कथा-सूत्र से मथुरा-यात्रा के अतिरिक्त उनकी और ब्रज-लीलाएँ भी यथास्थान इसमें लिखी गई हैं। ....मैंने श्री कृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।....आधुनिक विचारों के लोगोंको यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति में तो भगवान श्री कृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चित्र लिखने के समय 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः प्रभुः' के रंग में रँगकर ऐसे कार्यों का कर्त्ता उन्हें बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे। मैंने उसी विचार को सम्मुख रखकर इस ग्रंथ को लिखा है; और कृष्ण-चरित्र को इस प्रकार अंकित किया है, जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सकें।"

उपर्युक्त संदर्भ से कवि की युगानुगामिता का परिचय मिलता है। प्रथमतः,

'प्रियप्रवास' का मुख्य स्वर आध्यात्मिक नहीं, नैतिक है, द्वितीयतः, इसमें भावुकता से अधिक तार्किकता को महत्व दिया गया है। तृतीयत, इसे आधुनिक युग के अनुरूप बनाया गया है। ये बातें जितनी दृढ़ता के साथ 'प्रियप्रवास' के कृष्ण के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं, उतनी ही दृढता से राधा के सम्बन्ध में भी।

'प्रियप्रवास' की राधा चिरकुमारी है। वह न तो जयदेव की राधा की तरह प्रगल्भा है, न चण्डिदास की राधा की तरह परकीया और न सूरदास की राधा की भाँति परिणीता।

यदि 'प्रियप्रवास' के कृष्ण 'नृ-रत्न' हैं, तो राधा 'रमणि-वृन्द-शिरोमणि' है—

यक सुता उनकी अति-दिव्य थी।
रमणि-वृन्द-शिरोमणि राधिका ।
सुयस-सौरभ से जिनके सदा ।
व्रजधरा बहु-सौरभवान थी।

(चतुर्थ सर्ग, ३)

वैसे यह राधा भी सूरदास की राधा की भाँति सुन्दर और विद्यापति की राधा की भाँति 'क्रीड़ा-कला पुत्तली' है। वह हावभाव में निपुण और कटाक्ष-पात में पडित है—

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद आपूरिता ।
लीला लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभंगिमा-पडिता ।

(चतुर्थ सर्ग, ६)

पर, इस राधा की काया जितनी कान्तिमयी है, उतना ही उसका हृदय उदार और मन पवित्र है। वह समाज-सेविका है—रोगी और वृद्धजनों की सुश्रूषा करती है और सदा दूसरो के दु.ख-निवारण के लिए चिंतित एवं क्रियाशील रहती है।

सद्वस्त्रा-सदलङ्कृता गुणयुता-सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकारिता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-सपोषिका।
राधा थी सुमना, प्रसन्नवदना, स्त्री-जाति-रत्नोपमा।

राधा का यह व्यापक रूप साहित्य के लिये सर्वथा नवीन एव अभिनदनीय है। 'प्रियप्रवास' के लेखक ने आधुनिक युग के उपयुक्त बनाकर राधा के चरित्र को पूर्णता देना चाहा है। पहले की राधा पूर्ण नारी नही, अधूरी नारी है—प्रेम से विह्वल और विरह से सतप्त। नारी-जीवन का मातृपक्ष—स्नेह-सेवा-पक्ष—लेकर प्रियप्रवास की राधा पूर्ण नारीत्व की ओर आई है, पर इस प्रक्रिया में उसका युग-युग का सहज सौकुमार्य मर्माहत हो गया है।

'प्रियप्रवास' में राधा के प्रेम-विकास की सूचना तो मिलती है; पर उसमें वह रस नही, जो जयदेव, विद्यापति और सूरदास के प्रेम-वर्णनो में है। इसके मुख्यतः दो कारण है—एक का सम्बन्ध आदर्श से है और दूसरे का उद्देश्य से। कवि द्विवेदीकालीन तथाकथित आचारपूत, आदर्शवाद का निर्वाह कर रहा है, जिसमें प्रेम के हाव-भाव, चहल-पहल, लीला-चुहल, आदि के लिए स्थान न था। स्वभावतः कवि ने राधा की प्रेम-लीलाओ और चेष्टाओं को छूआ ही नही। साथ ही, लेखक का उद्देश्य राधा के जीवन के पूर्व पक्ष का नही, वरन् उत्तर पक्ष का—कृष्ण-प्रवास के बाद की राधा का—चित्रण करना है। अतः, उसने वस्तु-विकास के हेतु प्रसगवश राधा के प्रेम-क्रम का उल्लेख—भर कर दिया है।

इस प्रकार जहाँ पूर्ववर्त्ती काल के अधिकाश कवियो में राधा का सयोग-पक्ष प्रधान है और सूरदास मे सयोग और वियोग दोनो समान है, वहाँ 'प्रियप्रवास' में उसका वियोगपक्ष प्रधान है।

जहाँ नन्ददास की गोपी वियोग में भी सयोग की कल्पना कर लेती है, वहाँ हरिऔध की राधा सयोग-काल में भी वियोग की आशका से त्रस्त रहती है। राधा, जो अपना हृदय कृष्ण को कभी चढा चुकी है, कृष्ण को

'सविधिवरण' करने की कामना कर रही थी कि एक दिन मधुपुर से बुलावा आ गया। सब कहते है, कृष्ण जाकर लौट आवेंगे, पर, न जाने क्यो, राधा का मन इसे स्वीकार नही करता। उसे लगता है कि यह बुलावा उसके भाग्य की गति को बदलने आया है।

किन्तु चडिदास की राधा की तरह वह 'मोम की पुतली' नही और न जयदेव की राधा की तरह प्रगल्भा है। वह न तो सबके सामने ('ललिता को छोड-कर) हृदय के काँटे खोलती है और न कभी विवेक-शून्य अथवा क्रियाहीन होती है। मन की आकाक्षा और व्यथा मन में ही रखकर वह भगवती की विधिवत् पूजा करती है, व्रत रखती है और देवी-देवता मनाती है।

स्पष्ट है कि 'प्रियप्रवास' की राधा सुसस्कृत नागरी है। वह ब्रज की गँवई से निकलकर नगर की ओर चली आई है। इस अर्थ मे भी वह राधा की परम्परा मे एक नई कड़ी जोड़नेवाली है।

राधा की आशंका ठीक निकली। कृष्ण नही लौटे। राधा उदास हो गई। पर पूर्व ग्रथों की राधा की तरह न तो वह रो-रोकर मूर्च्छित होती है, न कचुकी भिगोती है और न मधुवन को कोसती है। वह एकबारगी मौन एवं समुद्र-सी प्रशान्त हो गई है। सूरदास की राधा कृष्ण-गमन के पूर्व पूर्ण सयोगिनी है और बाद में पूर्ण वियोगिनी। 'प्रियप्रवास' की राधा दोनो अव-स्थाओ में विवेकिनी है। इस कारण वियोग में भी उसके मुख की शान्ति और प्रफुल्लता, किंचित् म्लान होकर भी बनी रहती है।

सूरदास की राधा प्रेम की बावरी है। प्रेम-वारि से वह इस तरह भीगी है कि उसके पास तर्क के लिए अवकाश ही नही है। प्रेम ही उसका तर्क है, ज्ञान है। प्रेम के अभाव में वह किसी भी पदार्थ से सतुष्ट नही हो सकती। हरिऔध की राधा विवेक और ज्ञान को लेकर पैदा ही हुई है। इसलिए ऊधो के आने के पूर्व से ही अपने मन को प्रबोधन देती रहती है। जब ऊधो आते हैं, तो पूर्वग्रथों की गोपियो की तरह वह उनका मजाक नही उडाती, उन-पर व्यग नही करती, वरन बडे शिष्ट ढंग से उन्हें आसन देती है और कृष्ण

का सदेश-पत्र सुनकर कहती है कि मै तो न जाने कबसे अपनी 'विरह-जनित-वासना-व्यथा' को सयम से बाँध रही हूँ।

उसमे विद्यापति की राधा की-सी प्रेम की उत्कठा अवश्य है। विद्यापति की राधा 'नन्दनन्दन से मिलने के लिए सुरपति से लोचन और गरुड से पख' माँगती है। हरिऔध की राधा भी आकाश मे पक्षियो को उडते देखकर पखों की आकाक्षा करती है और पवन को डोलते देखकर पवन बन जाना चाहती है।

पर, भेद यह है कि 'प्रियप्रवास' की राधा, यद्यपि 'श्याम की याद' से यदा-कदा व्यथित हो उठती है; पर अधिकतर वह सयत और निर्लिप्त रहती है—

निर्लिप्त हूँ अधिकतर मै नित्यश. सयता हूँ।

इस यौवन-काल में इस प्रकार निर्लिप्त रहना मनोविज्ञान के आचार्यों को शायद खटके; पर इतना तो निश्चय है कि हरिऔधजी ने राधा को स्वस्थ मानवी का रूप दिया है। उसमे रति-विरति का अन्तर्द्वन्द्व है; उसका कायिक पक्ष मांसल नही है। उसका प्रेम निरावृत नही है। उसमें प्रेम का आकर्षण है, विरह की वेदना है; पर सब कुछ सयम और विवेक से बँधा है। 'प्रियप्रवास' की राधा परम्परागत राधा की एक आधुनिक व्याख्या है।

प्रकृति का विस्तार उसके प्रेम को व्यष्टि से समष्टि की ओर, शरीर-पक्ष से भाव-पक्ष की ओर खीच लाया। प्रकृति में प्रियतम का भाव-विस्तार पाकर वह कायिक वियोग को भूलने लगी। वियोग तभी तक दु खदायी होता है, जब तक शारीरिक सम्मिलन की आकाक्षा होती है। शरीर को गौणता देने पर वियोग कहाँ? अत. राधा पहले जिन प्राकृतिक पदार्थों को देखकर दु खी होती थी, अब उन्हीको देखकर सुखी होती है।

इस प्रकार हरिऔधजी ने राधा के मोह को शुद्ध प्रणय का रूप दिया है। राधा के प्रेम में अब शृंगार नही, शान्त रस है।

हिन्दी-काव्य में विरह

विरह प्रेम की कसौटी है; प्रेम जीवन में पवित्रता तथा सच्चाई का दृष्टान्त उपस्थित करनेवाला एक प्रसशनीय साधन है। पाकर खोने में दुःख है, कष्ट है और खोकर पाने में सुख है, आनन्द है। विरह मानव-जीवन की एक स्वाभाविक दशा है और हमारे हिन्दी-साहित्य के कवियों ने इस मनोदशा का बडा ही हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसे पढकर कभी आँखो स प्रेमाश्रु [प्रवाहित होने लगते है, कभी दग्धता का स्पष्ट यथार्थ अनुभव होता है और कभी होता है वियोगी की मर्मान्तिक पीड़ा का बोध।

काव्य-प्रेमी कवियो ने प्रेम और विरह को धूप-छाँह के सदृश चित्रित करने का प्रयास किया है, जिसमें नायक के [आते ही प्रेम और मिलन की स्वच्छ चाँदनी चारों तरफ छिटक जाती है एवं नायक के प्रस्थान करते ही विरह का अन्धकार घनीभूत होकर नायिका के मस्तिष्क पर छा जाता है। वह चारो तरफ प्रकाश-पुंज पर अठखेलियाँ करती हुई अन्धकार के विरह-सागर में निमज्जित होने लगती है।

हमारे काव्य-साहित्य में सर्वप्रथम मलिक मुहम्मद जयसी ने 'पद्मावत' में राजा रत्नसेन के विरह में नागमती की दिली हालत का, प्रेम-परवशता का मार्मिक खाका खीचा है। हीरामन तोते से राजकुमारी पद्मावती के रूप-सौदर्य की प्रशंसा सुनते ही राज रत्नसेन उस रूपवती नारी को प्राप्त करने के उद्देश्य से घर से बाहर निकल पडते है। उनके जाने के पश्चात् रानी नागमती राजा के प्रेम में कितना प्रलाप करती है, उसे आप उनके प्रसिद्ध बारहमासा में देख सकते है।

"चढा असाढ गगन घन गाजा। साजा विरह दुन्द दल बाजा"

आषाढ़ मास मे विरहिणी मेघ की गर्जना में विरह-युद्ध की घोषणा

सुनती है। नागमती के विरहोच्छ्वास से ही चारों ओर आग लग जाती है—

"गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहि वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, मर जो अस पिउ लागि॥"

उसकी आह का, विरह-ताप का, अत्युक्तिपूर्ण वर्णन यद्यपि कवि ने पाठक के सम्मुख चित्रित किया है; लेकिन उसकी उर्वर उष्णता का अनुभव दूसरी तरह से प्राप्त कर सकना भी असभव था। नागमती के आँसुओ से सारी सृष्टि ओत-प्रोत दिखाई देती है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रक्त-आँसु घुघची बन कोई॥
बूंद बूंद महँ जानहु जीऊ। गुजा गूँजि करै, "पिउ पीऊ"॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहि-बूडि उठे होइ राते॥
राते बिब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहू॥

नागमती को सारा ससार दहकते अगारे-सा मालूम होता है और सारी प्रकृति उसकी अनन्त वेदना में सवेदनशील है। वह वियोग में "हौ दिन राति विरह कोकिला" बन जाती है। वह तो विरह की आग में जलकर 'दहि कोयला भई कत सनेहा" हो गई थी। उसका शरीर तो विरह की विभीषिकाओं का केन्द्रस्थल-सा था। वह पाठक की करुणा, दया और सहानुभूति की पात्र हो जाती है। नागमती की मनोदशा विक्षिप्त-सी है। मरने के समय भी उस वियोगिनी स्त्री के हृदय में अपने स्वामी से परलोक मे भी मिलने की भावना थी—

जियत, कत ! तुम्ह हम्ह गर लाई। मुए कठ नहि छोड़हि साई॥
औ जो गाँठि, कत ! तुम्ह जोरी। आदि अन्त लहि जाइ न छोरी॥
यह जग काह की अछहि न आथी। हम तुम, नाह ! दुहूँ जग साथी॥

विरहिणी ने मरकर भी दाम्पत्य जीवन की सुन्दर भावना को करुणा का रूप देकर साकार कर दिया है, जो युग-युगो तक प्रकाशपूर्ण रहेगा। नागमती

का विरह इतना रस-सिक्त हो गया है कि पाठक की आँखें सहानुभूति से बरवस उमड़ आती है।

मैथिल-कोकिल विद्यापति की राधा की विरहावस्था एक अपूर्व प्रेम की झाँकी है, जिसमे अन्तस्तल की दाहक पीडा का सरस स्वरूप है, जो भिन्न-भिन्न गीतो में अभिव्यजित हुआ है। राधा के हृदय की जलन पपीहे की 'पी' पुकार से किसी भी तरह कम नही और वह अपने प्रियतम के सामीप्य के लिए सदा प्रार्थिनी बनी रहती है। विद्यापति ने उसके हृदय की पुकार को कितने सुन्दर एव मार्मिक शब्दो में व्यक्त किया है:—

सरसिज विनु सर, सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जीवन विनु तन, तन विनु जीवन, की यौवन पिय दूरे॥

इस पद में प्रियतम के अभाव की सूचना है और है यौवन की सुखद विलास-क्रीड़ा के लिए आह्वान। राधा केवल इसलिए विकल है कि हृदय से निष्कासित स्नेह-रस को, जो प्रेमपुष्प होकर प्रवाहित हो रहा है, अपने प्राण-प्रियतम कृष्ण के चरणों पर समर्पित कर आत्म-तुष्टि प्राप्त करे। राधा का विरह भाबावेश, तन्मयता एव अनन्यता से अभिभूत है। जागृतावस्था में प्रियदर्शन की लालसा हृदय में उठती है और सुप्तावस्था में उसकी भावनाएँ साकार हो जाती है—

"लोचन धाए फेधायल हरि नहिं आयल रे।
....
सपनहु सगम पाओल रग वढाओल रे।
से मोरा विहि विघटाओल निन्दओ हेरायल रे।"

(प्रेम-पथ में पथिक थकना नही जानता, हार मानकर बैठना नही जानता। विरहकातर राधा के जीवनाकाश में (स्वप्न में) जो सुख का संयोग होता है, उससे भी वह वचित हो जाती है और उसकी दशा घायल हरिणी के समान हो जाती है।)

भक्त-शिरोमणि सूर की राधा भी विद्यापति की राधा से किसी भाँति कम नही। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर सारा व्रजमण्डल अनाथ-सा हो गया;

क्योंकि वे ही उसके सच्चे सखा तथा स्वामी थे। उनके वियोग में माता, पिता, परिजन, पुरजन, सखा, सखी और पशु-पक्षी सभी विरह-विवश हो गये थे और विरहानल सारे ब्रजमण्डल को झुलसा रहा था। कृष्ण की छोटी-मोटी बातें सभी गोपियों को प्रिय थी। उनकी याद में गोपियाँ रोती थी, बिलखती थी; क्योंकि उनके 'उर मे माखनचोर गड़े' थे। पुनर्मिलन एवं दर्शन दुस्साध्य जान प्रेम-विरहिणी गोपियों ने पत्र लिखकर अपने हृदय की अभिलाषाओ को प्रिय तक पहुँचाना चाहा, किन्तु—

मसि खूटी, कागर जल भीजे, सरदौ लागि जरे॥
पाती लिखै कहो क्यों करि, जो पलक कपाट अरे॥

विरहिणी की मनोवैज्ञानिक अवस्था का कितना सूक्ष्म पर सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। स्मृति-पट पर सयोग के दृश्य उपस्थित होते ही आकुल प्राणी के हृदय में जो भावों की सरिता बहने लगती है, उसके थपेड़ों को सहनकर पत्र लिखना सरल-हृदया गोपियों के लिए सभव नही था। उनका मन कृष्ण में तन्मय था। उनकी दशा का कितना सुन्दर वर्णन कवि ने किया है:—

लखियत कालिंदी अति कारी ॥
कहियो पथिक जाय हरि सों क्यो भई विरह-जुर-जारी॥
....
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥"

तन्वगी यमुना के सदृश गोपियाँ कृश एव विरह में विह्वल है। काले-काले मेघ को आकाश में देखते ही गोपियों को घनश्याम का ध्यान हो आता है। बिजली की कडक मे माधव की हँसी का अनुमान करती है। स्मृति की प्रबलता आँखों की राह बन जाती है और ऐसा मालूम पड़ता है कि सारे ब्रजमण्डल में एकमात्र वर्षाऋतु ही है—

निशि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-ऋतु हम पै जव तें श्याम सिधारे।

दृग अजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भये कारे ॥
कचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे ॥

महाकवि सूरदास के विरह-वर्णन ने हिन्दी के अनेक कवियो को वियोग की तीव्रानुभूति की आँच से तप्त किया है। उनका विरह-वर्णन विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट हुआ।

कवि-कठहार नन्ददासजी ने भी अपने भँवर-गीत में विरह की अन्तर्धारा बहाई है। उन्होंने सर्वत्र गोपियो को वियोगावस्था के ही चित्र दिये है, जहाँ हृदय की वेदी पर मन्मथ का राज्य है; पर अनल की विभीषिका प्रज्ज्वलित हो रही है।

रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै रही साँवर गात।
कल्प-तरोरुह साँवरो ब्रज बनिता भई पात ॥

इस पद की ध्वनि में एकात्मभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। विरह साक्षात् मूर्त्तिमान हो रहा है। गोपिकाओं का रोम-रोम कृष्णमय है और कृष्ण-गोपी का सबंध अविचल-अटूट है—वृक्ष के पत्ते के समान।

सरस और प्रवाहपूर्ण भाषा में नन्ददासजी ने गोपियों का विरह-वर्णन अत्युत्तम ढग से किया है:—

कोऊ कहै अहो दरस देहु पुनि वेनु बजावौ,
दुरि-दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ।
हमको तुम पिय एक हो तुमको हम-सी कोरी,
बहुत भाँति के रावरे प्रीति न डारौ तोरी।
एक ही बार यों ॥

प्रीति में आत्म-विश्वास है; परन्तु समय-समय पर जब विरहिणी प्रेम में आकुल-व्याकुल हो जाती है, उस समय उसे यह भान होने लगता है कि शायद प्रियतम ने उसे विस्मृत तो नही कर दिया। उनकी पुण्य-स्मृति पुन: विश्वास उत्पन्न कर देती है। कितनी सुन्दर व्यजना है।

विरह की एक झाँकी कवि सत्यनारायणजी के 'भ्रमरदूत' में भी मिलती है।

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति] माई।
स्याम-बिरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥
जिय प्रिय हरि-दर्शन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, बिसरतु नैननु नीर॥
बिकल कल ना हिये।

बिलखती माँ की स्नेह-विवशता आँखों में नीर बनकर अपने लाड़ले श्याम के लिए धावमान है। अन्तिम पंक्ति में हृदय की कारुणिक अवस्था का कितना सजीव चित्रण है। इसे पढकर कृष्ण-विरह की बेलि ताजी हो जाती है। जहाँ एक तरफ सुन्दर शुद्ध स्नेह का वर्णन है, वहाँ दूसरी तरफ रत्नाकरजी ने पवित्र प्रेम की अश्रुगगा भी प्रवाहित की है।

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
काऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी है।
कहै 'रत्नाकर' रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी बिथकानी है।
कोऊ खेद-सानी, कोऊ भरि छग-पानी रही
कोऊ घूमि-घूमि परी भूमि मुरझानी है।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी है॥"

उद्धवजी की प्रेम-विरोधी बातें सुनकर गोपियों का हृदय-विदारक दृश्य आँखों के सामने छा जाता है। गोपियों की प्रेम-विह्वलता, उनकी अधीरता तथा तन्मयता एक साथ ही पाठक को आक्रान्त कर देती है और क्षण-भर के लिए पाठक-रस-निमग्न होते हुए विरहिणी की व्यथा से मर्माहत-से हो जाते हैं। विरहिणी गोपियाँ कितने सुन्दर ढग से कृष्ण तक अपनी विदग्ध दशा का सदेश पहुँचाती हैं, उसे सुनकर कलेजा फटने लगता है और कवि की उत्कृष्ट कल्पना की वेगमती धारा मर्त्यलोक में व्यथा-पीडित गोपियों का सदेश सुनाने में सफलीभूत होती है।

औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहि तौ
कहियौ कछु न दसा देखि सो दिखाइयो
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू।
कहिव कौ चाही हिचकी लै रहि जाइयो ॥

विद्यापति-चित्रित राधा विरहाधिक्य से विकल होकर 'अनुखन माधव-माधव सुमरइत' भावोद्रेक के कारण कृष्णमय हो जाती है, तो उसे राधा का अभाव खटकने लगता है और वह 'अनुखन राधा-राधा रटतहि' राधामय हो जाती है। तादात्म्य की इस भावना से विरहिणी राधा की भावमयी मूर्त्ति का स्पष्ट आभास मिलता है, जिसमें पीड़ा के मनमोहक पुष्प तिरोभूत हो जाते हैं। परन्तु हरिऔधजी की राधा विरहाधिक्य से विह्वल होकर भी सारे ससार में कृष्ण की मूर्त्ति देखती है, विश्वात्म का अनुभव करती हुई अपनी विकलता का परिचय देती हैः—

"पाई जाती विविध जितनी वस्तु है, जो सबोंमें।
मैं प्यारे को अमित रंग औ रूप में; देखती हूँ ॥"

राधा का प्रेम विरह के झोको में झूलकर भी उच्छ्वास बनकर नही, वल्कि सेवा-भाव से आन्दोलित हुआ है—

गिन-गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहा के।
यदि निजनिसि कोई वाल होती बिताती ॥
वह ढिग उसके भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम राधा की सार्थकता से ॥

सच्चा प्रेमी प्रेम की पीर का अनुभव कर उसके स्वाद को चखता हुआ सन्तोष मानता है। ऐहिक जीवन में भौतिक विलास सुख-क्रीडा की कामना करता हुआ भी उसके अभाव में अविचल धैर्य धारणकर प्रेम के पुनीत पथ को प्रशस्त करता है। कवि के गान उस सत्य-प्रेम के प्रशस्ति स्वरूप हैं, जो निष्काम है। मीरा की प्रेम-साधना आँसू के तप्त सागर उडेलती हुई भी शीतल मणि है, जिसके पावन स्पर्श से प्रेमपथ आलोकित रहता है। इस साधना-पथ पर अग्रसर होनेवाली मीरा ने अच्छी तरह समझ लिया था कि कवीर

के शब्दो में "सीस काटकर भुई धरे तापर रखे पायँ" की असि धार पर चलना होगा। मीरा की आँखो में नन्दलाल की मोहिनी मूरत बसी थी, उसका प्रेम अनन्य था। राणा की पत्नी होते हुए भी अपने सुन्दर सलोने श्याम के प्रेम का ढिंढोरा पीटने मे उसने कोई कोर-कसर उठा न रखी। मीरा ने कुल-लज्जा और वश की मर्यादा को भूलकर शुद्ध प्रेम-परवश होकर जो गीत गाये है, वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे। आँसुओं के जल से सीच-सीच-कर जिस प्रेम-वेलि को उसने बोया, वह प्रेम लौकिक दृष्टि से मर्यादाहीन होता हुआ भी निष्कलक है। आज घर-घर में मीरा के गीत गूँज रहे है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
साधु सग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई॥

ऐसे प्रेम में विष का प्याला भी अमृत हो जाता है।

महादेवी वर्मा, जो आधुनिक युग की मीरा समझी जाती है, उनमें मीरा जैसी ही कारुणिक व्यथा और प्रेम-विह्वलता है। आपने दुःख में ही सन्तोष माना है और उनकी यह अनुभूति नारी-जीवन के समस्त सरस सौन्दर्य को एक अनोखी देन है। अतृप्ति और असन्तोष में सुख मानकर पीड़ा ही को अपनाया है। "हे हरी, मै तो प्रेम दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय" को ही वर्माजी ने अपना आदर्श माना है। उनकी वेदना ने एक ऐसे ससार का सृजन किया है, जो प्रकृति की तरह चिरन्तन है। कवयित्री ने सपूर्ण चैतन्य प्राणियों में एक विराट चेतना का अनुभव किया है। एक स्फुलिङ्ग की तडपन उनके जीवन में निरन्तर गतिमान है—

सजनि! मै इतनी करुण हूँ करुण जितनी रात।
सजनि! मै उतनी सजल जितनी सजल बरसात।

जीव और प्रकृति, जड और चेतन, करुणा और वेदना में एकरूप हो गये है। 'रश्मि' की भूमिका मे "दुख मेरे समीप जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे ससार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढी तक भी नही पहुँचा

सकें; किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नही गिर सकता।" वेदना की इसी धारा में उनकी काव्य-नौका प्रिय-मिलन की लालसा लिए हुए झंझावात के झकोरों को सहते हुए अभिसार कर रही है। "विरह की घडियाँ हुई अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी", "मै नीर भरी दुख की बदली" आदि गीतों में आँखों का आँसू नही, जो आज उमड़ता है, कल मिट जाता है; वरन् आकाश के बादल के समान सपूर्ण जगत् पर छा जाता है।

प्रात.स्मरणीय महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अमर काव्य 'रामचरित मानस' तथा 'बरवे-रामायण' में विरह के महत्त्व का निदर्शन किया है। सीताहरण के पश्चात् राम-सीता के वियोग में लता, गुल्म वृक्षादि से पूछते है:—

हे खग-मृग, हे मधुकर श्रेणी।
तुम देखी सीता मृग-नैनी ॥

सूरदासजी द्वारा चित्रित गोपियों की विरह-दशा सुनकर कृष्ण की अवस्था 'सूर स्याम भूतल गिरे रहे नयन जल छाय' से राम की विरह-दशा न्यून नही। राम के वनगमन के समय माताओं के हृदय में स्नेह का जो सचार हुआ, उसकी मर्मस्पर्शी तस्वीर रामायण में पूर्ण रूप से वर्णित ह। 'बरवे-रामायण' में तो विरह की ज्वाला का स्पष्ट अनुभव कर सकते है—

डहकन् है उजियारिया, निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागइ मोहि विनु राम॥

राम के वियोग में शीतल चाँदनी की मदभरी ज्योत्स्ना प्रखर धूप के समान चलती हुई मालूम होती है और सारा संसार जलता हुआ उल्का-पिंड-सा मालूम पड़ता है।

उपर्युक्त विरह-वर्णन ससार के सुखभोग के प्रवर्द्धक-रूप में नही था; वरन्, आत्म-सुख, आत्म-तृप्ति एव आत्म-शान्ति के लिए था। हिन्दी-काव्य-गगन में कतिपय कवियों ने सौदर्य और प्रेम को ही ऐहिक सुख का प्रेम-नक्षत्र

माना है। प्यार के व्यापार में उनकी नायिका विरह में जलती हुई अङ्गारे-सी लगती है; लेकिन जब किसी रूपाश्रय तरुण युवा की ललचाई आँखें उसके उन्नत उरोज को चूमती है, तो वह एक अजीव शीतलता अनुभव करती है। एक तरफ जहाँ भोग-भावना का परिष्कृत रूप है, आत्मिक मिलन की उत्सुकता है, वहाँ दूसरी तरफ दैनिक सुख-भोग की विकारयुक्त भावना है, दैहिक मिलन की उत्कठा है। एक तरफ गगा की स्वच्छ निर्मल धारा का प्रवाह है, तो दूसरी तरफ स्रोतहीन सरिता का गंदा जल। वास्तव में कहना तो यों चाहिए कि एक प्रेम की ललित नीलिमा की मधुर आभा है और दूसरी विषयवासना की उन्मुक्त आँधी। ऐसे कवियों का विरह-वर्णन अतिशयोक्ति, अत्युक्ति की सीमा को पार कर जाता है। बिहारीजी की विरह-विदग्धा नायिका का एक चित्र देखिए:—

औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललाति।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छीटौ छुई न गात॥"

यहाँ नायिका विरहाग्नि से जल रही है। उसकी एक दयार्द्र सखी नायिका के ऊपर गुलाबजल की भरी शीशी उड़ेल देती है; किन्तु विरह की उष्णता इतनी अधिक है कि गुलाबजल वाष्प बनकर हवा में विलीन हो जाता है और जल का एक कण भी उस दग्ध शरीरवाली नायिका के शरीर पर नही पड़ता। इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण अनेकानेक चित्र कविवर विहारी में मिलेंगे—

करके मीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हलाय।
सदा समीपिनि सुखिनुहुँ, नीठि पिछानी जाय॥

विरह से तड़पती हुई नायिका की उपमा कितनी सुन्दर है! पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है, "कोमलागी नायिका की विरह विवर्णिता को मसले हुए फूल की उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। परन्तु बिहारी की विरहिणी में मार्मिकता का अभाव है, जिसमें दिमागी कसरत तो होती है; किन्तु रस का संचार नही होता।"

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढी हिंडोरै से रहै, लगी उसासनु साथ॥

साँस के झूले पर विहारी ने अपनी नायिका को बैठाकर छ-सात हाथ झुला दिया है। तात्पर्य यह कि नायिका विरह से इतनी कातर हो गई है कि केवल स्पन्दन ही शेष है; यही नही, कही-कही तो नायिका विरह से इतनी जल रही है कि माघ महीने में उस ग्राम में जब कोई पथिक आता है, तो उसे ग्रीष्म की लू का बोध होता है।

रीतिकालीन कवियों में केशव, मतिराम, आलम और पद्माकर की विरहिणी नायिका भी कविवर विहारी की विरहिणी से किसी प्रकार कम नहीं है। मतिराम की नायिका नायक के बिछोह में गर्म-गर्म श्वासें फेंक रही थी कि इस दशा को देखकर उसकी कुछ सखियों ने नायिका के शरीर को शीतल करने के हेतु कमलिनी के चन्दन-चर्चित पत्तों को उसके शरीर पर रखा। शरीर-स्पर्श से ही वे पत्ते पापड़ सदृश हो गये—

जागत ओज मनोज के, परसि तिया के गात।
पापड़ होत पुरैनि के, चन्दन पंकिल पात॥

केशवजी ने 'रामचन्द्रिका' में भगवान राम के विरह का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। हनुमान द्वारा सीताजी सुन रही है कि भगवान् विरह-विवश हो गये है—

अपनी दशा कहा कहौ, दीप दशा-सी देह।
जरत जाति वासर निशा, केशव सहित सनेह॥

इस पद में अहर्निश जलन की सूचना मिलती है। जिस प्रकार दीपक में तेल और बत्ती जलती है, उसी प्रकार शरीर-रूपी दीप में प्रेम-रूपी वत्ती जल रही है। कितना भावमय पवित्र विचार है।

आलमकेलि की नायिका का विरह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है—

ऐरी घर-घर कित मांगन को जैहै आजु
आँगन में चन्दा तै अँगार चारि झारि लै

साँझ भये भौन सँझवाती क्यों न, देत आली
छाती तें छुपाय दिया-बाती क्यों न बारि लै ।

यहाँ कवि किसीको संबोधन करते हुए कहते हैं कि ऐ सखी! तू आग माँगने कहाँ जा रही है ? यही वियोग में जलती हुई नायिका के मुखचन्द्र से दो-चार अँगारे ले ले और संझा-बाती देने के लिए दियासलाई को मत ढूँढ़, इसी विरहिणी बाला की छाती में बत्ती लगाकर दीपक जला ले। कवि के विरह-वर्णन में ज्वाला की जोत है, जो जलती ही रहती है, बुझती नहीं।

आह से संतप्त जीवन की दशा का सुन्दर वर्णन 'पद्माकर' जी के 'जगद्विनोद' में भी प्राप्त होता है। 'पद्माकर' जी को तो चारों तरफ खिले हुए लाल-लाल फूल, जो सुखदायी होते हैं, अंगारे की तरह लाल चमकते हुए दाहक प्रतीत होते हैं। उनकी नायिका अनङ्ग के जागरण से कितनी बेचैन है, इसका अनुमान निम्न पक्तियों से कीजिये:—

'घर ना सुहात, ना सुहात बन बाहिर हूँ, बाग ना सुहात न खुशाल खुश बोही सों। कहै पद्माकर घनेरे धन-धाम त्योंही, चाँद ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सों।। साँझ ना सुहात न सुहात दिन माँझ कछु, व्यापी यह बात सो बखानत हौ तोही सों। राति ना सुहाति ना सुहात परभात आली, जब मन लागि जात काहू निर्मोही सो।।"

जहाँ विरहिणी की दशा का इतना सुन्दर चित्र है, वहाँ 'ग्वाल' कवि के अतिशयोक्ति और अत्युक्तिपूर्ण चित्र हैं। उनकी नायिका ऊपर-लिखित सभी विरहिणियों से बाजी मार ले जाती है। देखिए—

तादुर ले आई तिया आँगन में ठाढ़ी भई
करके पसारिबे में भात हाथ में भयो

विरह की ज्वाला में जलती हुई नायिका हाथ में चावल लेकर खड़ी होती है कि वे चावल हाथ में पककर भात हो जाते हैं। कवि की विरह-कल्पना कितनी प्रशसनीय है।

इस प्रकार के अनेकानेक पद हिन्दी-काव्य में भरे पडे हैं। विरह में दुबले हो जाना, कृश तथा क्षीण दिखाई पडना एकदम स्वाभाविक है।

रीतिकालीन प्रायः सभी कवियों ने इस दशा का वर्णन किया है। विहारी की नायिका क्षीण शरीरवाली इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि यमराज को भी उसे खोजने के लिए चश्मे की जरूरत आ पडती है——

करी विरह ऐसी तऊ गैलु न छाँड़तु नीचु।
दीने हु चश्मा चखनि, चाहै लखै न मीच॥

हिन्दी-काव्य में भक्ति-युग और रीति-युग के कवियों ने अपनी-अपनी विशेषता के साथ मानव के अन्तर में वास करनेवाले प्रेम और विरह का बड़ा ही मार्मिक एव रोचक रूप पाठकों के सम्मुख रखा है। भक्ति-युग में विरह की तीव्रता नायक एव नायिका की सत्यानुभूति एवं सत्य-प्रेम पर आश्रित है; किन्तु रीति-युग के कवियों का विरह बाह्य एवं स्थूल दृष्टि से रोचक है, जिसमें गांभीर्य नही। एक में हृदय की अनन्त धारा का प्रवाह है, दूसरे में कल्पना-द्वारा मानसिक विरह का वर्णन। एक आध्यात्मिक शृङ्गार की रङ्गभूमि में अनन्त का स्पर्श करने के लिए उत्सुक है, दूसरा भौतिक शृङ्गार के दलदल में वासना की तृप्ति के लिए प्रयत्नशील है। एक आह की आँधी में चिरन्तन सत्य का दर्शन है, दूसरा विरह की ज्वाला में उद्दाम वासना का उद्दीपन है। नारी के रूप में आकर्षण है। उसे देखकर छटपटा जाना, मर्माहत हो जाना, सुध-बुध खो देना एक बात है और नारी के सौंदर्य, रूप-रंग को देखकर उसके अन्तर का सौंदर्य आँकना तथा उसके कुसुम-से कोमल हृदय का अनुरागी बनना दूसरी बात है।

अंग-प्रत्यग के सौन्दर्य में यदि मानव के शाश्वत सौन्दर्य का परिचय प्राप्त हो, तो कितना सुन्दर है। आधुनिक युग में भी आकर विरह-विषय की उत्कृष्टता के कारण कवि आकृष्ट हुए है। विरह एक ऐसी मनोदशा है, जिसका बोध प्राय. सभी को हुआ करता है। भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली के विरह का जो सूक्ष्म अन्वेषण किया है, उसके प्रेम को देखकर कौन ऐसा पाठक होगा, जिसका हृदय बेचैन नही हुआ होगा?

भारतीय साहित्य में नारी

मनुस्मृति में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने अपने को दो भागों में बाँट दिया। तब उनका आधा भाग पुरुष और आधा स्त्री हो गया।[१] देवीभागवत के अनुसार, जब मौजी भगवान् अपनी इच्छा से दो रूप हो गये, तो उनका वाम भाग नारी बन गया और दक्षिण भाग पुरुष।[२]

भगवान् के ये दोनों अंश (पुरुष और नारी) आरम्भ से ही एक-दूसरे के पूरक-रूप में चलते रहे। पुरुष के अभाव में नारी और नारी के अभाव में पुरुष किसी प्रकार की सृष्टि नहीं कर सकता। कृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं शक्ति के अभाव में कोई भी सृजन नहीं कर सकता,[३] और शक्ति भी मेरे ही तत्त्वावधान में जगत् की सृष्टि करती है।[४]

कर्म-मीमांसा दर्शन मानता है कि सृष्टि के आरम्भ से ही नारी और पुरुष, दो धाराएँ स्तन्त्र रूप से चलीं[५]; पर वह यह भी स्वीकार करता है कि स्त्री धारा पुरुषधारा से मिलकर ही मोक्ष की अधिकारिणी बनती है।[६]

इस प्रकार भारतीय धर्मग्रथों में पुरुष और नारी दोनों को भगवान् का पवित्र अंश, परस्पर-निर्भर और पूजनीय कहा गया है। भारतीय परिवार में नारी-समादर के बिना सुख-समृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती, भगवान्

---

१. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेननारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

२. स्वेच्छामय. स्वेच्छमायं द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्री रूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥

३. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः :।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

४. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

५ द्वेधारे स्वतंत्ररूपत्वात्।

६ स्त्रीधारा पुरुषधारामयी कैवल्याधिकारिणी।

कहते हैं कि जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता रमते हैं।[१]

भारतीय साहित्य में, नारी-पुरुष-सम्बन्ध के अन्तर्गत जन्मान्तर सम्बन्ध, पाणि की पावनता, नारी के तपप्रधान रूप, कन्यादान की श्रेष्ठता, स्त्री को प्रसन्न रखने के उपाय, उसके जायात्व और पति-पत्नी-सम्बन्ध की एकरूपता, इन सात बातों को विशेष महत्त्व दिया गया है।[२]

शकर-पार्वती की कथा भारतीय सस्कृति के दाम्पत्य-जीवन की चरम कथा है। उसमें उपर्युक्त सप्त तत्त्व अत्यन्त विकसित रूप में वर्त्तमान है। पति के अपमान से विह्वल होकर शरीर-त्याग करने के बाद सती शिवा हिमालय के आँगन में पार्वती के रूप में अवतरित हुई और तरुणाई के पहले ही पिता की आज्ञा लेकर शिव-हेतु तप करने के लिए गिरि-शृंग पर चली गई। सती के शरीर-त्याग के बाद शकर ने पुनर्विवाह की कल्पना ही नही की; वरन् स्वय, जो सबको तपस्या का वरदान देते थे, सती-मिलन के लिए तपस्या करने लगे। पुनर्मिलन के लिए इधर शकर तपस्यारत है, उधर पार्वती अपर्णा है। ऐसा था उनका जन्मान्तर प्रेम और ऐसी थी उनके प्रेम की एकरूपता। पाणि-पवित्रता तो ऐसी कि जब स्वय भगवान् शकर ब्रह्मचारी का रूप धारण कर जलकुण्ड में गिर गये और पार्वती से आग्रह किया कि वे अपने पवित्र दाहिने हाथ से निकालकर ब्राह्मण ब्रह्मचारी की प्राणरक्षा करे, तो पार्वती ने ब्राह्मण के रक्षार्थ, ऐसा तो किया; किन्तु इसके बाद ही, यह सोचकर कि पर-पुरुष के स्पर्श से दाहिना हाथ पति के अयोग्य हो गया है, दाहिने हाथ को जला देने के लिए

---

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया।

२. जन्मान्तरीय सम्बन्धस्तथा पाणिपवित्रता।
तप प्रधान नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता॥
स्त्रियः प्रसादाय कृति. जायात्वमेकरूपता।

३. नरं नारी प्रोद्धरति मज्जतं भववारिधौ।
एतत्संदर्शनार्थाय तथा चक्रे भवोद्भव॥

योगाग्नि में बैठने का निश्चय किया। स्कंदपुराण में इस कथा की जो व्याख्या की गई है, वह भारतीय नारी की महानता के ही अनुरूप है। स्कदपुराण के शब्दो मे 'नारी भवसागर में डूबते हुए पुरुष को उबार लेती है'। इसी तथ्य को दिखलाने के लिए जगत-कर्त्ता होकर भी शकर ने यह लीला की।

नारी के दोनों रूपों—मातृ और पत्नी रूपों—की विराट् कल्पना भारतीय साहित्य में की गई है। नारी जगज्जननी है। तभी तो भगवान् शिव स्वयं बाल-रूप धारण कर पार्वती की गोद में सोये थे। नारी का यह रूप भारतीय दृष्टि में स्वर्ग से भी महानतर है।[1] हमारे मन्त्रद्रष्टाओं की दृष्टि में कुपुत्र हो सकते है; किन्तु माता कुमाता नही हो सकती।[2]

नारी का पत्नी-रूप भी कम महिमामय नही है। नारी पुरुष की अर्द्धागिनी है। विवाह के अवसर पर जो मंत्र पढे जाते है, उनमें स्त्री पुरुष से कहती है कि मै तुम्हारे सभी कामों में अर्द्धागिनी रहूँगी और तुम भी किसी परकीया को नही अपनाओगे। अर्द्धागिनी का जबतक समादर नही होगा, तब तक पारिवारिक आनन्द कहाँ? इसलिए दम्पति-सम्बन्ध के जिन सात तत्त्वो का हवाला ऊपर दिया गया है, उनमें पत्नी को प्रसन्न रखने की चेष्टा का भी उल्लेख है। अर्द्धनारीश्वर शकर का आचरण इस तत्त्व को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करता है। शकर प्रेमभरी पार्वती को अपने अक (वामाग) में लिये हुए है। चलते समय जहाँ-कही ऊबड-खाबड धरती मिलती है, वहाँ पहले अपना ही (दायाँ) पाँव रखते है। पार्वती श्रम से थक न जावें, इस आशका से वे अपने ही हाथ से वृक्ष के फूल तोडते है। मृगछाला डालकर जब सोने लगते है, तो शरीर के अपने ही अग को नीचे रखकर सोते है।[3]

---

१. जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

२. माता कुमाता न भवति।

३. आत्मीय चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नताया भुवि।
स्वीनैव करेण कर्षति तरो पुष्प श्रमाशङ्कया।
तल्पे कि च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भार्गैनिजै—
रन्त प्रेमभरालसां प्रियतमाङ्के दधानो हरः।

नारी तो गृहदेवी है। गृह-यज्ञ के प्रत्येक अनुष्ठान में उसके सहयोग की आवश्यकता है। भारतीय परिवार को इस सहयोग का सौभाग्य मिलता रहा है। कालिदास ने 'रघुवश' में लिखा है कि किस प्रकार निभृत वन-प्रदेश में ऋषि वशिष्ठ अपनी पत्नी अरुन्धती के साथ मिलकर सध्या का होम-यज्ञ करते थे।[१]

हाँ, भारतवर्ष में नारी को साधना का अग माना गया है, यौन (Sex) मात्र नही। इसलिए यहाँ नारी का कामिनी-रूप सदा गर्हित समझा गया और उसे जलाने के लिए शकर के तीसरे नेत्र की व्यवस्था की गई। विवाह का अर्थ यौन-तुष्टि नही; वरन् ऋण-मुक्ति द्वारा मोक्ष-लाभ करना समझा गया। मनुष्य पर तीन ऋण है—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण। इन तीनों ऋणों से उद्धार पाकर उसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसके लिए उसे वेदों का अध्ययन, यज्ञों का अनुष्ठान और धर्मानुमोदित रीति से पुत्र उत्पन्न कर (इस प्रकार क्रमशः तीनों ऋणों से मुक्त होकर) मोक्ष में ध्यान लगाना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है।[2] वैसे नारी को प्रेम की स्वच्छंदता दी गई है और विवाह के आठ प्रकार (ब्राह्म—जिसमें वर को बुलाकर कन्यादान किया जाता है; दैव—जिसमें यज्ञ में कन्यादान किया जाता है; आर्ष—जिसमें वर से धर्म-कार्य के निमित्त को लेकर कन्यादान करने की रीति है; प्राजापत्य—जिसमें वर की पूजा करके कन्या-दान होता है; आसुर—जिसमें स्वेच्छा से कन्या को या उसके कुटुम्बियों को धन देकर शादी की जाती है; गधर्व—जिसमें वर और कन्या स्च्वेछा से विवाह करते है; राक्षस—जिसमें वीरता से कन्या का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है और पैशाच—जिसमें सोयी हुई, मदिरा से मत्त या किसी अन्य प्रकार से उन्मत्त नारी से विवाह

१. विधे सायन्तनस्तान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धन्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ।

२. अधीत्य विविधान् वेदान् पुत्राश्चोपाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ।।

किया जाता है।) माने गये हैं। पर प्रथम चार प्रकारों को ही श्रेष्ठ समझा गया है और शेष को हीन। तात्पर्य कि भारतवर्ष में प्रेम को समाज-शून्य और सर्वथा ऐकांतिक नही माना गया है। गाडीव-यज्ञ निरर्थक नही था। उसमें केवल सीता के विवाह का ही प्रश्न नही; वरन्, अनाचारियो से धरती की पवित्रता की रक्षा का प्रश्न भी सन्निहित था। कालिदास की काव्य-श्री शकुतला का प्रेम: ऐकांतिक, लोकबाह्य हो गया था। द्वार पर आये हुए ऋषि-अतिथि के सेवा-सत्कार के साधारण शिष्टाचार को भी वह ध्यानमग्ना भूल गई और फलस्वरूप दुर्वासा के शाप से उसे शापित होना पडा। भारत-वासियों ने विवाह के उन चार रूपो को ही अधिक महत्त्व दिया है, जिनमें पितृ-पक्ष से कन्यादान होता है। विवाह का यह सामाजिक रूप है। जब शंकर पार्वती पर रीझ गये, तब पार्वती ने कहा था—मै आपको अन्त.करण समर्पित करती हूँ। पर मेरे शरीर के मालिक मेरे माता-पिता हैं। इसे उन्हींसे माँगिए और इस प्रकार सम्मान कीजिये।[१]

पर, नारी का यह तपोपूत, शक्ति-प्रकाशित रूप रामायण और महाभारत इत्यादि ग्रथों में ही मिलता है। परवर्त्तीकाल के संस्कृत-ग्रथों, विशेषतः नाटकों में नारी वीरभोग्या मात्र रह गई है। पतिव्रता वह अब भी है; किन्तु अब उसका तेज समाप्त हो गया है। उसकी आँखों में वियोग के आँसू हैं; किन्तु उसके लिए धरती नही फटती। एक शब्द में, नारी की कल्पना विराट् से कोमल हो गयी है, अत्यन्त कोमल—जिसका अर्थ साधारण भी हो सकता है।

हिन्दी में वीरगाथा-काल के ग्रथ मूलतः वर्णनात्मक हैं। इन ग्रंथों में राजाओं के युद्धों, विवाहों और प्रेम-सम्बन्धों का वर्णन है। अतः इनमें चरित्र-चित्रण की विशेष गुंजाइश नही है। हॉ, नारी-पात्रो के दो ही भाव प्रगट हुए हैं—प्रेम और शौर्य। इस दृष्टि से हम इन ग्रथों को विशुद्ध वीरकाव्य न कहकर प्रेम-वीरकाव्य कहना चाहेंगे। नरपति नाल्हकृत बीसलदेव रासो में

---

१. मनसस्त्व प्रभुः शम्भो! दत्त तच्च मया तव।
वपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि। (स्कंदपुराण)

संयोग-वियोग की खासी गाथा प्रस्तुत की गई है। वीसलदेव अपनी पत्नी राजमती से रूठकर उड़ीसा चला जाता है। उसके वियोग में राजमती रोती रहती है—

कुँवरि कहइ सुणि, सामरचा राव,
काई स्वामी तू उलगई जाइ ?
कहेउ हमारउ जइ सुणेउ
थारइ छइ साठ अँतेवरी नारि॥

इत्यादि।

इस प्रकार के सयोग-वियोग-वर्णन अनेक है और लगभग सभी साधारण कोटि के, परम्परा-मुक्त; किन्तु जब हम तत्कालीन नारियो की शौर्य-मनोवृत्ति पर विचार करते है, तो आँखो में अचानक एक नई चमक कौंध जाती है और लगता है कि समस्त वीरगाथाओं में यदि काव्य के अन्वेषको को कुछ न मिले, तो भी ये जीयेंगी और सम्मान के साथ; केवल इसीलिए कि इनमें क्षत्राणी-स्त्रियों की वीर-भावना एव मातृभूमि के प्रति प्रेम का सर्वथा मौलिक एव अभूतपूर्व वर्णन हुआ है। पति युद्ध में गया है। पत्नी सोच रही है कि वे विना विजयी हुए या विना वीरगति को प्राप्त हुए घर लौटे, तो मै कदम-कदम पर चूड़ियाँ तोड़कर विखेर दूंगी। मै राजपूत की वेटी जो हूँ—

विण मरियाँ विन जीतियाँ, जो धव आवै धाम।
पग-पग चूड़ि पाछटूँ, तो रावत री जाम॥

ऐसे वर्णन हिन्दी-साहित्य की अमर पूंजी है और इस दृष्टि से तत्कालीन रचनाओं का आभार-स्वीकार करना पडेगा।

वीरगाथा-काल के वाद संत-युग आता है। सतसाहित्य की दो धाराएँ हुई—ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। ज्ञानाश्रयी शाखा का नेतृत्व किया कवीर ने और प्रेमाश्रयी शाखा का जायसी ने। कवीर ने नारी को मुख्यतः तीन रूपो में देखा—आराधिका की प्रकृति के रूप में, पतिव्रता गृहिणी नारी के रूप में और माया-जाल फैलानेवाली कामिनी के रूप में। प्रथम दो रूपो को उन्होने अनुकरणीय एवं वदनीय माना, तीसरे की निन्दा की। कवीर मानते है कि जिस

प्रकार पतिव्रता स्त्री की आँखें, नैहर में रहने पर भी, पति पर लगी रहती है, उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मा ससार में रहने पर भी भगवान् को नही भूलते—

ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति रहे पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाँहि।

इस प्रकार पतिव्रता स्त्री कबीर की आराधना का आदर्श है। कबीर स्वयं राम की अनुरागिनी प्रिया बने हुए है—हरि मोरे राम मै हरि की बहुरिया।

गृहिणी के रूप में भी कवीर ने पतिव्रता पत्नियों की प्रशस्ति गाई है—

पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत॥

मायाविनी कामिनी की कबीर ने बहुत भर्त्सना की है। उनकी दृष्टि में ऐसी नारी नागिन से भी अधिक विषैली होती है—

नारी की छाया परे अधा होत भुजग।

जायसी आदि सूफी कवियों के ग्रथों में नारी-जीवन की प्रेम-गाथा वर्णित है। ये प्रेमगाथाएँ लौकिक हैं। प्रेमचेष्टाएँ प्रायः स्थूल हैं और साथ ही यह प्रेम समाज के उत्तरदायित्व से शून्य है; पर इन गाथाओ में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक सकेत दिये गये हैं, जिनसे आभास मिलता है कि नारी ब्रह्म की प्रतीक है। लौकिकता और आध्यात्मिकता का मेल न होने के कारण, नारी के प्रति उनका दृष्टि-कोण अस्पष्ट और अनिश्चित हो गया है। हाँ, बहुलांश में ये गाथाएँ लौकिक गाथाएँ हैं और इनमे वर्णित प्रेम एव विरह मोहक भी हैं; पर, इनमें वर्णित प्रेम को आदर्श नही माना जा सकता। आखिर पतिव्रता नागमती को दौड़कर पद्मावती की खोज में जाने का क्या कारण हो सकता है, सिर्फ रूमानी प्रवृत्ति ही न? हाँ, कगन उतारकर राघव चेतन को दे देने में नारी के उत्तरदायित्व-बोध की एक रेख भी मिल जाती है। पर, उत्तरदायित्व-ज्ञान के ऐसे स्थान बहुत थोड़े है।

भक्तिकाल के भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी ने भारतीय नारी के परम आदर्श रूप को खडा किया। नारी की जन्मान्तर प्रेम-निष्ठा रामचरित मानस में पार्वती की इस प्रतिज्ञा में उदघोषित हुई है—

जनम कोटि लगी रगर हमारी।
बरौं संभु न त रहौं कुआरी॥

नारी इसलिये वरेण्य नहीं है कि वह उपभोग्य है; वरन् इसलिए कि उसमें त्याग और तपस्या की अक्षय मात्रा है। मानस की पार्वती इस आदर्श को साकार करती है—

सुनि बोली मुसुकाइ भवानी।
उचित कहेउ मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरे जान कामु अब जारा।
अब लगि संभु रहे सविकारा॥
हमरे जान सदा शिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी॥

गोस्वामीजी ने चार प्रकार की पतिव्रताओं का उल्लेख किया है और उनकी कोटियाँ स्थिर की है—

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं।
बेद पुरान संत अस कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहहीं।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी नारीत्व को आत्मिक मानते हैं और उसके नियम को अनायास नारी के शील और संकोच का सुन्दरतम चित्र सीता उपस्थित करती है। सीता अतुलनीय है। वह सरस्वती

की तरह प्रगल्भा नही, मितभाषिणी तथा शील एव संकोचवाली है। सीता पूर्ण नारी है, पार्वती की तरह अर्द्धनारी नही। वह प्रसन्नवदना है, रति की तरह म्लानमुखी नही। वह मगलमूर्त्ति है, अमृतमयी है; लक्ष्मी की तरह उसमें हलाहल और विष नही—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दु:खित अतनु पति जानी॥
विष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिये रमा सम किमि बैदेही॥

सीताजी की लोक-लाज और व्रीड़ा का बडा सुन्दर वर्णन गोस्वामीजी ने किया है। रंगभूमि में सीता खडी है। धनुष किसीसे न टूटा। जनकजी क्षुब्ध हो गए। तब उदयाचल पर उगनेवाले सूरज की तरह राम धनुष तोड़ने को उठ खड़े हुए। उस समय सीताजी ने एक क्षण के लिए अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा से उनकी ओर देखा; पर दूसरे ही क्षण वह लोक-लाज और कुल-मर्यादा से धरती की ओर देखने लगी—

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-जुग, जनु बिधुमडल डोल॥

सीताजी का प्रेम अचला भक्ति है। उनमें लौकिक व्याकुलता और चिन्ता है अवश्य; पर सबको सयमित करनेवाला आध्यात्मिक विश्वास और धैर्य है। सीताजी के शील का अत्यन्त सुषमापूर्ण विवरण वहाँ मिलता है, जहाँ सीता राम और लक्ष्मण के साथ वन जा रही है। गाँव की स्त्रियाँ राम की ओर संकेत करके सीता से पूछती है कि आप कौन है? और तब—

बहुरि बदन विधि अंचल ढांकी।
प्रिय तन चितै दृष्टि करि बांकी॥
मंजुल मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति तिनहि कह्यो सिय सैननि॥

कुलवधू की यह भूमिका समस्त भारतीय साहित्य में अनूठी है।

और, अन्य कवियों की तरह गोस्वामीजी ने भी कुलटाओं और छलनामयी [कामिनियों की निन्दा और ताडना की है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ, जिनको लेकर बरावर विवाद चलता रहता है, ऐसी ही स्त्रियों के लिए लिखी गई हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी।

माता की महिमा का तो कहना ही क्या? राम वन जा रहे हैं। कौशल्या का हृदय विदीर्ण हो रहा है। यदि केवल दशरथ की आज्ञा होती, तो वह शायद राम को रोक भी लेती; क्योंकि घर में पिता से वडा अधिकार माता का है। माता गृहस्वामिनी है। किन्तु यह जानकर कि माता कैकेई की भी यह आज्ञा है, वह राम को रोक नही पाती और गौरवशालिनी माता की तरह आशीर्वाद देती हुई कहती है—

जौ केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि वड़ि माता।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना।।

सुमित्रा भी वीरप्रसू माता की भाँति लक्ष्मण को, राम-जैसे अग्रज की सेवा के लिए, वन जाने का आदेश देती है।

रीतिकालीन साहित्य में नारी क्रीड़ा का निर्जीव उपादान भर रह गई। उसमें हाव-भाव तो हैं—

बतरस लालच लल की मुरली धरी लुकाइ।
सौह करै, भौंहनि हँसै, देन कहे नटि जाइ।।

अथवा,

नासा मोरि नचाइ, दृग, करी काका की सौह।
काँटे सी कसकै हिए, गडी कटीली भौंह।।

किन्तु उसमें आत्मसम्मान की भावना नही है। उसकी आत्मा मरी हुई है। सेनापति कभी उसे काम की फुलवारी बना देते है, कभी शतरज के गोटे। तत्कालीन कवियो ने एक ओर नारी की सयोगावस्था का स्थूलातिस्थूल चित्रण किया और दूसरी ओर उनके विरह को कल्पनातीत बना दिया। जब वह साँस लेती है, तो छ-सात हाथ पीछे चली आती है और जब साँस छोडती है, तो उतना ही आगे चली जाती है——

इत आवति, चलि जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढी हिडोरे-सी रहै लगी उसासन साथ॥

और, इस तरह नारी के ये दोनो ही रूप-चित्रण गलत हो गए। वैसे, कहीं-कही नारी के रूमानी रूप का बडा चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलता है। रसलीन की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध है——

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत, श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकबार॥

आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नीलदेवी' नाटक में भारतीय नारी के तेज को एक बार फिर उपस्थित किया। नीलदेवी में वीरता, कौशल एवं नीतिज्ञान तथा धीरता तीनो ही है। पति के निधन पर वह रोती नही, वरन् आँसुओं को पोछकर अपने बेटे को युद्ध एव नीति की शिक्षा देती है और स्वय नर्त्तकी-वेश में अब्दुर्शरीफ के शिविर में प्रवेश कर अपने पिता की हत्या का बदला लेती है।

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आया। द्विवेदी-युग एक ऐसा आचार-पूत युग था, जिसने रतिशास्त्र को अग्निसात् किया था और शृगार को वर्जित-प्रदेश (Forbidden land) मान लिया था। स्वभावत. इस काल में नारी आदर्शधाम के रूप में चित्रित हुई, और उसके शृगार का परिमार्जित वर्णन हुआ। इस युग में एक और घटना घटी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक लेख लिखा——काव्येर उपेक्षिता (काव्य की उपेक्षिता)। इसमें उन्होंने आदिकवि के महाकाव्य के एक अभाव की ओर सकेत किया और कहा कि क्रौंच के दुःख

से व्यथित कवि की दृष्टि वेदना से भीगी, त्याग से पूत, निःशब्द उर्मिला पर नही पडी। द्विवेदीजी ने इसके बाद स्वय एक लेख लिखा, 'उर्मिला सम्बन्धी कवियों की उदासीनता।' फिर तो उपेक्षितो की अपेक्षा का एक सिलसिला चल पड़ा (और आज तक चल रहा है)। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त। उन्होने 'साकेत' लिखकर चिर-उपेक्षिता उर्मिला की अभ्यर्थना की, चिर लांछित कैकेयी को सम्मान दिया और 'यशोधरा' के द्वारा चिर-विस्मृत बुद्ध-पत्नी के तेज को प्रकाश में लाया। 'साकेत' में दम्पत्ति-विज्ञान की मधुर व्याख्या की गई है। पुरुष को नारी के साहचर्य में सब कुछ स्वर्ग-सा लगता है और नारी को पुरुष के सम्पर्क में विश्वासपूर्ण आश्रय मिलता है—

'भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल आवर्त्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज-ससर्ग से,
दीखते है प्राणियो को स्वर्ग से?
जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर,
चारु-चिन्तामणि-कला से होड़कर,
कल्पवल्ली-सी तुम्ही चलती हुई,
बाँटती हो दिव्य फल फलती हुई!'
'खोजती है किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती है एक तुम-सा पात्र हम;
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निज-भव-भार यो हलका करें।'

उर्मिला भारतीय नारी की सनातन प्रकृति है, जो केवल त्याग करना जानती है। कौशल्या ममतामयी माँ है। सुमित्रा में क्षत्राणी की तेजस्विता है। कैकेयी नारी की महत्वाकाक्षा और उसकी व्यर्थता का प्रतीक है। सीता अपेक्षाकृत आधुनिक है। उसके सुहाग में श्रद्धापूर्ण अधिकार सम्मिलित है। राम से अपने साथ वन ले चलने का आग्रह करती हुई कहती है—

जो गौरव लेकर स्वामी !
होते हों काननगामी,
उसमें अर्द्ध भाग मेरा,
करो न आज त्याग मेरा।
मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी,
मुझ अर्द्धांगी बिना अभी—
हैं अर्द्धांग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही।

'साकेत' के नारी-चित्रण में एक और नई बात आई है, सम्भवतः ग्राम्य गीतों की परम्परा से और वह है 'भाभी-देवर-विनोद', जो ससार में एकमात्र भारतीय परिवार की अपनी वस्तु है ।

'यशोधरा' गाँधीयुग की अधिकार-जाग्रत ललनाओ की प्रतिनिधि है। वह अपनी वेदना और अपने मान-अपमान को वैयक्तिक नही मानकर सामूहिक मानती है। जब गौतम उसे 'मुक्तिमार्ग की बाधा' समझते हुए सोती छोड़कर चले गए, तो उसे लगा कि गौतम ने उसकी उपेक्षा करके सम्पूर्ण नारी-जाति को कलंकित एव अपमानित किया है। इस जातीय अपमान का उत्तरदायित्व वह स्वीकार करती है—

वधूवश की लाज दैव ने आज मुझीपर डाली।

उसे लगता है कि गौतम ने अबला समझकर उसे जगाया नही। पर, इस प्रकार उन्होंने उन क्षत्राणियो के सकल समाज का उपहास किया है, जो स्वय अपने हाथों से पति के माथे पर टीका लगा तथा कमर में कटार बाँधकर जातीय सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध में भेज देती है—

स्वय सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणो के पण में,
हमी भेज देती है रण में,
क्षात्र धर्म के नाते।

यदि वस्तुतः नारी मुक्ति की बाधा है, तो फिर उसके जीवन की सार्थकता क्या है? पर, मुक्तिमार्गियों को जन्म देनेवाली नारी ऐसी नही हो सकती। वह नारी का जय-घोष करती है—

बधू सदा मैं अपने वर की,
पर क्या पूर्ति वासना भर की ?
सावधान ! हो निज कुलधर की
जननी मुझको जानो।

और, अन्त में गौतम को स्वय यशोधरा के द्वार पर आकर अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ती है। वे नारी के दोनो रूपो—पत्नी और मातृ रूपो—का महत्त्व स्वीकार करते हैं—

दीन न हो गोपे, हीन नही नारी कभी,
भूत दया-मूर्ति वह मन से शरीर से।

छायावाद का काव्य मूलत. प्रेम-सौदर्य-काव्य रहा। छायावादी कवियों की चिन्ता के केन्द्र में नारी बैठी रही है। पत ने उसकी वयःसधि की धूप-छाँह को, प्रसाद ने उसके यौवन-विलास को, निराला ने उसकी रति-क्रीड़ा और शक्ति को तथा महादेवी ने उसकी अतृप्त वेदना को वाणी दी है। पत ने नारी को देवी, माँ, सहचरी और प्राण कहा है। पर मुख्यत. उनकी नारी सहचरी और प्राण है। सहचरी के रूप में कवि ने नारी के सौदर्य और प्रेम के व्यावहारिक पक्ष की अभिव्यक्ति की है। पत की यह सहचरी वय.सधिकालीन है। उसकी 'भावी पत्नी' के शैशव में यौवन प्रवेश करने का उपक्रम कर रहा है—

तुम्हारे शैशव में सोभार,
पर रहा होगा यौवन प्राण;

उसकी भवो में भगिमा है और नयनो में पचशर-वाण; किन्तु उसकी वाणी में लाज का अवगुण्ठन है और उसके प्रणय में मान की मर्यादा—

देह में पुलक, उरो में भार,
भ्रुवों में भँग, दृगो में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान।

पंत की नारी का यह रूप मादक है, कही-कही घोर श्रृगारिक भी; पर प्रायः अशिष्ट नही; क्योकि वे उसकी चेष्टाओ को आवृत्त कर मादकता को एक मान दे देते हैं।

'प्राण' के रूप में कवि ने नारी-सौंदर्य के कल्पना-प्रधान आदर्श रूप को अपनाया है। इस रूप में वह अस्थि-मास की नारी मात्र नही है; वह एक सौंदर्य-भावना है, जो मनुष्य मात्र के आनन्द का आधार है—'सुरनर-मुनि ईप्सित' है और जो सर्वयुगीन-सार्वभौमिक है—'प्रतियुग में आती हो रगिणि रच-रच रूप नवीन'। इस रूप में वह देवी भी बन जाती है। वैसे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पत ने युग-शोषित नारी का असस्कृत रूप भी देखा, जिसमें वह योनि-मात्र रह गई है—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
—ग्राम्या

पर, साधारणतः नारी के प्रति पत का दृष्टिकोण रोमाटिक ही है, 'वीणा' से 'स्वर्णधूलि' तक।

प्रसादजी ने अपने नाटकों में विविध प्रकार की नारी-पात्रों का चित्रण किया है और उनके लगभग सभी नाटक नारी-प्रधान है। उनके नाटकों की नारियाँ पुरुषों से अधिक जाग्रत है। 'अजातशत्रु' नाटक में तो प्रसादजी ने स्वीकार किया है कि जीवन का रहस्य नारी ही समझती है, पुरुष तो द्वद्व एव अहकार के कोलाहल में भूल जाता है। इसलिए पुरुष को नारी की पाठशाला में ही जीवन की सीख ग्रहण करनी पडेगी। और, उनके पुरुष प्रायः यह सीख ग्रहण करते है।

'कामायनी' प्रसादजी की नारी-भावना का स्पष्ट द्योतन करती है। प्रसादजी की समस्त काव्य एव नाट्यकृतियो के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नारी को प्रेम, करुणा, त्याग एव वेदना की समष्टि के रूप में देखते रहे है। प्रेम और बलिदान कर वेदना की विदाई लेनेवाली नारियो के कारण उनके नाटको में दुखान्तता की एक अन्तर्धारा बहती रहती है। 'कामायनी' में व्याख्या इस प्रकार हुई है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष-स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।
देवों की विजय दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह सदा विरुद्ध रहा।
आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुम को अपनी स्मिति-रेखा से
यह सधि पत्र लिखना होगा।

अत्याधुनिक साहित्य में नारी का आदर्श नही, बल्कि उसका व्यावहारिक रूप उपस्थित करने की चेष्टा की जाने लगी है।

होली का साहित्यिक अभियान

कला का मूल उद्देश्य आनन्द है और उसका मूलाधार सौंदर्य , चाहे आप आनन्द और सौदर्य की जो व्याख्या करें।

वसन्त सौंदर्य की सीमा है। इसीलिए तो कालिदास ने कहा था---'सर्व प्रिये! चारुतर वसन्ते!' स्वभावत वसन्त से कला और साहित्य को बहुत प्रेरणा मिली। वसन्त और कला के सम्बन्ध का प्रमाण देते हुए ज्योतिषशास्त्र ने बतलाया है कि जिस व्यक्ति का जन्म वसन्त-पंचमी के दिन होता है, वह ललित कलाओं का प्रेमी होता है (निरालाजी का जन्म इसी दिन हुआ है)।

किन्तु, वासना को उत्तेजना देनेवाले कोरे सौंदर्य को भारतीय आदर्शवाद ने कभी महत्त्व नहीं दिया है। उसे दुर्वासा के शाप से शापित किया है। फिर वसन्तोत्सव, वसत-राग, फाग आदि का साहित्य में इतना चारु वर्णन क्यों? शायद इसका कारण यह है कि इस वसन्तोत्सव के पीछे एक महान् आदर्श भी है। इस वसन्त की वासन्तिकता के बीच भगवान् शकर को कामदेव के मोहन रूप ने मोहने की चेष्टा की थी और तब महादेव के तीसरे नेत्र ने उसे भस्म कर दिया था। प्रतिवर्ष होलिका-दहन अन्य बातो के अतिरिक्त इस घटना की स्मृति भी दिला जाता है। यही स्वस्थ शृगार भारतीय साहित्य ने वसन्त में ढूँढा है। 'राधामाधव' नाटक में रति और कामदेव के शृगार और पूजन का जो वर्णन है, उसके मूल में भी इसी स्वस्थ शृगार का विधान है। अत हमारे इस सास्कृतिक पर्व में रति और विरति का अनूठा सामञ्जस्य है। इसीलिए जहाँ इसे एक ओर 'मदन-महोत्सव' की सज्ञा दी गई है, वहीं दूसरी ओर 'शतपथ ब्राह्मण' ने वसत को ही ब्रह्म माना है।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ एक ऐसे संघर्षमय काल में हुआ, जब जीवन के लाले पड़े थे। खून का फाग खेला जा रह था और जौहर का वसन्त।

चन्द वरदाई ने पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के युद्ध की वसन्त से उपमा देते हुए कहा है—

रतिराज रु जोवन राजत रोर।
चँप्पो ससिरं उर शैशव कोर।
उनि मधि मद्धि मधू धुनि होय।
तिन उपमा वरनी कवि जोय।

फागुन म पुराने पत्ते झडने लगते हैं। नवीन कोपलें निकलती हैं। वसन्त के इस अनुराग-विराग-समन्वित रूप की स्पष्ट झाँकी कबीर में मिलेगी। एक ओर विराग की यह अन्योक्ति है—

फागुन आवत देख करि बन रूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाहिं॥

दूसरी ओर, मधुर भाव की पुजारिन कवि की आत्मा परम प्रियतम से चुनरी पहनकर फाग खेलना चाहती है—

"मै तो वा दिन फाग मचैहो,
जा दिन प्रिय मेरे द्वारे ऐहो।
रंग वही, रगरेजवा ओ ही,
सुरँग चुनरिया रँगैहों।"

दादू प्रेम के पराग से हरिजनो की टोली में होली खेल रहे हैं—

"पुहुप प्रेम बरषै सदा, हरिजन खेलै फाग।
ऐसा कौतुका देखिए, 'दादू' मोरे भाग।"

इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियो के लिए होली 'मृत्यु' और 'महामिलन' का प्रतीक बनकर आती है।

जायसी ने बारहमासे मे होली का विस्तृत विवरण दिया है। मीराबाई की रचनाओं में भी होली के कई पद है। इन पदो में दग्ध हृदय का तीव्र विरह-निवेदन है।

(क) होली पिया बिन मोहि न भावै घर आँगन न सुहावे,
दीपक जोय कहा करूँ होली, प्रिय परदेश रहावे।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सुसक-सुसक जिय जावे,
नींद नहि आवे।

(ख) किण सँग खेलूँ होली, पिया तजु गये है अकेली।

हिन्दी की सगुण भक्तिधारा के भक्त-कवियो ने तो भक्ति की उमग-में रंग उडाया ही है, बगला के वैष्णव कवियो ने भी होली के अनेकानेक पद लिखे है। फागुन का मस्त महीना है। वन-उपवन फूलो से लदे है। किन्तु प्रियतम के बिना सब कुछ सूना है। वेणी खुली है, दिल टूटा है और प्रेम अस्त-व्यस्त ह। फूलो में फल लगेगे। और प्रेम की डाली में ?

"फागुने गुनई ते गुनगण तोर।
फूटि कुसुमित भेल कानन मोर।
× ×
फुयल कवरी सँबरि नहिं बाँधै ;
फणि-पति-दमन बोलि धनि काँदै।
टूटल हृदय-विदारण नेह।
फुतका रतहि धनि ते जब देह।
फेरि न हेरबि सहचरि वृन्द।
फलव कि ना बूझल दास गोविन्द ॥

चडिदास की मानिनी राधा ठीक होली के मौके पर ही रूठ गई है। सहेलियाँ मनाती हुई कहती है—

"ए धनि मानिनि, मान निवार।
अबिरे अरुण, श्याम-अग-मुकुर पर,
निज प्रतिबिंब निहार॥
तुहुँ इक रमणी, शिरोमणि रसवती,
कोने ऐछे जग माँह।

तुहारि समुखे, श्याम सँग बिलसब
कैछन रस-निरबाह।

रसखान और घनानन्द ने भी होली के अनेक छद लिखे है। रसखान तो रस-खान है। घनानन्द की भाँति वे प्रेम-पात्र से विरक्त होने के कारण कृष्ण की ओर अनुरक्त न हुए थे, वरन् मुरली-माधव की छवि पर मुग्ध होकर अपने पार्थिव प्रेम का सग छोडा था। अत उनके जीवन में वियोग की घडी कभी आई ही नही—वहाँ तो सदा बहार रही। अतः

'फागुन लाग्यो सखी जबतें तबतें ब्रजमडल धूम मच्यो है।
नारि नवेली बचै नहि एक, बिसेख यहै सब प्रेम रच्यो है।
साँझ सकारे वही 'रसखानि' सुरग गुलाल लै खेल रच्यो है।
को सजनी निलजी न भई, अरु कौन भठू जिहिमान बच्यो है।"

किन्तु, रसखान के सौ वर्ष बाद आनेवाले घनानन्द को आनन्द घनश्याम के बिना फागुन फीका लगता है। रँगरेलियो के बीच 'सुजान' की विरह की लपटें कभी-कभी आ जाती है और तब सारा प्रबन्ध बिगड जाता है—

'सोंधे की बास उसासहि रोकत, चन्दन दाहक गाहक जीकौ।
नैननि बैरी सो है री गुलाल अबीर उडावत धीरज ही कौ।
राग बिराग धमार त्यो धार-सी लौटि पथो ढँग यो सब ही कौ।
रँग रचावन जान बिना 'घनआनन्द' लागत फागुन फीकौ।'

अब तक होली भक्तो की भावमयी भूमि से उतरकर रीतिकालीन कवियों की रगीन दुनिया में आई थी। तत्कालीन विलास-प्रिय राजाओ की दिलजोई के सामान मुहैया करने में इन कवियो ने आकाश -पाताल एक कर दिया। और, फागुन में जब प्रकृति ने भी छूट दे दी, तब तो इन कवियो ने छूटकर होली खेली।

बिहारी की नायिका की आँख में अबीर पड़ गया है। दर्द भी हो रहा है; किन्तु वह दर्द कुछ ऐसा मीठा है कि अबीर के कणो के निकालने की चेष्टा भी नही होती।

"दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग खियालु।
बाढत हूँ अति पीर सु न काढत बनत गुलालु॥"

इस रँगरेली के प्रवाह मे लोक-लाज भी बह निकली—

"छुटत मुठनि सँगही छुटी लोक-लाज कुल-चाल।
लजे दुहुन इक बेरही चलि चित नैन गुलाल॥"

यों तो रीतिकाल के सभी कवियो ने होली खेली; किन्तु सबसे अधिक होली खेली पद्‌माकर ने। होली की छेडछाड ने जो 'प्रलय' का रूप पकड़ लिया है, उसे इन पक्तियों में देखिए, जहाँ तन-मन सब बेसम्हार हो रहे हैं:—

ये नँद गाँव ने आये इहाँ उत आई।
सुना वह कौनहू ग्वाल की।
त्यों 'पद्‌माकर' होत जुराजुरी
दोउन फाग करी यह ख्याल की।
डीठि चली उनकी इनपै
इनकी उगन चली मुठि उताल की।
डीठि-सी डीठि लगी उनको इनके
लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।

'हेलाभाव' की यह ढिठाई कि—

छीन पितम्बर कमर तें सुबिदा दई मीडि कपोलन रोरी
नैन नचाई कही मुसकाई लला फिरि आइओ खेलन होरी।

नवयुग के साथ हमारी दुनिया बदल गई। हमने युगो के बाद अपनी बिगडी सूरत देखी। हृदय में विद्रोह उठा; किन्तु असफलता की चट्टान से टकड़ाकर लौट आया और आँखों में तप्त आँसू बनकर छा गया। यह करुण विद्रोह श्री सुभद्राकुमारी चौहान की 'जालियाँवाला बाग का वसन्त' शीर्षक कविता में देखिए—

परिमलहीन पराग दागसा बना पडा है।
हा! वह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है॥

आओ ! प्रिय ऋतुराज किन्तु धीरे से आना।
यह है शोकस्थान यहाँ मत शोर मचाना।

....

कोमल बच्चे मरे यहाँ गोली खा-खाकर।
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।
तड़प-तड़प कब वृद्ध मरे हैं गोली खाकर।
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर।
यह सब करना किन्तु बहुत धीरे से आना।
यह है शोकस्थान, यहाँ मत शोर मचाना॥

मातम के इस काल में कोई कैसे शोर मचाकर धमार गावे ? इस विद्रोही पर्व के अवसर पर हमारे युवक कवियो का हृदय प्रतिकार करना चाहता है। डा० रामविलास शर्मा अगले फागुन में क्राति की फसल काटना चाहते हैं—

"काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्राति की।"

किन्तु, इतना होने पर भी फागुन हममें ऐसी स्निग्धता और मस्ती भरता है कि हम वर्त्तमान की कठोरता को भूलकर कुछ क्षण अपने मन की कह-सुन लेना चाहते हैं। इसीलिए तो 'केसरी' की मजदूरिन कहती है—

पिया ! सुधि कैसे रहा बिसार
हाय ! यह फागुन बीत चला
आज प्यार का पर्व वियोगिनि
कोयल यह सदेशा लाई
मेरी ही दुनिया सूनी क्यो
हूक-भरी बालम सुधि आई
....
तीज-पर्व कर मैंने जीवन में
एक मनौती मानी—

ऋतु वसन्त पिया आ पहनायें
अपने हाथ चुनरिया धानी

.......4.......................

आज नही मजदूर, आज
राजा मेरे, मै तेरी रानी
वर्ष पर्व है पिया, आज
कुछ कह सुन ले अपनी मनमानी।

हमारे छायावादी कवि वसन्त के सौरभ और फागुन के नशीले सौंदर्य में अनन्त का आलम्बन ले अपनी वैयक्तिक भावनाओं का प्रकाशन करते रहे—

सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौंदर्य शिखाओं में अनन्त !

... .

रचते सजीव जो प्रणय-मूर्त्ति
उसकी छाया, आया वसन्त ! —पत

छायावादी कवियों में सर्वोत्कृष्ट होली लिखी 'निराला' ने—'आँखों के डोरे लाल, आज खेली होली।'

किन्तु, अधिकाश कवियों में यह प्रणय और प्रतिकार की ही प्रेरणा भरता रहा है।

हाँ, होली हमारी एकता का प्रतीक है। उस दिन छोटे-बडे, धनी-दरिद्र सभी अबीर के रग मे रँगकर एक-रग हो जाते है। मुसलमान-कवि भी इस होली में शरीक होने के लिए इच्छुक है। किन्तु, कष्ट और सरमायादारों के अत्याचार उनकी मस्ती को पस्ती में बदलने का कुचक्र कर रहा है। बाकर साहब फारमाते है—

कष्ट उठाए औ, दुख झेले
मैंने कितने पापड बेले
मेरे रक्त से होली खेले
सरमाया चालाक।

नगा रहकर सर्दी काटी
भूका रहकर खाक भी चाटी
नीचे माटी ऊपर माटी,
मेरी होली खाक।

हिन्दू-मुस्लिम भेद भी उनकी नजर में फागुन के रग में भग डाल रहा है——

होली आई कैसे खेलूं?
हिन्दू कुछ बेरग है मुझसे
आमादाये-जग है मुझसे
मेरा दिल भी तग है मुझसे
होली आई कैसे खेलूं?

फिर भी उन्हें विश्वास है कि एक-न-एक दिन हम सब आपस में अवश्य मिल जायँगे और सारे कुनवे के लोग एक स्वर में होली गायँगे। इसलिए उनका आग्रह है कि —

बिछडे है जो मिल जाएँ
मन की कलियाँ फिर खिल जाएँ
बैरी देखें औ' हिल जाएँ
तेरे घर का मेल!
ऐसी होली खेल!

उन्हें आशा और विश्वास दिये गाँधीजी ने। गाँधीजी की होली गाँव-गाँव की फेरी लगाती रही—'होली खेलें गाँधी वीर नेता सग लिए।' इस होली ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के लाल धागे में बाँध दिया।

हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव

जब दो राष्ट्र किसी कारणवश एक-दूसरे के सम्पर्क में आते है, तो दोनो मे विचार, सभ्यता और संस्कृति का विनिमय होता है। इसके अतिरिक्त दोनों के साहित्य में भी आदान-प्रदान होता है। ऐसा देखा जाता है कि उस समय जिस देश का साहित्य समृद्ध और सम्पन्न रहता है, उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ता है।

चिरकाल से भारतवर्ष की पुनीत भूमि पर भिन्न-भिन्न जातियाँ आती रही है और उनकी सभ्यता और सस्कृति को आत्मसात कर लिया है, जिसकी स्पष्ट छाप हमारे साहित्य पर भी अकित है। यो तो जहाँगीर के ही शासनकाल से अग्रेज व्यापारियो का यहाँ आगमन प्रारम्भ हो गया था; पर सन् १८५७ के बाद अग्रेजी शासन की नीव सुदृढ हुई और उसी समय से हम अग्रेजी-साहित्य के सपर्क में आये। अग्रेज जिस सभ्यता और सस्कृति को लेकर आये थे, उसमें गति एव शक्ति थी। भारतीय सस्कृति और सभ्यता शताब्दियो से शक्तिहीन और शिथिल हो चुकी थी, अत उनका हमारी सस्कृति और सभ्यता को प्रभावित करना नितान्त स्वाभाविक था। फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक अग पर अग्रेजी-साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि सभी क्षेत्रो में अग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यूरोप के अन्य साहित्य में भी जो कला की नवीन प्रवृत्तियो का जन्म हुआ, उसका भी प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर अग्रेजी के ही माध्यम से पडा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि अग्रेजी यहाँकी राजकीय भाषा होने के कारण अत्यधिक प्रचलित थी। पर इससे यह न समझना चाहिये कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य अग्रेजी-साहित्य का अनुकरणमात्र है। प्रत्येक जीवित साहित्य में आदान-प्रदान में होना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। हिन्दी पर ही अग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषा के साहित्य का भी प्रभाव है। पर, इसके बावजूद

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का स्वाभाविक, स्वस्थ और स्वतन्त्र विकास हुआ है। उसमें उतनी ही मौलिकता है, जितनी किसी भी उत्कृष्ट साहित्य में सभव है। उसमें अपने सूरज का प्रकाश है, अपने फूल का सौरभ है।

भारतेन्दु-युग से ही अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव पडना प्रारभ हो गया था। भारतेन्दु की कविताओ में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, पश्चिमी प्रभाव के ही कारण, क्योंकि यूरोपीय देशो में राष्ट्रीयता की एक लहर दौड गयी थी और साहित्यिकों ने भी जनता को प्रेरित करने में हिस्सा लिया था। पर, भारतेन्दु सधिकालीन कवि होने के कारण प्राचीनता को ही अपनाये हुए थे, अत. अंग्रेजी की अन्य प्रवृत्तियो और अभिव्यजना शैली से वे प्रभावित नही हो सके।

छायावादी युग के सभी कवियो ने न्यूनाधिक रूप से अग्रेजी-साहित्य का अध्ययन किया था; अत. उनमें नयी चेतना हिलोरें मार रही थी। पत, प्रसाद, निराला और महादेवी की कविताओ पर अग्रेजी साहित्य का प्रचुर प्रभाव पड़ा। छायावादी कवियो की प्रवृत्ति—प्रेम, राष्ट्रीयता, काल्पनिकता, नैराश्य आदि भावनाएँ हू-बहू रोमाटिक कवियो की उक्त भावनाओं से मिलती है। पत पर वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-प्रेम का इतना अधिक प्रभाव पडा कि कोई-कोई आलोचक उन्हें हिन्दी का वर्ड्सवर्थ ही कहने लगे। शैली के आत्मिक प्रेम (Platonic love) और कीट्स की सौंदर्य-भावना का भी प्रभाव समस्त छायावादी कविता पर है।

इस युग की अभिव्यजना-शैली पर रोमाटिक युग का सबसे अधिक प्रभाव है। प्राचीन अलकार रूढिग्रस्त थे; अत. इस युग में नवीन अलकारों का प्रयोग होने लगा, जिसमें मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना प्रमुख है। मानवीकरण अग्रेजी के पर्सनिफिकेशन (Personification) का पर्याय है। सस्कृत-कविता में इसका अभाव नही है; पर उस समय इसकी उतनी महत्ता नही थी, जितनी आज। ध्वन्यर्थ व्यजना ओनोमोटोपोयैआ (onomatopoeia) का पर्याय है। कीट्स ने इसका

सर्वाधिक प्रयोग किया है, जिसका प्रभाव समस्त छायावादी कविता पर है। निराला की एक पक्ति देखिये—

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर राग अमर अबर मे भर निज रोर।" इसी तरह विशेषण-विपर्यय का भी प्रयोग पश्चिमी प्रभाव के ही कारण हुआ, जो ट्रासफर्ड एपीथेट (Transferred epithet) का पर्याय है।

इसी समय यूरोप में कलावाद, अभिव्यजनावाद, प्रतीकवाद , प्रयोगवाद आदि वादो का जन्म हुआ, जिसका किसी-न-किसी तरह हिन्दी-कविता पर भी प्रभाव पडा। यद्यपि उपर्युक्त वादों के सभी प्रवर्त्तक अग्रेजी साहित्यिक नही थे; फिर भी अग्रेजी के द्वारा ही हम उनसे परिचित हुए। यहाँ तक कि प्रगतिवाद, जिसका सबसे अधिक विकास रूस मे हुआ, से भी परिचित कराने का श्रेय अग्रजी-साहित्य को ही है। अग्रेजी-साहित्य मे अनुवाद इतना पूर्ण हुआ है कि हम उसके माध्यम से विश्व-साहित्य से सपर्क स्थापित कर सकते है। इस दृष्टि से हिन्दी के साहित्यिक अग्रेजी-साहित्य के चिर ऋणी रहेंगे, जिसने उन्हें विश्व-भर के साहित्यिक आन्दोलन से परिचित कराया। इसके अतिरिक्त अग्रेज साहित्यिक नवीन 'वादो' से प्रभावित होकर मौलिक रचना करने मे भी सबसे आगे रहे है, जिसका प्रभाव भी हिन्दी-साहित्य पर अमिट है।

यह प्रभाव सिर्फ काव्य पर ही नही, वरन् साहित्य के अन्य अगो पर भी पडा है। भारतेन्दुजी ने अग्रेजी नाट्य साहित्य से प्रभावित होकर सर्वप्रथम मगलाचरण, सूत्रधार और नट-नटी आदि की योजना का अपने कुछ नाटको मे बहिष्कार किया। प्रसादजी ने तो उसकी सूक्ष्म प्रवृत्तियों को भी अपने नाटको में स्थान दिया। उन्होने अग्रेजी-नाटको के ही आधार पर अको और दृश्यो की योजना की। नार्वेजियन नाटककार इब्सन के समस्या-प्रधान नाटकों से प्रभावित होकर शॉ ने अनेक नाटक लिखे, जिनका प्रभाव सारे नाटक-साहित्य पर भी पडा। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी में अनेक समस्याप्रधान नाटको की रचना की। हमारे यहाँ जो दृश्यो और पात्रों की वेशभूषा के विशद वर्णन की प्रथा चल पड़ी है, वह भी पाश्चात्य

प्रभाव ही है। एकाकी नाटक की तो हमारे यहाँ कोई भी प्राचीन परम्परा नहीं है, अत इसकी प्रेरणा स्पष्टत अंग्रेजी-साहित्य से ही मिली है।

उपन्यास-साहित्य में तो यह प्रभाव और भी स्पष्ट है। प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यासो में जिस नवीन उपन्यासकला को पाते है, वह अग्रेजी उपन्यासकला का ही प्रभाव है। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने उपन्यास-साहित्य की रूपरेखा ही बदल दी। मानव-समाज के बाहरी जीवन को छोड़कर उपन्यासकार अर्द्धचेतन मन की गुत्थियो को सुलझाने लगे, जिनसे प्रभावित होकर हमारे यहाँ उपन्यासो की रचना होने लगी। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास जैनेन्द्रकुमार का है। अज्ञेय के उपन्यास में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इतनी अधिक प्रधानता मिली कि हिन्दी-साहित्य में वह एक नवीन प्रयोग समझा जाने लगा, जिसपर जेम्स ज्वायस के 'यूलीसि' का प्रभाव है। इलाचन्द्र जोशी ने भी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक रहस्यमय ग्रथियो को सुलझाने का प्रयास किया है। यशपाल आदि लेखक प्रगतिवादी रूसी उपन्यासकारो से प्रभावित हुए है; पर यह प्रभाव अंग्रेजी अनुवाद के ही माध्यम से पड़ा है।

हिन्दी के कहानी-साहत्यि पर भी अग्रेजी-साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव है और हमारे कहानी-लेखकों को अग्रेजी कहानियो से बहुत प्रेरणा मिली है, इसे कोई इन्कार नही कर सकता।

अग्रेजी की दो निबन्ध-शैलियो का हिन्दी-निबन्ध पर अधिक प्रभाव पड़ा— (१) विचारात्मक निबन्ध और (२) वैयक्तिक। प्रथम प्रकार के निबन्ध-लेखको में रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दास प्रधान है, जिनपर अग्रेजी निबन्धकार बेकन का प्रभाव है। दूसरे प्रकार के निबन्ध-लेखकों में वियोगी हरि और 'एक भारतीय आत्मा' प्रमुख है, जिनपर लैम्ब का प्रभाव है।

समालोचना-क्षेत्र में भी अग्रेजी-समालोचना से हम बहुत अधिक प्रभावित हुए है। सस्कृत-साहित्य में आधुनिक समालोचना-पद्धति का अभाव था, अत. अग्रेजी-समालोचना ने ही हमारा पथ प्रशस्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर आइ० ए० रिचार्ड्स का कुछ प्रभाव है। अज्ञेय की तो

संपूर्ण समालोचना-पद्धति टी० एस० एलियट से ही प्रभावित है। यही नही, आलोचना की जो विभिन्न पद्धतियो का हिन्दी में विकास हुआ है, वह अग्रेजी-समालोचना का ही प्रभाव है।

इस तरह समस्त आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर अग्रेजी-साहित्य का प्रभाव है और अंग्रेजों के भारत से जाने के बाद भी यह प्रभाव अक्षुण्ण है।

—०—

लिपि का सुधार

भाषा और लिपि का राष्ट्रीय जीवन से घनिष्ठ सबध है। आज के युग मे ये राष्ट्र और समाज-जीवन को सघटित और सग्रथित करनेवाली शक्तियाँ मानी जाती है; इसलिए हम जब स्वाधीनता-सग्राम मे लगे हुए थे, तभी भाषा और लिपि की समस्या सामने आयी और विद्वानो और राजनीतिज्ञो ने इसपर विचार करना शुरू किया; क्योकि भारत-जैसे बहुभाषा और अनेक लिपियोंवाले देश के लिए राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का सर्वसम्मत रूप निर्धारित करना आसान नही था, पर यह इस समस्या का केवल राजनीतिक पहलू है और इसका एक प्रकार से निबटारा भी हो गया है।

पर, आज हमें लिपि-सुधार के सवाल पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना है। इसकी आवश्यकता इसलिए दीखती है कि हमारी राष्ट्रलिपि नागरी में स्थान-स्थान पर किंचिन् सुधार कर देने से उसके अनेक अक्षर अन्य प्रान्तीय वर्णमालाओं के अक्षरों के समीप चले जाते हैं। इस प्रकार अन्य लिपिवालो को राष्ट्र-लिपि सीखने में सहूलियत होगी। फिर प्रेस और मुद्रणलिपि की कठिनाइयो को दूर करने का सवाल है। लिपि की कठिनाई के कारण हिन्दी टाइपराइटर का प्रयोग कठिन है। अँगरेजी की तुलना मे इसकी गति बडी धीमी रहती है। जहाँ तक प्रेस की सुविधा का प्रश्न है, 'हम जानते है कि उर्दू के मुकाबले में हिन्दी का प्रेस काफी आगे बढा हुआ है। पर, रोमन

की तुलना में वह उतनी ही पीछे है, यह भी किसी प्रेस-सबन्धी बातो के जानकार से छिपा नही। हिन्दी कम्पोजिग में केसो और टाइप के खानो की तादाद इतनी बड़ी होती है कि कम्पोजिग सीखने में काफी समय लग जाता है। इतना ही नही, इसको लेकर ही हिन्दी में छापे की इतनी गलतियाँ रह जाती है, जबकि अँगरेजी की पुस्तको में गलतियाँ निकाल लेना मुश्किल है। फिर-गति का भी सवाल है। हिन्दी की कम्पोजिग में रोमन की तुलना में बहुत समय लग जाता है। इसका प्रभाव हिन्दी-पुस्तको के मूल्य पर पडता है, भाषा-प्रचार और साक्षरता पर पडता है।

नागरी के वर्त्तमान रूप के कारण ही हिन्दी को दो आधुनिक यत्रों, टेलिप्रिन्टर और लाइनो टाइप मशीन, का लाभ नही हो पाता। नतीजा है कि हिन्दी-समाचार-पत्रों का स्तर अँगरेजी पत्रों की तुलना में हमेशा गिरा रहता है। हम जानते है कि आज की दुनिया में समाचार-पत्रो का कितना महत्त्व है। शिक्षा-प्रचार और जनजागरण के साधन के रूप में भी इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। अत. यदि नागरी-लिपि को इन यत्रो के अनुकूल बना लिया जाय, तो हिन्दी-भाषा और हिन्दी-भाषाभाषी जनता को बडा लाभ होगा। नागरी के वर्त्तमान रूप में ही उसे उपर्युक्त दोनों मशीनो पर चलाने की जितनी भी कोशिशें अब तक हुई है, वे बेकार साबित हुई है। उनपर खर्च इतना बैठता है कि आर्थिक दृष्टि से वह योजना अनुपयोगी हो जाती है।

इन सभी आवश्यकताओ को देखते हुए नागरी-लिपि का यथोचित सुधार बहुत जरूरी हो गया है। पर, आज ऐसे लोगो की सख्या बडी विशाल है, जो लिपि के प्रति भी धार्मिक अन्धश्रद्धा दिखलाते है और उसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन का घोर विरोध करते है। उसके लिए यह सस्कृति की रक्षा का सवाल बन जाता है।

अपनी इस अन्धश्रद्धा के समर्थन में वे विज्ञान की सहायता लेना चाहते है; पर केवल उतनी ही दूर तक, जहाँ तक कि उनके पक्ष का समर्थन होता है। वे ध्वनिशास्त्र का हवाला देकर कहते है कि नागरी

वर्णमाला में उच्चारण-स्थान के आधार पर जो वर्गीकरण है, वह इसकी मौलिक विशेषता है, जो अन्य किसी लिपि को प्राप्त नहीं, दूसरे, हिन्दी में हम जो लिखते हैं, वही पढते हैं, इसमे ऐसा नही होता कि हम लिखें कुछ और पढ़े कुछ। इसका एकमात्र कारण यह है कि हिन्दी के अक्षर उच्चरित ध्वनियो के सही-सही प्रतीक हैं।

नागरी के वर्त्तमान रूप के समर्थन मे दिये गये ये तर्क एक सीमा तक ही टिक पाते हैं। जहाँ तक अक्षरो के वर्गीकरण का प्रश्न है, हम जानते हैं कि सुधार की किसी भी प्रस्तावित योजना में उसे बदलने का प्रयत्न नही किया गया है। सुधार की जो कुछ आवश्यकता है, वह अक्षरो के रूप तक ही सीमित है।

अब जरा हम दूसरे तर्क पर भी विचार करें। कहते है कि जो कुछ हिन्दी में हम लिखते है, वही पढते है, उर्दू और रोमन लिपि की भाँति नागरी में शब्द का उच्चारण अक्षरो के उच्चारण से स्वतन्त्र नही है। यह दावा तो ठीक है; पर क्या नागरी अक्षर के रूप और उसके उच्चारण में किसी प्रकार का लगाव है? उदाहरण के लिए, क को किसी दूसरे रूप में भी लिखकर हम क का ही उच्चारण कर सकते हैं। ध्वनिशास्त्र या भाषा-शास्त्र से भी अक्षर के रूप और उच्चारण का अभिन्न होना नही सिद्ध होता है। अक्षर तो केवल किन्ही ध्वनियों के प्रतीक मात्र है, प्रतीक में सुधार कर देने से ध्वनि मे परिवर्त्तन नही पड सकता। हाँ, अगर पूरी की पूरी वर्णमाला बदल दी जाय, तो कुछ दिनो तक काफी गडबडी रहेगी। लेकिन वह सवाल ही अलग है। हमारे सामने केवल उतनी दूर तक ही सुधार करने का प्रश्न है, जहाँ तक हमारी आवश्यकताएँ भी पूरी हो जायँ और नागरी वर्णमाला का मौलिक रूप भी विकृत नही हो। जब कि अक्षर के उच्चारण और रूप में अभिन्न सबध नही है, तो थोड़े आवश्यक सुधारों पर आपत्ति करना अनुचित और अन्ध-विश्वासपूर्ण है।

एक बात और। जिस प्रकार रअक्ष के उच्चारण और लिखने के तरीके

में कोई बुनियादी लगाव नही, उसी प्रकार एक ही वर्ग के विभिन्न अक्षरो के रूप में भी कोई लगाव नही है। क के रूप का ख, ग, या घ ङ के रूप से कौन-सा संबध हो सकता है ? इसलिए किन्ही अक्षरों के रूप में सुधार करने जाकर हम कौन-सी लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करते है ?

फिर हमारी लिपि के कुछ अक्षर ऐसे है, जिन्हें हम आधा नही लिख सकते है। जैसे ट, ठ, ड, ढ, द और ब आदि। इनको संयुक्ताक्षरो में लिखने के लिये नीचे हलन्त लगाना पड़ता है और कही-कही उच्चारण के विपरीत आगे-पीछे लिखना पडता है। उदाहरण के लिए द्वादश शब्द को ले। यहाँ द आधा और व पूरा होना चाहिये; परन्तु लिखते है द को पूरा और व को आधा। क्या यही नागरी-लिपि की वैज्ञानिकता है ? व का उच्चारण भी ऐसा है कि नागरी-उच्चारण की भी सारी वैज्ञानिकता हवा हो जाती है। लोगों का दावा है कि हिन्दी में हम जो लिखते है, वही पढते है, तो फिर विश्वास शब्द में प्रथम व का उच्चारण दूसरे व के उच्चारण से क्यो भिन्न है ? पहले व का उच्चारण अँगरेज़ी अक्षर ह्वी (v) जैसा है और दूसरे का डब्ल्यू (W) जैसा।

इन सभी त्रुटियो और आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए कुछ सुधार बडे आवश्यक प्रतीत होते है। जैसे, अ, झ, ण के दो रूपों में से एक ही को रखा जाय। ॠ से अ अधिक सुगम है, झ की जगह झ रखना चाहिये; क्योकि मराठी में झ रूप ही मान्य है। दूसरे, इस प्रकार झ को हम आधा भी लिख सकेंगे। ण के स्थान पर ण लिखना अधिक लाभप्रद है; क्योंकि ण में र रहने से बच्चो को कितनी बार भ्रम हो जाता है। उसी तरह ख के रूप में भी दोष है। इसकी जगह पर बँगला या गुजराती के ख रूप को रखना अच्छा होगा।

अक्षर र को लेकर भी बडी गडवडी होती है। कहने को इसका एक ही र रूप है। पर व्यवहार में इसके नाना रूप हो जाते है, यथा सरल, धर्म, अग्रेज और राष्ट्र में। वैज्ञानिकता का तकाजा है कि इस

अंधेरखाते को अवश्य दूर किया जाय। र का ऐसा कोई रूप, जो सर्वत्र समानतः व्यवहार में आवे, रखने से मुद्रलिपि और प्रेस के लिए भी सहूलियत होगी। उसी प्रकार र में उकार की मात्रा लगाने का तरीका भी अन्य अक्षरो से भिन्न है। इस कारण प्रेस में रू और रु के लिए अतिरिक्त टाइप रखने पडते है। मात्रा लगाने की समस्या केवल र तक ही सीमित नही है। यह समस्या किसी-न-किसी रूप से सभी में लगी है। वास्तव में आधुनिक प्रेस और मुद्रलेख में मात्राओ को लेकर ही ज्यादा दिक्कत है। उस दिक्कत को दूर करने के लिए तरह-तरह के सुझाव आये है। जैसे राहुलजी इ, उ, ए आदि अक्षरों के स्थान पर अि, अु, अे, की सिफारिश करते है। इस प्रस्ताव को मान लेने से प्रेस और मुद्रलेखन में आसानी होगी; पर हस्तलेखन में ज्यादा समय लगेगा। एक प्रस्ताव मात्राओ को अक्षर के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे नही लगाकर सामान्य रूप से सामने, बगल में लगाने का है। यह प्रस्ताव भी अनुमोदनीय नही है; क्योंकि लिखने में असुविधा तो होगी ही, अक्षर का रूप भी असुन्दर हो जायगा ।

कहने का तात्पर्य यह है कि हम सिद्धान्त-रूप से मान लें कि इन सब दिशाओ में सुधार की आवश्यकता है। उसके बाद इस विषय के जानकारो और कलाकारों की कोई समिति यह विचार कर सर्वमान्य सुधारो की योजना उपस्थित करें, जिसमें हमारी आवश्यकताएँ भी पूरी हो जायँ और अक्षरो का रूप भी असुन्दर न हो।

अंत में, एक सवाल अक्षरो की सख्या कम करने का भी है। बहुतेरे अक्षर, जो आज बेकार हो चले है, उनको रखने का कोई अर्थ नही दीखता--जैसे, ष और ऋ। ऋ का उच्चारण शायद ही हजार में एक व्यक्ति कर पाता हो। वही दशा ष की है । ऋ का काम रि से चल जायगा और श से ष का काम।

हम मानते है कि ऋ और ष के उच्चारण रि और श से भिन्न है; पर जब उनका उच्चारण करनेवाला ही नही, तो वैसे अक्षरो से लाभ क्या ? क्ष, त्र, ज्ञ को भी हटाकर उनका काम उन अक्षरो से लिया जा सकता है, जिनके कि ये संयुक्त रूप है।

इन अक्षरो के हट जाने से हमारी वर्णमाला से ष, ऋ, क्ष, त्र, ज्ञ—ये पाँच अक्षर कम हो जायँगे।

कुछ सयुक्ताक्षरो के रूप भी सरल कर देने से प्रेस में टाइप की और मुद्रलेखन में बटन की कमी हो जायगी। आजकल प्रेस में लगभग १०० सयुक्ताक्षर रखने पड़ते है। पर, इनमें सुधार कर लेने से केवल २० सयुक्ताक्षरो से काम चल जायगा।

इन सुधारो की सिफारिश केवल सुधार के लिए सुधार करने के उद्देश्य से नही की जाती है। इनसे हमें कितनी सहूलियत होगी, यह उपर्युक्त पक्तियो से ज्ञात हो जाना चाहिए। वस्तुत भाषा और लिपि, प्रेस और टाइपराइटर आदि हमें इसीलिये अभिप्रेत है कि उनसे हमारा काम चलता है। जिस दिन इनकी उपयोगिता नही रहेगी, उस दिन मनुष्य स्वय इन्हें उठाकर ताक पर रख देगा। इसलिये इनके प्रति अनावश्यक मोह न रखकर उपस्थित समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

कला और जीवन

कला और जीवन का सम्बन्ध भौतिक रूप में ही ग्राह्य और बोधगम्य हो सकता है, क्योकि कला और जीवन की आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्या का अन्त उलझन, रहस्य और अन्धविश्वासो में हो जाता है।

अपने वाछित रूप में कला और जीवन आज अन्योन्याश्रित है। मौलिक रूप में हमे मानना पडेगा कि कला मनुष्य की सृष्टि है और मनुष्य का जीवन उसका अपना होते हुए भी वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों से भी मर्यादित रहता है। इसलिए कला-विहीन जीवन की बात किसी हद तक सत्य हो सकती है; पर जीवन-विहीन कला या तो लाश होगी या हवाई कल्पना। पर, इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि जीवन में कला का प्रयोजन रचमात्र भी गौण है; क्योकि

कला का परिधान धारण किये बिना जीवन इतना नंगा और बदरंगा होगा कि जीवन में क्या कुछ जीने लायक बचेगा ? यहीपर कला के उद्‌गम, स्वरूप और प्रयोजन के सवाल पैदा होते हैं।

हम कला को कल्पना की अभिव्यक्ति मानें अथवा कर्मकौशल; अपनी एकाग्र चेतना की सहायता से जीवन की अनुभूतियों को दूसरो पर व्यक्त करने का प्रयास मानें अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दो में कहे कि जो सत्य है, जो शिव है, जो सुन्दर है, वही कला है; पर हर दशा में कला उत्स का, उसके प्रेरणास्रोत का प्रश्न बना रहता है। और, इस प्रश्न का उत्तर व्यक्ति-विशेष के जीवन-दर्शन पर निर्भर करता है; क्योकि उस दर्शन के आधार पर ही उस व्यक्ति का दृष्टिकोण बनता है।

इस प्रकार कला के प्रति तीन प्रकार के दृष्टिकोण मुख्यतया प्रचलित है—(१) आदर्शवादी, (२) सौदर्यवादी और (३) जडवादी। प्रथम कोटि के कलाकारो मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नामोल्लेख किया जा सकता है। इस कोटि के लोग सत्य, शिव, सुन्दरम् की सुमरनी पर अपने भावोच्छ्वास के मनके गिनते है। किन्तु सत्य, शिव, सुन्दरम् का अर्थ पूछिए और उत्तर का विश्लेषण कीजिए, तो सिर्फ उलझे विचारों का धागा हो मिलेगा। वस्तुत ये लोग कला को कलाकारो की सर्वथा वैयक्तिक अनुभूति की परिधि में घेरकर रखना चाहते है और इसलिए उनकी कलालोचन की कसौटी निजी भावना होती है। इस विचारधारा की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद में होती है और अन्त में वह विषाक्त वैयक्तिकता के दलदल में गुम हो जाती है। पर, सब दशा में इसके पीछे जीवन की अनुभूति अवश्य रहती है; किन्तु वह जीवन बिल्कुल व्यक्तिगत रहता है और अनुभूतियॉ वायवीय।

दूसरा दृष्टिकोण कला की स्वतन्त्र सत्ता को अपनी आधार-शिला मानता है। इस मत के माननेवाले कलाकृति को स्रष्टा के व्यक्तित्व से विलग करके रूपविन्यास और शिल्प की भाषा में कला के सिद्धान्तो का निरूपण करते है। इनकी टेक है, 'कला, कला के लिए।' ये कलाकृति को समझने के लिए अथवा कलासृजन के लिए जीवन के—व्यक्तिगत अथवा सामाजिक—सस्पर्श

को अनावश्यक मानते हैं। इसलिए इस विचारधारा की भी परिणति पहले की भाँति ही व्यक्तिगत अभिरुचि, चिन्तन और रूपयोजना में होती है।

तीसरा दृष्टिकोण, जो जड़वादी है, इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अपना आधार मानता है। यह प्रथम दोनो दृष्टिकोणो का निराकरण करता है; क्योकि इस दृष्टि से जो आदर्श कला होगी, उसमें वर्गसघर्ष का फार्मूला मिलना ही चाहिए। उसमें भावो का उत्कर्ष और रूपविन्यास की कुशलता-दोनो गौण हैं। इस प्रकार की कला का उदाहरण कम्युनिस्टो के मार्गभ्रष्ट, तथाकथित प्रगतिवादी साहित्य में, (जिसमें आगरा के 'पहलवान' आलोचक की आलोचनाएँ भी शामिल हैं) मिल जायगा।

उपर्युक्त तीनो दृष्टिकोणों में जो फर्क है, वह केवल मतवाद का अतिरेक है, अन्यथा अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ तीनों की सीमाएँ आपस में उलझी हुई हैं। इसका अर्थ है कि कला के लिए भौतिक जीवन की अनुभूतियाँ और भावनाएँ जितना सत्य हैं, उतना ही उसकी रूपयोजना भी। जहाँ दोनो सत्यो का समन्वय होता है, कला सद्य. निखर उठती है।

कला और जीवन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर कला के प्राचीनतम अवशेषों से भी प्रकाश मिलता है। आज से हजारो, लाखों वर्ष पहले प्राचीन पाषाण तथा नवीन पाषाण युगो में क्योकर आदिमानवो ने अन्धेरी गुफाओ मे एक-एक मील भीतर जाकर नाना प्रकार के चित्र अकित किये ? क्योकर जगली जानवरो और प्राकृतिक दृश्यो को उत्कीर्ण कर उनमें कच्ची धातुओ और चर्बी के रग भरे? चित्रकारी के प्राचीनतम नमूने प्राचीन पाषाणकाल के मानवो के बनाये हुए है। उन नमूनो में भी जो पूर्व-पाषाणकाल के है, उनमें अधिकतर प्राकृतिक विषयो का समावेश है। उन दिनो मनुष्य के भौतिक जीवन का आधार आखेट था और वह स्वय भी प्रकृति का अग-जैसा ही था। इसलिए उन दिनो के चित्रो में यथार्थ से सादृश्य-निर्वाह की अपूर्व चेष्टा मिलती है।

धीरे-धीरे मनुष्य आखेटक और अकेला जीवन छोडकर सामाजिक प्राणी बनने लगा। अहेर को छोडकर उसने पशुपालन और खेती का सहारा लिया। अर्थात्, वह प्रकृति का अङ्गमात्र न रहकर प्रकृति के चगुल से मुक्त होने

और उसपर ही अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करने लगा। उसकी इस जीवन-शैली का तत्काल प्रभाव उसकी कला पर पड़ा। पहले के स्वाभाविक तथातथ्य-अकन के स्थान पर नयी सामाजिक अनुभूतियों की उद्भावना होने लगी। पुरानी पद्धति का सर्वथा वहिष्कार तो नही हुआ, पर, चूँकि जीवन से उसका सम्बन्ध नही रहा, इसलिए उस पद्धति पर बनाये गये चित्रो का उपयोग केवल परम्परा-निर्वाह अथवा सजावट के लिए किया जाने लगा। यह कड़वा सत्य आज की कलाओं में भी देखा जा सकता है। जो कला जितना ही जीवन से दूर है, उसमें उतनी ही सजावट है।

कला और समाज के अभिन्न सम्बन्ध का प्रभाव कलाओ के सघटन और समाज की विचारधारा के विकास पर भी पडता है। मनुष्य के जीवन और सभ्यता एव सस्कृति के विकास के साथ ही उसके जीवन की चेष्टाओ में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति जोर पकडती गयी है। फलत कला के अनेक भेद-उपभेद वन गये है। कहाँ तो पहले केवल रेखाकृतियों का अकन होता था और साहित्य के नाम पर मत्रों और लोकगीतो का मौखिक पाठ होता था और कहाँ आज चित्रकला है, मूर्त्तिकला है, वास्तुकला है, सगीत और काव्य-कला है, कहानियाँ और उपन्यास है।

प्राचीनकाल में जो जाति का पुरोहित था, वह एक साथ ही कवि, जादूगर और चित्रकार भी था। पर, आज एक कला का विशेषज्ञ दूसरी कला में बिल्कुल कोरा भी रह सकता है। विशिष्टीकरण की यह प्रवृत्ति सीधे हमारे भौतिक जीवन की देन है।

इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि कला और जीवन को अलग-अलग कूचे में बन्द नही किया जा सकता। पर, एक प्रश्न और भी रह जाता है। जीवन में कला से कौन-सा उद्देश्य सधता है कि वह हमारे लिए स्पृहणीय है। इस प्रश्न का सही उत्तर यथा-स्थितित्व (Status quo) के गढ पर करारी चोट करता है, इसलिए प्रतिक्रियावादी विचारक इस प्रश्न को झुठलाने की चेष्टा करते है। इसलिए वे कलाओं को ललित कला और उपयोगी कला की दो श्रेणियों में बाँटते है। इसका अर्थ है कि जो ललित कलाएँ है—जैसे सगीत, काव्य

आदि—उनका सामाजिक और भौतिक जीवन से कोई सम्वन्ध नही है। उनका उद्देश्य निरा आध्यात्मिक है। उसी प्रकार उपयोगी कलाएँ, जैसे मूर्त्तिकला, वास्तु-कला, वर्त्तन वनाने की कला आदि सिर्फ रोजगार के लिए है, उनसे कोई 'महत्तर' उद्देश्य सिद्ध नही होता। उनका महत्त्व केवल उनकी उपयोगिता को लेकर है।

वस्तुतः सभी उच्च कलाओ का प्रभाव मनुष्य के आध्यात्मिक-नैतिक जीवन पर पडता है, वे मनुष्य को अधिकाधिक स्वतन्त्रता की ओर प्रेरित करती है। इसका सवसे वड़ा प्रमाण ताजमहल है। अतः कलाओ को उनकी भौतिक उपयोगिता की तुला पर न तोल कर, यह देखना चाहिए कि वे मनुष्य के सामाजिक अहम् को किस हद तक सघटित करती है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर कला की रूप-योजना की समस्याएँ गौण पड जाती है, कला के रूप को विषय-वस्तु के आग्रह पर चलना पड़ता है। यही कला के चिरन्तन आकर्षण और अमरता का स्रोत है।

संगीत

संगीत मानवजाति की उन कलाओ में है, जिन्होंने उसके भावो का आदि-काल से ही सघटित करके सहयोग और सामजस्यपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर किया है। सगीत का जन्म संभवतः काव्य के साथ ही हुआ और दोनो का प्रभाव भी आज हमारे नैतिक (सास्कृतिक) जीवन पर व्यापक रूप से परिलक्षित है। संगीत की परिभाषा करते हुए किसीने कहा है कि यह ध्वनियो का सामजस्यपूर्ण क्रम है, जो श्रुतिप्रिय और रुचिकर होता है। स्पष्टत यह परिभाषा किसी भी परिभाषा की भाँति ही अपूर्ण है; क्योकि सगीत केवल इतना ही नही है। अगर इतना ही होता, तो सगीत केवल कानो को तृप्त करके रह जाता और कान तो इन्द्रियो में एक है। सगीत वास्तव में हमारी

सम्पूर्ण प्रज्ञा को प्रभावित करता है; इसलिए इसका सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा से भी है। यह बात अन्य कलाओ के साथ भी लागू है।

कविता और कहानी बाह्य जीवन के अनुभवो को अपने रग में रँगकर विशेष भावात्मक स्थिति पैदा करती है। इस प्रकार बाह्य जगत् काव्यजगत् में जाकर काफी परिवर्त्तित हो जाता है। पर सगीत के स्वर बाह्य जगत् की ओर इगित नही करते। उनका प्रभाव सीधे हमारी ऐंद्रियता पर पडता है। वल्कि यो कहें कि स्वर स्वय हमारी ऐन्द्रिय अनुभव की वस्तु है। इसलिए संगीत का प्रभाव तत्काल पडता है; क्योकि उसकी अनुगूँज हमारी इन्द्रियो में अधिक काल तक बनी रहती है।

सगीत का ढाँचा अपने मे पूर्ण रहता है; क्योकि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य जगत् पर युक्तिपूर्ण ढग मे आश्रित नही रहना पडता है। परन्तु प्रभावोत्पादक होने के लिए अन्य कलाओ की भाँति सगीत-कला को आत्म-निष्ठ नही, बल्कि वस्तुनिष्ठ रहना चाहिए। वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य है युक्तिपूर्ण होना, इसलिए सगीत का ढाँचा अधिकाश में रूढ होने पर भी किसी हद तक युक्तिपूर्ण भी है।

वस्तुनिष्ठ, युक्तिसगत बाह्य जगत् को काल और दिशा से परिसीमित रहना पडता है। सगीत भी जिस हद तक वस्तुनिष्ठ है, काल और दिशा की सीमा के भीतर है। वह सामाजिक अहम् मे विश्वजनीन भावों का उद्रेक करता है। अत उच्च कोटि का सगीत सार्वजनीन होता है, उसका ढाँचा भले एकदेशीय हो।

सगीत का जो सर्वप्रधान तत्त्व उसे वस्तुनिष्ठ होते हुए भी आत्मनिष्ठ बनाता है, वह है लयमयता। यह लयमयता स्वरो के सुरीलेपन या सामजस्य से भी अधिक मौलिक तत्त्व है। इसका सबूत है अणुओ की शाश्वत गतिशीलता, जो भावातिरेक की स्थिति में आदिमानव को जोर-जोर से, विशेष रूप में, अग-सचालन करने और आवाज निकालने को प्रेरित करती थी। इस प्रक्रिया में प्राप्त तत्त्व की रहस्यमय स्फूर्ति बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है और बाह्य जगत्

उतने समय तक के लिए मानों तिरोहित हो गया रहता है। इसलिए संगीत के श्रोता की न केवल अंतर्वृत्तियाँ एकाग्र हो गयी रहती हैं; बल्कि वह स्वयं शारीरिक अर्थ में भी आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि संगीत का व्याकरण अपने बन्धनों के बाद भी लयमयता के आगे सिर झुकाता है। वस्तुत लय के कारण ही ध्वनियों की दुनिया मानव की ऐन्द्रिय अनुभूतियों से आबाद होती है। लय के बाद ही स्वरों के माधुर्य और सामंजस्य की बात उठती है, हालाँकि इन सबको अलग-अलग करके विश्लेषण करना असंभव है। हाँ, इतना तो निर्विवाद है कि स्वर-माधुरी और सामंजस्य विशिष्ट मानव-गुण हैं और इनका जितना ही सहयोग व्यक्ति को मिलेगा, संगीत उतना ही प्रभावोत्पादक और मानवीय संवेदनाओं से संभूत होगा।

सामाजिक नृशास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य-कला और नृत्यकला के समान ही संगीत-कला का भी उस समय प्रादुर्भाव हुआ, जबकि मानव को प्रकृति से अलग करनेवाली उसके अपने व्यक्तित्व की चेतना जाग्रत हुई। यही कारण है कि आदिमानव के जीवन-संघर्ष में काव्य, संगीत और नृत्य का उपयोग व्यापक रूप से होता था, यह दूसरी बात है कि उसे अंधविश्वासपूर्ण रूढियों का स्वरूप दे दिया जाता था। ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि उपर्युक्त तीनों कलाएँ, यहाँ तक कि चित्रकला भी आदिमानव के किसी जातीय अनुष्ठान से हाथ ही निकली और जैसे-जैसे बाह्य जीवन में विशिष्टीकरण प्रवेश करता गया, इन कलाओं का स्वरूप भी एक दूसरे से अलग और क्रमश. अपने में संश्लिष्ट होता गया। आज नतीजा है कि संस्कृति-भेद के साथ इन कलाओं के भी विभिन्न रूप हैं। हर राष्ट्र को अपने काव्य का इतिहास, नृत्य का इतिहास है, संगीत का इतिहास है।

भारत में प्राचीन काल में संगीत का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में विशेष महत्त्व दिया जाता था। आर्यों के पिता संगीत को ब्रह्मज्ञान के समकक्ष मानते थे। श्री त्यागराज तो यहाँ तक कह जाते हैं कि त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) को जो भी महत्त्व प्राप्त है, वह उन्हें नाम (स्वर) की उपासना के फलस्वरूप। ब्रह्म को भी नाद-तनु कहा गया है। इन सब कथनों से

हम समझ सकते हैं कि आदिकाल में सगीत को लोग किस प्रकार भय-मिश्रित श्रद्धा प्रदान करते थे। आज विज्ञान के प्रभाव से वह अन्धविश्वास-जन्य महिमा भले नष्ट हो गयी है; पर विशिष्ट कला के रूप में उसका सम्मान सहृदयों और गुणज्ञों के बीच पहले की अपेक्षा बढ ही गया है। इसका एक दूसरा पहलू भी है। प्रारम्भ में सबके लिए एक ही प्रकार का सगीत रहता था। सगीत का कुछ ही लोग, विशेषकर पुरोहित, गान करते थे, श्रोताओ की एक ही श्रेणी थी। आज रुचि-विकास के अनुसार श्रोताओ की कई श्रेणियाँ है। ये श्रेणियाँ उन दिनो बननी शुरू हुई, जबकि सगीत के स्वरूप में अधिकाधिक सश्लिष्टता और रूढियों का समावेश होने लगा। बात यहाँ तक बढी कि गायकों के अलावा श्रोताओ को भी सगीत के स्वरूप सम्बन्धी बारीकियो का ज्ञान आवश्यक हो चला। इस प्रकार समाज का बहुमत, जो शोषित है, धीरे-धीरे सगीत से दूर होता गया। बल्कि यह कहना चाहिए कि शास्त्रीयता से आक्रान्त सगीत ही समाज के बहुत बडे तबके से अलग हो गया; क्योकि जब शास्त्रीय सगीत (और कविता) अबूझ होने लगी, साधारण लोगो ने अपने लिए लोक-गाथाओ और लोकगीतो की सृष्टि की, जिसमें उनके जीवन का प्रकृत तत्त्व अपनी उद्दाम सरलता से अभिव्यक्त होने लगा।

प्राचीन काल में भी, जबकि सगीत सर्वसुलभ था, उसके दो भेद थे—एक धार्मिक सगीत, दूसरा लौकिक। सामाजिक आर्यो के वेदो में अधिकतर धार्मिक गीत है। उनके लौकिक गीत उपलब्ध नही। सभवत: ऐसा इसलिए हुआ कि धार्मिक गीतो को सरक्षित रखने की ब्राह्मण पुरोहितो ने वर्ग-स्वार्थवश विशेष चेष्टा की और लौकिक सगीत उचित सरक्षण के अभाव में काल के अजस्र स्रोत में बह गया।

अस्तु, आर्यगण भारत मे जैसे-जैसे फैलने लगे, उनको आर्यपूर्व, आर्येतर जीवन और सस्कृति का सम्पर्क प्राप्त हुआ। आदान-प्रदान और समन्वय की प्रक्रियाओं के बाद आर्यों ने जीवन के अनेक क्षेत्रो की भाँति सगीत में भी बहुत-कुछ ग्रहण किया। यह प्रक्रिया दक्षिण भारत में विशेष रूप से परिलक्षित हुई, जिसकी झलक सारगदेव के 'सगीत रत्नाकर' में मिलती है। आर्यों के पूर्व

इस देश में द्राविड-पूर्व और द्राविड सभ्यता का प्रकाश फैला हुआ था। उस सभ्यता की निर्मात्री जातियों में संगीत की अपनी पुरानी परम्परा थी, जो आज भी दक्षिण भारत के लोगोंमें किसी अंश तक विद्यमान है। प्राचीन काल में तामिलों के कुछ संगीत-ग्रन्थ प्रमुख थे, यथा (१) "अगस्त्य", जिसके कुछ ही सूत्र उद्धरण के रूप में अन्य ग्रंथों में पाये जाते है, (२) "इन्द्र काकलीयत" (यमलेन्द्रकृत) (३) गुणानूल, (४) कुथानुल, और (५) भारत आदि। इन ग्रन्थों के अधिकांश भाग नष्ट हो गये है। जो अंश उपलब्ध है, वे भाष्यकारों द्वारा दिये गये उद्धरणों के रूप में।

सारंगदेव दक्षिण भारत में ईसवी सन् की १४ वीं सदी में पहुँचे थे। उनके पहुँचने के पहले दक्षिणी संगीत के जो प्रकार नष्ट हो गये थे, उन्हें सारंगदेव ने मार्गी शैली का संगीत लिखा है। उनके द्वारा वर्णित कुछ रागों के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार आर्य-द्राविड शैली का निर्माण हुआ। मार्गी शैली के सम्बन्ध में लिखा है कि इस शैली का निर्माण भरत मुनि ने किया और उन्होंने गंधर्वो और अप्सराओं को सिखलाया। इस शैली में वाद्य-यंत्रों के अलावा नृत्य का भी उपयोग किया जाता था। इस शैली के गायकों को शास्त्रीय विशुद्धता का पूर्ण निर्वाह करना पड़ता था। स्वर-जगत् की असीम संभावनाओं की खोज करने का कोई अवसर नहीं था; इसलिए इस शैली का संगीत अन्त में कुछ रूढ़ियों के रूप में बचा और फिर नष्ट हो गया। जन-जीवन के अमृत-सम्पर्क से दूर रहनेवाली कला का यही अन्त होता है।

इसके विपरीत जन-जीवन में प्रचलित संगीत की 'देशी शैली' थी, जिसके विकास में गायकों की स्वाधीनता ने बड़ी सहायता पहुँचायी। इसकी लोक-प्रियता इतनी बढ़ी कि मार्गी शैली स्वतः लुप्तप्राय हो चली। दक्षिण भारत के संगीत पर लिखित पुस्तक "चतुरदंडी प्रकाशिका" में यहाँ तक लिखा है कि आज हमारा जो भी संगीत है, वह 'देशी शैली' का है और इसपर 'मार्गी शैली' का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है।

मार्गी और देशी शैलों की यह प्रतिद्वंद्विता लाक्षणिक अर्थ में आज भी हम

देख रहे है। अगर हम आज के शास्त्रीय संगीत को मार्गी शैली का मान लें, तो फिल्मों के हल्के-फुल्के गाने देशी कहे जायँगे।

भारतीय संगीत के आचार्यो का मत है कि प्रत्येक स्वर विभिन्न वस्तुओं के अणुओं पर विशेष रूप से आघात करता है। इसके फलस्वरूप नाना प्रकार की प्रतिक्रियाओ और सवेदनाओ की सृष्टि होती है। प्रभाव और स्वरूप के आधार पर भरतमुनि ने स्वरो को छ रागों मे विभक्त किया है। फिर प्रत्येक राग के साथ पत्नी-रूप में राग-रानियाँ है, फिर उनकी सन्तानें।

स्वरो के वर्गीकरण का प्रयास बहुत जमाने से चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो भरतमुनि का नाम आता है। उनके "नाट्यशास्त्र" में एक साथ ही नृत्य, अभिनय और सगीत की चर्चा है। उनके बाद ९वी सदी के नारद का नाम आता है, जिनकी पुस्तक है "सगीत मार्त्त ड"। सारगदेवकृत "सगीत रत्नाकर" तो इस विषय का अनिवार्य ग्रन्थ ही है। इन ग्रन्थों के आधार पर ही आजकल हमारे शास्त्रीय सगीत का निर्देशन होता है।

आधुनिक काल मे भी अनेक सगीताचार्यो ने इस दिशा में अनुसंधान किये है और इस कला को आगे बढाया है। उनमें स्व० पडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और पडित भातखडेजी के नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन महान कलाकारो की परम्परा मे कई अन्य उल्लेखनीय सगीतज्ञ है। पर सबके बावजूद शास्त्रीय सगीत का भविष्य विशेष उज्ज्वल नही दीखता। उनके स्थान पर सिनेमा और रेडियो के हल्के गाने लोकप्रिय हो चले है। इस प्रवृत्ति की हम कितनी भी भर्त्सना करें, इसकी बाढ को रोकना सम्भव नही। इस प्रकार के सगीत पर कुछ तो अपने सगीतशास्त्र का प्रभाव है और कुछ यूरोपीय सगीत की आर्केष्ट्रा का। इसके समुचित विकास पर ही हमारे सगीत का भविष्य निर्भर करता है। यह कडवा सत्य है और हमें स्वीकार करना है; क्योंकि हम देख रहे है कि किस प्रकार हमारे सामने से शास्त्रीय सगीत लुप्त होता जा रहा है। रूढियो की दीवार पर कितनी भी मीनाकारी और गुलकारी क्यों न की जाय, जन-जीवन के उद्दाम प्रवाह में उसका कटकर गिर जाना स्वाभाविक है, ऐतिहासिक सत्य है।

कल्पना

कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; लिहाजा इसका सम्बन्ध दिमाग से है और यह सिर्फ मनुष्यों तक ही सीमित है। कल्तना का वर्णन हम दो दृष्टिकोण से करेंगे। एक कल्पना का मनोवैज्ञानिक पक्ष होगा और दूसरा साहित्यिक। पहले पक्ष के अन्तर्गत हम कल्पना की परिभाषा और उसकी क्रियाओ का वर्णन करेंगे और दूसरे के अन्तर्गत साहित्य पर इसके प्रभाव और इसकी अहमियत का। जाहिर है, मनोवैज्ञानिक पक्ष कल्पना की बुनियादी बनावट से सम्बन्ध रखता है और साहित्यिक पक्ष उसके गुण और परिमाण सम्बन्धी खासियतों से।

हमने ऊपर कहा है कि कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; किन्तु 'याद' (memory) और कल्पना में अन्तर है, यद्यपि दोनो ही उच्च मानसिक क्रियाएँ है। 'याद' चाहे वह दृष्टि-सबधी हो अथवा नही, हमेशा वास्तविक बीती हुई घटनाओ का प्रतिनिधित्व करती है, वह प्रतिरूप (representation) ठीक नही भी हो सकती है। ऐसा भी सम्भव है कि हम उन घटनाओं के कुछ अश भूल गये हो और कुछ बदले में जोड़ दिये हो, जो असलियत में हमारे कल्पित चित्र ही है। किन्तु 'याद' का सम्बन्ध हमेशा बीती घटनाओं से है और अतीत में हमारा गहरा आकर्षण 'याद' पर यकीन करने को मजबूर करता है।

दूसरी ओर, कल्पना स्वतन्त्र है। बीते अनुभवों की कल्पना करने की जरूरत आपको नही है। आप अपने मस्तिष्क से चीजो को इकट्ठा करके रख सकते है। इस भिन्नता की जड अक्रियात्मक (passive) कल्पना में निहित है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। मिसाल के लिये जब आप किसी लेखक भी नायिका का वर्णन पढते है, आप उसकी आँखें, उसके बाल तथा उसके हाथ आदि के बारे में पढ़ते है। और, तब आप उसकी सुन्दरता को अपनी कल्पना में खीच लाते है और प्रत्येक पृथक् कल्पना-चित्र (जैसे नाक, आँख आदि)

आपकी मर्जी पर भविष्य की घटनाओं से संयुक्त होने के लिये निर्भर है। अगर आपने नायिका को देखा होता, तो आप उसे सिर्फ एक और पूर्ण कल्पना-चित्र के रूप में याद करते। जब आप निष्क्रिय कल्पना से सक्रिय कल्पना की ओर जाते हैं—जब आप वस्तुओं के एक बड़े ढेर से किसी कलात्मक मकसद की पूर्त्ति के लिये एक चीज की रचना करते है, तब जिस चीज की सृष्टि होती है, वह सर्वथा नई है, अनुभवों की नकल हरगिज नहीं।

कल्पना दो तरह की होती है—एक तो क्रियात्मक (active) और दूसरा अक्रियात्मक (passive)।

(१) अक्रियात्मक कल्पना के मिसाल के तौर पर किसी उपन्यास के पाठक को लीजिये। एक मनोरजक कहानी के जुमले कल्पित और चित्रित दृश्यो के अनुवाद-स्वरूप है। लेखक ने अपने प्लॉट को यथासम्भव विस्तृत किया है, उसे शब्दो के रूप में चित्रित किया है। कल्पनाशील पाठक उन शब्दों में मशगूल होकर लेखक के चित्रो का पुन चित्रण ही करता है।

दूसरा मिसाल, उपन्यासो को लीजिये। अगर वे उपन्यास अच्छे है, तो पाठक की कल्पना को आधार मिलता है और मिलती है गति और प्रेरणा। और, इसके प्रतिकूल वे बुरे है, तो पाठक की कल्पना घुटकर रह जाती है। कभी-कभी चित्र कलाकार को कल्पना-शक्ति के अभाव का प्रदर्शन करते है। ऐसी हालत में पाठक की कल्पना दब (Suppressed) जाती है; क्योंकि जब कभी वह एक दृश्य की कल्पना करने लगता है, चित्र की यादगार उसके रूपको को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और अपनी वृहत् शक्ति के द्वारा उन्हे चेतना (Consciousness) के बाहर फेंक देती है। 'लिटन' की "लास्ट डेज आफ पाम्पियाइ" को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। यह लेखक की कल्पना का द्योतक है और पाठको की तरफ से इसी कल्पना की उम्मीदवार है।

कभी-कभी कलाकार पाठको की कल्पना के ऊपर बहुत-कुछ छोडकर तटस्थ हो जाता है। और, कभी-कभी कोई एक घटना बहुत बार इतने विस्तार से चित्रित की जाती है कि पाठक को ऐसा आभास होता है कि कलाकार जैसे कह रहा है—"तुम्हारे अन्दर कल्पना-शक्ति है ही नही। मुझे अपने

पास आने दो सहायता के लिये।" इसका नतीजा यह होता है कि जो वात हास्य की प्रेरणा जगाती, वह क्रोध और ईर्ष्या का कारण वन जाती है।

(२) क्रियात्मक या रचनात्मक कल्पना (Active or creative)। इस तरह की कल्पना एक क्रियात्मक ध्यानावस्था (Attention) के बाद आती है। जब कोई शिल्पकार राम या कृष्ण की मूर्त्ति वनाना चाहता है, तो वह उनसे संवधित पौराणिक कथाओ की मीमासा करता है और खास-खास लक्षणो को चुनकर रख लेता है। वाद में, इन्ही चुने हुए ट्रेट्स (traits) को एक आदर्श मूर्त्ति के रूप मे उपस्थित करता है, तव क्रियात्मक रूप से निर्मित किया गया चित्र एक मूर्त्ति के रूप में प्रकट किया जाता है। इसी तरह जव कोई ऐक्टर 'हैमलेट' का पार्ट करना चाहता है, तो वह खेल के हर शव्द और क्रिया की छान-वीन करता है, जो इस खेल में खास तौर से रखे जानेवाले है और सक्रिय रूप से अपने को उस चरित्र में लीन कर देता है। इस तरह अपनी छान-वीन समाप्त करने के वाद 'हैमलेट' का जो स्वाभाविक वास्तविक चित्र प्रस्तुत्त किया जाता है, वह सम्पूर्ण हैमलेट-कल्पना, जो क्रियात्मक ध्यानावस्था की हालत मे शक्ल अख्तियार कर रही थी, का प्रदर्शन मात्र है। जव एक 'रोमैन्टिक' लेखक किसी कथानक की सृष्टि करता है, वह अपने प्लॉट की हर तफसील पर प्रयास करता है; जैसे—वह गणित की कोई समस्या है और वह उसे हल कर रहा हो। उस कहानी की गति इतनी सुगम होती है कि जब आप एक घटना से दूसरी घटना पर पहुँचते हैं तो सारी घटनाएँ एक खास केन्द्रविन्दु पर झुकती हुई-सी प्रतीत होती है, जो कहानी की सबसे प्रमुख घटना है। यह कहानी हमारे उन कल्पना-चित्रो का मौखिक अनुवाद है, जो पूर्वगामी प्रयास के फलस्वरूप बनते है। सक्षेप में, जव कभी किसी वस्तु की रचना होती है—चाहे वह चित्रकला हो अथवा मूर्त्ति-कला, संगीत हो या साहित्य अथवा विज्ञान, वह रचना एक लम्बी अवधि की सक्रिय ध्यानावस्था के कल्पना-चित्रो की उपज है।

वाल्टर पेटर, अपने जमाने के अग्रेजी गद्य साहित्य के सवसे बड़े साहित्यिक, ने कहा है कि अच्छी चीज लिखने के लिये उपमाओं (जो शब्दों

के द्वारा प्रकट होती है) की अन्त प्रवृत्ति की भावना होनी चाहिये यानी शब्दो की आत्मा को तबतक ध्यान में रखना चाहिये (जैसे—निस्तेज, सम्बद्ध , लेख, उत्तेजना आदि) जबतक कि उन शब्दो का इस्तेमाल हमेशा अचेतन (Unconscious) मे एक कल्पना-चित्र की सृष्टि करे, जो इसके मूल अर्थ का चित्रण करता हो। जब हम किसी नक्शे की नकल करना चाहते हैं, तो एक पतला कागज उसके ऊपर डालकर रूप-रेखा खीच लेते है। उसी तरह शब्द पतले कागजो की तरह होने चाहिये, जो लेखक के कल्पना-चित्रो की नकल करने की क्षमता रखते हो,और उन चित्रो के उतने ही निकट हो कि जब कभी पाठक उस पहले कागज को लेखक के कल्पना-चित्रो पर से उठा ले, तो वे उतने ही सत्य और स्वाभाविक प्रमाणित हो ।

साहित्यिक पक्ष—साहित्य और कल्पना में गहरा रिश्ता है। वही रिश्ता, जो फूल और सुगन्ध, दीपक और परवाने, दिन और रात तथा बादल और बूंदो में है। कल्पना के बगैर साहित्य की रचना की बात ही हम नही सोच सकते। चाहे आप कविता कर रहे हों या कहानी लिख रहे हों—आपको कल्पना करनी ही पडती है। कविता और कहानी की बात तो छोडिये, जब आप किसी दृश्य या घटना का वर्णन करते है, जिसे आपने स्वय देखा और महसूस किया है या जब आप ऐसे लेख लिखते है जो वर्णनशील (descriptive) कहे जाते है, आपको कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। अन्तर इतना ही है कि कविता, कहानी या गद्य-गीत आदि में कल्पना ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लेती है तथा लेख आदि में कम। इसलिए अन्तर डिग्री का है। किसी भी साहित्य की रचना के लिए चाहे वह गद्य हो या पद्य, कल्पना की हस्ती अवश्यभावी है। कल्पना एक आधारभूमि है; जिसकी सतह पर साहित्य का निर्माण होता है।

चित्र-कला में कल्पना रगों और कूचियों के सहारे व्यक्त होती है और जिस दृश्य या वस्तु की रचना होती है, वह चित्रकारी की कल्पना है। रग और कूची तो एक माध्यम-मात्र है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि वह माध्यम बहुत ही परिमार्जित और कला की दृष्टि से श्रेष्ठ

हो, जो चित्रकार की कल्पना को ठीक-ठीक और उतनी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सके। इसी तरह मूर्त्ति-कला मे कल्पना की हस्ती मूर्त्तियों तथा दूसरी-दूसरी वस्तुओ में निहित है, जो शिल्पकार वनाता है। यहाँपर छेनी और पत्थर उसकी कल्पना का माध्यम है। साहित्य में कल्पना कविता, कहानी, लेख, नाटक आदि की शक्ल अख्तियार करती है और उसका माध्यम है शब्द। कल्पना शब्दो के माध्यम से ही जाहिर होती है। इसलिए शब्दों के इस्तेमाल में प्रवीणता आवश्यक है।

कल्पना परोक्ष रूप से भी साहित्य पर असर डालती है। यह हमको सामाजिक और सास्कृतिक पैटर्न के मुताबिक चलने को मजबूर करती है। हम नंगे स्त्री-पुरुष की कल्पना स्वाभाविक रूप से नही कर सकते है और अपनी कहानी में ऐसे चरित्रो का चित्रण नही कर सकते, जो हमेशा नगे रहें। इस कल्पना पर हमारी सस्कृति का प्रभाव है । यहाँपर एक सवाल उठता है, कल्पना किन-किन तत्त्वों से प्रभावित होती है ? हमारी कल्पना दो तत्त्वों से निर्धारित होती है। एक है—बाह्य वातावरण और दूसरा—मानसिक या मनोवैज्ञानिक। बाह्य वातावरण के अन्तर्गत आते है—भूगोल, यानी जलवायु, तापमान, वर्षा और स्थिति, सस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, वहाँ-की शासन-व्यवस्था, आर्थिक रूप-रेखा आदि। मिसाल के लिए, आप ग्रीन-लैंड में रहनेवाले लोगोकी जिन्दगी की कल्पना स्वाभाविक हालत में कर ही नही सकते। आप वहाँकी ठण्ड और सर्दी की कल्पना तभी करने की कोशिश करते होगे, जब आप वहाँके बारे में पढते है। वात-वात में ऐसी कल्पना नही की जा सकती। इस तरह वाह्य वातावरण से कल्पना निर्धारित होती है।

मानसिक वातावरण है इसान की अपनी मानसिक प्रतिक्रियाएँ, जो एक खास घटना, दृश्य या वातावरण के किसी भी तत्त्व को देखकर होती हैं। इसमें इसान की मनोवृत्ति, भाव (emotion), दिमागी ताकतें और उसका अपना दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं। तो, साहित्य पर प्रभाव डालनेवाली कल्पना इन सारी वातों को लेकर चलती है। कल्पना के पीछे इस तरह वाह्य और अन्त.वातावरण की लम्बी कहानी है। इसीलिए हर इंसान की कल्पना भिन्न

होती है; क्योकि हर व्यक्ति का मानसिक वातावरण अलग होता है। किन्तु इसका यह मतलब नही कि मानसिक वातावरण एक अलग चीज है और बाह्य वातावरण अलग। ये दोनो वातावरण एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते है। दोनो अन्योन्याश्रित है। बहरहाल कल्पना दोनो वातावरण की सम्मिलित उपज है।

एक बात और। कल्पना हमारे विचारों को शृंखलाबद्ध और सिलसिलेवार बना देती है और इसके साथ-साथ हमें किसी चीज पर केन्द्रीभूत होने की कला भी बताती है।

स्वप्न—अवचेतन का सत्य

विलियम जेम्स ने एक बार कहा था कि कुछ मनुष्य २४ घंटे में केवल
१५ मिनट चिंतन करते है और शेष तो इस शक्ति का प्रयोग ही नही करते।
ऐसा प्रतीत होता है कि जेम्स साहब का कथन बहुत हद तक सत्य है। मनुष्य
का ध्यान उसकी बनी हुई आदतो और पारस्परिक क्रियाओ तक ही अधिकांशतः
रह जाता है। चिंतन करना हमारी सब क्रियाओ मे सबसे कठिन दिखाई देता
है। सुस्ती शायद मनुष्य के रग-रग में छायी हुई है। अपनी शक्ति के उपयोग
में हम शायद आवश्यकता से अधिक कजूस हो जाते है। तर्क-शास्त्र कहता
है कि मनुष्य विवेकशील पशु (rational animal) है; परन्तु यह कहना
बेहतर होगा कि मनुष्य तर्काभास करनेवाला (rationalising) पशु है।

हमलोग हर एक घटना को अपने ही विचारो के साँचे में ढाल लेते है।
हमारे सामने हर समय अभियोगिता करने की समस्या है। केवल परम्परा पर
चलने से वर्त्तमान जीवन में सफलता नही प्राप्त हो सकती है। जीव-विद्या-
विज्ञान (biology) हमको चेतावनी दे रहा है कि हर समय जो परिवर्त्तन
हो रहा है उसके साथ-साथ हमको भी परिवर्त्तन लाना है। इसके लिए हमको

जीव-आधार-प्रवृत्तियों और अन्य मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य के व्यवहार में बहुत प्रकार की प्रेरणाएँ काम करती है। इनमें से कुछ सीखी हुई (learnt) और कुछ जन्म-जात (unlearnt) होती है। इनमें कुछ शारीरिक हो सकती है, जैसे—भूख-प्यास आदि, कुछ सामाजिक हो सकती है, जैसे—जाति का विकास, अन्य लोगो से राग-द्वेष, सहानुभूति और कुछ प्रेरणाएँ वैयक्तिक भी हो सकती है। यह विभाजन पूर्णत सत्य नही हो सकता है, परन्तु हमारे वर्त्तमान प्रश्न के लिए कामचलाऊ माना जा सकता है। प्रश्न उठता है कि स्वप्न-अवस्था में कौन-से सिद्धान्त काम करते है ?

साधारणत जब हमको सवेग होता है, तो हमारा मानसिक सतुलन कुछ समय के लिए बिगड जाता है और फिर दोबारा पहली अवस्था में आ जाता है। परन्तु वह अवस्था बिना एक प्रभाव डाले नही जाती है। भूकम्प, एक शिशु के प्रति उसकी स्वर्गीय माता का प्यार, एक अध्यापक का कक्षा में एक विद्यार्थी को अपमानित करना, यह सब अपना स्थायी प्रभाव डालते है। कहा जाता है कि महाभारत का कारण यही था कि द्रौपदी ने दुर्योधन को एक बार घर पर बुलाया था और उसकी अज्ञानता की खिल्ली उड़ायी थी। इसी तरह कई उदाहरण दिये जा सकते है। इन सबसे प्रमाणित होता है कि वर्त्तमान की जाग्रत अवस्था ही पूर्ण मन नही है; बल्कि एक और महान क्षेत्र भी है, जिसको "अचेतन" कहा जा सकता है। समुद्र के स्थल पर बहते हुए एक बरफ के टुकडे की तरह मन का $\frac{1}{10}$ भाग चेतन है और $\frac{9}{10}$ अचेतन रह जाता है। यह भाग गतिशून्य नही है; बल्कि हर समय सक्रिय रहता है। यह अचेतन-क्षेत्र अधिकतर हमारी नैतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओ से संबंधित रहता है। चोरी, अन्याय, दुख, चिड़चिडापन, घमड, रति, वासना आदि सब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से "रोग" है। ये सब क्रियाएँ कुछ व्यक्तियो के नियन्त्रण के बाहर होती है। यहाँ हम टेबलेट और अन्य रसायनो से

चिकित्सा नही कर सकते है; क्योकि इनका आधार मनोवैज्ञानिक है। ऐसे मनुष्यों को हम असाधारण भी नही कह सकते है, क्योकि साधारण और असाधारण मनुष्य में प्राकारिक अन्तर नही है; बल्कि अश का अन्तर है। दोनों का मूल सिद्धान्त एक है। वृक्ष एक है, अन्तर केवल शाखाओं में है—क्योकि दोनों व्यवहार-जीवन में एकत्रित पाये जाते है। इसी कारण हमारी रुचि साधारण व्यवहार और नैतिक शास्त्र में होती है।

मानसिक अवस्था का अध्ययन करने मे वातावरण का बहुत मुख्य स्थान है। हमारा गत अनुभव एक ऐसी नीव है, जिसपर पूर्ण जीवन निर्भर करता है। फ्रायड का कहना है कि पहले ५ वर्षों में हमारे पूर्ण जीवन का नक्शा तैयार हो जाता है। वह कहता है कि मानसिक रोग सब अर्जित होते है। रोग की प्रवृत्ति वशानुक्रमिक हो सकती है, जैसे—ओजस्वी स्वभाव। इन सबके अच्छे या बुरे विकास पर हमारा वातावरण बहुत प्रभाव डालता है। जितना अधिक सघर्ष होगा, उतनी ही हमारी चेतना जाग्रत होगी। हमारी अवस्था का ज्ञान हमारी चेतना के विकास का कारण है। एक ही घर में एक बालक कवि, दूसरा डाक्टर, तीसरा कलाकार और चौथा पागल हो जाता है। एक पागल अक्सर एक सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाला (potential genius) भी हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि यह सब कैसे होता है और क्यो होता है। मनोविज्ञान हम को बताता है कि इन सबमें हमारे "अचेतन" मन का बहुत हाथ है। हर स्थान और समय में मनुष्य के लिए एक ऐसा "कोड" (code) होता है, जिसके नियमो का पालन करना उसके लिए आवश्यक है। परन्तु आजकल का जीवन बहुत जटिल हो गया है। मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओ का समाज के मनगढन्त विचारो के साथ सघर्ष होता है, जिसका परिणाम दुःख, निराशा इत्यादि होते है। चेतन अवस्था में बहुत-सी इच्छाएँ अतृप्त रह जाती है, जिनके कारण अचेतन मन पर बहुत प्रभाव पडता है। देखने में आया है कि बहुत लोग लिखने या बोलने में गलतियाँ (slips of tongue) करते है। कई लोग बार-बार हाथ या किसी और अग को धोते है। कुछ सर्वदा अपने मे व्यस्त रहते है और कुछ समझते है कि हम राजा है। वातावरण के सघर्ष के कारण इच्छाओ का निग्रह

(repression) और प्रतिरोध (resistance) होता रहता है। ऐसे सब रोगो में हमारा "नैतिक कोड" (moral code) ढीला पड जाता है। स्वप्न-अवस्था में भी ससार की समीक्षा बहुत कम हो जाती है। वहाँ आदमी अपनी कल्पना के अनुसार स्वय को देखकर झूठी सात्वना दे सकता है। वहाँ एक पुरुष के लिए माँ, पत्नी, बहन, बेटी इत्यादि सब एक हो जाती है। विश्लेषण द्वारा रोगी लोगोने इन चीजो को बताते हुए यह प्रमाणित किया है कि हमारे अचेतन ने जन्म से अब तक सब अनुभवो को सँभालकर रखा है। विश्लेषण (psychoanalysis) में वैज्ञानिक एक वैरागी की तहर रोगी के दुःख-सुख में स्वयं नही डूब जाता है; बल्कि निग्रह किये हुए विचारो को "ऑपरेशन" की तरह बाहर निकालता है।

मनोविज्ञान का कहना है कि स्वप्न-अवस्था एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें तृप्त इच्छाओ को पूर्ण होने का अवसर मिलता है।" Dreams are wish-fulfilments of desires!" जिस प्रकार हमारी भाषा शब्दों द्वारा हमारे विचारो को प्रकट करती है, उसी तरह स्वप्न विचारो को अचेतन द्वारा प्रकट करता है—स्वप्न एक प्रकार की प्राकृतिक और व्यक्तिगत मानसिक भाषा है। Dream is a natural and individual psychical language.

फ्रायड के कथनानुसार स्वप्न में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते है—एक तो अतर्गत (latent) और दूसरा प्रत्यक्ष (manifest)। जिन पदार्थों को हम स्वप्न में देखते है, वे सब जाग्रत अवस्था से ही प्राप्त होते है। इनका वास्तविक अर्थ कुछ वैज्ञानिक विधियों द्वारा प्राप्त होता है। इनका कहना है कि हमारे विचार कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने स्वप्न में आते है। प्रश्न उठता है कि यह परिवर्त्तन क्यो होता है और किन सिद्धान्तो के अनुसार होता है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि हमारे स्वप्न हमारी निद्रा के अभिभावक है। असन्तुष्ट वासनाएँ, जो कि अचेतन में धकेल दी गयी थी, अगर उसी आकार में प्रकट हो जायँ, तो स्वप्न देखनेवाला शीघ्र ही उठ जाता है। जैसे, कुछ व्याकुलता के स्वप्नो (anxiety-dreams) में देखा गया है कि अगर

राजा की मृत्यु हो, तो मनुष्य सोया रहता है। परन्तु अपने पिता की मृत्यु में जल्दी घबरा कर उठ जाता है। वस्तुओं के आकार के बदलने से हमारा शारीरिक तनाव अधिक सुविधा से हट जाता है। इसीलिए कुछ प्रतीको (symbols) से काम लिया गया है। यह मनगढत नही है; बल्कि एक देश की सस्कृति, जनता के अन्धविश्वास, कविता, आपस के माजाक और मानसिक रोगियो के इतिहास (case-histories) का विश्लेषण करके बनाये गये है। हम देखते है कि एक देश का झडा उसके राजनैतिक, सास्कृतिक और दूसरे मुख्य गुणो का सकेत करता है। सफेद रग पवित्रता का और लाल रग लालसा का सकेत करता है। वैसे ही हर एक वस्तु का बहुत प्रकार से सकेत किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अभी तक इस कार्य में सफल नही हो सके है कि हर हालत मे कौन-सा साकेतिक अर्थ एक वस्तु के लिए सत्य हो सकता है; परन्तु स्वप्न देखनेवाले के भूत, वर्त्तमान और भविष्य का अनुभव लेकर हम कुछ अदाज अवश्य ही लगा सकते है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न की वस्तुएँ अधिकतर रति-अगों का सकेत करती है। स्वप्न में असली अर्थ प्राय अमुख्य भाग मे पाया जाता है। एक वस्तु कई पदार्थो का सकेत कर सकती है। कई स्थानो पर स्पष्ट वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती है। यह सब एक जटिल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

फिशर साहब अपने 'साधारण मनोविज्ञान' (पृष्ठ ४१२) में एक स्वप्न का अर्थ इस प्रकार निकालते है। एक २० वर्ष की नवयुवती को एक ५० वर्ष के पुरुष से प्रेम हो गया। यह पुरुष उसके पिता की आयु का था। उस लड़की ने इस इच्छा का निग्रह किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसको हिस्टीरिया हो गया। उन्ही दिनों एक नवयुवक ने उस लडकी मे काफी रुचि दिखाई और उसके साथ विवाह भी करना चाहा, परन्तु कोई उत्तर नही मिला। एक दिन उसको यह स्वप्न आया—वह अपनी बहन के घर गयी, जहाँ दो आदमी बैठे थे। एक के हाथ में एक बालक था और दूसरा आदमी कुछ अस्पष्ट था। बहन ने कहा कि बालकवाला आदमी उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके साथ बाहर सैर करने को जाना चाहता है। वह लड़की ऊपर गयी और कुछ

समय तक यह निश्चय न कर पायी कि किस रग के कपडे पहने। आखिर में उसने नीले और पीले रग के कपडे पहन लिए; परन्तु नीचे आने पर बहन ने कहा कि बालकवाला मनुष्य किसीके अन्तिम सस्कार में चला गया है। उसको दुख हुआ कि वह भी उसके साथ जाती। दूसरा मनुष्य उसके विचारो से ओझल हो चुका था। अब नीद खुल जाती है।

यह स्वप्न उस युवती की मानसिक अवस्था का पूर्णत सकेत करता है। वह बूढे से प्रेम करती है और इसीलिए बालकवाला मनुष्य उसके भविष्य के विवाहित जीवन का सकेत करता है। जो मनुष्य अस्पष्ट नजर आता है, वह नवयुवक है, जिससे उसको कोई सहानुभूति नही है। पीले रग के कपडे विवाह का सकेत करते है; परन्तु इसके साथ नीला रग उसके प्रेमी के बुढापे की ओर संकेत करता है। नीचे आकर जब वह बालकवाले मनुष्य को किसीके अन्तिम सस्कार में जाते हुए देखती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह नवयुवक के साथ भविष्य मे सब सम्बन्ध तोड देना चाहती है। इस स्वप्न के पश्चात् यह देखा गया कि वह युवती उस बूढे आदमी के साथ बहुत दिनो तक रही।

इसी प्रकार स्वप्नो का अर्थ निकाला जाता है। इस विधि को पूर्णत सत्य नही कहा जा सकता है; परन्तु खोज हो रही है। साधारण जीवन में वस्तुएँ एक सुव्यवस्थित रूप में हमारे सामने आती है; परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हम स्वप्न की घटनाओ को भी इसी साँचे में ढालकर समझें। फ्रायड का सिद्धान्त कुछ बातो पर विश्वासजनक नही है। स्वप्न में अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति के अतिरिक्त उत्सुकता, भय, समाज के प्रति विरोध इत्यादि पाया जाता है। बच्चो के स्वप्न में तो वस्तुओ के आकार बदलने की आवश्यकता ही नही। बड़ो में भी हर एक स्वप्न में इच्छा-पूर्त्ति नही होती है। यह सब बहुत कृत्रिम प्रतीत होता है। किसी प्रकार खीचकर हर घटना को लाया गया है। इसलिए यह सिद्धान्त के दृष्टिकोण से असतोषजनक है। वास्तविक दृष्टिकोण से भी यह सदेह से खाली नही है। युद्ध के समय में हजारो फौजी केवल लड़ाई ही स्वप्न में देखते है। फ्रायड कहता है कि यहाँ भी इच्छा का अभाव नही है। यहाँ मनुष्य के गत अनुभव को दुहराया जाता है।

तार्किक दृष्टिकोण से भी देखा जाय, तो कुछ गडबड़ी नजर आती है। एक वस्तु के गुण आवश्यक, आकस्मिक और सहचारी भी हो सकते है। हम दो विरुद्ध लक्षणों को फ्रायड की तरह एक जगह नही रख सकते है। फ्रायड भ्रम को भी एक सत्य अनुभव मान लेता है। इसके अनुसार स्वप्न में हमारी इच्छाओ को वास्तविक सतोष मिलता है। "We say that dream-wish is converted into a hallucination and as such commands belief in the reality of its fulfilment". यह तो माना जा सकता है कि स्वप्न मे कुछ तनाव या उत्तेजना शान्त हो जाती है, परन्तु फ्रायड की तरह एक कदम आगे बढकर यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि स्वप्न में इच्छा प्रकट ही नही होतीं; वल्कि एक भावात्मक सतोष भी प्राप्त होता है। एक मनुष्य, जो कि पड़ोसी से प्रेम करता है, वह उसकी मोटर को स्वप्न में पाकर सतुष्ट नही हो सकता। इसी कारण स्वप्न में इच्छाओं की तृप्ति नही हो सकती।

जहाँ तक फ्रायड ने हमको एक नवीन विधि दी है और वे हमारे ज्ञान में वृद्धि ले आये है, उनकी सराहना की जा सकती है, परन्तु हम रोलैंड डालवायज (Roland Dalviaz) के साथ यह कहेंगे कि वह सिद्धात और विधि को स्पष्ट नही रख सके है और न ही अपने सिद्धान्त को निष्पक्ष होकर प्रमाणित कर सके है। स्वप्न के विश्लेषण में अगर उनकी विधि को छोडकर कोई और विधि पर चला जाय, तो हमारा परिणाम कुछ और निकलेगा। वे स्वप्न के अशो पर ध्यान देते हुए स्वप्न की एकता को भूल गये है। अचेतन केवल कुछ निशानियों द्वारा प्रकट ही नही होता है; बल्कि कुछ नवीनता का भय लाता है। अगर सब स्वप्न याद रहें, तो शायद हमलोग उनमें से अधिक को एक सुव्यवस्थित आकार में ला सकते है। स्वप्न में एक नही, बल्कि अनेक कारण और शक्तियाँ काम करती है। इसमें चेतन-अचेतन दोनो का स्थान पाया जाता है। कभी तो इच्छा की पूर्त्ति, कभी किसी जीव-सम्बन्धित माँग (biological need) की तृप्ति, कभी जाग्रत अवस्था का सीधा-सादा नक्शा और कभी भविष्य की झलक—ये सब कई शक्तियो के मिलने के स्थान है। शरीर की यह माँग है कि हम

कुछ समय के लिए सोयें; परन्तु इस प्रवृत्ति के साथ कुछ विघ्नकारक वस्तुएँ (disturbing factors) भी हैं, जिनमें से इच्छा एक है। स्वप्न में इच्छा की पूर्त्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारी स्वप्न-अवस्था एक प्रकार का समझौता (compromise) है, जिसमें "चेतन" और "अचेतन" दोनों को आंशिक सफलता और असफलता प्राप्त होती है।

क्या ईश्वर है?

विश्व में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसके सामने भगवान का प्रश्न न उठता हो। यह वह विचार है, जिसपर चिंतन किए बिना दुनिया आगे बढ़ सकती है। साधारण जनता और दर्शन-शास्त्र में इसपर बहुत समय से वाद-विवाद होता आया है; परन्तु इस प्रश्न का अभी तक एक उत्तर नहीं दिया गया है। क्या हम भी नीत्शे (Nietzche) की तरह यह कहें कि "कल मुझे शैतान ने कहा था कि भगवान मर चुका है" या यह समझें कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में भगवान है।

एक धार्मिक मनुष्य के लिए तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। इस्लाम में भगवान को अन्तर्दृष्टि (intuition) के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। ईसाई धर्म में ईसामसीह को भगवान माना गया है। वह एक सत्ता के रूप में लिया गया है और प्रेम, न्याय उसके आवश्यक लक्षण हैं। ईसाई लोग इस बात को भी मानते हैं कि मनुष्य अपने-आप कभी भगवान तक नहीं पहुँच सकता है। इसके लिए उसको भगवान की क्षमा (forgiveness) पर निर्भर होना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य आरम्भ से ही पापी (original sin वाला) है। हिन्दू-धर्म में भी शास्त्रों का सहारा लेकर भगवान को मान लिया गया है। यहाँ आत्मा को ही ईश्वर समझा गया है। इन सबमें हम यह देखते हैं कि भगवान को पहले मान लिया गया है और फिर इसका अनुमोदन तर्क और

अन्य प्रमाण इत्यादि मे किया गया है। "भगवान है; क्योंकि उसको होना चाहिए"—यह उनर्का युक्ति है। जेनोफेनिज (Xenophenes) ने भी कहा है कि "अगर एक गाय भगवान के बारे में सोचेगी तो, उसका भगवान एक बहुत बड़ी गाय होगी, जिसके वहुत वडी-वडी सीगे होगी"। यह सब विचार उच्च कोटि के नही दिखाई देते है। हम कुछ युक्तियो को लेते है और फिर एक ऐसे विचार पर पहुँचेंगे, जिसमे वर्त्तमान वैज्ञानिक ज्ञान और साधारण जनता के विचारो को भी स्थान मिले।

यह कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु या घटना का कारण होता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नही, जो कि कार्य-कारण के सिद्धान्त से मिलायी न जा सके। कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती है, जिनका कारण हम नही जानते; परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनका कारण ही नही है। विज्ञान के नियम इस बात के प्रमाण है कि हर वस्तु अन्य वस्तुओ से सम्बन्धित है। अगर हम एक घास के टुकडे को छूते है, तो उस समय भी पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्ध मे आते है। प्रकाश और ध्वनि को लहरे पूर्ण जगत् मे चल रही है। हर एक वस्तु एक दूसरी वस्तु पर ध्यान डाल रही है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति वस्तुओ को एक ही केन्द्र पर रखे हुई है। पूर्ण जगत् एक कार्य है, जिसका कारण ईश्वर है। ईश्वर को सर्वप्रथम कारण (first cause) कहा जा सकता है। हम कार्य-कारण की परिपाटी (series) को अनिश्चित रूप से आगे नही बढा सकते है। यह एक तार्किक माँग है कि हम किसी निश्चित स्थान पर ठहर जायँ।

यह भी कहा जा सकता है कि विश्व में एक अवस्था दिखायी देती है। सूर्य पूर्व से ही निकलता है। जगल के पशुओ का रग झाड-पत्तो के रग से मिलता-जुलता है। एक मृग के पाँव बहुत हलके होते है, ताकि वह शत्रु से स्वयं को बचा सके। मछलियो के फेफडे इस तरह बनाए जाते है कि वे जल में रह सकें। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक अग की बनावट ऐसी है कि उसको व्यावहारिक जीवन से सामजस्य करने मे सहायता मिलती है। पक्षियो का शरीर भी इसी कारण बहुत हलका होता है। जिस तरह एक घड़ी को देखकर उसके बनानेवाले तक

पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार इस जगत् की मशीन को देखकर कहा जा सकता है कि ईश्वर इसका बनानेवाला है। ईश्वर को हम प्राकृतिक (natural) नही, बल्कि प्रयोजनात्मक (teleological) कारण मान सकते हैं।

यह युक्ति अधिक सतोषजनक नही दिखाई देती है। कार्य-कारण का सिद्धात भौतिक पदार्थों में लागू हो सकता है, न कि प्राकृतिक (जगत्) पदार्थ और अप्राकृतिक (ईश्वर) पदार्थ में। यह भी सदेह किया जा सकता है कि हम कार्य-कारण की श्रेणी मे एक वस्तु पर क्यो ठहर जायँ और ईश्वर को अनादि मान लें। जगत् में व्यवस्था और अव्यवस्था, बनाव और बर्बादी साथ-साथ चलते है। तूफान, आँधी, भूकम्प आदि में लाखों जीव नष्ट हो जाते है। जगत् में बहुत-से स्थान और वस्तुएँ ऐसी है, जो मनुष्य के लिए हानिकारक है। बडी मछली छोटी मछलियो को खा जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रचना या निर्माण के बजाय क्षय और विनाश इस जगत् के नियम है। दुनिया में सुखदायक वस्तुओं का अश बहुत कम दिखायी देता है। हर क्षण जो लाखो प्राणी जन्म लेते है, उनमें से कुछ ही पूर्णत जीवित रहते है। विश्वास के दृष्टिकोण से तो माना जा सकता है कि इस जगत् का कोई कारण है या यहाँ एक महान व्यवस्था पायी जाती है; परन्तु यहाँ तर्क का अनुमोदन असफल हो जाता है।

ईश्वर को अपने नैतिक जीवन के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ तर्क को नही लिया गया है। नैतिक जीवन में मनुष्य कर्म करता है—सत्यता और त्याग से काम लेता है, परन्तु फिर भी दुख पाता है। जो मनुष्य पाप करते है, उनको सुख और आनन्द मिलता दिखायी देता है। अगर ऐसा सर्वदा होता रहे, तो जगत् नही चल सकता है। इसलिए हमारे सामने नैतिक जीवन में कुछ पूर्व मान्यताएँ है। पहला यह कि अपने कर्मो के लिए मनुष्य स्वय उत्तरदायी है। उसके अन्दर इच्छा-शक्ति है और वह जो कुछ करता है, उसका परिणाम उसको न्यायानुसार मिलना चाहिए। यह भी मानना पडता है कि कोई ऐसी शक्ति है, जो कि हर एक वस्तु और जीव के हिसाब-किताब और लेन-देन को ध्यान में रखकर जगत् में न्याय, सत्यता, सुख-दुख इत्यादि, सबका सतुलन करती है। यह एक नैतिक माँग है कि अधर्मी को दुख

मिलना चाहिए और सत्यता के साथ रहनेवाले को सुख मिलना चाहिए। ऐसा हम इस जीवन मे नही पाते है इसलिए मृत्यु के पश्चात् एक और जीवन को भी मानना पड़ता है।

कहाँ तक ईश्वर को बनिये की तरह सब पदार्थों का हिसाब-किताब रखने वाला माना जा सकता है यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। क्यों न हम न्याय-दर्शन के अनुसार केवल काल और दिक् पर चिंतन करे और इस तरह पूर्ण जगत की सत्यता को समझने का प्रयत्न करे। यह भी सदेह किया जा सकता है कि सत्यता को सुख के साथ और अनैतिकता को दुख के साथ क्यों इकट्ठा किया जाय। हमारी इच्छा ऐसी होती है परन्तु पूर्ण जगत के साथ यह सिद्धान्त लागू होता है कि नही यह भी हमको देखना है। एक बड़ा दोष इस युक्ति के साथ यह है कि इसमें भगवान के अतिरिक्त हमको आत्मा के अमरत्व को भी मान लेना पडता है।

कुछ तर्क-शास्त्रियो ने कहा है कि हमारे विचारों मे से एक विचार ऐसा है जिसको मुख्य और विचित्र कहा जा सकता है, और यह भगवान का विचार है। इस विचित्रता को बहुत प्रकार से बताया गया है, कुछ के अनुसार यह विचार असत्य नही हो सकता, यह भ्रम नही हो सकता, इसकी तह में कोई वास्तविक वस्तु है। कुछ दूसरे चिताशील व्यक्ति ऐसे है जिनका यह विश्वास है कि हर एक मनुष्य मे एक प्रकार की अपूर्णता की चेतना पायी जाती है। ऐसी चेतना तभी जाग्रत हो सकती है जब कि कोई वस्तु पूर्ण हो। इस पूर्ण वस्तु को ईश्वर कहा गया है। यह सबसे अधिक भावात्मक विचार है और एक ऐसा मानदण्ड है जिसको देखकर हम अपनी अपूर्णता के बारे में निर्णय बनाते है।

वह युक्ति भी दोषरहित नही है। पूर्णता (perfecticn) शब्द की गुणवाचकता स्पष्ट नही है। हर एक व्यक्ति इसको पृथक् पृथक् तरीके से समझता है। इसके वास्तविक अर्थ के अभाव में इसको मानदण्ड बना लेना सन्देह से खाली नही है। यह भी देखते है कि अस्तित्व तो ऐसा लक्षण नहीं है जो कि विचार में रहे। इसको अपने अनुभव में प्रमाणित कर सकते है।

पूर्णता के विचार से हम ईश्वर के अस्तित्व के विचार पर पहुँच सकते हैं न कि ईश्वर पर। यह सोचना आसान है कि हमारी जेब में दस रुपये हैं परन्तु वास्तविक रूप से ये १० रुपये नही भी हो सकते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न के साथ और भी प्रश्न उठाये जा सकते हैं; जैसे, उसका सम्बन्ध इस जगत के साथ क्या है। क्या वह इसके बाहर है या अन्तर्गत है ? अगर सर्वशक्तिमान है तो यह दुःख का चक्रवर्ती नाटक कैसा ? परन्तु ये सब प्रश्न इस समय हमारे क्षेत्र के बाहर हैं।

ऊपर दी हुई युक्तियो पर चिंतन करने से यह दिखायी देता है कि वे सब दोष से परिपूर्ण है। चिंताशील व्यक्तियो ने अधिकतर ईश्वर के विचार के विकास पर ध्यान दिया है परन्तु यहाँ पर भी ईश्वर को मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण से देखा गया है। यहाँ हम विज्ञान और अन्य प्राकृतिक घटनाओ से शिक्षा ले सकते है। प्रकृति के लिए कोई वस्तु अच्छी-बुरी नही दिखायी देती है। जिस मल-मूत्र को मनुष्य घृणा से देखता है उसका डाक्टर लोग बड़े ध्यान से विश्लेषण करते हैं। हमको भी जगत में हर वस्तु को एक ही प्रकार से देखना चाहिए। मन का स्थान अन्य दूसरे पदार्थों से अधिक ऊँचा नही। यह भी एक पत्थर और नदी की तरह एक भौतिक पदार्थ है। चेतना का विकास संघर्ष के कारण होता है। पग-पग पर हमको परिवर्तन से टक्कर लेना होता है। एक बालक का जगत उसके खिलौने, माता-पिता, नर्स आदि होते है। कोई समय था जब कि हमारे शास्त्र "अहं ब्रह्म" का प्रचार करते थे परन्तु एक भूखे के लिए एक काल्पनिक आत्मा से अधिक वास्तविक वस्तु "अन्न" है। वह तो "अन्न ब्रह्म" का मन्त्र पढ़ता है। समय बदल गया है। प्राचीन समय में मनुष्य हवा में पक्षियो की तरह उडा नही करते थे। हमारी आर्थिक माँगें बहुत सरल थी। जीवन में शान्ति थी परन्तु आजकल संघर्ष है। अगर कोई सर्वशक्तिमान वस्तु है तो पहले तो यह जीव नही हो सकती क्योकि एक जीव में सर्वदा अपूर्णता पायी जाती है। अगर ऐसी शक्ति है भी तो शायद देश के बँटवारे और बंगाल के अकाल और अन्य दुखदायक घटनाओ के समय ऐसी शक्ति गहरी निद्रा की गोद में सो रही थी। हम सोचते है कि प्रकृति ही ईश्वर

है। टेबुल, कुर्सी, समाज, परिवार—हर वस्तु भगवान है। यह एक अद्भुत शक्ति नहीं है बल्कि साक्षात् हमारे सामने है। अगर हम एक स्वच्छ विधि से अन्य पदार्थों के साथ सामजस्य स्थापित कर सकते हैं तो स्वर्ग, नर्क, मोक्ष आदि की प्राप्ति यहीं मिल सकती है। गाँधीजी ने कहा है कि सत्य ही भगवान है। विवेकानन्दजी कहते हैं कि हम फुटबाल खेल कर, निर्धनों की सेवा करके, एक मनुष्य-की सत्यतापूर्वक चिलम भर कर भगवान को समझ सकते हैं। मन्दिर-मस्जिद में केवल जाने से भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

यह हम मानते हैं कि प्रकृति की शक्तियाँ बहुत विशाल हैं। परन्तु निष्क्रिय होकर बैठ जाना मानवता नहीं है। हमारी भावनाएँ और सवेग हमको एक सातवें आसमान पर बैठे हुए ईश्वर पर ले जा सकते हैं परन्तु ये मनगढत कल्पनाएँ हैं। ऐसे विचारो का एक बडा लाभ यह है कि यह हमारे लिए एक नैतिक लगर (anchor of morality) की स्थापना कर देते है। यह कहना अधिक साहसिक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि प्रकृति ही ईश्वर है। बुद्धिमान लोग समुद्र और पहाड़ो में ईश्वर को देखते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार नास्तिक वह नहीं है जो मन्दिर-मस्जिद में नहीं जाता है बल्कि ऐसा मनुष्य है जिसको अपने पर विश्वास नहीं है और जिसके हृदय में रोगी को देख कर सेवा-भाव जाग्रत नहीं होता है।

प्रचार

प्रचार एक आम जानकारी की चीज बन गई है और उसी तरह इसका इस्तेमाल (प्रयोग)। हम अपने दैनिक जीवन में, राजनीति, व्यापार, नैतिक मूल्यों तथा इनकलाबो की बुनियाद और परवरिश के लिये प्रचार का उपयोग करते है। आधुनिक युग की यह खासियत है कि वह रोज–रोज प्रचार के नये और प्रभावोत्पादक टेकनिकों (तरीकों) के आविष्कार में प्रयत्नशील है।

प्रचार विचारपूर्वक योजित प्रतीको का एक सिलसिलेवार इस्तेमाल है। यह इस्तेमाल खास कर अनुमोदन और सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक टेकनीक के

जरिये सम्भव है। इसके मकसद (उद्देश्य) इस तरह दो है—मत, आदर्श और मूल्य में तब्दीलियाँ (परिवर्त्तन) लाना और उन्हें वश में रखना और फिर पूर्व निर्णय किये गये सिद्धान्तो के सहारे प्रत्यक्ष क्रियाओ में परिवर्त्तन लाना। प्रचार प्रत्यक्ष हो सकता है। तब इसका मकसद भी प्रत्यक्ष होगे या अपन लक्ष्य को घुमाकर रख सकता है। प्रचार एक सामाजिक, सास्कृतिक बनावट में ही सम्भव है क्योकि इसके बिना न तो इसकी मनोवैज्ञानिक और न सास्कृतिक शक्लो को ही पहचाना जा सकता है। इसका इस्तेमाल एक खास समूह के द्वारा दूसरे समूह के खिलाफ किया जा सकता है या विशाल राजनैतिक और जनता के सम्बन्ध में भी हम इसका उपयोग करते है। फिर एक घरेलू राजनैतिक-आर्थिक योजना के फैलाव के लिए शासक-वर्ग के द्वारा भी इसका इस्तेमाल होता है।

प्रचार से सम्बन्धित कुछ ऐसे अज्ञात इस्तेमाल है जिनमें दृष्टिकोण और मूल्य आते है। उदाहरण के लिए इतिहास, भूगोल और साहित्य के जरिये राष्ट्रीय मूल्यों की बुनियादी शिक्षा आदि है, सच पूछिये तो, इसे हम प्रचार नही कह सकते। जब इसका प्रवेश एक निश्चित कायदे के आधार पर होता है, तभी प्रचार की हस्ती जाहिर होती है। अतीत के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वस्तुत., विचारपूर्वक निश्चित किये गए आदर्शो, विचारों और मूल्यो में तथा अप्रतिपादित पौराणिक शिक्षाओं में बहुत कम अन्तर दिखाई पडता है। इसलिए प्रचार शब्द का इस्तेमाल पहले अर्थ में करना श्रेयस्कर होगा।

प्रचार की सबसे मुख्य मनोवैज्ञानिक विशेषता है इसकी स्वीकारात्मकता। प्रचारक लोगों का मत हासिल करने के लिए कई तरह के 'टेकनीक' का इस्तेमाल करते है। प्रचार के विश्लषण के लिए इन बुनियादी बातो का होना नितान्त आवश्यक है–(१) मकसद (लक्ष्य), मकसद का सम्बन्ध हमेशा आम जनता के साथ रहता है जिसमें हम अपने सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रचार करना चाहते है। (२) प्रतीक, (३) मनोवैज्ञानिक 'टेकनिको' का इस्तेमाल और (४) प्रचार की ग्राह्यता तथा विचारों, दृष्टिकोण, मूल्यो और खास कर क्रियाओ को मोड़ने में इसका असर।

छिपे हुए प्रचार के मकसद कभी-कभी ही मालूम किये जा सकते है किन्तु

प्रत्यक्ष प्रचार के मकसद पहले से ही प्रतिपादित किए रहते है इसलिए यहाँ प्रतीकों को मापने और उनके लक्ष्य ढूढने में ज्यादा वक्त नही लगाना पड़ता। 'इन्टरव्यू', प्रश्न-सूचियो और वोट के द्वारा हम विचारों और दृष्टिकोण की तब्दीलियों को माप सकते है। और आखिर में, प्रत्यक्ष क्रियाओ मे जो परिवर्त्तन होते है उन्हें मालूम कर सकते है तथा उन्हें उम्मीद-वारो के चुनाव, राजनैतिक इकलाव, आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन और व्यक्तिगत आदतो में सुधार, आदि के रूप मे भी माप सकते है।

जैसा हमने पहले कहा है, प्रचार सबसे पहले नये आदर्शों और मूल्यों को अपने मुताबिक मोडता और बनाता है और इसके लिये व्यक्तियो का पूर्वनिर्मित ज्ञान और उनकी प्रेरक शक्तियों को ध्यान मे रखना जरूरी हो जाता है। सबसे पहला कदम होगा किसी चीज की इच्छा को जगाना। सबसे मुख्य और बुनियादी आकर्षण के केन्द्र ये है—आर्थिक हिफाजत, समूह और व्यक्तिगत विचारों की रक्षा, प्रेम का सतोष और पारिवारिक तथा दूसरे व्यक्तियों की मंगलकामना। कभी-कभी नये अनुभवों की चाह भी पैदा की जाती है। किन्तु सभी प्रचार के लिए ये बाते लागू नही भी हो सकती है। हाँ, इतना हम जरूर कह सकते है कि मत प्राप्त करने के लिए सबसे प्रभावोत्पादक केन्द्रविन्दु वही है जो एक या ज्यादा से ज्यादा ऐसे जरूरी प्रेरकों को छूता है। इसान की बुनियादी इच्छाएँ भावो की सतह पर ही आधारित होती है इसलिए अनुभवी प्रचारक ज्यादातर प्रेम, क्रोध, डर, उम्मीद या इसी किस्म की भावनाओं का व्यवहार करते है।

मनुष्य की इच्छाएँ जब सफल नही हो पाती तो वे और भी तीव्र हो जाती है। प्रचारक इसी स्थिति से फायदा उठाता ह। जब जनता के खाने और रहने, बचाव और सम्मान की इच्छाओ को कुचल दिया जाता है, तव प्रचार के उन्ही टूटे तारो को सहेज कर एक यन्त्र का निर्माण करता है और अगर उसकी ये इच्छाएँ कुचल नही दी गई है तब ऐसी हालत में वह, साधनों के जरिये यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वे इच्छाएँ असलियत में दफना दी गई है।

इस तरह, किसी इच्छा की हस्ती से परिचित कराने के वाद, प्रचारक आगे वढता है और इच्छाओं को पूरी करने के लिए प्रोग्राम देता है

इस तरह प्रचारक की हस्ती प्रतिद्वन्द्विता और द्वन्द्व में ही कायम है और जैसा हम ऊपर देख चुके है, इसका खास उद्देश्य इच्छाओ और क्रियाओ में परिवर्त्तन लाना है। इसका प्रतीक साधारणत लक्ष्य और स्थिति के मुताविक प्रचार के साधनों का प्रयोग होता है किन्तु कुछ निश्चित साधारण नियम है जो हर किस्म के प्रचार में लागू किये जा सकते है। पहली वात तो यह नजर में रखनी है कि यह उसी खास समूह के वुनियादी उद्देश्यो और इच्छाओं से सम्वन्ध रखता है जिस पर हम इसे लागू करना चाहते है। लक्ष्य है स्वीकृति की प्राप्ति, विचारों की नही। दूसरी वात है प्रतीको के द्वारा भावनाओ का उभाड। ये प्रतीक प्रतिज्ञा और सतोष पर निर्भर हों। तीसरी वात है, जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना है, उन्हें स्पष्ट रूप से आम लोगो के सामने रखना। इसके साथ-साथ उनके समाधान का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। कुछ सरल और वुनियादी वातो का सिलसिलेवार और आग्रहपूर्ण पुनरावृत्ति भी जरूरी है। एक वार जव आधारभूत इच्छाएँ घर कर लेती है, तव सीधी और खुली वातों का इस्तेमाल किया जाता है और जिन साधनो का प्रयोग किया जाता है वे हैं अतिशयोक्ति, अभियोग, सफेद झूठ आदि

प्रचार का असर आम जानकारी की चीज है। प्रचार लोगो पर ज्यादा-से-ज्यादा असर डाल सके, इसके लिए प्रचारक को भावों को प्रभावित करना होगा। इसके साथ-साथ उसे स्पष्टवादी बनना जरूरी है। सबसे ज्यादा महत्व की चीज है कि प्रचार व्यक्तियों के पूर्व-निर्मित सिद्धान्तो और दृष्टिकोणो को स्पर्श करता हो और इसकी दिशा सिर्फ एक ओर प्रवृत्त हो। वहुत से प्रचारक एक दृष्टिकोण के रखने के बाद फिर एक विरोधी दृष्टिकोण रखते है। इस तरह जनता के ऊपर बुद्धि के सहारे निर्णय का भार सौप देते है। किन्तु इस तरह का प्रचार ज्यादा प्रभावोत्पादक नही होता। इसमे वेशक कुछ अपवाद हो सकते है। यह वात महत्वपूर्ण है खास कर प्रचार के लेखको के लिए, जो कहते है कि जनतत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रचार पर किसी किस्म

का प्रतिरोध नही लगाया जायगा और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों की खीच-तान से एक स्थायी और उपयुक्त दृष्टिकोण की रचना होगी। किन्तु यद्यपि यह दृष्टिकोण विज्ञापन के क्षेत्र में, सामाजिक क्रान्तियों और संस्थाओं तथा गूढ राजनीतिक-आर्थिक मामला में मदद पहुँचा सकता है, इसमें कई भ्रांतियाँ है।

प्रचार के एक विस्तृत विश्लेषण के बाद हम एक खास विन्दु पर पहुँचते है—वह है जनतन्त्रीय व्यवस्था में प्रचार का असर। इसे समझने के लिए खास कर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रचारों की जानकारी के लिए मत की रचना कैसे होती है, इसकी क्रिया क्या है, इसे समझना जरूरी है। इसकी चार आधारभूत स्थितियाँ है—किसी विषय का जन्म, प्रारम्भिक वादविवाद संस्कृति की बनावट में उस विषय की परिभाषा की अनवरत कोशिश; समस्या के ऊपर फिर वाद-विवाद, मतों की भिन्नता और अन्त में वोट आदि के जरिये एक खास मत का अभ्युदय। व्यवस्थित एक-मत के आधार पर नेताओं और कानून का चुनाव होता है और जनता का रुख की प्रत्यक्ष शक्लों को आगे बढाया जाता है। उसके लिए सिर्फ समाचार छाँट कर रखे नही जाते, उन्हें मत के अनुकूल बनाने की कोशिश भी की जाती है और मत-रचना की दूसरी और तीसरी सतह पर ही खासकर, प्रचारक अपना काम शुरू करता है। इन्ही स्थलो पर, समस्या (issue) के बल का बौद्धिक नाप-तौल भी आरम्भ हो जाता है। आज की जो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ है, उनका आधार अन्तर्राष्ट्रीय है और हमलोगों को रिपोर्टों पर निर्भर करना पडता है जो कुछ ऐसे स्रोतो से आते है जिन्हें हम नही जानते। ऐसी हालत में, किसी समस्या को रखने और उसका पूरा बयान देने के लिए कुशलता और ईमानदारी बहुत आवश्यक है। फिर भी इन मामलो में आम जनता को प्रेस, रेडियो आदि की मेहरबानी पर ही निर्भर करना पडता है। यह मान लेने पर कि वह समस्या हमारी भावात्मक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इसे ग्रहण करने के लिए हर नुक्ते पर जो बहस की जाती है वह इंसान की बौद्धिक खूबियो को प्रभावित करने के उद्देश्य से की जाती है। इस तरह विवेक (rationlity) फैलने लगता है, बहुत ही गडबडी और परेशानी नजर आती है और इसका

नतीजा यह होता है कि यह इंसान की भावात्मक और विवेक-हीन प्रेरणाओं को तीव्रतर बना देता है। ये प्रेरणाएँ अन्तर-विरोधी अपीलों की गुत्थियों को काट कर एक स्थायी मत की बुनियाद कायम करने में सफल होती हैं ये प्रतिस्पर्द्धात्मक इच्छाएँ और उन्हें हासिल करने के साधन इतना तनाव पैदा करते हैं कि आखिर में इंसान 'क्यों' और 'क्या' यानी विवेक का सवाल भूल कर अपनी समस्याओं की एक सीधी-सादी हल पर, जो उसे मिलता है, यकीन करने लगता है। जैसा श्री लासवेल ने कहा है, आज की जनतन्त्रीय व्यवस्था ये मान रखती है—बातचीत के जरिये हुकूमत में विश्वास, मुक्त वादविवाद में आस्था, लोगों के मत में विश्वास तथा उन मुहावरों में विश्वास जो आम मकसदों पर बातचीत करते हों। विस्तृत आधुनिक जनतन्त्रीय व्यवस्थाओं में प्रचार के इस्तेमाल ने उन प्रतीकों और इस्तेमालों को गलत करार दिया है जो ऐतिहासिक तौर पर जनतन्त्रीय व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं।

इस किस्म की व्यवस्था की एक और खासियत यह है कि प्रजातन्त्र हुकूमत में भावनाओं के आधार को खत्म कर दिया गया है। फलस्वरूप प्रजातन्त्रीय क्रान्तियाँ जैसे युद्ध आदि के समय सारी जमात खुले संसर्ग में आती हैं। साथ ही, प्रचार के खिलाफ बलन्द किये गये नारे गड़बड़ी फैलाते हैं जो जनतन्त्रीय व्यवस्था की बुनियाद के लिए बड़े ही भयानक हैं। इसकी मुस्तकिल हस्ती के लिए हमको नैतिक कोड, न्याय-कानून, सत्ता का हक और उनके इस्तेमाल के रूप में अपने अधिकार में रखना होगा, चाहे ये शक्तियाँ प्रतीकों के जरिये या प्रत्यक्ष ताकतों के लिए लागू की जायँ। कहने में यह जितना आसान मालूम पड़ता है, दरअसल उतना आसान नहीं है। किन्तु किसी भी प्रचार की जाँच-पड़ताल में हमेशा तीन सवाल पैदा होते हैं—प्रचारक 'कौन' है? वह 'क्यों' प्रचार करना चाहता है? क्या वह जनतन्त्रीय व्यवस्था के कानूनों को मद्दे-नजर रख कर चल रहा है या सत्ताग्रहण करने के बाद वह इन कानूनों को खत्म करने की योजना बना चुका है?

ऊपर लिखे गये साधनों के अतिरिक्त कुछ और प्रमुख साधन हैं। दरअसल वे ही बुनियादी साधन हैं, इन्हें हम 'कंक्रीट' साधन भी कह सकते हैं। ये हैं—

प्रेस, रेडियो, प्लेट-फार्म तथा आँकडे। प्रेस जिसके अन्तर्गत अखबार, पर्चे, किताबें आदि को रखते हैं, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सुखी जीवन की कल्पना

संस्कृत के किसी पंडित ने कहा है—हमारी कामनाएँ कभी बूढी नही होतीं, हमलोग ही जीर्ण हो जाते हैं। प्रकृति ने मानव के मन में ऐसी प्यास जगा रखी है कि वह कभी मिटती नही, संतोष नही मिलता, कामनाएँ चिर नवीन बनी रहती है। अनादिकाल से हम जीवन की परिस्थितियो से संघर्ष करने के इतने आदी हो गये है कि किसी भी दशा में हमे वर्त्तमान परिस्थिति से पूर्ण संतोष नही मिलता। यह असंतोष सतत जीवन-संघर्ष की भूमिका है और मानव-सभ्यता की प्रगति का मूल रहस्य भी।

जब हम वर्त्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट होकर नयी व्यवस्था बनाने की चेष्टा करते हैं उस समय हमारे आगे भविष्य का एक नक्शा होता है, जिसमें हमारी सुखी जीवन की कल्पना वर्त्तमान व्यवस्था से बिलकुल अलहदा हुआ करती है और यदि उसकी निकट-भविष्य में पूरा होने की सम्भावना न रही, तो सारी योजनाएँ, सारे मनसूबे बेकार हो जाते हैं। इतना ही नही, उस सिलसिले की असफलताएँ अनेक गुत्थियाँ पैदा कर देती हैं। इसलिए जब आप अपने लिए सुखी जीवन की कल्पना करते है, आपका ध्यान उन तमाम साधनों का उपयोग करने की ओर रहता है, जो आपको उपलब्ध हैं। हाँ, उनके उपयोग के तरीके में परिवर्त्तन करने और अनुपलब्ध साधनों को प्राप्त करने का इरादा भी आपके मन में अवश्य रहता है।

सुखी जीवन की हमारी जो भी कल्पना होती है, वह दरअसल हमारी अपूर्ण आकांक्षाओं का आधार लिए रहती है और आप ही क्या, कौन ऐसा व्यक्ति है जिसकी सभी आकांक्षाएँ पूर्ण हैं। ऐसी दशा में क्या यह बुद्धिमानी की बात है कि हम सब के सब अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए डेढ चावल की खिचडी पकावें? वैसा करके आप अपने जीवन की कल्पना को ठोस आधार दे सकेंगे ?

सुखी जीवन की आपकी कल्पना वास्तव में व्यापक सुखी समाज का नक्शा है, जिसमें एक सामान्य स्तर के बाद आपकी तरह अन्य व्यक्तियों को भी अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन की मनोनुकूल योजना बनाने का हक रहेगा, पर्याप्त अवसर रहेगा, अन्यथा असमान अधिकार और असमान अवसर के कारण आपका जीवन कभी सुखमय नहीं हो सकेगा। आपका जीवन तभी सुखी रहेगा जबकि उसका व्यापक सामाजिक हितों से विरोध न हो। सुखी समाज वही है, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध सामजस्यपूर्ण और सहयोग का है, संघर्ष हो तो केवल विपरीत प्राकृतिक कारणों से। ।

इस बुनियादी शर्त्त को कबूल कर लेने के बाद जरा सोचिए, आपका जीवन किस प्रकार सुखमय हो सकेगा ? इसके लिए आप अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को खतिया लीजिए और यह भी याद रखिये कि आपकी आकाक्षाएँ ऐसी ही हों जो कि आपकी न्यायपूर्ण आर्थिक आय के अन्दर पूरी की जा सकें।

फिर विचारिये, क्या आप गाँव का जीवन पसन्द करते हैं या शहर का ? जहाँ तक आज के जीवन का सवाल है, क्या शहर, क्या गाँव सर्वत्र विरूपता फैली हुई है। पूरे जीवन में सदियों की गदगी व्याप्त है। किसी जमाने में बहस चला करती थी कि गाँव का जीवन सुखमय है, या शहर का। आज इस सवाल का रूप ही बदला हुआ है। आज तो दोनो जगह जिन्दगी में हद दर्जे की सफाई चाहिए। पूरे कायाकल्प की आवश्यकता है।

आज हमारे गाँवों में क्या बचा है ? चारो ओर गदगी है। न शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है, न स्वास्थ्य-रक्षा के साधन सुलभ हैं। यातायात के साधनों की भी नितान्त कमी है। सडकें किसी काम की नहीं। जो हैं भी, वे टूटी-फूटी धूल और गदगी से भरी हुई। फिर सभ्यता और नयी हवा आवे तो कहाँ से ? अखबार रोज पहुँच नहीं पाते। रेडियो भी रखना आसान नहीं है।

किसी जमाने में ग्रामीणों की सरलता और निश्छलता कवित्वपूर्ण चर्चा का विषय हुआ करती थी। पर आज एक भी गाँव मुश्किल से मिलेगा, जहाँ घर-घर में फूट न हो, चार-पाँच दल न बने हों और वे दल झूठ, फरेब से लेकर सर फोड़ौवल तक किसी भी हरकत से बाज आते हों। इतना ही नहीं, वहाँ जानमाल

की सुरक्षा का प्रश्न भी अहम हो गया है। छोटी-बडी डकैतियों की जो खबरें आज अखबारों में छपा करती है, उनमें से अधिकाश गाँवो में होती है।

गाँवो के जीवन का स्तर आज बिलकुल नीचा है। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था घाटे पर चला करती है। खेतों की उपज घट गयी है और खेतों की पैदावार की कीमत हमेशा शहरी औद्योगिक पैदावार से कई गुना कम हुआ करती है। नतीजा है कि गाँव शहर को जितने मूल्य का सामान देता है, उससे कही अधिक मूल्य के सामान खरीदता है। इस प्रकार गाँव का जीवन शहर के निरन्तर शोषण से ऐसा त्रस्त हो रहा है कि प्रकृति का सौन्दर्य अनाकर्षक और निरर्थक हो गया है।

शहरों की भी अपनी समस्याएँ है। आधुनिक विज्ञान के बल पर वहाँ अनेक साधन उपलब्ध हो सकते है, पर वास्तव मे उनकी सुलभता मुट्ठी भर लोगों के लिए ही है। अधिकाश लोग निम्न मध्यमवर्ग या निम्न-उच्च-मध्यम वर्ग के है। उनकी आय उन्हें अपनी कल्पना का सुखमय जीवन देने के लिए सर्वथा अपर्याप्त होती है।

शहरी जीवन का ढाचा ही ऐसा कुछ है कि वहाँ मानवता और ममता के लिए कम से कम गुजाइश है। वहाँ व्यक्ति व्यक्ति न रह कर समूह की इकाई मात्र होता है। उसका व्यक्तित्व अनादर और अस्वीकृति के वातावरण मे उपेक्षित होकर विनष्ट या विकृत हो जाता है।

शहरी जीवन का एक मौलिक अभिशाप है पारिवारिक जीवन का विघटन। परिवार छोटे पैमाने पर पूरे समाज का प्रतीक होता है। वहाँ की ममतार्द्र और सहयोगपूर्ण जीवन से व्यक्ति को सामाजिक हितों की रक्षा की प्रेरणा मिल सकती है। अत यदि यह इकाई विघटित हो जाती है, तो इसका अर्थ है कि पूरा सामाजिक जीवन विषम होने वाला है।

शहरी जीवन मे गति ही गति है। ठहराव कही नही है, जहाँ पर रुक कर इसान अपनी अनुभूतियों को सग्रथित कर सके। प्रकृति इतनी दूर रहती है कि कुदरती ताजगी भूल से भी पास नही फटकती।

इन सब कारणों से सुखी जीवन की आपकी कल्पना आज न गाँवों में मूर्त्त हो सकती है और न शहरो में ही। दोनो जगह पर जीवन की आर्थिक बुनियाद कमजोर है। अगर आर्थिक सतुलन को सही-सही दुरुस्त कर दिया जाय तो अपने देश में शहर और गाँव के जीवन-स्तर का भेद मिट जायगा। अर्थात् आधुनिक जीवन के साधन गाँवो में भी उपलब्ध होने लगेंगे और शहरो में व्यक्ति का संबंध ममतापूर्ण और मानवसुलभ हो जायगा।

इन बुनियादी शर्तों के पूरा हो जाने के बाद आप अवश्य चाहेंगे कि आपको भोजन, वस्त्र और मकान मन-माफिक मिले। मकान ऐसा हो, जिसमें धूप और हवा का प्रवेश हो, ऊँचाई पर हो, फर्श पर सिल न हो, कमरे बड़े-बड़े हों, और सफाई की समुचित व्यवस्था हो। भोजन रुचिकर और पौष्टिक मिले, कपड़े आपके स्वच्छ, मनलायक सिले, धुले रहें। पानी का उचित प्रबन्ध हो, क्योंकि इस गर्म मुल्क में पानी की कमी हर दर्जे की तकलीफ देती है। आप अपने अहाते में फूलों की क्यारियाँ भी पसन्द करेंगे।

सुखी जीवन की कल्पना में ईमानदारी की मिहनत के लिए अवश्य जगह होनी चाहिए, अन्यथा आपके इरादे गलत रास्ते पर चले जायेंगे। सच्ची मिहनत आपको समाज का उपयोगी सदस्य बनायेगी और आपको अंतत. आध्यात्मिक संतोष मिलेगा।

मिहनत के साथ-साथ आराम का समय और मनोरंजन के साधन भी आप चाहेंगे ही। मनोरंजन को व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल होना है, पर गप्पें लगाना सबसे बढ़ियाँ मनोरंजन है, सुलभ भी है। अगर आप संजीदे हैं, तो आपका मनोरंजन दूसरी तरह से होगा।

आप यह भी चाहेंगे कि आपका पारिवारिक जीवन आदर्श हो, हर सदस्य अपना उत्तरदायित्व समझे और उसका निर्वाह करे। आज परिवार का अर्थ है कि एक व्यक्ति कमाये और १० व्यक्ति उसका उपभोग करें, ऐसी व्यवस्था में सुखी जीवन की कल्पना मृगमरीचिका ही होगी।

परिवार आपका औसत हो। उसमें दो एक बच्चे अवश्य हों, अन्यथा

जीवन अन्त में एकरस हो जायगा। पर बच्चों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध अवश्य रहे।

पर ये मोटी बाते है और कल्पना की उडान बडी बारीक और ऊँची होती है। इसलिए जीवन-योजना की इस रूपरेखा में आप निश्चय ही समय-समय पर रुचि-परिवर्तन के अनुसार तरह-तरह के रग भरते जायगे।

जीवन में हास्य-विनोद का स्थान

It would be better for us to be once more a small outlandish people and yet be renowned for this spirit than to bestride the earth anh lose our lingering gloom, suspicion and hate.

—*J. B. Priestley.*

हँसी अथवा विनोद जीवन का एक महान वरदान है। क्या आपने अनुभव किया है कि आप उदास है, कोई चीज आपको अच्छी नही लगती, सब कुछ सूना-सूना लगता है, आप बीमार-सा अनुभव करते है और इसी समय आपका विनोदी मित्र आता है और विनोद की एक ही दो फुलझडियो से आप की सारी उदासी मिट जाती है, आप स्वस्थ हो उठते है, हर चीज सुहानी लगने लगती है, हर काम में एक नये उत्साह का अनुभव होने लगता है। इटली के हास्यरसावतार ग्रोवाल्डी का नाम कौन नही जानता। उसकी पुस्तकें उदास से उदास व्यक्ति को भी हँसा देती है। मानसिक चिताओवाले व्यक्ति के लिए तो उसकी रचनाएँ रामबाण औषधि है। सो एक बार ग्रोवाल्डी की ही तबियत कुछ खराब हो गई। परिवर्तन के लिए वह देहात चला गया। पर वहाँ भी उसकी तबियत अच्छी नही हुई। तब वह एक डाक्टर के पास पहुँचा। डाक्टर ने काफी परीक्षा के बाद कहा कि महाशय, आपको कोई रोग नही। आपको केवल दुश्चिता है। अकारण चिता का बोझ मन पर रखने के कारण आप रोगी-सा अनुभव करते है। इसलिए मन से चिता को बिलकुल दूर कर दीजिए और इसके लिए सरल उपाय यह है कि आप ग्रोवाल्डी की किताबें

पढिए। पढते ही लोटपोट हो जाइएगा। डाक्टर की बात सुनकर ग्रीवाल्डी इतना हँसा कि उसके पेट में बल पड़ गए। और जब डाक्टर को मालूम हुआ कि यह रोगी ही ग्रीवाल्डी है तो वह भी हँसते-हँसते लोट गया।

वस्तुत. हँसी जिन्दगी की तकलीफो का सबसे वडा इलाज है, स्वस्थ रहने का सबसे वड़ा साधन। जब आप दिल खोलकर हँसते है तो एक क्षण के लिए आप अपने सभी दर्दों को भूल जाते है और एक अपूर्व नैसर्गिक प्रवाह में तरगित होने लगते है। इसका एक बडा अनुकूल असर आपके मानसिक और शारीरिक स्नायुओ पर पडता है। हँसी-विनोद में एक क्षण के लिए आपके मन और शरीर जैसे दु खो और चिंताओ के भार को फेंक कर हल्के हो जाते है, और इस एक क्षण की विश्रान्ति में ही सुस्ता कर नई शक्ति और उत्साह पा लेते हैं। सही है कि हँसी से हम मुस्तकिल उलझनो वा समस्याओ को उड़ा नही सकते, मगर विनोद में जो एक क्षण की मुक्ति मिलती है, उससे उलझे मन को राहत जरूर मिलती है। और मानसिक मुक्ति शक्ति का स्रोत होती है। इसलिए ससार के मानसिक उपचार के शास्त्रियो ने एकमत से मानसिक उपचार में हँसी का महत्वपूर्ण स्थान माना है।

हँसी-विनोद न केवल स्वस्थ शरीर का लक्षण है वरन् स्वस्थ चरित्र का भी। व्यवहार में आप देखेंगे कि जो व्यक्ति हँसोड़ वा विनोदी होता है उसका चरित्र भी स्वच्छ और विश्वसनीय होता है तथा जिस व्यक्ति का चेहरा मुहर्रमी होता है, उसका चरित्र भी सन्देहजनक और कभी-कभी खतरनाक होता है। इसलिए कहा गया है कि आदमी की मुखाकृति उसके अन्तर की सूचिका है (face is an index to the mind)। वस्तुत. विनोदहीनता एक आन्तरिक व्याधि है। रोगी चित्त और स्वभाववाला व्यक्ति ही झुझलाया हुआ, अहकारी, क्रुद्ध अथवा व्यग्यपूर्ण चेहरा वनाए रखता है।

चूकि विनोद महच्चरित्र का लक्षण है, आप देखेंगे कि ससार की महान् आत्माएँ विनोदप्रिय हुआ करती है। भगवान् की अन्य शक्तियों के साथ उसका यह महान् वरदान भी इन्ही सृष्टि के वरपुत्रो को मिलता है। आधुनिक युग के सबसे बडे मसीहा महात्मा गाँधी कितने विनोदप्रिय थे यह किसी से छिपा नही है।

एक बार आगा खाँ भवन से छूटकर गाँधी जी वर्धा में जमना लालजी बजाज के घर पर आये। उस समय जमनालालजी के भतीजे राधाकृष्ण जी जेल में ही थे। गाँधी जी को देखकर बजाज जी की बूढी माँ ने कहा—'बापू! आप तो जेल से छूट गए। अब राधाकृष्ण को भी छुडा लाइए गाँधी ने हँसते हुए कहा—'मेरा काम जेल भेजवाना है, जेल से छुडाना नहीं' और अब सारा घर कहकहे से गूज उठा। गाँधी जी न केवल विनोदप्रिय थे वरन् सिद्धान्त-रूप में भी हँसी के महत्व को मानते थे। एक बार सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने गाँधी जी से पूछा कि आप बात-बात में, जटिल से जटिल समस्याओं पर भी, हँस क्यो पडते है। गान्धी जी फिर हँस पडे और बोले कि 'हँसी मन की गाँठें बडी आसानी से खोल देती है—मेरे मन की नहीं, तुम्हारे मन की भी।' राजेन्द्र बाबू न केवल मसविदा तैयार करने में मुन्शी है वरन् विनोद करने में भी। १९५१ की बात है। राष्ट्रपति दिल्ली विश्वविद्यालय में पधारे थे। उनके चारों ओर हस्ताक्षर लेनेवाले विद्यार्थियो की भीड थी। विद्यार्थियो को छूट थी कि वे चाहे जो लिखकर लायें, राजेन्द्र बाबू उस पर दस्तखत कर देंगे। एक विद्यार्थी को शरारत सूझी। उसने छकाने के लिए अपनी नोटबुक में लिख लिया कि 'मेरी सरकार बडी खुशी के साथ आपको स्वर्ग का गर्वनर मुकर्रर करती है।' वह बडी चुस्ती से राजेन्द्र बाबू के सामने आया और राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर भी कर यि। मगर इस बार जब उसने अपनी नोटबुक देखी तो उस पर लिखा था—'मेरी सरकार बडी खुशी से आपको स्वर्ग का गर्वनर मुकर्रर करती है, मगर अभी वहाँ जगह खाली नहीं है इसलिए आपको नरक का गर्वनर नियुक्त किया जाता है।'

जवाहरलाल जी की जिन्दादिली के क्या कहने! एक बार का किस्सा है, किसी मित्र ने उन्हें खाने पर बुलाया था। भोजन के बाद सगीत के कार्यक्रम में अब सितार बजानेवाला था। पर चूकि काफी रात हो गई थी मित्र ने जवाहर लाल से कहा—बहुत थक गए हो, जाओ सो रहो। पर जवाहरलाल जी कब माननेवाले थे। बोले—तुम फिक्र न करो। सितार सुने बहुत दिन हो गए। आज तो जरूर सुनूँगा। जवाहरलाल जी की यह रसिकता देखकर

काशी के रायकृष्णदास जी, जो उस दावत में शामिल थे, उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब का यह शेर गुनगुनाने लगे—

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के।

जवाहरलाल जी की तद्रा जैसे एकाएक फट गई, और वागवाग होकर छूटते ही बोले—ठीक कहते हो—इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया. .... ।

गाँधी जी राउण्ड टेवुल कान्फरेन्स के लिए विलायत गए थे। साथ में सरोजिनी नायडू भी थी। गाँधी जी को देखने के लिए सडक पर भीड हो गई। उनकी शक्ल और पोशाक देखकर एक लडके ने जोर से कहा—यह तो जोकर है। और, सरोजिनी नायडू ने तुरन्त जवाव दिया—विल्कुल मिकी माउस की तरह।

वस्तुत हँसी भगवान् की दी हुई महान् विभूति है। वह व्यक्ति वडा अभागा है जो वेमोल पाई हुई इस वस्तु का उपयोग नही करता। फिर आदमी को क्या हक है कि वह प्रभु द्वारा दिये गये अपने सुन्दर मुखडे को क्रोध, अहकार, ईर्ष्या इत्यादि से कुरुप वना ले। समार-प्रसिद्ध जापानी कवि नागूची ने भगवान् से प्रार्थना करते हुए यह आशीर्वाद माँगा था कि 'जव जीवन के किनारे की हरियाली सूख गई हो, चिडियों की चहक मूक हो गई हो, सूर्य को ग्रहण लग गया हो, मेरे मित्र एव साथी मुझे काँटो में अकेला छोडकर कतरा गये हों और आकाश का सारा क्रोध मेरे भाग्य पर वरसानेवाला हो, तव हे भगवान्, तुम मुझ पर इतनी कृपा करना कि मेरे ओठों पर हँसी की एक उजली लकीर खिच जाय''।

क्रातिकारी फ्रेंच लेखक वाल्तेयर ने फ्रास की राजधानी में, साहित्यकारो की सभा में भाषण करते हुए कहा था कि जो हँसता नही, वह आदमी ही नही और जो आदमी ही नही है वह लेखक नही हो सकता। इसलिए, भाइयो, अपनी छाती से ऐसी उद्दाम हँसी फूटने दो कि मनहूस चेहरे भी चमक जायें।,

इसलिए आप देखेंगे कि साहित्यकार प्राय वडे विनोदी हुआ करते हैं।

हिन्दी के जिन्दादिल कवि भारतेन्दु अप्रेल फूल्स डे मनाने के लिए क्या-क्या करते थे, यह किसी से छिपा नहीं है। प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तो हास्यावतार ही थे। और शिवपूजन जी एव प्रेमचन्द जी की हँसी का क्या पूछना। १९३६ की बात है। प्रेमचन्द जी काशी से प्रयाग आए थे, प्रयाग विश्वविद्यालय की साहित्य परिषद् का सभापतित्व करने। छात्रों द्वारा पूछे गए प्रश्नो के सिल-सिले में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था कि 'मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा है कि भगवान् मुझे मनहूसों से सदैव बचाये रखे। मनहूसियत से मेरा दम घुटता है।' संस्कृत के एक कवि की वह उक्ति लोक-प्रसिद्ध है जिसमें उसने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे भगवान् और चाहे जो हो, मगर मेरे भाग्य में यह न लिखा कि मुझे किसी अरसिक के सामने कविता पढना पड़े।

हँसी अथवा विनोद सामाजिक जीवन को बनाये रखने का एक सबल आधार है। इससे परस्पर का मनोमालिन्य मिट जाता है। घनिष्टता और प्रेम बढता है। घृणा, द्वेष, कटुता और अहंकार से सामाजिक जीवन कमजोर हो जाता है। हंसी की यह सार्वजनिक उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों में मनाये जानेवाले विनोद-पर्वों में देखी जा सकती है। पाश्चात्य देशों में 'फूल्स डे' अप्रेल की पहली तिथि को मनाया जाता है। हिन्दुस्तान में होली का त्योहार एक ऐसा ही पर्व है जिसके विनोद मे साल भर की कटुता जैसे घुलकर प्रेम के अबीर में लाल हो जाती है। हँसकर अभिवादन करना तो ससार के सभी देशों में सर्वमान्य शिष्टाचार है।

व्यक्तिगत जीवन में भी हँसी-विनोद से लाभ होता है। विनोद सफ-लता की कुजी है। आप देखेंगे कि एक हँसमुख व्यक्ति भौतिक जगत में जितना सफल होता है उतना गम्भीर वा रूआँसा चेहरावाला व्यक्ति नही। इन्टरव्यू में हँसमुख व्यक्ति ज्यादा प्रभाव डालता है। रोजगार मे वह ग्राहकों को खुश कर ज्यादा बिक्री कर लेता है। भाषण में श्रोताओं को मुग्ध कर अपनी ओर खीच लेता है। एक बार ख्यातनामा साहित्यकार किप्लिग एक दुकान पर किताब खरीदने गए। एक पुस्तक को उठाकर उन्होंने दुकानदार से पूछा कि यह कैसी है। दुकानदार ने कहा—मैंने पढी नही। किप्लिंग झझलाकर

वोले कि खरीदते समय पुस्तक को पढकर देख क्यों नही लेते कि यह चलेगी वा नही। दुकानदार ने वडे इत्मीनान से किञ्चित मुस्कुराहट के साथ कहा—श्रीमान, मान लीजिए कि आप दवाई वेचते हैं, तव क्या आप प्रत्येक दवाई वेचने के पहले, खाकर देख लेंगे। इस उत्तर से किप्लिग निरुत्तर हो गये।

एक बार मार्क ट्वेन एक सभा मे भाषण कर रहे थे। वे एक घंटे तक वोलते रहे और इस विनोदी साहित्यिक के भाषण से सारी सभा झूम रही थी। वडा सफल भाषण हुआ। ट्वेन के वाद उनके मित्र को उसी सभा में भाषण देना था। वह ट्वेन से भी अधिक विनोदी था। उसने अपना भाषण शुरू किया—सज्जनो, सभा में आने के पहले मेरे और ट्वेन के वीच यह वात तय हो गई थी कि यहाँ ट्वेन मेरा भाषण आपलोगो को सुना देंगे और उनका भाषण मैं पढ़ दूंगा। ट्वेन ने मेरा भाषण सुना दिया। अव मुझे उनका भाषण पढना है। पर, दु.ख है कि मुझसे उनके भाषण की पांडुलिपि कही खो गई है, अत. कुछ कहने से लाचार होकर मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।' फिर तो तालियों से आसमान फटने लगा और मार्क ट्वेन के लम्वे भाषण से कही अधिक आनन्द उसके मित्र का यह छोटा-सा विनोद दे गया।

मनवहलाव (हावी)

मनवहलाव या 'हावी' एक ऐसा कार्य है जिसका नियमित कर्त्तव्य या व्यापार से कोई सीधा सवध नही रहता। यह साधारणतः छुट्टी के समय किया जाता है। इसमें किसी प्रकार की विवशता नही रहती, वल्कि इसे अपनी रुचि, सुविधा और पसद से ही किया जाता है। इसे इसलिए किया जाता है कि इनसे आनंद और तृप्ति मिलती है, न कि आजीविका के साधन या आर्थिक लाभ के लिए!

'भिन्न रुचिर्हि लोक —' भिन्न-भिन्न लोगो की भिन्न-भिन्न रुचि होती है।

---

१. प्रस्तुत निवध में वर्णित अनेक घटनाओं के लिए लेखक 'नवनीत' का कृतज्ञ है।

अतः एक ही मनबहलाव सभी के लिए उपयुक्त नही हो सकता। हर आदमी अपने लिए ऐसा मनबहलाव चुनता है जो उसके लिए विशेष आकर्षण रखता है। यही कारण है कि मनबहलाव नाना प्रकार के होते है। आजकल जब सभी चीजों की उपयोगिता की कसौटी एकमात्र आर्थिक लाभ है, तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनबहलाव की जरूरत ही क्या है। यह सत्य है कि साधारणतः मनबहलाव अर्थोपार्जन की भावना से प्रेरणा नही पाता, किन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि मनबहलाव का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान नही है या कि उसकी कोई उपयोगिता है ही नही।

मनुष्य जीवन के हर क्षण में अपने को गभीर कार्यों मे व्यस्त नही रख सकता। अगर वह ऐसा करता है तो वह दब ही नही जाएगा, बल्कि उसके मन और शरीर पर असह्य भार भी पड़ेगा। ऐसा मनुष्य कुछ ही दिनो में शरीर और मन की व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अत. हर मनुष्य को विश्राम और इतमीनान की जरूरत होती है, उसे कोई न कोई ऐसा कार्य चाहिए ही जिससे वह अपने मन को अपने दैनिक कार्य-व्यापार से भिन्न दिशा मे थोड़ी देर के लिए मोड़ सके। मनबहलाव से ही यह संभव है, और इसीलिए मनबहलाव की उपयोगिता और महत्त्व है।

हमारे देश के कुछ लोगों को विश्राम के सबध में विचित्र धारणा है। वे समझते है कि विश्राम बिस्तर पर फैल कर या निठल्लेपन से ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु यह नितान्त भ्रामक धारणा है। किसीने ठीक ही कहा है कि काम का न रहना विश्राम नही है। इस प्रकार के विश्राम से दिमाग खोखला हो जाता है, आलस्य घिर आता है और यह अँगरेजी कहावत तो प्रसिद्ध ही है कि आलसी का दिमाग शैतान का कारखाना होता है। जिसको कोई खास मनबहलाव नही होता, उसके जीवन के खाली क्षण उसके लिए दूभर हो जाते है। अत. यह उचित है कि सभी किसी न किसी मनबहलाव को अपनाएँ।

दुर्भाग्य यह है कि भारतीय, साधारणत., वास्तविक मनबहलाव की आवश्यकता ठीक-ठीक नही समझते। इस देश के अधिकाश निवासी, वे बूढे हो

या जवान, दूसरों की पीठ पीछे निंदा करने या गप्प लडाने को ही विश्राम का साधन मानते है। किन्तु इस तरह के कार्यों को असली मनबहलाव नही कहा जा सकता।

ससार में जो विविध मनवहलाव प्रचलित है उनमें पुराने डाक-टिकटों, पुराने सिक्कों, पुरानी चीजों, महापुरुषो के हस्ताक्षरो, चित्रो, आदि का संग्रह और मछली मारना तथा वागवानी करना प्रमुख है। मनवहलाव गरीब लोगों के लिए ही होते है, ऐसा नही समझना चाहिए। इसके विपरीत ऐसे महापुरुष, जिनके नाम इतिहास में अमर हो चुके है, अपने उन मन-बहलावों के लिए प्रसिद्ध रहे है जिनके सहारे वे अपने जीवन की एकरसता को दूर किया करते थे। उदाहरण के लिए इंग्लैंड के राजा पचम जार्ज पुराने डाक-टिकटों के सग्रह में रुचि रखते थे, इसी देश के एक प्रधान मंत्री लायड जार्ज का मनवहलाव खेती था और एक दूसरे प्रधान मत्री चर्चिल का मनवहलाव ईंट जोडना और चित्र बनाना है।

यद्यपि किसी खास चीज में अपनी रुचि को परितृप्ति प्रदान करना ही मनवहलाव का लक्ष्य होता है, फिर भी कभी-कभी मनवहलाव अनायास ही वहुत लाभदायक भी सिद्ध हो जाता है खासकर डाक-टिकटों या पुरानी वस्तुओं के संग्रह के मनबहलाव। डाक-टिकट या सिक्के जितने ही पुराने होते है उतने ही वहुमूल्य उनके सग्रह वन जाते है, और कभी-कभी उन्हें काल्पनीय धन-राशि देकर लोग खरीदते है। उदाहरण के लिए पचम जार्ज के डाक-टिकटों के सग्रह का मूल्य कई हजार पाउड कूता जाता था। एक दुर्लभ भारतीय टिकट, जो १८५४ में छपा था और जिस पर भूल से रानी विक्टोरिया का मुख उल्टा आ गया था, लदन में ७२५ पाउण्ड देकर नीलाम में खरीदा गया था। जहाँ तक हस्ताक्षरों का प्रश्न है, उनका मूल्य हस्ताक्षर करने वाले के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इस प्रकार के वहुमूल्य सग्रहों के स्वामी वहुधा किसी मूल्य पर अपने सग्रहो को बेचने के लिए राजी नही होते।

ऐसे मनवहलावो का शिक्षात्मक महत्व भी कम नही है। क्योंकि वे

छोटे पैमाने पर संग्रहालय या चित्रशाला के समकक्ष ही तो होते हैं। उनके सहारे हमें उस युग की झाँकी मिल जाती है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके आधार पर अध्ययन और शोध के महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकते हैं। मनबहलाव के महत्त्व के संबंध में किसी ने क्या ठीक कहा है, "आप डाक-टिकटों से शुरू कर सकते हैं और आप यह पा सकते हैं कि आप महादेशों के बारे में सोच रहे हैं। आप सिक्के इकट्ठे करते होंगे, पर आप यह अनुभव कर सकते हैं कि उन पर इतिहास अंकित है। आप मधु-मक्खियों से शुरू कर जीवन के विज्ञान पर जाकर रुकते हैं। रस्किन नामक अँगरेज विद्वान् ने चित्रों का संग्रह शुरू किया और पाया कि उन्ही के सहारे वह अर्थशास्त्र और अन्य अनेक विषयों तक पहुँच गया।"

समय का मोल

अंग्रेजी में एक उक्ति है—'समय ही धन है।' बात भी सही है। समय के सदुपयोग से धन-लाभ होता है और उसके दुरुपयोग से धन-नाश होता है। आपने सुना होगा कि अमुक मारवाड़ी एक पीतल का लोटा लेकर कलकत्ते में आया और देखते ही देखते करोड़पति बन गया। यह भी सुना होगा कि अमुक जमींदार वा नवाब के शराबी, कुमार्गी और आलसी बेटे ने अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति बेच डाली और एकाएक कंगाल हो गया। होना भी यही था क्योंकि एक ने समय का उपयोग किया और दूसरे ने दुरुपयोग। संक्षेप में, समय पर ही धन की वृद्धि वा नाश निर्भर करता है।

पर समय धन से भी अधिक मूल्यवान है। नष्ट हुआ धन उद्योग से वापस हो सकता है किन्तु गया हुआ समय किसी भी मोल पर लौटाया नहीं जा सकता। बिगड़ा स्वास्थ्य संयम, औषधि एवं सुपथ्य से अच्छा हो सकता है और खोयी हुई स्वतन्त्रता शक्ति एवं बलिदान से लौट सकती है पर बीता हुआ समय वापस नहीं आ सकता। हमारे जीवन का जो क्षण-क्षण बीत रहा है, वह हमसे टूटकर सदा के लिए अलग होता जा रहा है। वह बारबार हमसे कह रहा है कि यदि समय

का लाभ उठाना हो तो उठा लो, नही तो वह फिर कभी लौटकर नही आयेगा, नही आयेगा। लेकिन यह जीवन की कैसी विडम्बना है कि मनुष्य धन रहते, धन के मूलस्रोत, सफलता के मूल कारण और आनन्द के मूल आधार-समय को नही पहचान पाता, उसका महत्त्व नही समझ पाता, उसके मूल्य को आँक नही सकता। वह समय का मूल्य तब समझता है जब वह निर्धन और कगाल हो जाता है, जब उसके सगी-साथी उसे छोड़कर अलग हो जाते है, जब सभी उससे मुह मोड लेते है और जब सुख के सभी साधन छिन जाते है। पर इस समय जब मनुष्य की आँखें खुलती है तो वह पाता है कि काफी देर हो चुकी है। उसकी शक्ति और साहस नष्ट हो चुके है। उसका आलस्य इतना बढ चुका है कि दूर होने का नही। उसकी बुरी आदतें इतनी दृढ हो गई है कि उनसे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। उसके लिए पछताने के अतिरिक्त और कुछ नही है। यदि जीवन के आरम्भिक दिनों से ही वह अपने समय का थोडा हिस्सा भी अच्छे कामों में लगाता तो उसकी यह दशा न हो पाती और वह दुनिया के लिए एक उपदेश छोड जाता। उसका सदेश यही है कि जीवन के उत्थान और पतन समय के उपयोग पर निर्भर है। समय मनुष्य का मित्र और शत्रु दोनों है। यदि उसका आदर किया गया तो वह मित्र बन कर आदमी की मदद करता है और यदि उसका अनादर हुआ तो वह शत्रु की तरह आदमी का धन-यश नष्ट कर देता है।

इसलिए मनुष्य को जीवन के आरम्भकाल से ही समय का सदुपयोग सीखना चाहिए। समय बीत जाने पर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ शेष नही रहेगा—'गया वक्त फिर हाथ आता नही'। कबीर ने ठीक ही कहा है कि—

काल करो सो आज कर, आज करो सो अब।
पल में परलय होत है, बहुरि करोगे कब॥

वस्तुतः जो उन्नति का अभिलाषी है, उसे कल के काम को आज ही और आज के काम को अभी कर लेना चाहिए। जाने किस वक्त क्या कठिनाई आ जाये और काम न हो। जो आज के काम को कल के लिए छोडते है, उनका काम प्रायः सदा के लिए छूट ही जाता है। अगर खेतिहर समय पर खेत न

जोते तो उसका खेत उखड जाता है और फसल अच्छी नहीं हो पाती। यदि समय पर खेत में पानी न डाला जाय तो भी उसकी यही दशा होती है। समय का चूका आदमी कभी पनप नही पाता। जीवनदर्शी गोस्वामी तुलसी दास जी ने अपनी अमर कृति 'राम चरित मानस' में कहा है कि—

का बरखा जब कृषि सुखानी।

समय चूकि पुनि का पछितानी।।

अंग्रेजी में एक कहावत है—लोहे पर तभी चोट दो जब वह लाल रहे (Strike while the iron is hot)। मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते है जिनमें सफलता की सम्भावनाएँ भरी होती है। जो उस मौके से फायदा उठाता है सफल हो जाता है जो चूक जाता है, असफल ही रहता है। नेपोलियन ने आरकोला की लड़ाई मात्र पच्चीस घुडसवारों से जीती थी। इस जीत का रहस्योद्घाटन करते हुए उसने कहा था—'शत्रु आलस्य में पडा था। मैंने सोचा, इस अवसर को हाथ से जाने नही देना चाहिए और चढाई कर दी। इसी का फल हुआ कि हमें विजय मिली।' आस्ट्रिया पर होनेवाली नेपोलियन की विजय में भी समय का बडा हाथ था। नेपोलियन ने स्वीकार किया था कि—'आस्ट्रिया की सेना को समय की परवाह न थी, इसीलिए मैं उसे हरा सका। जब वह अपना समय बेकार गँवा रही थी, हमें एक अच्छा मौका मिला और हमने उसे हरा दिया।' शिवाजी ने ऐसे ही मौके का उपयोग कर शाइस्ता खां को हराया था। नेपोलियन का यह वाक्य चिरस्मरणीय रहेगा कि—'एक पल भी खो देने से विपत्ति को आने का अवसर मिल जाता है।' यदि हम चाहते है कि विपत्ति न आवे तो हमें एक पल भी व्यर्थ नही खोना चाहिए। समय एक ऐसा खेत है जिसमें अवसर पर जुताई किये विना बीज नही उगते और परिश्रम किये बिना फसल नही होती। यह ऐसा खेत है जो समयनिष्ठ और उद्यमी किसान को कभी निराश नही करता और आलसी एव निरुद्यमी व्यक्ति को कभी सुख नही देता। जिस तरह खेत की सेवा करने पर उसमें अच्छी फसल होती है और उसे यों छोड देने पर, उसमें घास और

काँटे उग आते हैं उसी प्रकार समय का ध्यान रखने पर मनुष्य सुख पाता है और उसकी उपेक्षा करने पर दुःख भोगता है।

नेलसन जैसा पराक्रमी आदमी कहा करता था कि 'मेरी सम्पूर्ण सफलता का श्रेय केवल इस बात को है कि किसी काम को करने के लिए निश्चित समय से १५ मिनट पहले तैयार हो जाता हूँ।'

समयनिष्ठता शील का चिन्ह है। इससे आदमी लोकप्रिय और विश्वास-पात्र बनता है। यदि आप वादा करके अपने मित्र से नियत समय पर नहीं मिलते, तो उसका विश्वास आप पर से उठ जाता है। यदि आप समय की पाबन्दी नहीं मानते तो लोग आपको अविश्वास की दृष्टि से देखेंगे। आप उनकी नजर में झूठे साबित होंगे। आपके चरित्र पर व्यर्थ ही संदेह किया जायगा। इस प्रकार समयनिष्ठता (Punctuality) मनुष्य के व्यक्तित्व (Personality) के लिए उत्तरदायी होती है। संसार के महान व्यक्तित्वों ने समय का मोल जाना है। गाँधीजी नियत समय पर उठते, टहलते, बातचीत करते, पढते, खत लिखते और प्रार्थना करते थे। चाहे कैसा भी आदमी उनसे मिलने आये उसका समय निश्चित रहता था और समय समाप्त होते ही उसे उठ जाना पड़ता था। जो ऐसा नहीं करते थे, उसे वे घड़ी दिखाकर इस बात की याद दिला देते थे। फ्रांसीसी सम्राट् चौदहवाँ लुई के शब्दों में 'समयनिष्ठता राजाओं का शील (politeness) है।' इस सम्बन्ध की थोडी-सी असावधानी भी कभी-कभी घातक सिद्ध हो जाती है। यदि रोगी की दशा खराब हो और नियत समय पर दवा न दी जाय तो उसकी क्या दशा होगी? अमेरिका के मसीहा जार्ज वाशिंगटन विश्व-विश्रुत व्यक्ति हो गये हैं। एक बार उनके मंत्री कुछ देर से आये। वाशिंगटन के पूछने पर उन्होंने कहा कि 'हमारी घड़ी कुछ सुस्त चल रही थी।' किन्तु वाशिंगटन उनके बहाने से संतुष्ट न हुए और बोले—'या तो आप दूसरी घडी रखें या मैं दूसरा मंत्री रखूँ।'

प्रतिदिन के व्यवहार में भी समयनिष्ठता का महत्त्व कम नहीं है। आपको किसी जरूरी काम से जाना है। आप तैयारी करने में कुछ देर कर देते हैं, आपकी गाडी छूट जाती है और आपका वह आवश्यक काम हो नहीं पाता।

आपको बीमारी हो गई है। आप उसकी परवाह नही करते और देखते-देखते वह भयानक रूप धारण कर लेती है। आप वर्षके आरम्भ से नही पढते और जब परीक्षा निकट आती है तब रात-रात भर जगने लगते है। नतीजा होता है कि न परीक्षा की पूरी तैयारी हो पाती है और न स्वास्थ्य ही ठीक रहता है।

स्वास्थ्य के लिए भी समय की नियमितता आवश्यक है। नियत समय पर उठने, खाने और सोने से सेहत ठीक रहती है। इनके व्यतिक्रम से तन्दुरुस्ती बिगड जाती है। अग्रेजी में एक सुभाषित है कि सबेरे उठने और सबेरे सोने से आदमी स्वस्थ, समृद्ध और बुद्धिमान होता है। सबेरे उठने से सुबह की अच्छी हवा मिलती है, जिससे मन मे ताजगी आती है। फिर काम करने का भरपूर समय मिलता है। जो समय को नही पहचानते, देर तक सोते है उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है और वे सदा निरुत्साह रहते है। ज्यादा वक्त सोने में बिता देने के कारण, वे दिन के सभी काम पूरे नहीं कर पाते। वे हड़बडी में रहते है और कोई भी काम ठीक से नही कर पाते। हडबडी का काम ही शैतान का होता है। एक कहावत है—'सोये सो खोये जागे सो पाये।' इसलिये हमें जाग्रत रहना चाहिए, समय के प्रति जाग्रत। समय का रथ अबाध गति से बढता जा रहा है। हमे उस पर सवार होना है ताकि जल्द से जल्द उन्नति और विकास की मजिलें तय कर सकें।

एक लड़ाई में पिता और पुत्र एक ओर लड रहे थे। पुत्र ने पिता से कहा—पिता जी, हमारी तलवार छोटी है। पिता ने धीरता से कहा—बेटा, एक डेग आगे बढकर वार करो।

इस छोटे-से प्रसग से एक बडी नसीहत मिलती है। मनुष्य को सदा समय के मामले में दूसरों से एक कदम आगे रहना चाहिये। ऐसा करने से, शक्ति और साधन कम रहने पर भी वह दूसरो से अधिक सफलता प्राप्त करेगा।

सफलता के उपाय : इच्छा और उद्योग

एक बार आइस्टीन कोलम्बिया युनिवर्सिटी में दीक्षात भाषण देने गए थे। भाषण की समाप्ति पर विद्यार्थियों ने उनसे नम्रतापूर्वक प्रश्न किये। एक विद्यार्थी ने पूछा—सफलता का सरल नुस्खा क्या है ? आइस्टीन ने किंचित मुस्कुराहट के साथ कहा—A (सफलता)=X (काम) +Y (मनोरंजन) +Z (मौन)।

आइस्टीन के 'X' का तात्पर्य काम अर्थात् कर्म से है। पर हमें काम शब्द अधिक रुचता है क्योंकि भारतीय साहित्य में काम के दो अर्थ हैं (१) कामना और (२) कर्म। ये दोनों सफलता के लिये आवश्यक हैं। किसी भी काम के पहले मन में उसकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब वही इच्छा बलवती हो जाती है तब मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इच्छा ही मनुष्य को क्रियाशील बनाती है। इच्छा के अभाव में मनुष्य शिथिल और पंगु हो जाय। जिसके मन में इच्छा नहीं, वह करेगा क्या ? संसार का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी इच्छा से चल रहा है, हमारा प्रत्येक कर्म किसी न किसी इच्छा से अनुप्राणित है। किसी को धन, किसी को पद, किसी को यश, किसी को विद्या की लालसा है। गरज यह कि हर कोई अपने भीतर लालसा पाल रहा है और उसके लिये सचेष्ट है। हिन्दी के प्रियदर्शी कवि पंत ने ठीक ही कहा है—

इच्छा है जग का जीवन।

किन्तु सहज इच्छा का तो कोई अर्थ नहीं। ऐसी इच्छा तो मनुष्य-मनुष्य में है। फिर उसे सफलता की जरूरी शर्त क्यों मानी जाय। पर नहीं; इच्छा से हमारा तात्पर्य सदिच्छा, सम्पूर्ण इच्छा, वा उत्कट इच्छा से है। मन में तो हजारों इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। कुछ ऐसी होती है जो कुछ काल के लिये उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाती है। ऐसी इच्छाएँ साधक नहीं बाधक होती हैं क्योंकि इनसे मनुष्य के मन की शान्ति भंग होती है, एकाग्रता टूटती है, चंचलता एवं अशान्ति आती और कुछ लाभ नहीं होता। विवेक की कसौटी पर ऐसी

इच्छा टिकती नहीं; भाग जाती है, अपने प्रति वितृष्णा उत्पन्न करके। परीक्षा में चोरी करने की इच्छा, बिना टिकट चलने की इच्छा, विवाहित स्त्री से प्रेम की इच्छा इत्यादि ऐसी ही इच्छाएँ हैं। लेकिन पूर्ण इच्छा वह है जो उत्पन्न होकर विलीन नहीं होती। विवेक से उसे बल मिलता है। कठिनाइयों से उसमें उत्साह आता है। किसी अच्छे काम करने की इच्छा इसी कोटि की होती है। ऐसी इच्छा यदि उत्कट हुई तो वह जरूर फलवती होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि जिस वस्तु पर मनुष्य का सच्चा स्नेह होता है वह उसे अवश्य प्राप्त होती है—

जापर जाके सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलहिं न कछु सन्देहू।

सतों का कहना है कि आदमी जैसा सोचे वैसा हो सकता है, जो चाहे बन सकता है। इच्छाशक्ति में दैवी गुण होता है, ऐसा कि मनुष्य यदि सच्चे हृदय से किसी वस्तु की कामना करे तो वह कालान्तर में प्राप्त हो जाती है। यह तो एक साधारण बात है कि इच्छानुसार अभ्यास करके आदमी सुशील, सुचरित्र और उदार हो सकता है एवं अपनी खराब आदतों को छोड दे सकता है। अगर हम सकल्प कर लें कि सिगरेट न पीयेंगे, शराब न छूयेंगे तो पल मारते ही ऐसा कर सकते है। इच्छा शक्ति की अनेक कहानियाँ प्रचलित है। ऐसे ही कहानियों में एक बढई की कहानी है। एक समय वह बड़े मनोयोग से किसी न्यायाधीश के लिए एक सुन्दर एव मजबूत कुर्सी बना रहा था। उसे इस प्रकार काम करते देख किसी ने इसका कारण पूछा। उसने कहा कि मैं इस कुर्सी को इतनी मेहनत एव सावधानी से इसलिए बना रहा हूँ कि 'यह काफी दिनों तक रहे ताकि मैं भी इस पर बैठ सकूं। कहते है कि वह बढ़ई आगे चलकर सचमुच न्यायाधीश बना और उसी कुर्सी पर बैठा। पाश्चात्य साहित्य में पेगमिलियन की कहानी प्रसिद्ध है। उसने एक औरत की मूर्त्ति बनाई। जब मूर्त्ति पूरी हुई तब वह सजीव होकर वास्तव में स्त्री बन गई और पेगमिलियन ने उससे शादी कर ली। जानकारों का कहना है कि वह व्यक्ति

पहले से ही एक औरत से प्रेम करता था और उसी की मूर्ति उसने वनाई थी। भारतवर्ष में एकलव्य और कवीर की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। एकलव्य की इच्छा वाणविद्या में निपुण वनने की थी। द्रोणाचार्य उसे शिष्य नही वना पाते थे। किन्तु एकलव्य की इच्छा वडी उत्कट थी। उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्त्ति वनाई और उसी से प्रेरणा लेकर वाण-विद्या में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। कवीर रामानन्द जी से दीक्षित होना चाहते थे, पर जाति के जुलाहा होने के कारण अपनी इच्छा पूरी करने में सफल नही हो रहे थे। एक दिन उन्हें एक वात सूझ गई। रामानन्द जी ब्रह्मवेला में गगा-स्नान करने जाया करते थे। एक दिन उनके आने के पहले ही कवीर दास जी घाट की सीढियों पर लेट गए। जव रामानन्द जी आए तो उनका पाँव कवीर की देह पर पड़ गया। उन्होंने 'रामराम' कहते हुए अपने पाँव खीचे। कवीर बोल उठे—महाराज, अव तो मैं आपका शिष्य हो गया। आपने अभी-अभी हमें रामनाम का गुरुमत्र दे दिया है। रामानन्द जी भी प्रसन्नता से मुग्व हो गए। महाभारत की लड़ाई में भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की थी कि आज भगवान् कृष्ण को (जो शस्त्र न धारण करने की शपथ ले चुके थे) शस्त्र-ग्रहण करने पर मजवूर करूगा और उनकी इस सच्ची आत्मा से निकली हुई इच्छा के समक्ष भगवान् को अपनी प्रतिज्ञा तोडनी पडी। ऐसी ही इच्छाओं के लिए कहा गया है कि—जहाँ चाह वहाँ राह। यदि इच्छा उत्कट है तो कोई न कोई राह निकल ही आती है। भारतवर्ष में अनेक ऐसे महान् व्यक्ति हो गए हैं जो पढ़ने की इच्छा से, विना पैसे के ही घर से भाग निकले हैं और अन्ततोगत्वा महान् हो गए हैं। जयप्रकाश नारायण जव अमेरिका में थें तव उन्हें साधारण होटल में काम करना पड़ता था और वे प्रायः अत्यन्त साधारण भोजन करके अध्ययन करते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का उदाहरण भी ऐसा ही है। तात्पर्य यह कि मनुष्य में आगे वढ़ने की उत्कट आकांक्षा होनी चाहिए। जो अपनी स्थिति से सतुष्ट है, जो 'तेल न सही तलछट ही सही' वाला सिद्धान्त मानता है, वह आगे नहीं वढ़ सकता, महान् नही हो सकता। इच्छा तो मनुष्य की मूल प्रेरणा है। संस्कृत के एक श्लोक के अन्तिम शब्द 'संतुष्टश्च महीपति'। अर्थात् जो

राजा संतोषी हुआ, उसका नाश ही समझिए। राजा को तो महत्वाकाँक्षी होना चाहिये। राजा को क्यों, प्रत्येक राष्ट्र को, प्रत्येक मनुष्य को महत्वाकांक्षी होना चाहिये।

पर ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को सफलता तभी मिलती है जब उसमे उत्कट अभिलाषा और उद्यम करने की क्षमता हो। परिश्रम के अभाव मे इच्छा कोरी कल्पना बन जाती है। ऐसे दिवास्वप्नों से लाभ नही। सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी इच्छा स्थिर कर लेनी चाहिये। हवा में सूखे पत्तों की तरह डोलने से फायदा नही। उसे अपना लक्ष्य स्थिर कर लेना चाहिये। बस्सटन नामक सुप्रसिद्ध विद्वान ने अपने बेटे को एक पत्र में लिखा था—'अब तुम जिन्दगी के एक ऐसे मोड़ पर आ गए हो जहाॅ से तुम्हें दायें या बायें मुड़ना है। यहाँ तुम्हें अपनी इच्छा-शक्ति का, अपने सकल्प का, अपने निश्चित उद्देश्य का प्रमाण देना पडेगा। यदि ऐसा न कर सके तो गिर जाओगे और फिर उठना कठिन होगा। मेरा अपना विश्वास है कि नवयुवक जैसा चाहे, इच्छा से बन सकता है। मेरे जीवन में यह बात प्रमाणित हो चुकी है। तुम्हारी उम्र में मैंने जो सकल्प किया था उसी का परिणाम है मेरा सुख, मेरी उन्नति। अगर तुम भी अभी कर्म का सकल्प कर लो तो तुम्हें भी जीवन भर यह सोचकर आनन्द मिलेगा कि हमने सकल्प किया और उसे निभाया।'

जब संकल्प निश्चित हो जाय, तो पूर्ण शक्ति के साथ उसकी पूर्त्ति में मनुष्य को लग जाना चाहिये। संसार में कई तरह के अभिलाषी जन होते हैं। कुछ तो ऐसे होते है जो इच्छा करते है, पर हाथ-पाँव हिलाना नही चाहते। कुछ ऐसे होते है जो इच्छा-पूर्त्ति के लिये कर्म करना आरम्भ तो करते है पर कठिनाई आने पर काम छोड देते है। पर कुछ ऐसे व्रती भी होते है जो अपने सकल्प पर प्राणों की बाजी लगाकर बढते जाते है। उन्हें इस बात की परवाह नही होती कि उनके मार्ग में कितने कटक है, कितनी खाइयाँ है, कितनी कठिनाइयाँ है। ऐसे ही व्यक्ति सफलता प्राप्त करते है। नेपोलियन कहा करता था कि 'सही मानी में वही व्यक्ति चतुर है जो दृढ संकल्प करना जानता है।' नेपोलियन स्वयं दृढ संकल्प का प्रतीक था। जो इच्छा करता उसे पूरी

करने में वह दिनरात एक कर देता था। तभी तो विजय उसके चरणों में लोटती रही। एक बार इटली पर उसे चढाई करनी थी। मार्ग में आल्प्स-जैसा पहाड था। सलाहकारों ने कहा—आगे आल्प्स है, उसे पार करना असम्भव है। लेकिन नेपोलियन ने यह कहते हुए कि 'आल्प्स नही रहेगा' अपना घोडा बढा दिया और देखते ही देखते सेना के साथ पार उतर कर इटली पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार इच्छा के साथ जब उद्योग का मेल होता है तब विजय निश्चित हो जाती है।

सही है कि मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती है और कभी-कभी असफलता भी होती है। पर ऐसी असफलताओ से सूरमा घबड़ाते नही। असफलता तो सफलता का निर्देशक है। असफलता मनुष्य की कमजोरियों को दिखाती है। जो दृढ-सकल्प है वह असफलता में अपनी त्रुटियो को पढ़ता है, असफलता के कारणो को जानता है और इस प्रकार विजय प्राप्त करने की नये सिरे से, अधिक होशियारी के साथ तैयारी करता है। असफलता वह पाठशाला है जिसमें आदमी जीवन के अनुभवों की सीख ग्रहण करता है। दृढ-सकल्प धीर हुआ करते है। वे उस लोहे के तवे की तरह नही होते जो थोड़ी आँच से गर्म और थोड़ी ठढक से सर्द हो जाता है। वे तो उस समुद्र की तरह धीर और गम्भीर होते है जिसके अन्तर्प्रवाह पर प्रलयकर प्रभजनो के प्रकोप का भी कोई प्रभाव नही पड़ता। लगड़ा तैमूर इक्कीस बार की चढाइयों के बाद जीता था। साधारण व्यक्ति उसकी जैसी असफलताओं से घबरा जाता। विगत महायुद्ध के आरम्भ में मित्र राष्ट्रों की हार होती गई, पर वे धीरतापूर्वक, चौकसी के साथ लड़ते रहे और अन्त में विजय उन्ही के हाथ लगी। गाँधीजी को सत्याग्रह में अनेक विफलताएँ मिली। कभी उन्हें सत्याग्रह बन्द करना पड़ा, कभी उसका तरीका बदलना पड़ा। पर उन्होंने हिम्मत नही हारी और स्वराज्य के सकल्प को अपने जीवन-काल में ही साकार कर लिया। जेम्स वाट (वाष्प के इजन का आविष्कारक) और आर्कराइट जैसे सुप्रसिद्ध आविष्कारकों को भी कम कठिनाइयो का मुकावला नही करना पड़ा। एक बार तो कुछ लोगो ने आर्कराइट के सूत काटने के मेशीन को नष्ट ही कर दिया था। किन्तु वह अपने

संकल्प पर दृढ़ रहा और अपने उद्योग से अपार ख्याति पा सका। सफलता के लिये धीरता का होना आवश्यक है। खेतिहर को भी बीज लगाकर महीनों तक फसल के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वृक्ष रोपनेवाले बागवान् को फलों के लिये वर्षो की बाट जोहनी पड़ती है। बड़े काम तत्काल नही होते। ताजमहल और कोणार्क क्षणों या दिनों में नही बन सके थे। वर्षो तक धैर्यपूर्वक होनेवाले परिश्रम के परिणामस्वरूप ही ऐसी महान् वस्तुएँ तैयार होती है। स्टीफेनसन को रेल का इजन बनाने में पन्द्रह साल और जेम्सवाट को भाप का इजन बनाने में तीस साल लगे थे। मैथिली शरण जी को साकेत लिखने में बारह वर्ष लगे। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' जैसे उपन्यास की पाडुलिपि कई बार तैयार की और नष्ट कर दिया। वे वर्षों तक उसका सम्पादन करते गए। तभी तो वह ऐसा बन सका। कारलाइल फ्रास की क्राति का इतिहास लिख रहा था। एक बार उसकी दासी ने भूल से उसकी पाडुलिपि का एक भाग आग में डाल दिया। लेकिन कारलाइल ने धैर्य नही छोडा।

इस प्रकार इच्छा और उद्योग सफलता के मूल मत्र है। सकल्पपूर्ण इच्छा करने और धीरतापूर्वक उसकी पूर्त्ति के लिए उद्योग करने से सफलता का मिलना अवश्यम्भावी है। एकबार शस्त्र-परीक्षा के अवसर पर जब कर्ण के प्रति अपमान प्रकट किया गया था तब उसने सिंहगर्जन किया था—'दैवायत्त कुले जन्म ममायत्त हिं पौरुषम्।' उसके ये वचन आज भारतीय राष्ट्र का नारा बनने योग्य है। सकल्प और पौरुष सब कुछ कर सकता है। कहावत है 'करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।' फिर प्रतिभा-शालियों का क्या कहना? मगर उसके लिए सूरमा होने की जरूरत है। सफलता उसी को मिलेगी जो सकल्प पर सब कुछ न्योछावर कर देने को तैयार होगा। शकर के माथे पर अमृत है, उनके कठ में जहर है। शकर की मूर्त्ति बतलाती है कि अमृत उसे ही मिलेगा जो जहर पीने को तैयार रहेगा। जो अपनी उगली पर तलवार पिजाते है, वही सुभट्ट होते है। गगा को पृथ्वी पर भगीरथ ही उतार सकते है क्योकि उनमें दृढ़ इच्छा और उसकी पूर्त्तिके लिए वर्षों तक तपस्या करने और दु:ख झेलने की क्षमता है।

स्वावलम्बन और आत्मविश्वास

'भगवान् उन्ही की सहायता करता है, जो स्वय अपनी सहायता करते है'—यह एक सुप्रसिद्ध सुभाषित है और आज का युग इस उक्ति को प्रमाणित कर रहा है। कोई समय था जब राजा, धनी एव समृद्ध व्यक्तियों की सतान बिना उद्यम किये ही जीवन के सुखो का उपभोग कर लेती थी और लोग कर्म से भाग्य को बडा मान सकते थे। किन्तु आधुनिक युग ने उनकी कल्पनाओं को ढाह दिया है। आज का युग साम्यवाद का, सर्वोदय का युग है। जन्मजात स्वामित्व अब नही मिलने का। सामतवाद और पूंजीवाद अब नही रहेंगे। आज 'भूदान यज्ञ' हो रहा है और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। तात्पर्य यह कि आज कर्म करने से जीवन के मनोरथ पूरे होगे, भाग्य के भरोसे रहने से नही। आज "उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः' वाला सिद्धान्त पूर्णरूप से सत्य सिद्ध हो रहा है।

आज स्वावलम्बन जीवन की सफलता की कुजी है। यह मनुष्य की उन्नति की पहली सीढी है। जो भाग्य के भरोसे बैठेंगे वे बैठे ही रह जायेंगे। जो दूसरों की ओर मदद के लिये देखेंगे, देखते ही रह जायेंगे। आज दुनिया में प्रतिस्पर्द्धा की भावना सीमा को छू रही है। हरेक आदमी, हरेक देश, हरेक राष्ट्र अपना रास्ता बनाने में व्यस्त है। किसी के पास दूसरो की ओर देखने के लिए समय नही है। इसलिए आज दूसरों की ओर मे मदद की आशा रखना दुराशा मात्र है। फिर दूसरो की ओर देखने से एक और बुराई होती है। आदमी परमुखापेक्षी हो जाता है। वह स्वय कुछ नही कर सकता। स्वय कुछ करने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। अपने आप में, अपनी बुद्धि में, अपने पराक्रम में उसका विश्वास नही होता। ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी कुछ कर नही पाता। वह तो सदा दूसरों के हाथ का खिलौना बना रहता है। उसके भीतर हीन-मनोवृत्ति (Inferiority Complex) चली आती है। ऐसा आदमी अपने उद्यमी साथियों से सदा पिछडा रहता है। फिर अपने कर्म के

फल से मिलनेवाला जो आह्लादकर आनन्द होता है उसका वह भागी नहीं होता। वह मालिक के दानों पर पलनेवाला पक्षी है, जो वृक्ष की डालियों पर लगे ताजा फलों का स्वाद नही जानता। ऐसा व्यक्ति हाथ रहते बेहाथ, पैर रहते लगडा, आँख रहते अन्धा और विवेक रहते अविवेकी है। वह न तो अपना कल्याण कर पाता है और न परिवार, देश वा विश्व का। वह तो समाज का एक बेजान बोझ है। ऐसा व्यक्ति समाज वा परिवार में कभी आदर नहीं पाता।

हम वर्षों तक परतन्त्र रहे और हमारी गुलामी के अनेक कारण थे—बैर-फूट इत्यादि। पर, जो सबसे बडा कारण था, वह यह था कि हममें स्वावलम्बन की मात्रा प्राय. नही रह गई थी। इसके लिए अग्रेजो ने षड्यन्त्र भी किये थे। उन्होने हमारे परिवार को नष्ट कर दिया था। हिंदुस्तान से वे कच्चे माल—रूई, लोहा, अबरख, लाह इत्यादि अपने देश में ले जाते थे और हमारे लिए फिर उन्ही से बने पक्के माल भेज देते थे, जिन्हें हमें काफी पैसे देकर खरीदना पडता था। परिणाम यह हुआ कि हमें कपडे-लत्ते, औजार-मशीन, यहाँ तक कि पैसे में पचीस बिकनेवाली सुइयों के लिए भी उन्ही पर निर्भर करना पड़ता था। उन्होंने अग्रेजी शिक्षापद्धति का प्रचार किया। इसके कर्णधार मैकॉले ने अपने एक गुप्त पत्र में लिखा था कि यदि यह शिक्षा चल गई तो हिन्दुस्तानियो के कपाल पर पुश्त-दरपुश्त के लिए गुलामी का पट्टा बँध जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। अंग्रेजी शिक्षा देने वाले विद्यालय गुलाम पैदा करने के कारखाना बन गए। विद्यालयों से निकलनेवाले स्नातक घर-गृहस्थी के काम-काज लायक भी नही रह गए। नौकरी, खास कर किरानीगिरी के सिवाय उनके पास दूसरा चारा नहीं था। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करके वे उसी शासन-व्यवस्था के पुर्जे बन जाते थे, जो सम्पूर्ण देश को पीस रही थी। गान्धी जी ने इस त्रुटि को पहचाना था। इसलिए वे बुनियादी शिक्षा के पक्षपाती थे। बुनियादी शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को इस लायक बनाया जाता है कि आरम्भ से ही वह अपनी कमाई से शिक्षा चलाये ताकि उसमें स्वावलम्बन की भावना आये और शिक्षणालय से बाहर

निकलकर दुनिया में आने पर परमुखापेक्षी न हो। गाँधी जी ने प्रत्येक देशवासी को सूत कातकर कपड़े बुनने का आदेश भी इसीलिए दिया था कि हम में स्वावलम्बन आये, और हम विलायत से ध्यान हटाकर अपनी ओर देखें, अपनी ताकत को पहचानें।

आज हम स्वतन्त्र है, पर इसलिए स्वावलम्बन की हमें और अधिक आवश्यकता है। जबतक हम अपने देश में कृषि, उद्योग, हथियार, मशीन, इत्यादि तैयार करके इसे स्वावलम्बी नही बना देते, तबतक हमारी स्वतन्त्रता स्थायी नही हो सकती। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनो के लिए स्वावलम्बन उन्नति की पहली शर्त्त है।

स्वावलम्बन के लिए आत्मविश्वास का होना जरूरी है। आत्मविश्वास के अभाव में आदमी स्वावलम्बी नही हो सकता। जिस आदमी का अपने आप पर विश्वास नही है, वह स्वावलम्बन के मार्ग पर आनेवाली कठिनाइयो का मुकाबला कैसे कर सकता है ?

इतिहास की एक कहानी है। नेपोलियन जैसा पराक्रमी व्यक्ति पश्चिम में शायद ही कोई दूसरा हुआ हो। सम्पूर्ण युरोप पर उसकी धाक थी। एक समय की बात है कि उसे इटली पर आक्रमण करना था। वह आगे बढा, पर राह में आल्प्स जैसा पहाड़ खडा हो गया। बिना आल्प्स पार किये वह इटली पहुँच नही सकता था। सो उसने सैनिको को पहाड़ पार करने का आदेश दिया। लेकिन सैनिको को इतनी हिम्मत कहाँ कि वे आल्प्स जैसे ऊँचे पहाड़ को पार करने के लिए आगे बढ़ें। साधारण मनुष्य के लिए यह काम असम्भव था। कुछ लोगों ने तो यह भी समझा कि यह नेपोलियन का पागलपन है। सेना के पदाधिकारियों ने उसे समझाया भी। लेकिन आत्मविश्वासी नेपोलियन कब माननेवाला था। उसने अपने घोडे को आगे बढा दिया और सेनासहित उस पार उतरकर इटली पर विजय प्राप्त कर ली। ऐसे आत्मविश्वासी के लिए ससार में कुछ भी असम्भव नही है। तभी तो नेपोलियन कहा करता था कि ससार में असम्भव नाम की कोई वस्तु नही है।

एक आधुनिक कहानी है एड्रू कारनेगी की। वे अमेरिका के एक प्रसिद्ध व्यवसायी और करोडपति है। उनका जन्म एक दरिद्र परिवार में हुआ था। उनके पिता घूम-घूम कर मेजपोश बेचा करते थे। माँ को भी १६–१८ घटा खटना पड़ता था। उस समय कारनेगी के पास कपड़ों के नाम पर केवल एक कमीज थी। पर उसी समय उसने अपनी माँ से कहा था—'घबराओ नही। मै एक बडा आदमी बनूँगा। तुम्हे रेशम से लाद दूंगा।' ऐसा आत्मविश्वास था उसमें और यह फलीभूत हुआ। आर्कराइट को कौन नही जानता? इस महान यत्रकार का जन्म भी दरिद्रता की कोख से हुआ था। वह कभी स्कूल न जा सका। जो कुछ उसने सीखा और किया, सब अपने परिश्रम, लगन और आत्मविश्वास से किया। सबसे पहले उसने हजामत बनाने का काम सीखा और इस लगन से यह श्रम किया कि थोड़े ही दिनो में उसके ग्राहको की सख्या अनगिनत हो गई। इसके बाद उसने सूत कातने की मशीन बनाने की कोशिश की। उसके पास जो कुछ पूंजी थी उसे इस काम में बडे विश्वास के साथ लगा दिया। वह उसकी पत्नी को अच्छा न लगा। उसने उस मशीन को तोड़-फोड़ दिया और फलस्वरूप आर्कराइट को अपनी स्त्री से अलग रहना पडा। पर उसने हिम्मत नही हारी और कुछ दिनों के बाद एक कारखाना खडा कर दिया। पर शत्रुओं की कमी न थी। लकाशायर के कारीगर उसे अपना निशाना बनाने लगे। वह कारीगरों का शत्रु घोषित किया गया और एक दिन उसका कारखाना भी लूट लिया गया। किन्तु उसने आत्मविश्वास नही खोया। एक दिन एक आदमी ने राह चलते, उसे सुनाकर अपने एक मित्र से कहा 'देखा, हमने उस खूसट नाई को कैसा मजा चखाया।' आर्कराइट ने भी ऊँचे स्वर में जवाब दिया—'कोई बात नही, हमारे पास अभी भी एक पुराना उस्तरा बचा हुआ है, जो तुम सब की हजामत बना देगा।' यही आत्मविश्वास था जिसके बल पर आर्कराइट, आर्कराइट बना और एक दिन अपने आविष्कारों के उपलक्ष में उसे 'नाइट' की पदवी मिली।

हमारे देश का इतिहास एव साहित्य स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास के उदाहरणों से भरा पड़ा है। चाणक्य ने आत्मविश्वास के बल पर ही नन्द

का नाश कर भारतवर्ष में एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की थी और सिकन्दर के आक्रमण से देश की रक्षा की थी। सुभाषचन्द्र बोस कहा करते थे कि अँग्रेजों ने एक भी ऐसी गोली नही बनाई जो मुझे मार सके। इसी आत्म-विश्वास ने दुश्मनों को थर्रा दिया था और विदेश में पड़े लाखों भारतीयों में उमंग की लहर दौड़ा दी थी। गाँधी जी को कौन-सा कष्ट न झेलना पड़ा। एक-आध बार सत्याग्रह भी बन्द करना पड़ा। लेकिन उनका आत्म-विश्वास नही टूटा। इसी आत्मविश्वास के कारण उग्र काँग्रेसी भी उनका लोहा मान लेते थे। अन्त में गाँधीजी ने स्वराज्य के स्वप्न को अपने जीवन-काल में ही साकार कर दिखाया। गाँधीजी के पास धन तथा हथियार न थे, कूटनीतिज्ञता भी न थी। उनके पास सत्य था, स्वावलम्बन था, विश्वास था। करुण रस के आचार्य भवभूति ने एक जगह लिखा है कि 'आज मेरे प्रशंसक नही हैं तो क्या, दुनिया बहुत बडी है। एक समय आवेगा जब हमारे काव्य को पहचाननेवाले मिलेंगे। आज भवभूति को कौन भुला सकता है? कबीरदास पर न जाने कितने अत्याचार हुए किन्तु अपने मार्ग से वे न डिगे। वे बेलौस रहे—

कबिरा खड़ा बजार में सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।

उन्हें विश्वास था कि—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताय।
समरथ का परवाना लाये, हस, उबारन आय।।

उनके आत्मविश्वास की यह वाणी गूँजी और आज समस्त हिन्दी संसार उस वाणी से निनादित है।

निराला जी आत्मविश्वास के साक्षात् उदाहरण हैं। बहुत पहले अपने रचना-काल के आरम्भिक दिनों में, जब उन्होंने 'जूही की कली', जो बहुतों की दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है (उत्कृष्ट रचना तो है ही)' 'सरस्वती' में छपने को भेजी, तो उसके सम्पादक स्व० द्विवेदी जी ने नही छापा और उसे लौटा दिया। और आज वे निस्सन्देह एशिया के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

मानव-जीवन में खेल-कूद का स्थान

मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की सनातन प्रवृत्तियों में आत्मरक्षण (Self-defence), आत्मविस्तार (Self-extention), आत्मप्रकाश (Self-expression) इत्यादि प्रमुख है। इन्ही प्रवृत्तियों से उसकी सभी क्रियाएँ उत्प्रेरित रहती है। निदान, इसकी क्रीड़ा-वृत्ति को भी इन्ही सनातन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में समझाना होगा। किन्तु यह कोई एकाकी प्रवृत्ति नही है। इसमें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त, रक्षण और आक्रमण की भूमिका भी निहित है।

वैसे खेल भी एक क्रिया है, किन्तु साधारण गम्भीर कर्मों से इसका रूप नही मिलता। साधारण काम आदमी करता है क्योंकि उसे करना पडता है। वह उसके लिए अनिवार्य होता है। उसके करने में एक किस्म की बाहरी लाचारी होती है। कर्मचारियों का ठीक समय पर काम पर जाना, रोजगारियो का पर्व-त्योहार में भी दूकान पर बैठना इत्यादि इसी प्रकार की अनिवार्यता और बेबसी से युक्त काम है। खेल में कोई बाहरी लाचारी नही होती। खेल बाह्य बाध्यता से नही, अन्तर के उल्लास से खेला जाता है। माता-पिता की आँखें बचाकर खेल में शरीक होने के लिए भाग जाना बालक वा किशोर के जीवन की एक मामूली घटना है।

फिर काम का एक निश्चित उद्देश्य होता है। उसमें भौतिक लाभ का एक पहलू होता है। इसलिए आदमी अपनी इच्छा के अनुसार काम नही करता। उसे परिस्थिति देखकर, बाजार पर आँख रखकर, लाभ-हानि का हिसाब करके काम करना पड़ता है। खेल में कोई ऐसा उद्देश्य नही होता यानी काम का उद्देश्य जहाँ वास्तविक होता है, वहाँ खेल का काल्पनिक। इसलिए काम के असफल होने पर जहाँ आदमी को वास्तविक दुख होता है वहाँ प्रतियोगिता में हार जानेवाले खिलाडी को चन्द मिन्टों तक ठहरनेवाला बनावटी अफसोस,

फिर खेल में स्वेच्छा होती है और इसीलिए उसमें प्रसन्नता की एक सतत धारा भी, प्रवाहित होती रहती है जो हार में भी सूखती नही।

स्वेच्छा और आन्तरिक उमग के कारण खेल एक रचनात्मक (Creative) क्रिया होती है, जबकि साधारण काम स्थिर मूल्यों, रीतियों इत्यादि के कारण विवेचनात्मक होता है।

सक्षेप में खेल आन्तरिक उल्लास से उत्प्रेरित, आत्मिक स्वच्छदता से पूर्ण और रचनात्मक प्रतिभा से युक्त एक क्रिया है।

खेल की प्रकृति का विवेचन अनेक विद्वानों ने किया है।

"१. शिलर-स्पेन्सर का सिद्धान्त—अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार बालक में आवश्यकता से अधिक शक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार किसी 'सेफ्टी वाल्व' द्वारा इजन में बढ जानेवाली अतिरिक्त भाप को निकाला जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृति ने खेल के द्वारा बालक की अवाछित शक्ति को निकाल देने का बन्ध किया है किन्तु इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नही होता कि खेल किन्ही निश्चित धाराओं में प्रवाहित क्यो होता है और थक जाने पर हम क्यों खेलते है ? खेलनेवाले बालक की समता उस 'लोकोमोटिव इंजन' से की जाती है, जिसने कोयले के द्वारा आवश्यकता से अधिक शक्ति एकत्र कर ली है और इस हेतु वह भाप निकालने के लिए विवश होता है।

२. लैजारस का सिद्धान्त—ताजगी का सिद्धात–इस सिद्धात का प्रतिपादन लार्ड कन्सने किया और बाद में इसे पैट्रिक का समर्थन प्राप्त हुआ। इन महानुभाव की यह धारणा है कि खेल थके हुए बालकों को ताजा कर देता है; किन्तु काम की भाँति खेल में भी शक्ति का व्यय सनिहित है। जब हम थक जाते हैं तब हमें आराम करना चाहिए। इस सिद्धान्त से प्रौढ व्यक्तियो के दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। खेल एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम जीवन की कठिनाइयों को भूल जाते है। इसलिये खेल बालक के स्नायु-सस्थान के ताजे स्नायुओ को काम में लाकर थके हुए स्नायुओं को आराम देता है जिसमें कि वे अपने भीतर एकत्र विषाक्त रासायनिक पदार्थ से निवृत्ति पा लें।

३. कार्ल ग्रूस का सिद्धात–इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले-पहल मल-

ब्राच ने किया और बाद में इसका समर्थन कार्ल ग्रूस ने किया। इन महानुभाव की यह धारणा है कि खेल का उद्देश्य जीवन के लिए तैयारी करना है। खेल का समय हमारी तैयारी का समय है : जीवधारियों की निम्न श्रेणियो में खेल का अस्तित्व नही; क्योंकि उन्हें अपने पूर्वजों की प्रेरणाएँ और आदेश पहले से ही परिपक्व होकर प्राप्त होते है। इसके विपरीत उच्च श्रेणियो में परिपक्वता की अवस्था बहुत लम्बी होती है, इसलिये उन्हें खेल की आवश्यकता बनी हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार खेल प्रकृति की एक युक्ति है, जिसके द्वारा बालक अपने को वातावरण के अनुकूल बनाकर अपने भविष्य का निर्माण करने में समर्थ होता है। बिल्ली का बच्चा एक गेंद का पीछा करके चूहे पकडने की कला सीखने से अधिक कुछ नही करता ' जन्म के समय मानव अत्यत ही अबोध होता है और उसे परिपक्वता का सबसे अधिक समय मिलता है। साथ ही खेल की प्रवृत्ति भी उसमें अधिक समय तक बनी रहती है। कार्ल ग्रूस के इस सिद्धान्त के अनुसार इन सबका अच्छा समाधान हो जाता है। मानवी खेल के विभिन्न रूप होते है क्योंकि मनुष्य के उत्तरदायित्व अनेक और भिन्न होते है।

४. स्टैनलीहाल का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार सब जीवधारी उन स्थितियों को दुहराते है, जिनमें होकर उनके पूर्वजों का विकास हुआ है। जहाँ कार्लग्रूस खेल को प्रकृति में एक प्रतीक्षा समझते हुए आगे की ओर देखता है, वहाँ स्टैनली हाल खेल को एक पुनरावृत्ति मानते हुए पीछे की ओर मुडता है। सम्भवत हाल को अपने इस सिद्धान्त का आश्रय हेकेल की धारणा में मिला कि 'व्यक्ति का विकास वंश-परम्परा के इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।' अस्तु, स्टैनली हाल के अनुसमर मानवी खेल की प्रतिक्रिया उसी क्रम में पायी जाती है, जिसमें मानव-जाति का विकास हुआ है। बालक का काटना, करवटें बदलना, लटकना, चढना आदि छोटे खिलाडी जीवधारियो का अनुकरणमात्र है। दौडना, शिकार करना, फेंकना, कूदना आदि क्रियाएँ प्रारम्भिक मानवी पूर्वजो के ढग पर है। बालकों में परस्पर प्रीति का व्यवहार मानवजाति के विकास की घुमक्कड़ स्थिति का द्योतक है। रचनात्मक कार्यों में बालक की दिलचस्पी

चरवाहा जीवन की सुधि दिलाती है। सामूहिक या जातीय खेल मानव के पूर्ण सामाजिक विकास को प्रकट करते हैं; परन्तु यह पूछा जा सकता है कि बालक अपने प्रारम्भिक पूर्वजों की क्रियाओ को दुहराते क्यों है ? इसके लिए स्टैनली हाल को एक दूसरे सिद्धान्त की खोज करनी पड़ी।

५ स्टैनली हाल का द्वितीय सिद्धान्त—स्टैनली हाल ने अपने पहले सिद्धान्त से असतुष्ट होकर एक दूसरा सिद्धान्त खोज निकाला, जिसके अनुसार बालक में जन्म के समय इतनी अधिक अवाछित प्रवृत्तियाँ होती है कि वे दूर न की जायँ, तो संसार में एक बडा उत्पात खडा हो जाय। इसलिए खेल प्रकृति की एक बडी युक्ति है, जिसके द्वारा बालक अपनी प्रवृत्तियों के परिष्कार में समर्थ होता है। मनोविज्ञान के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'नन' का कथन है कि 'मनुष्य बुराई और बेरहमी की अति प्राचीन प्रवृत्तियो से छुटकारा नही पा सकता; किन्तु खेल उसकी शरारत को छीन लेने का एक उत्तम उपाय है, खेल के द्वारा मनुष्य उन प्रवृत्तियों को सामाजिक विधान के लिये प्रेरक महत्वपूर्ण शक्तियों के रूप में परिवर्तित करता है। स्वभाव से हम लडाके है और हमें लडना अवश्य चाहिये। सभ्य मानव 'खेल' में लडता है। हमारा प्रत्येक खेल एक नकली लड़ाई है। आज जो बहुतेरे पहेलियाँ भर कर धनवान् होना चाहते है, मानो वे भाग्य से लडाई ठाने हुए है।"

हमारा उद्देश्य खेल की प्रवृत्तियो का शास्त्रीय अनुसधान करना नही है। ऊपर के अवतरण इसलिए आए है कि हम जान लें कि खेल मनुष्य की एक स्वाभाविक और उपयोगी वृत्ति है।

खेल का जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम उससे एक विश्वास की उत्पत्ति होती है और साथ ही आगे आनेवाले जीवन की तैयारी भी। मनुष्य की अनेकविध इच्छाएँ होती है। सभी पूरी नही होती। कुछ दमित रह जाती हैं। और, आदमी इन दमित इच्छाओ, अभावो की पूर्ति कल्पनाओं से, कविता, कला, क्रीड़ा इत्यादि से करता है। घर की इच्छा रखनेवाला बालक घरौदा

---

१. 'बाल जीवन में खेल का स्थान', बालक-अंक, कल्याण।

बनाता है और उसे विश्वासपूर्वक घर समझता है। उसका यह विश्वास अपने कार्यकलाप और शक्ति पर होता है। यदि उसमें इस विश्वास की रक्षा की जाय तो वह जीवन के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हो, पर नादान माता-पिता उसके बनाये घरौंदों को, लाठी के घोडों को, उसके सृजित खेलो को बर्बाद कर, उन्हें मिथ्या और समय की बर्बादी बताकर बालकों की सुकुमार विश्वास-भावना को अकारण ही नष्ट कर देते हैं, बच्चे खेलों में अपने विपक्षियो को हराना चाहते हैं, इसके लिए साहस और कौशल पैदा करते हैं। खेल-खेल में आया हुआ यह कौशल उन्हें आगे के जीवन में आनेवाली कठिनाइयों से बचने के लिए तैयार करता है। खेल की माता प्रकृति है। वह अपनी गोद में बच्चों को दुलार से अपनाकर खेला-खुलाकर आगे के लिए तैयार करती है। पश्चिम के लोगों ने इसका मर्म जाना है। मॉन्टेसरी ने तो बालकों की क्रीडा-प्रवृत्ति के आधार पर शिक्षा की एक नई पद्धति ही पेश की और वह आज ससार भर में लोकप्रिय है। योरोप में घर पर बच्चों को खेलने के लिए 'मेकानो' (Mechano) दिया जाता है। इसमें कुछ पुर्जे अलग-अलग होते हैं और उन्ही पुर्जो से कभी मोटरगाडी, कभी हवाई जहाज, कभी पानी-जहाज, क्रेन, कुर्सी, बेंच, पलग, तराजू इत्यादि तैयार हो जाते हैं। बच्चों का इससे मनोरजन भी होता है और वे कल-पुर्जे की अनेक बातें सीख भी जाते हैं।

खेल-कूद से शारीरिक लाभ तो होता ही है। जो जवानी में खेलते-कूदते नही वे समय के पहले ही बूढे हो जाते हैं, फुर्ती-चुस्ती खो बैठते हैं और अनेक व्याधियों का शिकार बनकर कष्ट भोगते हैं। मगर खेलने-कूदने वाला आदमी अन्त-अन्त तक फुर्तीला, चुस्त और कामकाजू बना रहता है।

चरित्र पर भी इसका कम असर नही होता। इससे एक सामूहिक सम्मिलन की भावना (Team spirit) आती है। कबड्डी, चिक्का, फुटबॉल, वॉली बॉल, क्रिकेट इत्यादि में एक दल दूसरे दल का मुकाबला करता है। इसके लिए जरूरी होता है कि एक दल के सभी सदस्य एक दूसरे की मदद करें। यदि एक आदमी स्वार्थी हो जाय और स्वय ही सारा श्रेय लेना चाहे तो उसका दल हार जायगा और उसे इस प्रकार वैयक्तिक श्रेय भी नही मिलेगा।

फिर खेल में हार-जीत के अवास्तविक होने से खेलाडी में क्रीडा-भावना (Sportsman's spirit) आती है। खेल में यदि एक दल का कोई आदमी चोट खा जाय तो दूसरे दल का आदमी भी उसकी मदद को दौड पडता है। खेल के पहले दोनो दलों के सरदार मित्रतापूर्ण ढग से हाथ मिलाते है और खेल खत्म होने पर हारनेवाले दल का सरदार जीतनेवाले सरदार को शाबाशी देता है और जीतनेवाला दल 'विजयचिह्न' (Trophy) लेकर हारनेवाले दल की जय-जयकार करता है।

इस प्रकार खेल से आदमी में मैत्री-भाव आता है और आदमी जानता है किस प्रकार अपनी असफलता को, कठिनाई को, पीड़ा को हँस-हँसकर स्वीकार किया जाता है।

एक और बात बड़े महत्त्व की है। वास्तविक उद्देश्यवाले कामो में राजनैतिक दाँव-पेंच की गुजाइश ज्यादा होती है। खेल में इसके लिए स्थान नही है। अग्रेजी में क्रिकेट खेलना (to play cricket) एक मुहावरा बन गया है, जिसका अर्थ होता है खुले हृदय से व्यवहार करना।

अब तो खेल भी रोजगारी हो गये है। सही है कि रोजगार का ख्याल रखकर शायद ही कोई खेल सीखता है, पर अनेक फुटबॉल, टेनिस, क्रिकेट इत्यादि के सिद्धहस्त खेलाडी रोजगारी (Professional) हो गए है। इससे बुराई नही होती बल्कि खेल-कूद को बढावा मिलता है। बुराई होती है रुपये की बाजी पर ताश खेलने से। इससे जुए की चाट बढती है। खेद है कि संसार भर के क्लबों में आज इसी की तूती बोलती है। कलवर्टसन जैसे कुछ लोग इस खेल पर किताब लिखकर तथा इसे खेलकर धनाढ्य हो गये है

खेल अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द का भी एक साधन बन गया है। अनेक प्रतियोगिताएँ अन्तर्देशीय होती है। इन प्रतियोगिताओं में ससार के भिन्न २ देश भाग लेते है। इससे उस राजनैतिक कटुता से, जो देश-देश को एक दूसरे से अलग करती है, अलग एक मैत्रीपूर्ण वातावरण में सभी देशो के आदमियों को मिलने का अवसर मिलता है। अभी-अभी पाकिस्तान की क्रिकेट-टीम हिन्दोस्तान की टीम से खेलने आई थी और मर्मज्ञो का कहना है कि इस मैच ने दोनों

देशों को जितना निकट लाया और दोनों के बीच की गलतफहमियो, सदेह और शंकाओं को जितना कम किया उतना इन देशों के अफसरो की बैठकों ने नही।

भारतवर्ष का सबसे पुराना खेल कौन है, कहना कठिन है । हाँ, गेद खेलने की चर्चा अनेक प्राचीन ग्रथों में है। घुडसवारी और जलक्रीडा के भी प्राचीन उल्लेख है। चौपड और शतरज तो यही की चीज ही है। देहातों में जमाने से कबड्डी, चिक्का, डडा-गेंद, गिल्ली, इत्यादि खेल चल रहे है। क्रिकेट के देखने से ऐसा लगता है जैसे वह डडा-गेंद और गिल्ली-डडा का एक विकसित रूप हो। कुश्ती में तो भारत का स्थान आज भी सर्वोपरि है।

आज फुटबॉल, वॉली बॉल, बास्केट बॉल, कुश्ती, पिलो-फाइट, टेनिस टेबुल टेनिस, हॉकी, बैडमिन्टन इत्यादि खेल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त कर चुके है और हर साल इनकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ होती है।

कुश्ती में पिछले दिनों में हिन्दुस्तान का गामा नाम करता रहा, आजकल हरवश सिंह। हॉकी की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में हिन्दुस्तान कई वर्षों से प्रथम होता रहा है। गत वर्ष हेलसिनकी में जो विश्व ओलम्पिक हुआ उसमें भी भारतीय टीम ने अन्य सभी प्रतियोगी देशों को हरा दिया। क्रिकेट में इसी साल हिन्दुस्तान ने पाकिस्तान को हराया और आज उसके दो खेलाडियों मनकद और गुप्ते की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ खेलाडियो में होती है।

यदि बास्केट बॉल और वॉली बॉल का आविर्भाव विदेश में हुआ और अमेरिका में वे पहली बार क्रमश १८९२ और १८९५ में खेले गए तो बैडमिन्टन १८६० में पहली बार भारत में ब्रिटिश सेना के अफसरो द्वारा खेला गया। उस समय बैडमिन्टन का नाम 'पूना' था। इसका दूसरा नाम आगे चलकर बैडमिन्टन हुआ।

स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद से राष्ट्रीय पोशाक की तरह राष्ट्रीय खेल पर भी विचार किया जा रहा है। अभी कबड्डी को राष्ट्रीय सम्मान मिल रहा है और उसकी देशव्यापी प्रतियोगिताएँ भी हो रही है।

सिनेमा का जीवन पर प्रभाव

उस दिन महल्ले के दो जवान लडके घर छोडकर भाग निकले। लोगोने बताया दोनो अपने-अपने घर से काफी पैसे भी लेते गए है। उनके कुछ दोस्तों ने बाद को कहा कि वे दोनो बम्बई गये है सिनेमा में भर्ती होने।

जाने को तो वे चले गये, अब जो बीत रही है वह परिवारवालों पर। माँ-बाप रो रहे है बच्चों के लिए, घर की बहुएँ रो रही है गहनो के लिए जो उनके उजागर देवर लेते गये है। गर्ज कि लडके दोनो सिनेमा में भर्ती होंगे न होंगे, मगर घर पर सिनेमा दृश्यो का काफी मसाला छोडते गये है।

सिनेमा का प्रभाव केवल इतने तक ही नही है। कुछ दिन हुए इसी शहर में "रोमियो जुलियट" फिलम आयी। उसका असर एक नौजवान पर इस कदर पड़ा कि उसने अपनी जुलियट से मिलने के लिए बगल के मकान पर छलाग लगायी और कमर तोड़कर जनाब बैठ गये। जिस लाठी के सहारे बाप बेचारे बुढौती खेपना चाहते थे वह लाल होने के पहले टूट गयी।

तो, एक ओर तो ये किस्से है, दूसरी ओर मेरे एक मित्र के साले हैं, जो चन्द साल पहले बम्बई क्या गए, परिस्तान पहुँच गये। किसी नई कम्पनी के, नये डाइरेक्टर साहब के चग चढ गये है। अब पैसे भी है, कार भी है और कार में साथ बैठनेवालियों की भी कोई कमी नही। थोडे दिन पहले कोई पूछता नही था, उनकी आज हर जगह पूछ। माँ-बाप अलग खुश है। पहले रोते थे, बेटा आवारा निकल गया, मगर आज कोई पूछे तो छूटते ही कहेंगे, फिल्म क्या बुरी लाइन है? यह तो अपना देश है कि इतनी बदनामी है, विलायत में तो हर स्कूल में फिल्म दिखलायी जाती है। रूस में इसे पढाई का एक माध्यम ही बना दिया गया है।

दरअसल ये दोनों तरह की बातें सही है। सिनेमा अपने में कुछ बुरा नहीं है। सब कुछ इस्तेमाल पर निर्भर करता है। पर सिनेमा एक ऐसा साधन है

जिसका असर व्यापक रूप से और बडी गहराई तक पडता है। इसलिए इसके बुरे इस्तेमाल का नतीजा पूरे समाज को भुगतना पडता है और उसी तरह उचित इस्तेमाल से सामूहिक लाभ भी होता है।

सिनेमा के दो पक्ष हैं, एक औद्योगिक और दूसरा सामाजिक। दोनों का हमारे जीवन पर प्रभाव है। औद्योगिक पक्ष का प्रभाव पहले इस उद्योग में लगे हुए व्यवसायियों और कलाकारों पर पडता है। पर सामाजिक पक्ष का असर सीधे सामाजिक जीवन पर है।

अपने देश में सिनेमा-प्रचार के मुश्किल से ४० वर्ष हुए है। इसकी पहुँच भी उन्ही लोगों तक है जो शहरों में है या जो शहरों में आते-जाते है। इस प्रकार अपने देश का बहुत बड़ा भाग आज भी सिनेमा से दूर है। पर जितनी दूर तक सिनेमा का प्रचार हुआ है, उतनी दूर तक इसका असर हमारे जीवन पर पडा है। यह प्रभाव केवल बाहर-बाहर ही नही है बल्कि लोगों के विचारों और दृष्टिकोण पर भी है। न केवल बाजार में बुश्आकट कुरता, काननवाला कट ब्लाउज और डगलस-कट मूछें है, ब्लिक कितने ही पढे-लिखे नौजवान सिनेमा से सीखे हुए ढग पर जीवन में चलने की कोशिश भी करते है।

सिनेमा हम मुख्यतया मनोरजन के लिए देखते है। इसमें हमें हर तरह के संभव-असभव दृश्य देखने को मिलते है और हम यह भी जानते है कि इन दृश्यों में काम करनेवाले अभिनेता उसी तरह हाड-माँस के आदमी है, जिस तरह हम-आप है। यह एक ओर तो हमारी कुतूहल-वृत्ति को शान्त करता है, दूसरी ओर हमारी कामनाओं द्वारा प्रक्षेपित चित्रों को वास्तविक जीवन में मूर्त्त होता-सा दिखलाकर हमें मानसिक तुष्टि देता है। यही कारण है कि सिनेमा देखते समय कुछ क्षणों के लिए ही सभी युवक-युवतियाँ अपने को नायक-नायिका के स्थान पर मान लेती है और खल नायक के रूप में वे तमाम बाधाएँ उनकी आँखों के आगे मूर्त्त हो उठती है जो उनके जीवन में उपस्थित होती है। और चूँकि भारतीय परम्परा के अनुसार अधिकतर भारतीय फिल्में सुखान्त बनती है, लोगों को सफलता का सुख भी मिल जाता है। अत. सिनेमा

मनोरजन का एक ऐसा साधन है जिसमें कटु यथार्थ से पलायन है और आशाओं की काल्पनिक पूर्त्ति भी है। यही कारण है कि वड़े वूढ़ों के नैतिक उपदेशों के वावजूद लोग सिनेमा देखने जाते हैं (अव तो शहरों में सिनेमा देखने के खिलाफ उपदेश देनेवालो की तादाद खत्म हो चली है) और सिनेमाघरों के हॉल भरे रहते है। सिनेमा का आकर्षण आज लोगो में इतना अधिक है कि मनोरजन के अन्य साधन छूटते जा रहे है। नाटक, सरकस और खेल-कूद की ओर लोगों की इतनी कम दिलचस्पी है कि इन सव का अपने देश में विकास ही नही हो रहा है। जहाँ तक सर्कस का सवाल है, उसकी कमी की पूर्त्ति तो स्टंट फिल्मो से हो जाती है। पर नाटक की उपेक्षा वास्तव में हमारे कला-जीवन के लिए अफसोस की वात है। एक तो यो ही अपने यहाँ राष्ट्रीय रगमच नही बना और अव जव हम इस ओर ध्यान दे सकते थे हम सवके सब सिनेमा की ओर ही झुके हुए है।

पर इसका एक दूसरा पहलू भी हैं। सिनेमा हमारे मनोरजन का साधन है, जो एक स्थान पर ही सर्कस, नाटक और सगीत का आनन्द सस्ते में दे जाता है। इसलिए शहर के मेहनतकश लोग मजदूर और निम्न मध्यम-वर्गीय वावू गम गलत करने के लिए सिनेमा का सहारा लेते हैं। वे मँहगे मनोरजन की कल्पना नही कर सकते। पश्चिम के देशों में ऐसी बात नही। वहाँ यदि सिनेमा घर हर कदम पर है, तो अच्छे-अच्छे नाटक-घर, नाच-घर और क्लव-रूम भी कुछ कम नही हैं। लोगों की अभिरूचि जगी हुई है, पास में पैसे भी पर्याप्त है। फलत. वे सिनेमा देखने जाते है, तो नाटक, नाच, और कन्सर्ट में भी जाते हैं। उनके लिए मनोरजन महज पलायन नही, वल्कि कला की उपासना और जीवन का आवश्यक कर्त्तव्य भी है। इसके विपरीत भारतीय जीवन का स्तर इतना नीचे आ गया है कि मनोरजन हमारे लिए पलायन है। कला की उपासना अभिजात वर्ग का मनबहलाव मात्र है। ऐसी दशा में सिनेमा का अपने समाज में विशेष उपयोग है और जब तक अन्य साधन, सस्ती दर पर सुलभ नही हो जाते, तब तक सिनेमा का आकर्षण हमारे जीवन पर रहेगा।

इस प्रसग में भारतीय फिल्मों के स्टैन्डर्ड पर विचार करना अनुचित नही होगा। प्रारभ की फिल्मों में सामाजिक विषयवस्तु का उचित मान था। किसी में आदर्श की अनुप्रेरणा मिलती थी, तो किसी में यथार्थ का नगापन। पर सब का केन्द्र-भारतीय जीवन का उन्नयन था। पर आज हमारी फिल्में उस पथ से विचलित होकर सस्ते रोमास के पिच्छल मार्ग मर गिरती-पडती चल रही है। निर्माताओ का ध्यान केवल पैसे बनाने की ओर है, उन्हें कदाचित ही इसका ज्ञान है कि फिल्मों का सामाजिक मूल्य भी है। इसलिए वे महज ऐसी तस्वीरें देते है, जिनमे कम-से-कम पैसे लगाने पड़ते है और लोगो की पलायन-वृत्ति को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिलता है। अपने देश में जन-रुचि इतनी जाग्रत और परिष्कृत भी नही कि निर्माताओ की इस मनोवृत्ति के विरोध में आवाज बुलन्द करे। वह ऐसी स्थिति में है कि अगर उसे प्रयास पूर्वक उठाया न गया तो लगातार अवनति होती जायगी। यही कारण कि निर्मातागण बुरी तस्वीर बनाकर पैसे बना रहे है। वे प्रेम के त्रिकोण-वादी फार्मूला के अनुसार घटनाओ का सृजन करते है, और सिर्फ स्थान, पात्र और समय मे थोड़ा हेर-फेर कर देते है। नतीजा है कि औसत भारतीय फिल्म भ्रष्ट होती है। उनमें सामाजिक जिम्मेदारियों से लापरवाह युवक-युवतियों के प्रेम-व्यापार के सिवा कुछ रहता नही। ऐसा भी नही कि सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष के रिश्ते को असतुलित करनेवाली समस्याओ पर प्रकाश पडे। अगर समस्या रमया होती है तो नायक-नायिका की व्यक्तिगत समस्या जिसके इर्द-गिर्द नकली दार्शनिकता का मायाजाल रच दिया जाता है, और फिर उस जाल को सामती या जासूसी हिकमत से काटने की कोशिश रहती है। सभी फिल्मों में नाकाम जिन्दगी, कुचले अरमान और बेजान शिकायतो के नगमें रहते है। न तो कथावस्तु जीवन की यथार्थता से परिचित कराती है और न गाने उल्लास के तराने सुनाते है। केवल असफलताओ का रोना-गाना रहता है। दरअसल ये फिल्में हमारे समाज की असफल आकाक्षाओ का फायदा उठाकर बनायी जाती है। इनका क्या असर हमारे जीवन पर पड़ रहा है, यह किसी से छिपा नही। कहाँ तो हमें असफलताओं और रूढियो के विरुद्ध

लड़ने की प्रेरणा मिलनी चाहिए थी और कहाँ हमारी फिल्में पलायन और पराजय की वृत्तियो को तीव्र कर रही हैं। ये लोगों को सामाजिक दृष्टि से गैरजिम्मेवार बनाती हैं।

अधिकांश भारतीय फिल्मों के वातावरण पर पाश्चात्य अथवा अभिजात जीवन का प्रभाव रहता है। इसका, कुछ उदार प्रभाव भी पडता हैं। भिन्न वातावरण और जीवनप्रणाली के विरुद्ध चिरपोषित पूर्वाग्रह अप्रत्यक्ष रूप से ढीला पड़ता है। देश के विभिन्न समाजो और वर्गो का भी परिचय मिलता है और इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय एकता के सूत्र दृढ होते हैं।

सिनेमा के कारण हिन्दी का भी देश में व्यापक प्रचार हुआ है। देश में जितनी भी फिल्में बनती है उनमें से अधिकाश हिन्दी की है। इसका एक मात्र कारण यह है कि हिन्दी सारे देश में समझी जाती है। हिन्दी की फिल्में देश के सभी भागों में प्रदर्शित की जाती हैं। इस प्रकार अहिन्दी भाषी प्रान्तों को भी हिन्दी का परिचय मिलता है। यह भी हमारी राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक है।

हिन्दी भाषा के स्वरूप पर भी सिनेमा ने कुछ कम प्रभाव नही डाला है। अन्तर्प्रान्तीय प्रचार और कथोपकथन की सुगमता के लिए फिल्मी हिन्दी ने अन्य प्रान्तों के मुहावरो और शब्दो को ग्रहण किया है और राष्ट्र-भाषा के पद के योग्य उदारता दिखलायी है। इस प्रकार की शैली केवल फिल्मो और कथोपकयन तक सीमित नही है, बल्कि उन तमाम लेखको द्वारा, जो कि फिल्मी फीचर लिखते हैं या फिल्मी अखबारो से सबधित है, व्यवहृत होती है।

फिल्मी संगीत ने भी भारतीय जीवन में अपना निश्चित स्थान बना लिया है। हर त्योहार और उत्सव के मौके पर लोग लाउड-स्पीकर के जरिए फिल्मी गानों की रेकर्ड बजाते है, यों भी शहर की गलियो में घूमनेवाले छोकडे बराबर किसी न किसी फिल्मी गाने की धुन दोहराते रहते है।

फिल्मी तर्जों का यह हमला हिन्दी कविता पर भी हुआ है। आज जो भी गीत लिखे जाते हैं उनमें किसी न किसी फिल्मी गीत का असर देखा जा

सकता है। इस प्रवृत्ति के कारण गीतों में सस्ती भावुकता को प्रश्रय दिया जाने लगा है। साहित्य के लिए यह कदापि अभिनन्दनीय नही।

फिल्मी गीतो पर नाक सिकोडनेवालो की कमी नही। उनके लिए शास्त्रीय नियमो का उल्लघन अक्षम्य और असह्य है। पर हम जानते है कि आज शास्त्रीय सगीत म्रियमाण कला है। उसके लिए जितने परिष्कृत ज्ञान और रुचि की आवश्यकता है, वह लोगों में नही। आज हमारे जीवन में इतनी भाग दौड है कि हम शास्त्रीय संगीत के लिए न समय दे सकते है और न उतना धैर्य ही रखते है। पैसो का भी अभाव है। शास्त्रीय सगीत के जानकारों की अभ्यर्थना के लिए जितने पैसों की आवश्यकता होती है, कम ही लोग दे पाते है। इसमें सगीतज्ञों का अवश्य दोष नही है, क्योंकि शास्त्रीय सगीत की जानकारी उन्हें दीर्घ साधना के बाद प्राप्त होती है और वह उनकी रोजी का भी साधन है।

सिनेमा ने भारतीय और यूरोपीय सगीतो को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया है। यह तो विश्वास पूर्वक नही कहा जा सकता कि इसमें सफलता ही मिली है, पर मानना चाहिए कि यह प्रयास अभिनन्दनीय है। शायद इससे भारतीय सगीत की रुकी हुई धारा को नयी गति और स्फूर्ति मिले।

रंगमंच और चित्रपट

शताब्दियो तक रगमच ही परिष्कृत रुचि के दर्शको के लिए मनोरजन का प्रमुख साधन बना रहा। इसकी प्रधानता को चुनौती दे सकने वाला अन्य कोई साधन नही था। किंतु चित्रपट के आविर्भाव के साथ ही साथ रगमच का प्रतिद्वद्वी इस क्षेत्र में उपस्थित हो गया और अपने अस्तित्व की रक्षा के प्रयत्न में रंगमच को अपने रूप को परिवर्तित करने के लिए वाध्य होना पडा। बिजली की बत्ती, घूमने वाला मंच, वैज्ञानिक प्रणाली से

विकसित दृश्यावलियाँ और पर्दे आदि ने रगमच के शिल्प में युगान्तर उपस्थित कर दिया।

पहले तो सिनेमा मूक चित्रपट के रूप में ही आया था। तब कथा अभिनेताओं के द्वारा, भाव-भगिमा के सहारे कही जाती थी, और दर्शकों को उनका आशय समझने के लिए कल्पना का उपयोग करना पड़ता था। इससे दर्शकों को पूर्ण सतोप नही होता था, क्योंकि वे अभिनेताओ के मुह से कहानी सुनना चाहते थे और दृश्यो को वास्तविक जीवन के अनुरूप देखना पसन्द करते थे। इस माँग के फलस्वरूप सवाक् चित्रपट का आविर्भाव हुआ।

अब रगमच का वस्तुत: समर्थ प्रतियोगी उपस्थित हो गया। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि अब रंगमच के दिन लद गए। किन्तु रगमच आज भी अनेक विशिष्ट साधनो को व्यवहृत कर अपने अस्तित्व की रक्षा करने में सफल हुआ है। प्रवेश-शुल्क को घटा कर, मधुर सगीत और सजीव कथोपकथन से युक्त सामाजिक नाटकों के अभिनय के द्वारा, तथा व्यग्य-विनोद के समावेश से पुराने ऐतिहासिक नाटको का रूपातर कर दिया गया और उसे नया जीवन मिला।

सवाक् चित्रपट के पक्ष में एक और बात है, जिसका अभाव पुराने ढग के नाटको में था। चित्रपट प्राय. दो घंटो में समाप्त हो जाता है, जब कि पहले के छोटे नाटक-भी चार घटे से कम में अभिनीत नही हो पाते थे। आज की भाग-दौड़ की दुनिया में मनोरजन के लिए इतना समय बहुत कम लोगो के पास रहता है, अत. चित्रपट अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हो चला। किन्तु नाटक ने यहाँ भी अपने को परिवर्तित कर लिया।

रगमच और चित्रपट दोनों ही गतिवान जीवन का चित्रण करते हैं, किन्तु दोनो की पद्धति और शिल्प में आकाश-पाताल का अन्तर है। गतिवान जीवन के किसी प्रकार के उपस्थापन में शब्द और भाव-भगिमा साथ-साथ चलती है। रगमच में दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान है जबकि चित्रपट में दूसरी ही प्रमुख है। यही कारण है कि रगमच

के सर्वोत्कृष्ट अभिनेता सदैव चित्रपट के भी सर्वोत्कृष्ट अभिनेता नही सिद्ध होते, न चित्रपट के अभिनेता सदैव रगमच के सर्वोत्कृष्ट अभिनेता प्रमाणित होते है। ऐसे कुछ ही अभिनेता होते हैं जो दोनो माध्यमों में समान रूप से सफल हो। उदाहरण के लिए बगला रगमच के प्रसिद्ध अभिनेता चित्रपट के सफल अभिनेता नही हो सके और हिन्दी चित्रपट के सफल अभिनेता अशोक कुमार रंगमच पर कामयाब न हो सके। दोनों में समान रूप से सफल अभिनेता के अच्छे उदाहरण है पृथ्वीराज कपूर।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। रंगमच के लिए दर्शक एक महत्वपूर्ण अग होता है। उनकी तालियाँ और हर्ष-ध्वनि अभिनेताओं में जान डाल देती है तो सीटी और आवाजकशी उन्हें निराश और असफल बनाती है। किन्तु चित्रपट में यह दिक्कत नही है। वहाँ अभिनेता की छाया और दर्शकों के बीच कोई प्रत्यक्ष सबध स्थापित ही नही होता।

यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में कला के इन दोनो रूपों के बीच प्रतियोगिता है, किन्तु, अपने, अर्थात् कला के, क्षेत्र में कोई प्रतिद्वद्विता नही हो सकती। वे कला के दो परस्पर भिन्न माध्यम है पर दोनों मनुष्य के आनद और मनोरजन के लिए मित्रों की तरह प्रयास करते है।

आधुनिक जीवन में रेडियो की उपयोगिता

आधुनिक युग विज्ञान का युग कहा गया है। वस्तुत वर्तमान युग तो अणु युग कहा जाने लगा है। इसमें सदेह भी नही कि शारीरिक श्रम से बिजली का युग और बिजली से अणु शक्ति का युग मानव सभ्यता के इतिहास के महत्वपूर्ण अध्याय हैं। इसमें तब आश्चर्य ही क्या कि आधुनिक युग में रेडियो शिक्षा-प्रसार का एक शक्तिशाली एव महत्वपूर्ण साधन बनता जाय।

प्राचीन काल में ससार की आबादी विरल थी, परिवहन तथा संचार के साधन सुगम न थे और प्रत्येक बस्ती अथवा जनपद को अस्तित्व-रक्षा के लिए आत्म-निर्भर होना पडता था तथा इसके लिये सहज रूप से सामु-

दायिक तथा सहयोगपूर्ण जीवन विताना पड़ता था। शिक्षा की समस्या का जो रूप उन दिनों था, उसके निराकरण के साधन भी वैसे ही असंश्लिष्ट थे। उस समय की सामाजिक शिक्षा बुनियादी तौर पर धर्म-शिक्षा थी जिसके संदर्भ में व्यक्ति का वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार का जीवन आ जाता था उस समय मानव-धर्म तथा सामाजिक कर्तव्य अधिकांश में तो समान ही थे और उनमें यदि कुछ विभेद था भी तो इतना वड़ा नहीं कि दोनो के लिये अलग-अलग शिक्षा की प्रणालियाँ बनायी जाती।

ज्यों-ज्यो ससार की आवादी बढी है त्यों-त्यो आत्मनिर्भर इकाइयाँ, वस्तियाँ और जनपदों के छोटे आधारों को छोड़कर अपेक्षतया विस्तृत आधारो पर स्थित हुई हैं। इस नवीन स्थिति के फलस्वरूप व्यक्ति का सामान्य जीवन अधिक सुगम तथा सुरक्षित हुआ है, यद्यपि इस प्रकार के जीवन की सृष्टि करनेवाले साधनो से मनुष्य का संबंध करने तथा उसे लाभ पहुँचाने की प्रणालियाँ सश्लिष्ट हुई हैं। इन प्रणालियो को आज विज्ञान कहते हैं।

विज्ञान आज के युग का कितना व्यापक तथा अनिवार्य अंग है, यह देखने के लिये हमें खोज-ढूंढ करने की आवश्यकता नहीं होगी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के दैनंदिन जीवन में विज्ञान प्राणपोषक वायु के समान घुल-मिल गया है। भोजन, वस्त्र, आवास, यात्रा, तात्पर्य कि मनुष्य के लिये अनिवार्य किसी भी कार्य में आप विज्ञान की गरिमा उपस्थित पायेंगे। पुरानी आत्मनिर्भर वस्तियो और जनपदो के आधार को छोडकर मानव समुदाय की वडी इकाइयो की सृष्टि करने में विज्ञान ने सिमेंट का काम किया है। रेडियो और आधुनिक शिक्षा के सबंध में विचार तथा धारणा विज्ञान और वैज्ञानिक युग की सतान है।

विज्ञान का आघात हमारे समाज पर कितना पडा है, इसके अनुमान के लिये देश-विदेश के वीच यात्राओं में लगे समय से ही सहज ढंग से किया जा सकता है। पहले जहाँ अपने देश के ही एक छोर से दूसरे छोड़ तक यात्रा करने में जीवित लौट आ सकने की संभावना कम रहती थी और यात्रा

पूर्ण करने में महीनों लग जाते थे, वहाँ आज कुछ घंटों में मनुष्य एक स्थान से दूसरे सुदूर स्थान पर भलाचगा पहुँच जाता है। तात्पर्य यह कि विज्ञान ने दूरी और समय को सिमटा दिया है जिसके फलस्वरूप देश-विदेशों के बीच की दूरी कमती जा रही है और आज के मानव को विश्व के सदर्भ में सभी बातों को सोचना तथा करना पडता है। सारी दुनिया को कुछ क्षणों में सिमटा देने के काम करनेवाले यत्रों में रेडियो तथा टेलीफोन आदि का बहुत प्रभावशाली हाथ रहा है।

दूसरी बात यह कि जब जीवन से विज्ञान इतना घुल-मिल जायगा, जब वह कुछेक वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं से निकल कर समस्त मानव-जीवन को अनिवार्यरूपेण आच्छन्न कर लेगा तो इस प्रकार के आघात से कुछ इसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होगी। कहने का तात्पर्य यह कि शिक्षा के सबंध में भी आज मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है।

यहाँ यह कह देना असगत न होगा कि आज की समस्त शिक्षा-पद्धति एव प्रणाली में मनोविज्ञान ने आमूल क्राति ला दी है। पहले जहाँ कतिपय विषय अवस्था विशेष के लिये वर्जित माने जाते थे, वहाँ आज बल इस पर दिया जा रहा है कि उन विषयों को उन्ही विशेष अवस्थाओं में बतला दिया जाय। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्तित्व में पूर्ण तथा सुन्दर विकास के लिए अपनाया गया है। कहा जाता है कि इस दृष्टि-कोण से निर्धारित प्रणाली और विषय के ज्ञान से स्वस्थ मानसिक विकास होता है। रेडियो द्वारा शिक्षा देने का विचार भी मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

आज के मानव-समुदाय की बड़ी इकाइयाँ—राष्ट्र तथा राष्ट्रमडल आदि—शिक्षा के लिये केवल धर्म-शिक्षा पर निर्भर नही रह सकती। यद्यपि मूलतः मानव धर्म सर्वत्र एक ही है, तथापि देश-काल के भेद से उसे विभिन्न-प्रकार के अनेक चोगे पहना दिये गये हैं कि वह अपना अलग-अलग रूपों में दीख पड़ता है। धर्म के इन योगों ने मानवजाति को समानता के

सूत्र में आबद्ध करने के स्थान पर उनके बीच दरारें पैदा की है और अब मानव-जीवन के विकास के लिये उनकी सार्थकता सदिग्ध हो उठी है। अतः विज्ञान के सर्वव्यापी शिल्प ने शिक्षा को भी बहुविध प्रकारों में बाँध रखा है।

रेडियो की विशिष्टता यह है कि वह एक ही समय में सपूर्ण संसार के इच्छुक और साधन-संपन्न व्यक्तियों में एक की ज्ञान का वितरण कर सकने में समर्थ है। इस सदर्भ में रेडियो की सर्वाधिक उपयोगिता तब है, जब यह सर्वोपयोगी शिक्षा का प्रसार करता है।

प्रश्न उठता है कि सर्वोपयोगी शिक्षा कौन-सी है? गणित या इतिहास, भूगोल या जीवशास्त्र, साहित्य या अर्थशास्त्र? निस्सदेह उपर्युक्त सभी विषय समान रूप से सभी का ज्ञानवर्द्धन कर सकेंगे और एक अच्छे समाज की रचना के लिये समान समझदारी के व्यक्तियों की आवश्यकता होती भी है। रेडियो इन विषयों के सबध में ज्ञानवर्धन करने में शिक्षाशास्त्रियों की सहायता करता है। लेकिन ये सारे विषय सभी सभ्य देश के शिक्षालयों में पढाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन विषयों में प्रवेश पाने के लिये जैसे नियमित और क्रमबद्ध रूप से, ध्यान देने की अपेक्षा है, वह रेडियो के श्रोताओं के लिये संभव नही है। अवश्य ही इन विषयो पर साधारण ज्ञान बढाने के लिये रेडियो द्वारा जो कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं, वे अपने उद्देश्य की सिद्धि कर पाते है।

सामाजिक शिक्षा-प्रसार में रेडियो कितना शक्तिशाली हो सकता है, उसकी एतद्विषयक सभावनाओ से अवगत होने के लिये यह उचित होगा कि हम सामाजिक शिक्षा की धारणा के सबध में अपने विचार स्पष्ट कर लें।

शिक्षालयो, पाठशालाओ, कॉलेजों, प्राविधिक कॉलेजों आदि में विभिन्न विषयों में जो शिक्षा दी जाती है, वह निश्चय ही सामाजिक शिक्षा नही कही जा सकती। वह वस्तुत. शास्त्रीय शिक्षा की सज्ञा पाने की अधिकारिणी है। शास्त्रीय शिक्षा विषय-विशेष के विस्तृत ज्ञान को कहेंगे, दूसरे शब्दों में, ऐसे आलयों में विभिन्न विषयों में जो शिक्षा दी जाती है, उसका

ध्येय शिक्षार्थियों को क्रमश विषय-विशेष में विशेषज्ञता प्राप्त करना होता है। इसकी आवश्यकता भी अनिवार्य है, स्पष्ट भी, यदि कुछ लोग इन विषयों में शास्त्रीय रूप से लगे न रहें तो इन विषयों सबधी ज्ञान का परिवर्द्धन सभव ही न होगा। तात्पर्य यह कि इन विषयों के सबध में ज्ञान का विस्तार होता चले, शास्त्रीय शिक्षा की इसीलिये अनिवार्य आवश्यकता होगी। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान का कार्यकारी रूप ही सामाजिक शिक्षा कहलायेगी।

सामाजिक शिक्षा में पाडित्य ध्येय नही, प्राप्त ज्ञान, अर्जित अभिज्ञता को समाज निर्माण, सचालन तथा विकासार्थ लगाना ही सामाजिक शिक्षा का ध्येय होता है। ऐसा इसलिये कि उस ज्ञान के आलोक में अनेक सामाजिक कठिनाइयाँ और समस्याएं दूर की जा सकती हैं। उदाहरण के लिये अर्थ-शास्त्र को लें। इस विषय का पडित होना एक बात है, इसे समाज पर लागू करके सामाजिक विषमताओं का हल निकालना दूसरी, रेडियो, अतएव पांडित्य देने योग्य शिक्षा का प्रसार नही कर सकता और यदि करे तो वैसा कार्य निस्सदेह निष्फल होगा। रेडियो द्वारा हम किसी भी विषय संबधी वैसी जानकारी का प्रसारण करते है जिसे बिना किसी प्रकार की विशेष तैयारी के हम अपने जीवन के विभिन्न पक्षों में लागू कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि रेडियो द्वारा शिक्षा देने का विचार, जैसा कि कहा जा चुका है, मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है। मनोविज्ञान यह मानता है कि यदि शिक्षा की बातों को मनोरंजन के साथ घुला-मिलाकर, यानी मनोरजन बनाकर दिया जाय, तो वे अधिक ग्राह्य होंगी। मनोरजन की, जीवन को स्वस्थ बनाने के लिये परम आवश्यकता है, इसमें सदेह नही। मनोरजन का प्रभाव मानसिक जीवन पर भी पडता है और मानसिक अथवा शारीरिक श्रांति मिटाने के लिये मनोरजन एक अमोघ अस्त्र है। इस दृष्टि से भी, यदि मनोरजन के साथ ही शिक्षाप्रद बातों का प्रसार किया जाय तो वह अवश्य ही कारगर होगा। और रेडियो इसके लिये एक सशक्त साधन है, यह अब सुस्पष्ट हो चुका है।

स्कूल और कॉलेज के विद्यार्थियो के लिये, ग्रामीणो और सैनिको तथा विशिष्ट प्रकार के वर्गो के लिये कतिपय क्षेत्रीय कार्यक्रम भी रेडियो द्वारा प्रसारित किये जाते है। क्षेत्रीय ज्ञानवर्द्धन के इस प्रकार की लोकप्रियता पिछले दिनो काफी बढी है। विशेषत ऐसे देशो में जहाँ रेडियो सस्थान कल्याण राज्य के अग है इस प्रकार के कार्यक्रमो द्वारा शिक्षा-वितरण की महता निर्विवाद है। समाजवादी प्रकार के देशो मे तो प्राविधिक शिक्षा के प्रसार के लिये भी रेडियो का बहुत महत्वपूर्ण रूप में उपयोग किया जाता है।

अर्ध विकसित देशो में, विशेपत ऐसे अर्ध विकसित देशो में जहाँ सर्वत्र आवागमन की सुगम व्यवस्था नही हो पायी है, रेडियो द्वारा प्राविधिक शिक्षा का मूल्य, एक अभिकर्त्ता के रूप मे अत्यन्त मूल्यवान है, उदाहरण के लिये अपने देश को ही लें। हमारा देश, यद्यपि कृषि-प्रधान है, तथापि कृषि के साधन हमारे यहाँ अभी भी पुराने और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अपर्याप्त है। इसके अतिरिक्त हमारी कृषि विषयक अनुसधान-शालाओ में कृषि के सबध मे जो नवीन प्रामाणिक अन्वेषण होते है, उनकी सूचना हमारे देश के अधिकाश कृषको तक उचित साधनो के अभाव में पहुँच ही नही पाती। इस दूसरे प्रकार के अभाव की पूर्त्ति के लिये रेडियो से उत्तम अन्य कोई साधन मानव-जाति के हाथ में नही। इसी उद्देश्य से प्रथम पचवर्षीय आयोजना मे केंद्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक रेडियो की व्यवस्था की गयी। दूसरी पचवर्षीय योजना में बडे पैमाने पर इस सामुदायिक श्रवण-योजना की कार्यान्विति की जानेवाली है।

लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में लगाये जानेवाले रेडियो का महत्व इतना ही नही कि उसके माध्यम से कृषको को सामान्य ढग से प्राविधिक शिक्षा मिलती है। वह एक और कार्य करता है जो प्राविधिक ज्ञान वितरण से तनिक भी कम महत्व नही रखता। वह है सामाजिक शिक्षा का प्रसार। आधुनिक युग मे सामाजिक शिक्षा का स्थान मूलत वही है जो प्राचीन काल

में धर्म-शिक्षा का था। सामाजिक शिक्षा का उद्देश्य प्रथमत जन-साधारण के सर्वतोमुखी विकास के लिये जन-साधारण के मन में चेतना का उदय करना, उनके कुसस्कारों, अन्धविश्वासों तथा मिथ्या धाराणाओं के सबध में उन्हें सचेत करना तथा द्वितीयत उन्हें एक अच्छा नागरिक, अच्छा पडोसी और अच्छो व्यक्ति बनने को प्रेरणा देना है। सामाजिक शिक्षा का यह कार्य रेडियो द्वारा प्रसारित किये गये शिक्षाप्रद रोचक नाटको, वार्तालापो तथा वार्त्ताओ द्वारा सपन्न होता है। मानवीय सवेदनाओ को रसाधार बनाकर रचे गये रूपक इस दिशा में बड़ा कार्य करने की क्षमता रखते है। साहित्य के शाश्वत सदेशों को बड़े पैमाने पर प्रभावोत्पादक ढग से अशिक्षित तथा अर्ध-शिक्षित जनता में प्रसारित करने का कार्य रेडियो द्वारा ही सभव है। मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्थापित करने के लिये, उनके मन में एकात्मता का भाव उत्पन्न करने के लिये, ऐसे उच्चकोटि के साहित्य की महत्ता सर्वविदित है और रेडियो अल्प-व्यय पर सामुदायिक रूप से जनता को इनका लाभ दे सकता है।

रेडियो द्वारा वयस्क एव बाल शिक्षा के सबध में भी प्रयोग किये गये है। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य सबद्ध वर्गों पर विशिष्ट प्रकार का प्रभाव डालना मात्र होता है। इस प्रकार के कार्य की सफलता का ज्ञान यद्यपि आँखों द्वारा नही किया जा सकता, तथापि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार इनका प्रभाव अनुकूल होगा, यह निस्सदेह है।

रेडियो द्वारा इस प्रकार शिक्षा प्रसार में केवल एक ही कठिनता है कि यदि कोई बात श्रोता की समझ में न आई, अथवा श्रोता चाहता हो कि उसे दुहराया जाय, तो वह तत्काल सभव नही हो सकता। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह है कि देहातो में सामुदायिक श्रवण मनोवैज्ञानिक पारस्परिक भेदभाव आदि के मिट जाने की सभावना है साथ ही श्रोता को काफी कम समय में बिना परिश्रम किये, अनेक प्रकार के विषयो के सबध में काफी सूचनाएँ मिल जाती है। क्या खेलकूद, क्या साहित्य, क्या अर्थशास्त्र, क्या ग्रामीण समस्या सभी पर सामान्य सूचनाए

रेडियो द्वारा प्रसारित की जाती है जिन्हें श्रोता आसानी से ग्रहण करता है।

रेडियो द्वारा शिक्षण प्रसार का जहाँ तक भारत में संभव है, एक कठिनाई है जिसको अनदेखी नही की जा सकती। भारत में रेडियो सरकार का ही एक विभाग है। स्पष्ट है कि इसके कार्यक्रम सरकारी दृष्टि कोण के अनुकूल पड़ें, इसे ध्यान में रखकर वनाये जाते है। ऐसी अवस्था में विचारों की अभ्यस्ति (Conditioning) की आशका हो सकती है। किन्तु वावजूद इन सवके इसे तो स्वीकार करना ही पडेगा कि रेडियो, केवल 'टेलीफोन' को छोडकर सामान्य शिक्षा प्रसार के लिये अन्यतम सशक्त साधन है।

आकाशवाणी (RADIO) : शिक्षा के माध्यम के रूप में

एक वच्चा दूसरों को बोलते सुन कर ही स्वय वोलना सीखता है। आकाशवाणी के द्वारा शिक्षात्मक वार्त्ता-प्रसारण इसी सिद्धान्त का व्यापक रूप है, जिसमें वार्त्ताओं के माध्यम से लोगों को शिक्षित करने का प्रयास रहता है। इतिहास को नाटक का रूप देकर, भूगोल को वार्त्तालाप में परिवर्तित कर और कविता के कुशल पाठ के द्वारा औसत शिशु के लिए एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया जाता है और आकाशवाणी से इन्हें सुन कर वह क्षणों में उतना सीख लेता है जितना घटो में पुस्तक पढकर या शिक्षक से सुन कर ग्रहण नही कर पाता।

विश्वविद्यालय के वयस्क छात्र भी विषय विशेष पर किसी अधिकारी विद्वान् को वोलते सुनना पसन्द करते हैं। देश-विदेश के विशेषज्ञो की वार्त्ताएँ आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रो से एक समय में ही प्रसारित की जा सकती है, या एक स्टूडियो में उनका रेकार्ड वना कर विभिन्न केंद्रों में वितरित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयो के छात्रों के लिए

कार्यक्रम आयोजित कर आकाशवाणी उनमें विचार-विमर्श करने और स्पष्टतापूर्वक बोलने की शक्ति विकसित करती है।

आकाशवाणी के माध्यम से जन-शिक्षा का भी सफल प्रयास किया जा सकता है। आकाशवाणी ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा कम-से-कम शिक्षकों की सहायता से जनता शिक्षित की जा सकती है। एक बात और है—उच्चरित शब्द लिखे शब्द से अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है, अत: आकाशवाणी से प्रसारित वार्त्ताओं का शैक्षणिक महत्व अत्यधिक है। हमारे देश में ग्रामीण श्रोताओं के लिए आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रो में विशेष आयोजन किए जाते हैं और यह निस्सन्दिग्ध रूप में प्रमाणित हो गया है कि स्वास्थ, सफाई और अन्य उपयोगी बातों की शिक्षा के लिए एक अमोघ साधन हमें प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार सैनिक शिक्षा भी आकाशवाणी के द्वारा बडी आसानी से लोगों को दी जा सकती है।

स्वतन्त्र भारत में स्कूली बच्चों की शिक्षा की समस्या बहुत जटिल हो गई है। स्कूल और कालेजो में छात्रों की बेहद भीड़ रहती है, अध्यापकों को अपनी शक्ति से अधिक काम करना पडता है, और परिणाम यह होता है कि छात्रों को व्यक्तिगत प्रशिक्षण से वंचित होना पडता है। इस समस्या को आकाशवाणी आसानी से सुलझा सकती है। आकाशवाणी एक स्कूल में पढाए गए पाठ को अनेक स्कूलों तक पहुँचा दे सकता है। प्रेस, फिल्म और रेडियो संबधी 'युनेस्को' आयोग (Commission) के प्रतिवेदन (Report) के अनुसार हमारे स्कूली वार्त्ता-प्रसरण में सबसे बडी कठिनाई यह है कि स्कूलो में तथा अन्य शिक्षणालयों में रेडियो-सेट पर्याप्त सख्या में नही रखे गए हैं। सामूहिक वार्त्ता प्रसरण को सर्व-सुलभ बना देने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार सस्ते रेडियो-सेटो के निर्माण को प्राथमिकता दे। जिन स्कूलों और कालेजों के पास पर्याप्त निधि हो, उन्हें रेडियो-सेट खरीदने के लिए प्रेरित करना भी जरूरी है। जिन शिक्षण-सस्थाओ को अर्थाभाव हो उन्हें रेडियो-सेट खरीदने के लिए सरकारी सहायता मिलनी चाहिए।

अर्थाभाव के कारण ही देश को, शिक्षा के क्षेत्र में, आकाशवाणी से उतना लाभ नही हो रहा जितना हो सकता है। अभी जितना पारिश्रमिक शैक्षणिक वार्त्ताओं के लिए प्रसारकों को दिया जाता है वह इतना कम है कि अच्छे लोग इस कार्य के लिए सुलभ नही होते। सगठन और योजना का भी अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। शैक्षणिक कार्य-क्रम में सुनने के बाद यही प्रभाव पडता है कि विभिन्न वय-वर्गों (Age groups) के लिए वार्त्ताओ की योजना बनाने में प्राय परिश्रम और सूझ-बूझ से काम नही लिया जाता। उदाहरण के लिए अन्य उन्नत देशो की तरह भारतीय आकाशवाणी के कार्य-क्रमो में ऐसा कोई निर्देश नही रहता—'सोलह वर्ष से ऊपर के लिए' या 'सोलह वर्ष से नीचे के लिए'—जिससे सुननेवाले को स्कूलों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कार्य-क्रम सुनने में सुविधा हो।

स्कूल के लिए आकाशवाणी से जो शैक्षणिक कार्य-क्रम प्रसारित होते है उन्हें सुनने से यह भी प्रतीत होता है कि उनके आयोजक यह निश्चित नही कर पाते कि वार्त्ताएँ पाठ्य-क्रम के सबध में और उन्ही पर अवलबित हों या पाठ्य-क्रम से भिन्न विषयो पर ध्यान केंद्रित कर सुननेवाले छात्रो के सामान्य ज्ञान के विकास का प्रयत्न किया जाए। वस्तुत. शैक्षणिक कार्य-क्रमों में दोनो बातों का समन्वय वांछनीय है। पहले वर्ग में पाठ्य-क्रमानुरूप ऐसे विषय रखे जा सकते है जैसे इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि; दूसरे वर्ग में पाठ्य-क्रमेतर विषय सम्मिलित किये जा सकते है, उदाहरणार्थ नागरिकता, धर्म, सड़क पर चलने के नियम, वर्त्तमान युग की नित्य की महत्वपूर्ण घटनाएँ, सफाई इत्यादि।

यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि वार्त्ताओं को तैयार करने के लिए चुना कैसे व्यक्तियो को जाए। आयोजको की मनोवृत्ति यह होती है कि सार्वजनिक प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियो को ही इस काम के लिए निमंत्रित किया जाय। किन्तु स्कूली छात्रों के लिए बोलनेवाले के लिए यह जरूरी नही है कि वह एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो या बहुत बडा विद्वान् हो, बल्कि यह कि वह वार्त्ता को स्पष्टतापूर्वक प्रस्तुत कर सके और अभिव्यजन की आकर्षक

पद्धति से श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किये रख सकें। स्कूल के शिक्षकों को भी बहुधा इस काम के लिए चुना जाता है। यह है तो ठीक, लेकिन यह भी एकमात्र सफल तरीका नहीं है।

शैक्षणिक कार्य-क्रमो को नेत्रहीनो के लाभार्थ भी आयोजित करना आवश्यक है। जिन्हे दुर्भाग्य से आँखो की शक्ति के सहारे पुस्तक पढने से वंचित होना पड़ा हो, उनके लिए श्रव्य शैक्षणिक कार्य-क्रमो से अधिक लाभदायक पद्धति और हो ही क्या सकती है? नेत्रहीनो की शिक्षण-समस्या का समाधान आवश्यक है। इस ओर आकाशवाणी के शैक्षणिक अधिकारियों को ध्यान देना उचित है।

जीवन पर भूगोल का प्रभाव

किसी भी देश के इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके भूगोल का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इतिहास के घटना-प्रवाह की दिशाओं के निरूपण के लिए यह जरूरी है कि हम महत्वपूर्ण स्थानों तथा प्रदेशों की निश्चित जानकारी रक्खें। इसके साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण रखना पडेगा कि विभिन्न देशो की भौगोलिक विशेषताओं का उनके निवासियों की प्रकृति पर अनिवार्य प्रभाव पडता है तथा राजनीतिक भाग्य से उसका अविच्छेद सम्बन्ध रहता है।

यदि यह सब आधुनिक इतिहास के लिए सच है तो प्राचीन इतिहास के लिए और भी ज्यादा सच है। भारतवर्ष जैसे देश के प्राचीन इतिहास के लिए तो भूगोल का अध्ययन बहुत ही महत्व रखता है, क्योकि इसमें अनेकानेक जातियो, प्रदेशों, नदियो, पर्वतो तथा नगरो के ऐसे नामो का उल्लेख रहता है जो हमारे लिए आज प्रायः अपरिचित हो गये है।

भूगोल का अध्ययन केवल राजनीतिक इतिहास के लिए ही उपयोगी नहीं है। हमने ऊपर प्राचीन भारतीय इतिहास की चर्चा की है; यदि इसे ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि राजनीतिक इतिहासकार के

अतिरिक्त सामाजिक इतिहासकार भी भूगोल के अध्ययन से समान रूप से लाभान्वित हो सकता है। जब वह धर्मसूत्रों में उदीच्य, सिन्धु देश, दक्षिणापथ आदि के विशिष्ट प्रयोग पाता है तो उसके लिए यह जानना सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि उनकी अवस्थिति कहाँ है मानी जाती थी। इसी प्रकार साहित्य के इतिहासकार को भी उदीच्य, विदर्भ, महाराष्ट्र, शूरसेन आदि स्थानों की अवस्थिति का निश्चित ज्ञान रखना आवश्यक है, क्योंकि विभिन्न 'रीतियाँ' तथा प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का नामकरण उन्हीं के आधार पर हुआ है। धार्मिक-पौराणिक इतिहासकार के लिए तो यह नितांत आवश्यक है कि वह देश की पवित्र नदियों, पर्वतों तथा तीर्थस्थानों और धर्मक्षेत्रों का विस्तृत ज्ञान रक्खे।

भूगोल देश-विदेश के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है; फलतः इतिहास समझने के लिए भूगोल के अध्ययन की सहायता अपेक्षित होती है। इस सम्बन्ध में हम पाते हैं कि जहाँ देश की भौगोलिक विशेषताएँ स्थायी होती हैं, वहीं उसकी राजनीतिक सीमाएँ बदलती रहती हैं; भौगोलिक विशेषताएँ इतिहास के प्रारंभिक रूप के निर्माण में बहुत बडा हाथ रखती हैं; राष्ट्रों के निर्माण के बाद भी वे उनके भाग्य का नियंत्रण करती हैं तथा इतिहास के नवीन युग में ही, एक हद तक मानव-प्रयास भूगोल से स्वतन्त्र रह कर किंवा उस पर विजय प्राप्त कर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर पा रहा है।

आधुनिक भूगोल के अध्ययन की उपयोगिता, दूसरे विज्ञानों के अध्ययन की तरह, विश्व की राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्र में ही विशेष रूप से देखी जाती है; इसके विपरीत प्राचीन भूगोल के अध्ययन का महत्व, साहित्य तथा विज्ञान की शाखाओं के अध्ययन के समान ही प्राचीन विश्व के इतिहास के विश्लेषण के प्रयत्नों में प्रमाणित होता है। भूगोल से विरहित इतिहास एक दिग्भ्रांत पथिक के समान है। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है, 'तिथिक्रम तथा भूगोल इतिहास के सूर्य और चन्द्र हैं, उसकी दो आँखें हैं।'

इस दृष्टिकोण से प्राचीन भूगोल का अध्ययन निम्नलिखित विभाजन के आधार पर किया जा सकता है—

गणितिक भूगोल—पृथ्वी के आकार, जलवायु इत्यादि के सम्बन्ध में।

राजनीतिक भूगोल—राज्यों के विस्तार को ध्यान में रखते हुए प्रदेशों के सम्बन्ध में।

व्यापारिक भूगोल—विभिन्न देशो के व्यापार, व्यापार-केन्द्रों तथा व्यापार-सरणियो के सम्बन्ध में।

नैतिक भूगोल—भिन्न-भिन्न स्थानो के निवासियों के स्वभाव, आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में।

धार्मिक भूगोल—विभिन्न धर्मों की प्रादेशिक अवस्थिति के सम्बन्ध में।

अब हम समवेत रूप से इस अध्ययन की प्रक्रिया पर विचार करें। प्राचीन भूगोल के अध्ययन से हमें उन जलवायु सबधी परिवर्तनो का ज्ञान होता है जो प्रागैतिसिक काल में हुए थे। जलवायु उपज को नियत्रित करती है और चूंकि किसी प्रदेश की उपज से यहाँ के निवासियो का अटूट सम्बन्ध रहता है अतः हम विभिन्न सभ्यताओ के स्थानातरित होने के रहस्य को इस प्रकार के अध्ययन से ही बहुत दूर तक समझ पाते है। हम प्राचीन भूगोल के अध्ययन से ही इस बात का समाधान पा सकते हैं कि क्यों आज से हजारो वर्ष पूर्व सहारा, मिस्र, अरब और सिंध समृद्ध सभ्यताओ के केन्द्र थे। सहारा को ही ले लें। आज वह एक अपार सैकत-सागर के सिवा कुछ नही किन्तु जब नाइगर नदी सहारा की समतल भूमि से हो कर गेबीज की खाडी में और कागो नदी सिप्रा की खाड़ी में गिरती थी तथा नील नदी सीधे पश्चिमाभिमुख प्रवाहित होती थी तो इसी रेगिस्तान में मनुष्यों की एक सतरगी सभ्यता कायम थी।

हम अपने से प्रश्न करते है कि क्यो कल के महत्वपूर्ण स्थान आज उपेक्षित या विस्मृत हो गये है। मध्य एशिया का खोटान या सीरिया का पालमिरा कभी भरे-पूरे नगर थे, किन्तु आज उनका कोई महत्व नही रह गया है। इसी तरह हम ऐसे कृषि-प्रधान प्रदेशो के बारे में अवगत होते है जहाँ अब कृषि होती ही नही; ऐसी जातियों के बारे में जानकारी हासिल करते है जो अनावृष्टि के कारण एक देश से दूसरे में जा बसी; तथा ऐसी सस्कृतियो और सभ्यताओ की कथा पढते है जो एक केन्द्र से उन्मूलित होकर दूसरे में विकसित हुई।

प्राचीन भूगोल के अध्ययन से हम यह भी जान पाते है कि मानव-जीवन तथा

पुरानी जातियो के सामाजिक सघटन पर वातावरण का क्या प्रभाव पडता है; विभिन्न देशो के बीच जल तथा स्थल के कौन से व्यापारिक मार्ग थे तथा यातायात के साधनो के अभाव में भी ससार के दूरस्थ किस तरह परस्पर गुम्फित थे।

इतिहास के लिए इतने महत्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर वहुत दिनों तक लोगो का ध्यान गया ही नही किन्तु जैसे-जैसे इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती गयी वैसे-वैसे विद्वानों की दृष्टि इधर आकृष्ट हुई। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब कि विकास के सिद्धान्त की स्थापना के लिए प्रारभिक प्रयास हो रहे थे, विद्वानो का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो इतिहास के प्रत्येक स्तर और पहलू को भौगोलिक वातावरण तथा परिस्थिति की दृष्टि से परखने तथा समझने की कोशिश करता था। इसने यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मानव-इतिहास का विकास प्राकृतिक अथवा भौगोलिक परिस्थितियो के विकास का ही अनुसरण करता है और वस्तुत ये ही मानव-इतिहास की प्रेरक शक्तियाँ है। उदाहरण के लिए मानव-सभ्यता के प्रथम स्तर में, भ्रमणशील अवस्था में, भिन्न-भिन्न मानव-जातियाँ तीन भिन्न परिस्थितियो में पायी जाती हैं—समुद्रतट पर, घने जंगलों में, या उपजाऊ प्रदेशो में। जो जाति समुद्र-तट पर रहती थी वह स्वभावत मछुओं तथा समुद्री लोगो की जननी हुई और घने जगलों में रहनेवाले वहुत दिनो तक शिकारी ही वने रहे, किन्तु उपजाऊ प्रदेशो के निवासी बहुत शीघ्र ही पशु-पालन भी करने लगे। इतिहास का भौगोलिक व्याख्याता इन्ही मछुओ, शिकारियो और पशु-पालको के सघटनो के आधार पर आज की सभी राजनीतिक और सामाजिक सस्थाओ तथा विधानो की मीमासा करने का प्रयास करता है।

मानव-इतिहास के अध्ययन के लिए विवेचन की यह भौगोलिक प्रणाली वहुत उपादेय सिद्ध हो सकती है किन्तु इसके प्रारम्भिक प्रतिपादक वहुधा अति-रजना के दोषी दीख पडते है। इगलैड के वक्ल[1] तथा जर्मनी के रैजल ऐसे दो

१. History of Civilization.

विद्वान् हैं जिन्होने अपने अतिशयोक्तिपूर्ण सिद्धान्तों के फलस्वरूप आधुनिक भूगोल-शास्त्र को ही विरोध का विषय बना दिया था। रैंजल का सिद्धान्त था कि मानवीय कार्य प्राकृतिक परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं, ये परिस्थितियाँ स्थायी होती हैं और उनका प्रभाव दुर्दम होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का विकास कुछ विशिष्ट सरणियों से ही होगा—यदि इसके चारो ओर की प्राकृतिक परिस्थितियाँ एक निश्चित प्रकार की हों। रैंजल के कुछ अनुयायी तो इतने अतिवादी थे कि उनका विश्वास था कि यदि इतिहास का नवीन प्रारम्भ हो और परिस्थितियाँ पहले जैसी ही हो तो इतिहास मूलतः पहले जैसे क्रम से ही विकसित होगा। 'निर्धारणवाद' (Determinism) का यह सम्प्रदाय पूर्ण 'भौगोलिक नियंत्रण' (Geographical Control) पर जोर देता था। बक्ल ने भी, अपने ढग से, आकडों की विशेषरूप से सहायता लेकर 'निर्धारण-वाद' का प्रतिपादन किया है।

बक्ल ने 'हिस्टरी ऑफ सिवलीजेशन्' नामक एक विराट ग्रंथमाला लिखने की योजना बनायी थी और इसके लिए उसने लगातार बीस वर्षों तक अध्ययन और परिश्रम किया था; किन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से इसके कुछ ही अंश वह लिख सका। और बातो के अतिरिक्त उसने अपनी पुस्तक में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण पूर्व सदैव पिछडा ही बना रहेगा और पश्चिम ही सभ्यता का केन्द्र हो सकता है। उदाहरण के लिए भारत की उष्ण जलवायु तथा उर्वरता यहाँ की वर्ण-व्यवस्था लिए उत्तर-दायी है जो कि उसके पिछडे होने का सबसे बडा प्रमाण है।

बक्ल तथा उनके अनुयायी इस स्थापना की मीमासा करते हुए कहते हैं कि भारत जैसे देशो में जहाँ एक ओर प्रकृति का उदार रूप प्रकट होता है और वहाँ के निवासी स्वल्प परिश्रम से अपना निर्वाह कर ले सकते है, वहीं, दूसरी ओर, इसका बुरा प्रभाव भी पडता है और जब प्रकृति अपना भयकर रूप दिखलाती है तो लोग सर्वथा विवश तथा पराजित हो जाते है। इसी का परिणाम होता है भाग्यवाद। भाग्यवादी तथा अदूरदर्शी होने के कारण ऐसे लोग बाढ या अकाल के समय निस्सहाय और निरुपाय होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रह जाने के

सिवा और कुछ नही कर सकते ? फिर ऐसी सकटपूर्ण परिस्थितियों का लाभ उठा कर समाज का वह बुद्धिमान वर्ग, जिसने पहले से आवश्यक सामग्रियाँ इकट्ठी कर रक्खी थी, अधिकार प्राप्त कर लेता है और साधारण लोगों का शोषण शुरू कर देता है। इसलिए ऐसे जलवायु में वर्गवैषम्य का उद्भव स्वाभाविक है और इसी के परिणामस्वरूप हम भारत में वर्णव्यवस्था जैसी सामाजिक कुरीतियाँ पाते है। भाग्यवाद तथा वर्गवैषम्य के ऐसे वातावरण में प्रजातन्त्रवाद भला कैसे पनप सकता है ?

इसी प्रकार चावल के रासायनिक तत्वो के परीक्षण के आधार पर वक्ल इसका भी समाधान करना चाहता है कि क्यों भारतीय स्वभावत. दर्शनोन्मुख तथा वास्तविकता से विमुख होते है। वक्ल का रसायनशास्त्र तो गलत है ही, उनका इतिहास भी उस समय एकदम खोखला प्रमाणित हो गया जब चावल और मछली खानेवाले जापानियो ने गेहूँ और मास खानेवाले रूसियो को प्रथम महायुद्ध में पराजित कर दिया।

वक्ल या रैंजल के सिद्धान्तो का दूसरे विद्वानो ने किन आधारो पर खडन किया है, इसके विवेचन के पहले हम यह कह लेना आवश्यक समझते है कि शास्त्रीय दृष्टि से इनके मतो के खडन के उपरात भी भारतीय इतिहास के विदेशी विशेषज्ञ इन अस्वीकृत सिद्धान्तो के आधार पर यहाँ के इतिहास का निर्णय करते रहे। इनमें डाक्टर विसेंट स्मिथ महोदय अग्रगण्य है उन्होने राजपूतों की पराजय के कारणो के सबध में जो विचार उपस्थित किये हैं उनकी आलोचना करते हुए डाक्टर भाडारकर कहते है—"उनका (स्मिथ का) कहना है कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुस्लिम आक्रमणकारी कही अधिक शक्तिशाली थे क्योंकि वे शीत प्रदेशो से आते थे। वे शरीर से ज्यादा तगड़े और मजबूत होते थे क्योंकि वे आमिषभोजी थे जब कि हिन्दू साधारणत निरामिषभोजी होते थे।... एलिफस्टन इनसे अधिक उदार दृष्टि रखते थे और उन्होने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि अरबों ने फारस की तरह भारत पर भी विजय प्राप्त करने में क्यों सफलता नही पायी ! स्मिथ ने स्वय स्वीकार किया है कि मुहम्मद की मृत्यु के अस्सी वर्षों के भीतर ही अरबों ने फारस, सीरिया, पश्चिमी

तुर्किस्तान, सिंध, मिस्र और दक्षिण स्पेन पर विजय प्राप्त कर ली थी। किंतु वे भारत को अपने अधीनस्थ नही कर सके। भारतवर्ष मे इस्लाम के पैर इसके साढ़े चार सौ वर्षों के बाद ही जम पाये। यह एक विचित्र-सी बात है कि स्मिथ कैसे इतने बड़े काल-खड की उपेक्षा कर देते है जो किसी दशा में महत्वशून्य नही माना जा सकता। स्मिथ यह नही समझ सके कि अरब आक्रमणकारी क्यों सिध और मुल्तान के आगे अपना राज्य-विस्तारह करने में असमर्थ हुए, यद्यपि उन्होंने एशिया, यूरोप तथा अफ्रिका के बहुत बड़े हिस्सो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और उनका धार्मिक उत्साह भी ठढा नही पड़ा था। इस तथ्य की ओर एलिफस्टन का ध्यान तो गया था, किन्तु स्मिथ ने इसकी उपेक्षा की है।"[१]

हमारी पाठ्य-पुस्तक में यह परम्परा बहुत दिनो तक चलती रही और अभी तक इससे पूरा छुटकारा नही मिला है। जिस भ्रामक धारणा का बीजारोपण विदेशी विद्वानों ने किया, उसे हमारे देश के अधकचरे इतिहासज्ञों ने ब्रह्म-वाक्य मान कर हृदयगम किया और छात्रों की न जाने कितनी पीढियाँ उनकी रचनाओ के अध्ययन के फलस्वरूप अधकार में पडी रही। हमारे स्वदेशी इतिहासकारो ने जिस बौद्धिक दासता और दिवालियापन का परिचय दिया है वह कितना दयनीय है, यह किसी से छिपा नही। इन विद्वानो ने स्कूली किताबो से लेकर उच्च कक्षा के योग्य ग्रथों में बार-बार लिखा है कि भारतवर्ष की उष्ण जलवायु यहाँ के निवासियों को आलसी और आरामतलब बना देती है। जहाँ समुद्रतट के समीप रहनेवाले उद्योगी और उत्साही होते है वही देश के भीतरी हिस्सो में रहनेवाले निष्क्रिय, निश्चेष्ट, तथा निरुद्यमी पाये जाते है। लेकिन इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि पजाब जैसे उष्ण प्रदेश में रहनेवाले सिक्ख घुड़सवारो का अगर कोई मुकाबला है तो रूसी घुडसवारों में ही! इसी तरह कुरुक्षेत्र तथा राजपूताना के जाट और राजपूत एवं पूर्वी प्रदेश के भोजपुरी मसार के

---

१. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Vol. X, Pages 26-28.

किसी देश के श्रेष्ठ सैनिको की वरावरी कर सकते हैं। भारत के उष्ण प्रदेशों के इन्ही सैनिकों ने अफगानिस्तान, फारस, चीन, तिब्बत, जर्मनी, अरव, तुर्की, अफ्रीका आदि देशों में अनेकानेक युद्धो में भाग लिया है तथा उल्लेखनीय सफलता भी प्राप्त की है।

ठीक इसी प्रकार जो विद्वान चीनियों को आलसी और निरुद्यमी कहते हैं, वे चीन के इतिहास से अपनी अनभिज्ञता का ही परिचय देते हैं। वे इस बात से अवगत नही कि ईसा की प्रथम शताब्दी में चीनी साम्राज्य पीत सागर तथा दक्षिण चीनी सागर से लेकर कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था और सातवी और आठवी शताब्दियों में चीनियों ने तुर्किस्तान और कश्मीर के सुदूर और दुर्गम भागों में अपना प्रभाव स्थापित किया था।

अव हम एक प्रतिकूल पक्ष का उदाहरण देखें। क्या शीत देश में रहनेवाले निवासियो से भी अधिक आलसी तथा निष्क्रिय जाति का अन्यत्र दृष्टात मिल सकता है ?

'भौगोलिक नियत्रण' के इस सिद्धान्त का प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी किस तरह दुरुपयोग किया है इसके दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होगे। भारतीय इतिहास के शीर्ष-स्थानीय विद्वान् श्री यदुनाथ सरकार ने महाराष्ट्रियो की प्रत्येक विशेषता के कारण को महाराष्ट्र की भौगोलिक विचित्रताओ में ढूँढ़ निकालने की कोशिश की है। उनका कहना है कि महाराष्ट्री भाषा में हिन्दी के आदरसूचक 'आप' जैसा कोई शब्द नही और इसका कारण इस भाषा के प्रदेश का पहाड़ी होना ही है। हम जहाँ यह स्वीकार करने में किसी तरह की द्विविधा का अनुभव नही करते कि महाराष्ट्र के इतिहास पर इसके भूगोल का पर्याप्त प्रभाव है, वही इस प्रकार की उद्भावनाओं की महत्वशून्यता की ओर भी विवेकशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझते है। गुजरात प्रदेश पहाड़ी नही है किन्तु वहाँ की भाषा में भी इस प्रकार के शब्दो का अभाव है और पश्चिम के हिन्दी-भाषा-भाषी भी 'आप' का अपेक्षाकृत बहुत कम ही प्रयोग करते है और स्वय बगला में भी 'आप'

का अस्तित्व होने पर भी 'तुम' की ही प्रधानता है। फलतः भूगोल का भाषा पर थोडा-बहुत प्रभाव माना तो जायगा, किन्तु इस रूप में अवश्य नही।

डा० ए० सी० दास ने भी कुछ भ्रामक भौगोलिक आधारो पर वैदिक काल की अतिशय प्राचीनता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार वेदो का युग वह था जब उत्तर भारत का पश्चिमी हिस्सा समुद्र था। उनके इस मतव्य की पुष्टि इतिहास के किसी दूसरे स्रोत से नही होती, इसलिए इस पर विद्वानो ने काफ़ी गम्भीरतापूर्वक विचार करना भी अनावश्यक समझा है। हाँ, दूसरे स्रोतो को ध्यान में रखते हुए नक्षत्र-विद्या के आधार या इसी विषय के सम्बन्ध मे याकोबी और तिलक ने भी शोध किये है और उनके मत बहुत दूर तक स्वीकृत भी हो चुके है।

शास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में बक्ल और रैजल के सिद्धान्त बहुत पहले ही अस्वीकृत हो गये थे। चार्ल्स किंग्स्ले ने १८६० में ही उसके सिद्धान्त का खडन किया था।[१] फिर १८६४ में जेम्स एटोनी फ्रायड ने भी बडी सफलता से बक्ल के 'नियन्त्रणवाद' की आलोचना की।[२] बक्ल के सबसे कटु आलोचक थे जे० जी० ड्रायसन[३], जिन्होने 'नियन्त्रणवाद' के सिलसिले में यहाँ तक कह डाला है कि इस प्रकार के दर्जनो सिद्धात रोज ही उद्भावित किये जा सकते है। इन आलोचनाओ के सिद्धातो का साराश यह है कि नियन्त्रणवाद में जिन निश्चित विज्ञान-सुलभ नियमो की चर्चा की जाती है, उनके सर्वथा विपरीत इतिहास (१) जहाँ तक उसकी पद्धति का सवाल है, निरीक्षण और प्रयोग का विज्ञान नही है, अपितु आलोचना का विज्ञान है; तथा (२) जहाँ तक उसकी मान्यताओं का प्रश्न है वे वैज्ञानिक 'नियम' की तरह कदापि निश्चित या सार्वभौम नही हो सकते।

---

१. The Limits of Exact Science as applied to History.

२. The Science of History.

३. Erhebung der Geschichte zum Rang Eiver Wissenschatt और Grundriss der Historik.

रैंजल के मंतव्य के भी विपरीत महान फ्रासीसी भूगोलशास्त्री Vidal de la Blache ने इस सिद्धात का प्रतिपादन किया कि मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति वातावरण पर पारस्परिक नियत्रण या प्रभाव स्थापित करने में समर्थ होती है। मनुष्य जहाँ अपने को प्राकृतिक परिस्थितियो के अनुरूप बना लेता है वही वह अपने वातावरण को वदलने या नवीन रूप से गढने में भी सफल होता है। इस तरह 'भौगोलिक नियत्रण' के बदले पारस्परिक नियत्रण या 'भौगोलिक' प्रभाव का सिद्धात ही अधिक मान्य प्रमाणित होता है।

बहुत सक्षेप में आधुनिक विचार के निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मनुष्य के इतिहास की जो दो प्रेरक शक्तियाँ है वे है मनुष्य तथा प्रकृति। उन्ही की क्रिया-प्रतिक्रिया से मनुष्य का इतिहास निर्मित होता है। मनुष्य स्वतन्त्र भाव से काम करता है, वह अपनी सस्कृति को अपनी इच्छाओ तथा विचारो के अनुसार विकसित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु, दूसरी ओर मनुष्य की उपलब्धि प्रकृति के द्वारा नियमित तथा प्रभावित भी अवश्य ही होती है। किसी भूखड की बनावट, जलवायु, उपज सभी मिलकर जगली जानवरों की स्थिति को अवश्य ही नियंत्रित करती है। किन्तु हम जब मनुष्य की वात करते है, तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह अधिक युक्तिसगत है कि हम 'प्रभाव' का व्यवहार करें न कि 'नियत्रण' का, क्योकि मनुष्य और प्रकृति के बीच पारस्परिक नियत्रण ही देखा जाता है। कुछ वातो में प्रकृति का मनुष्य पर पूर्ण अधिकार रहता है। उदानरण के लिए मनुष्य कोयले की खानों को उस प्रदेश में किसी प्रकार स्थानातरित नही कर सकता, जिसमें प्रकृति ने उन्हें अवस्थित नही किया है। किन्तु अनेक क्षेत्रों में मनुष्य प्रकृति को परास्त तथा नियत्रित करने में समर्थ भी हो सकता है। जो प्रदेश वजर और वेकार है, उसे मनुष्य कृत्रिम उपायों के द्वारा हरे-भरे खेतों में परिणत कर सकता है और यह आज एक मामूली वात हो गयी है। इस तरह के दूसरे उदाहरणों का भी अभाव नही है।

तो इतिहास की दृष्टि से भूगोल दो प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकता है। वैज्ञानिक भूगोल पहले तो विश्व के अन्वेषण को पूर्ण कर तथ्यों का सग्रह करता

है और उनके विश्लेषण का प्रयास करता है। इसके बाद ही वह वातावरण के उन तत्वों का सांगोपांग अध्ययन करता है, जिन्होंने किसी भू-भाग या उसके निवासियों के विकास को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित किया है।

भूगोल विश्व का अध्ययन करता है तो उसे मनुष्य का निवासस्थान मान कर ही। उसका उद्देश्य केवल यही रहता है कि वह मनुष्य जाति के प्राकृतिक वातावरण की जानकारी प्राप्त करे। कोई भी दूसरा विज्ञान मानव-वातावरण से इस प्रकार से सम्बद्ध नही है। भूगर्भवेत्ता प्रसार-खडों के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखता है; खगोलशास्त्री की दृष्टि जलवायु और मौसम तक ही जाती है; वनस्पतिशास्त्रवेत्ता वनस्पति-जीवन से आगे नही बढ़ता और प्राणि-विद्या-विशारद पशु-जीवन को ही अपना विषय मानता है। इसके विपरीत एक भूगोल-विशारद् इन विज्ञानों में से प्रत्येक के परिणामों में से केवल उतना ही लेता है जितने से वह उस सजीव और सपूर्ण रंगमच की विशेषताओं को समझ सके जिन पर मनुष्य को जीवन-नाटक के अपने भाग का अभिनय करना पडता है।

संस्कृति और उसके नये तत्त्व

पिछले दो सौ वर्षो मे भारत की जो प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति की तलाश में घुटकर मर जाती थी उनको स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से उन्मुक्त विकास करने का अवसर मिला है। वे आज राष्ट्र-निर्माण, समाज-निर्माण, राज्यतत्र और अर्थतंत्र-निर्माण के क्षेत्रों में अभिनव मौलिकता के साथ प्रकट होना चाहती है, वे बौद्धिक क्षेत्र में भी अपना माध्यम ढूँढना चाहती हैं। उनके इन्ही आग्रहों के आधार पर पिछले दिनों मे सस्कृति के प्रश्नो पर नाना प्रकार से विचार-विमर्श हुआ है, विभिन्न क्षेत्रो से विभिन्न दृष्टिकोण का परिचय मिला है, किन्तु सर्वत्र विचारो की निर्भीकता और सुस्पष्टता का अभाव दीखता है। जहाँ निर्भीकता मिल भी जाती है, वहाँ घोर रूढिवादी दृष्टिकोण और असंगत विचारधारा का परिचय मिलता है। राष्ट्रीय जीवन

की आवश्यकताओ को देखते हुए इस स्थिति का अन्त होना चाहिए, अन्यथा आज की बौद्धिक अस्पष्टताओ का प्रभाव हमारे समाज के भविष्य पर अनिवार्य रूप से पडनेवाला है। दूसरे, सभ्यता और सस्कृति के नाम पर पिछले दिनो मे जो कुछ कुकृत्य हुए है, उनसे सम्पूर्ण राष्ट्र के मुख पर कालिख पुत गयी है। सभ्यता और सस्कृति के नाम पर ही देश का बँटवारा हुआ। इनकी ही रक्षा के नाम पर न सिर्फ आदमी का खून पानी की तरह बहाया गया, बल्कि पिछले २००० साल के बाद इतिहास का जो सबसे महान् पुरुष पैदा हुआ था उसकी हत्या की गयी। ऐसी दशा मे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप मे उठता है कि संस्कृति अन्ततोगत्वा कौन-सी वस्तु है? क्या वह इन भयकर कुकर्मो का सिफारिश करती है? और क्या तब यह किसी रूप मे स्पृहणीय बनी रहती है?

संस्कृति से साधारणतया हमारा आशय कुछ धार्मिक, साहित्यिक अथवा दार्शनिक ग्रथो, कुछ राग-रागिणियो, कुछ चित्रो, कुछ मूर्त्तियो और कलात्मक संकेतों से रहता है। इन्ही प्रसंगो में हम सभ्यता का भी प्रयोग करते है। फिर तो हम कहने लगते है कि अमुक राष्ट्र की सस्कृति इतने वर्षों की है, अमुक की इतने की। हमारी अपनी सस्कृति की धारा गत ३००० वर्षों से निरंतर बहती चली आ रही है। अन्य देशीय सस्कृतियाँ अस्थायी है, हमारी ही शाश्वत है।

समस्या का अन्त यही नही हो जाता। बात आगे बढ़ती है और हिन्दू संस्कृति, ईसाई सस्कृति और इस्लामी सस्कृति की दुहाई दी जाने लगती है। इस प्रकार सस्कृति की सीमा के अन्तर्गत कला, धर्म और इतिहास की समस्याएँ उठ खड़ी होती है।

तो, क्या संस्कृति के उपकरण कला, धर्म और राष्ट्रीय इतिहास से अभिन्न है? क्या सस्कृति की निजी सत्ता नही, निजी नियम नही? क्या सस्कृति की उच्चता का बोध उसकी आयु से ही हो जाता है? सस्कृति सम्पूर्ण मानवता से सबधित है या उसे भी भौगोलिक और ऐतिहासिक इकाइयो की सकुचित परिधि में बन्द रखा जा सकता है? इन प्रश्नो का समीचीन उत्तर आज समाज

तथा राष्ट्र के निर्माताओ और कलाकारो को देना है। १९वी शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता के उन्नायको ने इन प्रश्नों के गुजलक को साफ नही किया। फलत. हमारी राष्ट्रीयता का विकास विकृत रूप से हुआ और अन्तिम परिणति असभावित और विषपूर्ण।

जो लोग सस्कृति के नाम पर प्राचीनता का दभ करते है और राष्ट्रीय इतिहास का हवाला देते हैं वे वस्तुतः वर्त्तमान जीवन की समस्याओ से आतकित होकर अनुर्वर अतीत की रेत मे मुह छिपाते है। सस्कृति को वर्ष और आयु की तुला पर तौलना भ्रामक है क्योंकि इस अर्थ मे कोल-भीलो की सस्कृति कुछ कम प्राचीन नही। अफ्रीका की जंगली जातियो की भी अपनी सस्कृति है जो आधुनिक यूरोप की सस्कृति से कही ज्यादा पुरानी है। तो क्या हम पुरानेपन के आधार पर ही इन सस्कृतियो को श्रेष्ठतर मान लेंगे? आदर्शवादी रहें अथवा यथार्थवादी, हम सबके मन मे मानव की सर्वा ग सुन्दर, प्रोज्ज्वल कल्पना रहती है। उसकी प्राप्ति के लिए लक्ष्य है वाह्य जीवन और मानस की बर्बरताओ का शोधन, मानव के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रस्फुटन। इस प्रक्रिया में जिस मात्रा में सफलता मिलती है उसी अनुपात मे हमारी सस्कृति का विकास होता है। चूँकि व्यक्ति निस्सग नही, बल्कि सामाजिक प्राणी है, उसके व्यक्तित्व की समस्याओ और विकास को सामाजिक पृष्ठभूमि मे ही आँकना उचित होगा। यह सत्य है कि व्यक्ति हमेशा समाज का ही अग नही रहता, बल्कि वह अपने व्यक्तित्व के निजत्व में भी विलास करता है, किन्तु यह निजत्व उसके सामाजिक व्यक्तित्व के विपरीत नही होना चाहिए। अगर होता है तो वह या तो अपराधियो की सूची में एक नाम का इजाफा करता है या क्रात द्रष्टा के रूप में सम्पूर्ण समाज के ढाचे को परिवर्तित करने की चेष्टा करता है। इन दोनो दिशाओ में से जिधर भी वह जाय, वह सामाजिक नियमो का अपवाद ही रहता है। यह विशिष्ट प्रवृत्तियो के अतिरेक का प्रमाण है, अन्यथा समाज के ढाचे में इतना विस्तार है कि व्यक्ति किसी हद तक स्वेच्छाचार के लिए भी अवसर पा जाता है। इसलिए उसकी समस्याओं को सामाजिक हितो की कसौटी पर ही परखा

जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति का प्रश्न सीधे समाज के स्वरूप से आकर टकराता है।

समाज के जीवन में कला, धर्म, इतिहास, आर्थिक सघर्प तथा अन्यान्य कितने ही जीवन-व्यापारों का समावेश है। सस्कृति इन सबसे सम्बन्धित है, किन्तु अकेले एक से भी नही। अपनी पूर्णता में समाज का जीवन एक संश्लिष्ट योजना है। ऐसी दशा में कला, धर्म, इतिहास या अर्थव्यवस्था किसी भी एक दृष्टिकोण से सस्कृति की समस्या को, सामाजिक व्यक्ति के मानसिक और नैतिक विकास को देखने पर न सिर्फ हमारे निष्कर्ष एकागी होंगे, वल्कि मूल समस्या भी तिर्यक नजर आयगी।

सस्कृति को कला के तराजू पर भी नही तौल सकते, क्योकि सामाजिक जीवन-व्यापार की व्यापक पृष्ठभूमि में कला अभिव्यक्त रूप में स्वय एक माध्यममात्र है, जिसका अस्तित्व और रूप कलाकार के समाज-दर्शन पर निर्भर रहता है। अलवत्ता कला को सांस्कृति उत्कर्ष के प्रमाण में परखने का यत्न किया जा सकता है।

धर्म के नियमों और रूढ़ियो के अनुसार भी सस्कृति के रूप को निर्धारित करने का प्रयास अस्वस्थ है। धर्मों के साधारण नियमो में कुछ लोगो को विश्वजनीन कल्पना की एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वास्तव में धर्मो ने मनुष्य को अपने विशिष्ट रूपो के कारण तगनजरी का शिकार बनाया है। धर्म के नाम पर पिछले जमानो में कितना जुल्म हुआ और मनुष्य को आदर्श के साँचे में ढालने के वदले उसे कितना विकृत कर दिया, इसका निर्मम साक्षी मध्ययुग का इतिहास है। फिर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और उनके आदर्श अनुयायियो के बलिदान के बाद भी बीसवी सदी में दो-दो विश्वयुद्ध और उसके बाद गान्धीजी की हत्या, धर्मों के दावो पर तीखा व्यग्य है।

धर्म की उत्पत्ति का आधार अन्धविश्वासग्रस्त किन्तु कल्पना-प्रवण मन रहा है। इसके विशुद्ध तत्व दार्शनिकता के आवरण में सुरक्षित है, किन्तु सक्रिय सामाजिक शक्ति के रूप में इसकी समस्त चेष्टाएँ मध्ययुग तक धर्मधुरीणो के अनाचार और धर्मान्ध शासको के युद्ध में निश्शेष हो गयी। ऐतिहासिक दृष्टि

से कहा जा सकता है, धर्म के विशुद्ध तत्वो ने मनुष्य के सांस्कृतिक उन्नयन में काफी हाथ-बँटाया है। किन्तु अन्ततः मानव जाति के अवचेतन पर उनके पतन का भी गहरा प्रभाव पडा है। यह प्रभाव समय-समय पर दमित चेष्टाओं के अनियन्त्रित विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ है। जहाँ का समाज औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मध्ययुग की देहली को पार कर गया है, वहाँ इस वृत्ति का उभार उग्र राष्ट्रीयता के रूप मे होता है। जहाँ का समाज उतना आगे नही बढ गया है, वहाँ धर्म की अन्धपरम्पराओं का ही दौर-दौरा है। किन्तु ऐतिहासिक कारण से भारत में एक काल में ही धर्म और राष्ट्रीयता ने सामाजिक शक्ति के रूप में अपने को अलग-अलग प्रकट किया है, यद्यपि दोनो की मूल वृत्ति एक ही रही है। अस्तु, दोनों अवस्थाओ में मानव की दृष्टि सार्वभौम न होकर एकदेशीय रह गयी। यह सकुचित दृष्टि वैज्ञानिक विकासों के पूर्व किसी हद तक समझ में आ सकती थी। आज जब मनुष्य ने बडी-बडी प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार पा लिया है और भूगोल सिमट गया है, यह सकीर्णता न केवल बेतुकी है, बल्कि मनुष्य के आदर्श रूप को विकृत करनेवाली है। जिन चेष्टाओं के नतीजे में देशो की चहारदीवारियाँ नीची हो गयी हैं और जहाँ-तहाँ ढह चली है, उनका ही तकाजा है कि मनुष्य जरा ऊँचे उठकर अपनी मौलिक एकता का दिशा-सधान करे।

इसलिए सस्कृति को, मानव के आध्यात्मिक अथवा नैतिक जीवन को, उसके व्यक्तित्व के सूर्ण विकास और परिष्कार के लिए चलनेवाली समस्त चेष्टाओं को, आधिभौतिक और धर्म-निरपेक्ष रहना चाहिए। यह इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि है जिसकी परिधि मे अतीत के अनुभव और भविष्य की आशा समाविष्ट है। कहने की आवश्यकता नही, यह विश्व-चिन्ताधारा को मार्क्सवाद की विशिष्ट देन है।

मार्क्सवाद को भी कुछ लोग सामाजिक शक्तियो के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति के रूप में ग्रहण नही करते। उनके लिए मार्क्सीय दर्शन दो—भाग हाइड्रोजन+एक भाग ऑक्सिजन=जल—जैसा फार्मूला है जिसे वे देश और

काल की विशेषताओं को भूलकर प्रयोग करते है। उनकी दृष्टि में यह समाज-विज्ञान, गणित, पदार्थ-विज्ञान या रसायन-शास्त्र जैसा ही है। वे समाज को विशाल प्रयोगशाला समझते है जिसमें मनुष्य का महत्त्व प्रयोग के यत्र या टेस्ट ट्यूब से रचमात्रा भी अधिक नहीं है। यही कारण है कि वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर आर्थिक व्यवस्था को ही दुरुस्त करके समाज के प्रश्नो को चिरकाल के लिए हल कर देने का दुस्साहस रखते हैं। उनकी धारणा है कि समाजतत्र के आर्थिक आधार को मार्क्सवादी स्वरूप दे देने के बाद मनुष्य का सस्कार-परिष्कार स्वयं हो जायगा।

इस विश्वास के मूल में तीन मौलिक त्रुटियाँ है —

१ समाज के आर्थिक आधार को शुद्ध कर देने पर मनुष्य के स्वतः संस्कृत-परिष्कृत हो जाने की आशा रखना अदृष्टवादी दृष्टिकोण का परिचय देता है। यह धार्मिक दृष्टि हो सकती है, वैज्ञानिक नही। मार्क्सवाद के नाम पर ऐसी भ्रान्ति का प्रचार करना बौद्धिक दीवालियापन और बेईमानी है।

२. इस रूप में मनुष्य को यत्रवत् और जड मानना पड़ता है। अर्थात् वह मस्तिष्कहीन प्राणी है जो सर्वथा बाह्य शक्तियो की मर्जी पर बनता-बिगडता है। उसकी निजी प्रतिक्रियाओं का उसके अपने और संपूर्ण समाज के जीवन पर कोई प्रभाव नही पड़ता। प्राणिशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान ऐसे भ्रान्त सिद्धान्तो का प्रत्याख्यान करते हैं।

३. मनुष्य को यत्रवत् स्वीकार कर लेने पर समाज में नीति और अनीति का प्रश्न नही रह जाता। समाज के नियमन का अधिकार और उत्तरदायित्व व्यष्टि अथवा समष्टि के हाथ से निकलकर ऐसे मुट्ठी भर लोगों के पास चला जाता है जो अपने को समाजतत्र का निर्माता और निरकुश शासक मानते हैं। समस्त शक्तियो का स्रोत सिमट कर उनके हाथो में चला जाता है। यह अधिनायकवाद का मार्ग है, समाजवाद और प्रजातन्त्र का नही। ऐसे शासन में मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास असभव है।

निरकुश शासन-व्यवस्था को सिद्धान्त रूप में ग्रहण करने पर शासन और समाजतंत्र के अधिकारियों पर किसी प्रकार की पाबन्दी नही रहती। महान्

आदर्शों की प्राप्ति के नाम पर वे बुरे-भले सभी प्रकार के साधनों के व्यवहार की आजादी रखते हैं। समाज के अग्रगण्यो के विचार और कार्य का प्रभाव साधारण जनों पर बड़ा गहरा पडता है। अत वे ही जब साधनो की शुचिता को आवश्यक न मानेंगे तो परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज के जीवन से नीति-अनीति और भले-बुरे की विभाजन-रेखाएँ अन्तत: मिट जायेंगी।

यहाँ हम साधन और साध्य की शुचिता और मौलिक एकता का सैद्धान्तिक विश्लेषण गवारा कर सकते हैं। यह प्रासगिक ही नही, आवश्यक भी है। सामाजिक शक्तियो का विकास-मार्ग व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबन्धजन्य प्रतिक्रियाओ की शृंखला से निर्धारित होता है। वैयक्तिक किंवा सामाजिक आदर्श और उनकी प्राप्ति के साधन की उपमा किसी निर्दिष्ट स्थान और वहाँ तक जानेवाले मार्गों से नही दी जा सकती। जहाँ व्यक्ति और समाज के जीवन पर आदर्श का प्रभाव स्थायी वृत्ति के रूप में रहता है, वहाँ प्रयोग के सिलसिले में साधन भी निश्चित रूप से उन्हें प्रभावित करते रहते हैं। मनुष्य जिस प्रकार वाह्य शक्तियो का प्रभाव ग्रहण करता है, उसी प्रकार उसकी आत्मिक प्रतिक्रियाएँ भी उसकी प्रगति की दिशा का नियमन करती रहती हैं। इस रूप में साधन का प्रभाव अन्तत साध्य पर पडता है। साध्य की प्रकृति से मेल नही खानेवाले साधनो को व्यवहार मे लाकर साध्य को पाना तो दूर रहा हम उसे विकृत कर डालते हैं। अत सामाजिक कार्यप्रणाली, आतंक, हत्या और तर्कहीन प्रवृत्तियो को प्रश्रय देने से समाजवाद की स्थापना असभव है। समाजवादी आन्दोलन के लिए क्रान्तिकारी मार्ग का अवलम्बन उसी दशा में आवश्यक हो सकता है, जब कि समाज की शासन-व्यवस्था के सूत्रधार परिवर्तन की चेष्टाओ को शुचितापूर्ण मार्ग ग्रहण करने का रंचमात्र भी अवसर नही देते हों। जहाँ नाना प्रकार की पावन्दियो के वाद भी कुछ सुविधा मिलती है वहाँ गुप्त षड्यन्त्र, घृणा का प्रचार, अनुचित अनावश्यक उत्तेजना का अनुमोदन सामाजिक अपराध और अनैतिक कृत्य है।

आदर्श समाज और उसके संचालक आदर्श व्यक्ति के निर्माण की क्रिया साथ-साथ चलती रहनी चाहिए। तभी व्यक्ति और समाज की समस्याओ में

कोई मौलिक विभेद नही उठ खडा होगा। यदि एक ओर समाज की अर्थ-व्यवस्था को नया आधार दिया जाता है तो व्यक्ति के आचार-विचार की शुचिता और नैतिकता पर भी जोर देना चाहिए। अर्थात् नये सामाजिक पुरुष के व्यक्तित्व का नवीन सास्कृतिक आधार होगा। मध्ययुगीन समाज में धर्म ने इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया। आज आर्थिक जीवन की धारा का दिशा-परिवर्तन हो गया है, दुनिया बदल गई है, किन्तु धर्म के नियम रूढ है, सकुचित और एक देशीय है। उनसे आज हमारा काम नही चलने का। नये समाज और नये आदमी की सस्कृति को धर्म-निरपेक्ष रहना होगा उसके कर्मो की अच्छाई-बुराई की कसौटी धर्म के नियम नही होगे।

तब वह कसौटी आज कौन सी होगी? इस प्रश्न को दार्शनिक अथवा महज सैद्धान्तिक रूप में आगे बढ़ाने पर वस्तुस्थिति का संग छूट जाने का भय है। इसे सामाजिक हितो की पृष्ठभूमि में ही निर्धारित करना होगा। यदि किसी वर्गविशेष का नही, बल्कि वर्गहीन और सम्पूर्ण समाज का हित-साधन लक्ष्य है, तो व्यक्ति की सस्कृति को ऊपरी तबके के कुछ लोगो की दिमागी विलासिता का साधन न बनकर साधारण जन के दैनिक व्यापार का विश्वास-बल बनना पडेगा। अगर वर्गहीन, शोषणहीन समाज में तर्कहीन यन्त्रवत् व्यक्ति नही, बल्कि पूर्ण प्रस्फुटित व्यक्तित्ववाला व्यक्ति हमारा अभिप्रेत है तो समाज-वादी सिद्धान्तो में अनुकूल नीतिशास्त्र का निर्माण आवश्यक है। उस नीति-शास्त्र का आधार समाज के उत्पादक श्रम में व्यक्ति की पारस्परिक सहयोग-भावना होगी जो अधिनायको के फर्मान के बल लादी नही जायगी। यह भावना उत्पादक-श्रम की प्रक्रिया के बीच व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुख की पारस्परिक अनुभूति में विकसित और प्रकट होगी। इसकी प्रेरणा का स्रोत उर्ध्व होगा। किन्तु यह चेतना स्वत. उत्पन्न हो जायगी, ऐसा सोचना भ्रम-पूर्ण होगा। उसके लिए व्यापाक प्रचारात्मक आन्दोलन चलाना होगा अन्यथा वर्तमान सामाजिक मनोविज्ञान की छाया चिरकाल तक पीड़ा पहुँचाती रहेगी।

सामाजिक समस्याएँ और समाज-विज्ञान की आवश्यकता

भौतिक विज्ञान की प्रगति आज बेअन्दाज हुई है। भौतिक विज्ञान के पहले ज्योतिष और तर्क-शास्त्र की प्रगति हुई थी। कारण भी यथेष्ट है। मनुष्य की आदिम 'औब्जेक्टिभिटी' पर इसका उत्तरदायित्व था। अपने आसपास की चीजो के बारे मे मनुष्य ने सबसे पहले अपनी उत्सुकता दिखलायी थी। चाँद, सितारे और सूरज आदिम मनुष्य के मन में आश्चर्य और अकथ जिज्ञासा भरते थे। जब उनकी समस्यायें हल हुई तब आसमान से नीचे उतर कर, अपने बारे मे तो नही, लेकिन आपने आसपास की चीजो के बारे में मनुष्य ने अध्ययन करना शुरु किया,—जैसे हवा, पानी, धरती, वृक्ष, नदी इत्यादि। उसे इन तत्वों पर विजय पानी थी क्योकि इसी पर उसके जीने-मरने की समस्या निर्भर थी। मनुष्य के अदम्य उत्साह का यह नतीजा है कि आज मनुष्य हवा में पक्षी की तरह उड सकता है, सागर में मछली की तरह तैर सकता है। समय और दूरी पर उसने पूर्ण रूप से फतह हासिल कर ली है। क्रम के अनुसार अब मनुष्य ने अपने बारे में, मनुष्य के बारे में सोचना आरम्भ किया है। और यही से समाज-विज्ञान की शुरुआत होती है।

समाज विज्ञान के अन्तर्गत जो विशेष विषय आते हैं, वे है नृतत्त्व-शास्त्र (anthropology), समाज-शास्त्र (Sociology) और मनोविज्ञान (Psychology)। इन तीनो विषयो के अध्ययन का विषय मनुष्य है।

मनुष्य क्या है; मनुष्य का प्राकृतिक इतिहास; गर्भ और व्यक्ति का जीवन; मनुष्य का शरीर; शरीर का कर्म; मनुष्य के शरीर का ढाचा, सूरत-शक्ल और रग; मनुष्य सीख कर क्या करता है अर्थात् सस्कृति से उसे कौन-सी शिक्षा मिलती है; मनुष्य का सास्कृतिक इतिहास; उसके विचारो की शृखला; उसकी मांगो और जरूरतो की सूची; उसके ज्ञान, विज्ञान और दर्शन

का सिलसिलावद्ध इतिहास; ये हैं कतिपय विषय जिनका विस्तृत वर्णन समाज-विज्ञान में मिलता है। साथ ही साथ सामाजिक परिवर्त्तन, सामाजिक आन्दोलन सामाजिक कारणत्व इत्यादि की विवेचना भी समाज-विज्ञान की शाखाओ में ही मिल सकती है। समाज-विज्ञान का अध्ययन कितना जरूरी है यह तो ऊपर लिखे विषयो की सूचीमात्र से ही पता चल सकता है।

आज हममें से शायद कोई भी ऐसा एक नही मिलेगा जो समाज सुधार की वात न सोचता हो। समाज को कम या अधिक, वदल डालने की इच्छा आज हर नौजवान में रहती है। कुछ उत्साही युवक तो काम भी करते हैं समाज सुधार के। लेकिन कुछ दिनों में उनका जोश ठंडा पड जाता है। अगर उनसे पूछा जाय कि उन्होंने काम वन्द क्यो कर दिया तो कहेंगे प्रोत्सहन नही मिलता। उनके काम का कोई फल ही नही निकलता तो फिर वे अपनी राह चल देते है। समाज के खिलाफ वगावत करने की भावना भी काफूर हो जाती है। अरसा वाद वे समझने लगते है कि ऋषियो, मुनियो की वनाई हुई यह समाज-परम्परा तोडी नही जा सकती, अटूट, अजेय है और अन्त में पुनीत है। और समाज अपनी अच्छाइयो और बुराइयो के वावजूद वगैर किसी परिवर्त्तन के चलता जाता है, व्यक्तियो की असख्य इच्छाओं और आकाक्षाओ को कुचलते हुए।

ऐसा क्यो होता है? क्या हमारे यहां उत्साही नवयुवक की कमी है? नही। तव? उनके काम करने का ढग गलत है। चन्द खराबियां देखी उन्होने समाज में और लगे प्रयत्न करने। उन्हे दूर करने के बगैर यह जाने हुए कि समाज का वह जो स्वरूप था कुरूप क्यो हुआ? सामाजिक कारणत्व को समझे वगैर समाज के किसी भी पहलू में परिवर्त्तन लाना तो दूर की वात होगी; समझना भी मुमकिन नही। अपने देश में ही हिन्दू-मुस्लिम समाज को ही लीजिये न। बहुत से उत्साही हिन्दू और मुस्लिम युवक मिलेंगे जो दिल से चाहते हैं कि इन दो धर्म के लोगो में जो वैमनस्य है, मनमुटाव है, दूर हो जाय। सहभोज, सहवास इत्यादि के सच्चे, ईमानदार प्रयास भी करते हैं लेकिन कुछ खास नतीजा नही निकलता। इसका एकमात्र कारण यही है कि

हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच 'प्रेजुडिस' का समाज-वैज्ञानिक ढग से विश्लेषण नही हो पाया है। या देशव्यापी प्रातीयता के सवाल को ही लीजिये। कितनी विषमता है। ऐसा क्यो होता है ? इसका मुख्य कारण यही है कि हमे दूसरे प्रान्त के लोगो के जीवन की वाकफियत ही नही है। एक प्रादेशिक सस्कृति के चक्कर मे पडे रहते है, उसे ऊँची समझते है और इमी तरह 'प्रेजुडिस' के शिकार बन जाते है। इनसे भी बडी-बडी सामाजिक समस्याओ को लीजिये। वेश्याओं की समस्या या भिखारियों की समस्या। उन्हें शहर के बाहर निकाल देने से या दान देने से समस्या का हल मुतलक नही हो जाता। इनके आर्थिक और मनोवैज्ञानिक पहलू को समझना है। समाज-विकृति के अपने नियम होते है। उन्हें दूर करने के लिये उन नियमो का समझना है।

इतना तो समझ ही लेना है कि मनुष्य को अपने बारे में जितनी कम जानकारी है उतनी कम जानकारी और किसी चीज के बारे मे नही है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ने अपने बारे मे अभी भी गभीर ढग से सोचना आरम्भ नही किया है। भौतिक-विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति ने उसकी आँखों पर पर्दा डाल दिया है। अणुबम और हाइड्रोजन बम के सामने अभी भी उसका शीश झुका हुआ है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। टेकनालजी के क्षेत्र में जब कोई भीषण परिवर्तन होता है तो सामाजिक, सास्कृतिक क्षेत्र में भी उसके मुताबिक परिवर्तन होना चाहिए। अक्सर ऐसा होता है, कभी ऐसा नही भी होता है। और जब ऐसा नही होता है तो उस युग अथवा देश में एक तरह का सास्कृतिक पिछडापन (Cultural log) आ जाता है। और अगर यह सास्कृतिक पिछडापन काफी दिनो तक टिक जाता तो उस समाज में इन्तशार फैलने लगता है, उस समाज का नाश हो जाता है। रोमन साम्राज्य इसी सास्कृतिक पिछडापन की वजह से खत्म हो गया। पिछले जमानो में मुख्तलिफ सास्कृतिक क्षेत्रो में ही ऐसा सास्कृतिक पिछडापन कभी-कभी आ जाता था। आज जब दुनिया सिमट कर काफी छोटी हो गई है, कोई भी सास्कृतिक क्षेत्र अगर सास्कृतिक पिछडापन का शिकार बन जाय तो इसका असर सारी दुनिया पर पडेगा। दुनिया में खतरे की घटी बज

जायगी। आज के जमाने की अति-औद्योगिता सामाजिक ढांचे में आमूल परिवर्त्तन नही ला पायी है। और यही वजह है कि सारा ससार एक तरह के पिछड़ेपन का शिकार बन गया है। इसके दूर करने का एक ही उपाय है और वह है समाज-विज्ञान की सहायता से समाज के ढाँचे में टेकनॉलाजी की क्रान्ति के साथ कदम मिलाकर परिवर्त्तन लाना। यह तभी सभव हो सकता है जब भौतिक-विज्ञान और समाज-विज्ञान दोनो एक साथ मिलकर कंधे-से-कधा मिला कर चलने की कोशिश करें।

क्या प्राणदंड उठा देना चाहिए ?

समाज-सगठन का नियमन जिन शक्तियों द्वारा होता है, उनमें कानून का प्रमुख स्थान है। इसी बल के आधार पर सरकार की पुलिस और अदालत काम करती है। कानून के जरिए जहाँ समाजतन्त्र के नियमों की रक्षा होती है, वहाँ उन नियमों की अवहेलना के लिए दंड की व्यवस्था भी की जाती है। परम्परागत विचारानुसार प्राणदड सबसे कठिन दड है, जो समाज और सरकार की ओर से किसी व्यक्ति को दिया जाता है। साधारणतया हत्या और राजद्रोह के अपराध में अथवा इसी प्रकार के किन्ही गर्हित कदाचार के लिए ही अदालती कार्रवाई के बाद यह दड मिलता है। चूंकि यह दड सबसे कठिन माना जाता है, इसलिए इसकी व्यवस्था साधारण अपराधो के लिए नही होती। इस तरह जिन अपराधो के लिए कोई समाज प्राणदड की व्यवस्था करता है, उन अपराधो का विश्लेषण करके हम जान सकते है कि उस समाज के जीवन और सस्कृति-सम्बन्धी मूल्य क्या है ।

सम्भवतः हर सभ्य समाज में, जहाँ कि प्राणदंड सबसे कठिन दड है, किसी व्यक्ति द्वारा स्वेच्छानुसार किसी अन्य व्यक्ति का प्राण हरण भी कठिनतम अपराध माना जाता है। इस प्रकार सभ्य समाज में किसी भी व्यक्ति को दूसरे की जान ले लेने का अधिकार नही है। यह अधिकार समाज की ओर से सिर्फ सरकार को प्राप्त है और वह भी विशेष परिस्थितियों के लिए।

परन्तु यह अधिकार समाज को किस प्रकार प्राप्त हुआ और इस अधिकार का अथवा प्राणदण्ड का क्या उद्देश्य है—इन प्रश्नों के विश्लेषण के बाद ही हम समुचित रूप से विचार कर सकेंगे कि प्राणदण्ड उठा देना चाहिए अथवा नही। क्योंकि, यह प्रश्न केवल कानून के बदलने का नही है, बल्कि समाज के नैतिक और सास्कृतिक मन मे परिवर्त्तन करने का प्रश्न भी है।

हम जरा उस समय की कल्पना करे जबकि समाज-सगठन नही बन पाया था और सोचें कि किन परिस्थितियो में समाज की आवश्यकता महसूस हुई। उस जमाने के जीवन का अनुमान करने के लिए हम केवल अपनी कल्पना का ही आश्रय नही ले सकते। कुछ लोग कहा करते है, आदिकाल में न कही अशान्ति थी, न मार-पीट, लोग प्रकृति माँ के ममतार्द्र अचल में शान्ति-पूर्ण, प्रेमपूर्ण जीवन बिताते थे। उसी प्रकार ऐसे लोग भी है, जो कहते है कि आदिकाल के जीवन में उत्पात, कलह, हत्या के अतिरिक्त कुछ था ही नही। इस अरक्षित, अशात जीवन से लोगो की रक्षा करने के लिए समाजतन्त्र की आवश्यकता हुई। वस्तुतः ये एकागी बातें कल्पना प्रसूत है, जिनके लिए तथ्यतः कोई आधार नही है। समाजशास्त्रियो का इस विषय में मत है कि समाज-संगठन मिले-जुले कारणों से हुआ और उसके लिए निश्चित काल अथवा अवस्था निर्धारित करना कठिन है। समाज बनने के पूर्व आदमी, आदमी से ज्यादा पशु रहा होगा। उसकी शक्ति अकेली और बिखरी-बिखरी रही होगी। मस्तिष्क भी बहुत कम ही विकसित रहा होगा। सामाजिक जीवन के सहारे उसका दिमाग बढ़ा, उसे मानवसुलभ देह और भाषा मिली। उसे सहयोगपूर्ण जीवन और सामूहिक श्रम की उपयोगिता समझ में आयी होगी। परन्तु सभ्य, सामाजिक जीवन की प्रात बेला में अथवा असभ्य जीवन के नैश-अन्धकार में मनुष्य के भौतिक साधन इतने सीमित थे कि 'करतल पात्र और तरुतल वास" के अलावा वह कुछ जानता नही था। उसकी सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु उसकी जान थी। उसने अपने जीवन के लिए अन्य मूल्य निर्धारित ही नही किये थे कि उनकी रक्षा का प्रश्न उठे। तात्पर्य यह कि पुराने जमाने में आदमी की जान ही उसके लिए सबसे प्रिय वस्तु थी। यो तो आज

भी अपनी जान सबसे प्यारी होती है, किन्तु और भी कुछ चीजें है जिनकी रक्षा के लिए आदमी स्वेच्छापूर्वक अपनी जान दे देता है। पर उस अपवाद को हम छोड दें और विचार करें कि औसत व्यक्ति की क्या प्रतिक्रिया होती है। क्या वह अपने प्राणहरण अथवा हत्या की कल्पना से काँप नही उठता? वह प्राण-रक्षा के लिए क्या कुछ नही करता। तो, शुरू से ही प्राण के प्रति हमारी जो आसक्ति रही है, उसके अनुसार इस वस्तु का अपहरण साधारण बात समझा जाता रहा है। और इसलिए इतने बडे अधिकार को किसी व्यक्ति के स्वेच्छाचार के भरोसे न छोडकर समाज-शक्ति के हवाला किया गया और हर दशा में प्राणदड, चाहे समाज या राज्य दे, अथवा (गैरकानूनी ढग से ही सही) कोई व्यक्ति दे, यह सबसे कठिन दड माना जाता है।

दड कठिन हो, अथवा हल्का-फुल्का, दड देने और दंड पाने की बात आदि-काल से चली आ रही है। किन्तु जिस अर्थ में हम अभी प्राणदड के रखने या उठा देने के प्रश्न पर विचार कर रहे है, वह आधुनिक सभ्य जीवन की देन है। मध्ययुगीन समाज में जबकि किसी राजा अथवा सामंत की तानाशाही थी और उसकी मर्जी ही कानून थी, इस प्रकार का सवाल उठता ही नही आज भी उन देशों में जहाँ टोटेलिटेरियन (एकतंत्री) समाज है, इस प्रकार की चर्चा सभव नही। प्राणदड रखने या उठा देनेकी बात करते समय हमारे मन में ऐसे समाज का चित्र रहता है, जहाँ जन-समाज को ही कानून बनाने का अधिकार है और कानूनों की अपनी मर्यादा है जिसका उल्लघन न तो शासक कर सकता और न शासित, जहाँ वस्तुत. कानून का शासन (रूल आफ लॉ) है।

ऐसे समाज में भी प्राणदंड की व्यवस्था कानून में है। पहले जहाँ यह दड शासक अपनी मर्जी के मोताबिक देता था, वह ं आज यह दड अदालत देती है पर वह तब, जबकि उसके लिए कानून द्वारा निर्धारित स्थिति मौजूद रहती है। पहले यह दड व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से दिया जाता, पर आज सामाजिक प्रतिशोध की भावना से। साथ ही ऐसा उदाहरण उपस्थित करने के लिए भी कि अन्य लोग आतकित होकर वैसे अपराध न करें। सामाजिक प्रतिशोध की भावना ऐतिहासिक वृत्ति के रूप में निहित है, वर्त्तमान तथ्य के रूप में

नही। तथ्यत. अन्य दड की भाति प्राणदंड भी आज प्रतिरोधात्मक, निषेधात्मक है। दड-विधान के द्वारा समाज की राज शक्ति कहती है कि यदि तुम अमुक नियम को तोड़ोगे तो तुम्हें अमुक प्रकार का दड मिलेगा। देखो अमुक को किस प्रकार दडित किया गया है।

परन्तु अगर प्राणदड (अथवा कोई भी दड) आज मुख्यत. प्रतिरोधात्मक, निषेधात्मक है, तो इसे उठा देने का प्रश्न क्यों उठता है ?

दरअसल हर प्रकार के कानून पीछे समाज का नैतिक बल होता है। काल पाकर जब वह नैतिक बल समाज के नैतिक मूल्यों में अथवा आवश्यकताओं में परिवर्त्तन हो जाने के कारण समाप्त हो जाता है, उस समय किसी कानून को उठा देने या उसमें परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होती है। तब क्या प्राणदड के विधान में परिवर्त्तन करने या उसे उठा देने का समय आ गया ?

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणदड का विधान किसी-न-किसी रूप में चिरकाल से चला आ रहा है। जिस प्रकार हमारी अनेक सस्थाएँ, अनेक विश्वास पुराने जमाने से चिरपोषित चले आ रहे है और उनका आज के जीवन से गोई लगाव नही है, उसी प्रकार प्राणदड का कानून भी है। आधुनिक काल में राज्य का काम केवल शान्ति-रक्षा ही नही है, केवल बाह्य आक्रमण से जनता को बचाना नही है। आज राज्य को अधिकाधिक मात्रा मे लोक-कल्याण की नीति बरतनी है। पहले का राज्य अगर पुलिस-राज्य था तो आज का राज्य कल्याण-राज्य है। कल्याणराज्य का तात्पर्य है कि राज्य अपनी अधिकाश शक्ति अपनी प्रजा के उत्थान में लगावे, हर नागरिक को उसके व्यक्तित्व के विकास का अवसर दे। ऐसे राज्य मे दड के उद्देश्य में भी अन्तर आ चला है। आज दड देते समय केवल सामाजिक प्रतिशोध अथवा निषेध का विचार नही किया जाता। आज तो दंड देते समय यह भी सोचा जाता है कि उक्त दड से अपराधी में कुछ सुधार होता है अथवा नही। यह नयी दृष्टि सामाजिक मनोविज्ञान, अस्वाभाविक मनोविज्ञान और अपराध-शास्त्र के अनुभवो से आयी है।

इन नये शास्त्रों के अनुसार अपराध करने की प्रवृत्ति को मानसिक विकार अथवा रोग माना जाता है। यह रोग वैयक्तिक भी हो सकता है और अस्वाभाविक सामाजिक परिस्थिति के फलस्वरूप भी। दोनो ही अवस्था में समाज और राज्य को अपराधी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति वरतनी चाहिए। एक ओर तो मनोवैज्ञानिक-पद्धति से अपराधी के मानसिक सुधार की चेष्टा करनी चाहिए दूसरी ओर अपराधी को, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के वाद, सुधरे ढग से जीवन विताने का अवसर देना चहिए। जिस प्रकार कठिन-से-कठिन शारीरिक रोग के लिए —कोढ़ अथवा क्षय के लिए जो कि रोगी के अलावा दूसरो के लिए भी खतरनाक है किसी रोगी की हत्या नही कर दी जाती है, वल्कि उसके इलाज का प्रवन्ध किया जाता है, उसी प्रकार अपराध की प्रवृति जैसी मानसिक विकृति के लिए किसी को प्राणदंड क्यों दिया जाय? क्यो न उसके सुधार की चेष्टा की जाय जिस प्रकार क्षय-अस्पताल और कोढ़-चिकित्सा केन्द्र खोले जाते है उसी प्रकार प्राणदंड देने के वदले क्यों न अपराधी के इलाज का प्रवन्ध हो?

प्राणदंड चरम दड है। इस दंड के वाद दंडित और दडदाता, दोनो के लिए कोई अवसर नही वच जाता है? आज जिस प्रकार का सामाजिक जीवन है उसमें पता लगाना वडा कठिन है कि अभियुक्त ने सचमुच प्राणदड पानेवाला अपराध किया है। इस सम्वन्ध में निर्भ्रान्त निर्णय का दावा कोई भी न्यायाध्यक्ष नही कर सकता है। इस प्रकार एक ओर तो यह कठिनाई है, दूसरी ओर न्यायशास्त्र का अभिमत है कि कई अपराधी यथेष्ठ प्रमाण के अभाव में छूट जाएँ, तो छूट जाएँ पर किसी निरपराध को दडित कदापि नही करना चाहिए। जव दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ है, तो प्राणदड का प्रयोग जितना भी कम किया जाय, अच्छा है।

एक मत यह भी हो सकता है कि कानून में प्राणदड का विधान तो हो किन्तु उसका प्रयोग न के वरावर रहे। यह विचार इसलिए उठता है कि प्राणदड का आतक वना रहे और लोग भयवश गर्हित अपराध न करें। इस तर्क में वहुत वल नही है। प्राणदड पानेवाले अपराधी दो प्रकार के हो सकते है:

एक, जो पुराने छूटे हुए अपराधी है दूसरे, वे जो किसी उत्तेजक परिस्थिति में पडकर प्राणदड पानेवाला अपराध कर बैठते है। पहले प्रकार के अपराधी तो जानबूझकर वैसे अपराध करते है और उनको प्राणदड का कोई भय नही रहता। दूसरे प्रकार के अपराधी में स्वभावत: अपराध करने की प्रवृत्ति नही रहती। वह तो दड के वर्जनात्मक प्रभाव के बावजूद, परिस्थितिवश अपराध कर वैठता है। यह बात साधारणत: सभी औसत व्यक्ति के साथ लागू है। इस प्रकार हम देखते है कि प्राणदंड के विधान का निषेधात्मक प्रभाव बहुत सफल नही होता। तव फिर क्यों इस प्रकार का कानून व्यर्थ बना रहे ?

दंड-व्यवस्था द्वारा जहाँ तक सामाजिक प्रतिशोध की बात है, आज हमें मानस-शास्त्र के अनुभवों से ज्ञात है कि अपराधी को प्राणहरण से भी कठिन यातना दूसरे प्रकार से दी जा सकती है। हम—आप कभी-कभी—ऐसी परिस्थिति में पड जाते है जबकि लगता है कि मृत्यु हो जाय तो अच्छा हो। जिन लोगों ने आर्थर क्वस्लर के उपन्यास "डार्कनेस एट नून" (जिसका हिन्दी अनुवाद "उजेले में अधेरा" नाम से प्रकाशित हो चुका है) को अथवा जार्ज औरवेल के महान् उपन्यास "१९८४" को पढा है, उन्हें मालूम होगा कि आज विज्ञान ने प्रतिशोध के लिए राज्य के हाथ में प्राणदड से भी कठिन साधन दे दिया है। अतः प्रतिशोध की भावना ही अगर मृत्यु है, तोभी प्राणदंड बहुत सफल नही होता।

प्राणदड का कानून उठा देने के विरुद्ध यह भी एकाएक कहा जाता है कि ऐसा कर देने से सामाजिक मर्यादा भग होगी, अपराधो की वाढ आ जायगी। यह भय निराधार है। कई देशो में कुछ समय तक इस कानून को स्थगित कर देखा गया है। वहाँ अपराधियो की सख्या मे कोई वृद्धि नही हुई है और पुन. उस कानून को जारी का देने से भी अपराधो की तादाद घटी भी नहीं है। संभवत: साधारण व्यक्ति के मन पर केवल एक वात का प्रभाव सर्वाधिक रहता है कि हमे अपराध करने पर सरकार द्वारा दंड मिलेगा। दड किस प्रकार का और कितना कठोर होगा, यह मन को बाद में, परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। इसलिए प्राणदंड का विधान हटाकर अगर प्रभावशाली, अधिक

मानवीयतापूर्ण दड का विधान होना चाहिए। अपराधी को एक ओर तो यह भी पता चले कि उसके अमुक कृत्य के लिए यह सजा मिल रही है, दूसरी ओर उसके साथ मानवोचित व्यवहार करके, उसके प्रति सहानुभूति दिखला करके, उसके सुधार और शिक्षा की व्यवस्था करके, उसको समाजोपयोगी नया इंसान बनाने का प्रयत्न किया जाय। इस दिशा में आज की सरकारें कुछ काम कर भी रही है। जेलो में दस्तकारी और श्रमपूर्ण उद्योगो का प्रबन्ध किया जा रहा है। वहाँ कैदियो को उपयोगी कामो में लगाकर, उसकी वैचारिक आदत (हैबिट ऑफ थौट) को बदलने की चेष्टा होती है। आधुनिक मानस-शास्त्र भी तो (अकुपेशनल थेरापी) "काम के जरिए इलाज" की सिफारिश करता है।

अनुमान कीजिए, किसी व्यक्ति को, जिसे कि आज के कानून के मुताबिक प्राणदंड मिलना चाहिए, लम्बी कैद की सजा दी जाती है। जेल में उसको परिष्कृत वातावरण में रखा जाता है और आधुनिक अपराध-शास्त्र के अनुभवो के आधार पर उसके साथ मानवोचित व्यवहार होता है, उसको बार-बार बताया जाता है कि उसका अमुक कृत्य अनुचित हुआ हुआ। फिर उसमें जीवन के प्रति आस्था और मोह पैदा किया जाता है। तब, हम अनुमान कर सकते हैं, उसे जेल में अनेक वर्षो तक बन्द रहना कितना अखरेगा। और, अगर उसे ज्ञात हो जाय कि जेल में अच्छा रेकार्ड रहने पर उसे कैद में रियायत भी मिल सकती है, तो निश्चय ही वह शीघ्र आत्मोन्नति करने का प्रयास करेगा। कुछ ऐसे भी अपराधी होगे, जो इस प्रकार की सहूलियतो के बाद भी बार-बार अपराध करेंगे। ऐसे अपराधियो को अलग जेल में रखा जा सकता है। आखिर आज पागलो के लिए कैसी व्यवस्था है। क्या उन्हें गोली मार दी जाती है? अगर उनके लिए पागलखाने का प्रबन्ध हो सकता है, तो कोई कारण नही कि अभ्यस्त अपराधियो के लिए भी कुछ इसी प्रकार का प्रबन्ध न किया जा सके।

किन्तु इतना कुछ होते हुए भी प्राणदड उठाया नही जा रहा है। ऐसा क्यों एक तो सरकारो के चलने की अपनी गति होती है। दूसरे, हम अपने सस्कारो

और पुराने विचारो से बुरी तरह चिपके रहते है। सब कुछ समझ-बूझकर भी हम अपनी मान्यताओ मे शीघ्र परिवर्त्तन नही करते। हम विचारो में नयापन लाने से ज्यादा महत्त्व देते है वस्तुओं में नयापन लाने को। हम ताजा से ताजा मॉडल को कार, रेडियो, घडी, फाउन्टेनपेन वगैरह रखने की ख्वाहिश रखते है। परन्तु हम क्षणभर भी बैठकर नही सोचते कि हमारी कौन-कौन-सी मान्यताएँ कितनी पुरानी पड गयी है और उनको शीघ्र त्याग देना चाहिए। आज सब प्रकार से समझते-बूझते हुए भी सरकारें प्राणदड को नही उठा रही है। मुमकिन है कल वे इसके लिए तैयार हो जायँ। यह केवल समय की बात है, अथवा प्राणदड का विधान पुराना पड़ गया, इस बात से बहुत कम लोग इन्कार करेंगे।

आदर्श-शिक्षा-पद्धति

युद्धोत्तर काल मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जो विकट समस्याएँ देश के आगे आयी है, उनमें आदर्श-शिक्षा-पद्धति के निर्धारण का प्रश्न बड़ा ही जटिल और बडा ही महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश अपने देश में राजनीति को इतनी प्रमुखता मिली हुई है कि राष्ट्र-निर्माण के इस महत्कार्य की ओर बहुत कम लोगो का ध्यान गया है। यो तो प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनेक दोषो का एहसास लोगो को है पर शिक्षा के विभिन्न स्तरो के क्या रूप हो, उनमें एक-सूत्रता किस तरह लायी जाय, फिर उनकी दिशा क्या हो, इन सारी बातो पर समग्रतापूर्वक विचार करने का कष्ट बहुत कम लोगो ने किया है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियो ने अवश्य ही समस्या के कुछ पहलुओ पर स्वतन्त्र रूप से ध्यान दिया है, किन्तु उनके निष्कर्षों के आधार पर व्यापक रूप से प्रयोग करने का साहस नही दिखलाया जा रहा है।

साधारणतया शिक्षा के तीन स्तर है—प्राथमिक, माध्यमिक और विश्व-विद्यालयीय। प्रथम दोनो स्तरो के लिए आज जो आदर्श व्यवस्था मानी जा

रही है, उसपर विहार में वडे पैमाने पर और मध्यप्रान्त में कुछ स्थानो पर प्रयोग किया जा रहा। प्राथमिक स्तर के लिए जो योजना है वह वुनियादी-शिक्षा-पद्धति के नाम से ज्ञात है और माध्यमिक स्तर के लिए उत्तर वुनियादी शिक्षा है।

इन योजनाओ की आधार-शिला गाँधीजी द्वारा निरूपित आदर्शो के अनुसार प्रतिपादित वर्धा-शिक्षा-योजना है। इस योजना के निर्माण में देश के सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० जाकिर हुसैन का प्रमुख हाथ रहा है। इस पद्धति में काम के माध्यम से सभी विषयो की सैद्धान्तिक शिक्षा देने की चेष्टा है। इस पद्धति में गाँधीजी के दो मुख्य उद्देश्य निहित है; प्रथम, जीवन में कर्म की महत्ता को वालपने से प्रतिष्ठित करना, द्वितीय, सभी विषयो की सैद्धान्तिक शिक्षा के अलावा बच्चो को किसी-न-किसी रोजगार की शिक्षा देना, ताकि आगे चलकर वे सरकारी दफ्तरो का ही मुँह न जोहें वल्कि अपने पैरो पर खडा हो सकें और शिक्षा-काल में ही उनके किये हुए रोजगारी के काम में से (जैसे टोकरी, कपड़ा आदि की वुनाई, वढईगिरी आदि से) इतने पैसे निकाल सकें कि उनकी पढाई का खर्च पूरा हो जाय।

विश्वविद्यालयो के लिए आदर्श-शिक्षा-योजना प्रस्तुत करने के लिए सरकार की ओर से एक कमीशन नियुक्त किया गया था, जिसके चेयरमैन थे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन। इस कमीशन ने एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की है, जिसके सुझावों को कार्यान्वित करने की चेष्टा की जा रही है। प्रसन्नता की बात है कि इस कमीशन ने अपनी जाँच के समय बुनियादी-शिक्षा-योजना को ध्यान में रक्खा था, क्योंकि अगर देश के लिए सुसगठित शिक्षा-योजना बनानी है, तो प्राथमिक और माध्यमिक-योजना से उच्चस्तरीय-शिक्षा का जीवन्त-सम्बन्ध रहना ही चाहिए।

किसी भी स्तर की और किसी प्रकार की शिक्षा-योजना बनाने के पूर्व देश की परिस्थितियो को अवश्य ही ध्यान में रखना आवश्यक है यथा'—

१. शिक्षा का आदर्श यह होना चाहिए कि देश के हर मर्द, औरत और बच्चे को उसके व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिले। इसलिए एक सर्व-

सामान्य स्तर के बाद सबकी व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उसके लिए विषय का चुनाव करना चाहिए।

२. व्यक्तिगत विशेषताओ को विकसित होने का पूर्ण अवसर देने के बाद भी, हर राष्ट्र का जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण होता है। उसे हम राष्ट्रीय जीवन-दर्शन भी कहते हैं। उसकी समृद्धि के लिए हर व्यक्ति को प्रस्तुत करना भी शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। पर यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि आज की दुनिया में बहुधा राष्ट्रीयता का अन्त उग्र राष्ट्रवाद में होता है। इस खतरे से बचने का एकमात्र उपाय है कि शिक्षा-प्रणाली हमेशा राष्ट्रीय-सस्कृति के सर्वाधिक उदार आदर्शों को ही सामने रक्खे। अपने देश में आजादी की लडाई के सिलसिले मे जो विद्यापीठ और 'नेशनल' स्कूल कायम हुए, उनका अनुभव आज हमारे लिए विशेष लाभदायक हो सकता है। अगर अँग्रेजों की चलाई हुई शिक्षा-पद्धति मे गुलाम गढे जाते रहे हैं और शिक्षित व्यक्ति अपने जन समाज से दिमागी तौर पर विलग होते गये हैं, तो विद्यापीठों और नेशनल स्कूलों से निकले हुए व्यक्ति सकुचित राष्ट्रीयता से प्रभावित हैं। उनमें से अधिकांश लोग आज सास्कृतिक पुनरुस्थान के नाम पर चलनेवाली पुराण-पंथी प्रतिक्रिया के शिकार हो गये हैं।

३. इसलिए शिक्षा-पद्धति को आदर्श नागरिक की कल्पना पर आधारित रहना चाहिए। पर आदर्श-नागरिक का क्या रूप है, इसका निर्णय सरकार या राजनीतिज्ञों पर न छोडकर शिक्षा-विशेषज्ञों पर छोडना चाहिए। किन्तु सबसे पहले राज्य की जनता के मानसिक, बौद्धिक और नैतिक स्तर का पता लगाना होगा। उसके बाद उदार जीवन-दर्शन के स्थायी और मौलिक मूल्यो का चयन करना होगा। यह काम विश्वविद्यालयो के माध्यम से नाना प्रकार के व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक प्रयोगो, शैक्षणिक गणनाओ के जरिये सभव है।

४. हर शिक्षा-पद्धति में विशेषज्ञ तैयार करने की व्यवस्था रहनी चाहिए क्योंकि देश की अधिकाश सस्थाओ के सचालन के लिए आजकल की विकसित टेक्नोलाजी के जमाने में विशिष्ट योग्यताओ की जरूरत होती है।

इन सब समस्याओ पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अपने देश में सब काम बिल्कुल जड से शुरू करना पडेगा। अमेरिका के आगे भी इस प्रकार की समस्यायें उपस्थित हुई थीं और वहाँवालो ने इनका समाधान किया। वहाँ के विद्यालयो ने सबसे पहले राष्ट्रीय अभिरुचि, आवश्यकताओं और परम्पराओ का पता लगाया। वहाँ शिक्षा विषयक राष्ट्रीय सोसाइटी ने १२८ बार प्रयत्न करके पता लगाया कि वहाँ के कालेजों की वास्तविक स्थिति क्या है। तत्पश्चात निष्कर्षो और सुझावो की आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। तब जाकर अमेरिका ने अपने लिए एक प्रकार की शिक्षा-पद्धति का निर्धारण किया। आज वहाँ उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, बैंक, कानून आदि विशेष पेशों के लिए जो विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसके अलावा साधारणतया यह कोशिश रहती है कि मनुष्य शिक्षा प्राप्त करने पर इतनी बौद्धिक, मानसिक और नैतिक सम्पन्नता अवश्य हासिल कर ले कि वह किसी भी उपस्थित परिस्थिति में मानवीय मूल्यो की रक्षा करते हुए अधिक-से-अधिक स्वस्थ प्रतिक्रिया दर्शावे।

अपने देश में अब तक जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित है, वह सीढीनुमा है जो प्राथमिक-शिक्षा से शुरू होकर उत्तर-स्नातक परीक्षाओ के बाद समाप्त हो जाती है। देश के असख्य लोग इस सीढी के ऊपरी स्तरो तक कभी पहुँच नही पाते। उनके पास एक तो साधनो का नितान्त अभाव है, दूसरे बीच के दर्जो में जो कुछ उन्हें पढाया जाता है, वह उच्चतम शिक्षा के प्रति उनके मन में किसी प्रकार की उत्सुकता पैदा नही कर पाता है। इस प्रकार असख्य लोग प्राथमिक दर्जों से शुरू करके बीच के दर्जो तक पहुँचते-पहुँचते शिक्षालयो से हटने लगते है। वे उपयोगी रोजगारो में लग जाते है और उनकी नजर में उच्च शिक्षा का कोई महत्व नही बच जाता।

इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हुए अलेक्जैन्डर माइकेल जौन ने लिखा है, हमें हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि लोग उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से पढाई नही शुरू करते। उनका ध्यान रहता है बीच में इधर-उधर की दिशा में बढ निकलना, ताकि वे जीवनोपयोगी

कामों में लग सकें। अगर उन्हे उन कामो के सम्बन्ध में अपनी शिक्षा से विशेष रोशनी नही मिलती, तो वे सारी शिक्षा को ही निरर्थक समझने लगते है।

यह भी समझने की बात है कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ विभिन्न सामाजिक स्तरों, धर्मों और "संस्कृतियों" के लोग है, एक सर्वसामान्य शिक्षा-पद्धति कभी उपयोगी सिद्ध नही हो सकती। अतः शिक्षा के विभिन्न स्तरों तक पहुँचने के बाद कुछ-एक दिशाओं में जाकर किसी-न-किसी प्रकार की रोजगारी शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य रहना चाहिए। इस प्रकार की रोजगारी शिक्षाओं की कल्पना की जा सकती है जिनका उद्देश्य उन रोजगारो में उच्चतम टेकनीकल शिक्षा देना नही, बल्कि छोटे-मोटे रोजगार चलाने के योग्य बनाना है। किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि किसी भी रोजगार की शिक्षा अन्य किसी प्रकार की रोजगारी शिक्षा पर आश्रित न हो क्योंकि वैसा होने पर इस पद्धति का उद्देश्य पूरा नही हो सकेगा।

भारत की अधिकाश आबादी गाँव में बसती है। लोगो का मुख्य पेशा खेती है। ग्रामीण, खेतिहर समाज की मन·स्थिति और उसकी आवश्यकताएँ औद्योगिक समाज से भिन्न होती है। अत. शिक्षा-पद्धति में मुट्ठी भर शहरी लोगों की प्रवृत्तियो और आवश्यकताओ का ही नही वल्कि ग्रामीण समाज की आवश्यकताओ पर प्रवृत्तियों का ध्यान रखना जरूरी है। आज हमारे विश्व-विद्यालयों से निकले हुए लोग ग्रामीण समाज से वैचारिक या भावात्मक तादात्म्य स्थापित नही कर सकते है। इसका उत्तरदायित्व एक तो आज की शिक्षा-पद्धति पर है दूसरे, इसपर भी है कि हमारे विश्वविद्यालय ग्रामीण अचलो में न होकर बड़े-बड़े नगरों में है।

आदर्श-शिक्षा-पद्धति का स्वरूप निर्धारित करते समय एक और महत्वपूर्ण बात पर ध्यान देना होगा। वह यह कि हमारे विश्वविद्यालय विद्यार्थियो को देश के नैतिक और राजनीतिक जीवन में भाग लेने के लिए कहाँ तक तैयार कर पाते है। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में ऊँचा दर्जा पाने का महत्व तो है, पर वह सफलता अगर सहकारिता, सहानुभूति और नि.स्वार्थ सेवा-भावना की उपेक्षा

करती है, तो वह कदापि स्पृहणीय नही है। जो शिक्षा समाज की आवश्यकताओं और जीवन के तकाजो को पूरा करने की योग्यता और साहस नही प्रदान कर पाती, वह किसी भी दशा में उपयोगी नही हो सकती। इस समस्या का एक बुनियादी पहलू भी है। आखिर समाज की आवश्यकताओं का निर्णय किस प्रकार हो सकता है ? जबतक उन आवश्यकताओ का वास्तविक स्वरूप निर्धारित नही कर दिया जाता, तब तक शिक्षा-पद्धति में उनकी पूर्त्ति का कैसे प्रबन्ध किया जा सकता ? जहाँ तक अपने देश का सवाल है, स्पष्टतः हम प्रजातान्त्रिक जीवन प्रणाली में विश्वास रखते है और उसका ही विकास हमारा लक्ष्य है। अत. यहाँ की शिक्षा-पद्धति तानाशाही एकतत्री समाज की शिक्षा-पद्धति से विभिन्न होगी। एकतत्री समाज में स्वतन्त्र-विचारो और कार्यों की गुजाइश नही रहती। वहाँ अनुशासन के नाम पर एक तरह की 'मोनोटोनी' रहती है। पर प्रजातांत्रिक समाज में सबको विचारो की स्वतन्त्रता रहती है पर पारस्परिक सहयोग का ध्यान रखते हुए ऐसे समाज में न एक सुर की 'मोनोटोनी' रहती है, और न नाना स्वरों का बेमेल कोलाहल। वहाँ रहता है अनेक स्वरो का सामजस्यपूर्ण संगीत। इस सगीत का निर्वाह करने के लिए हर एक नागरिक को प्रस्तुत करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह कार्य तभी सम्पादित हो सकता है, जबकि शिक्षा-पद्धति में सहकारिता और स्वाधीनता के उचित मूल्यो का समावेश किया जाय, विश्वविद्यालयो के वातावरण में विचार-स्वातन्त्र्य और भावो की सहिष्णुता रहे। ऐसी व्यवस्था रहने पर ही प्रजातांत्रिक जीवन के स्थायी मूल्यो की प्रतिष्ठा और विकास हो सकता है।

सैनिक शिक्षा अथवा निश्शस्त्रीकरण ?

सामाजिक जीवन में संघर्ष और सहयोग—दोनो प्रकार की प्रवृत्ति रहती है। किसी समाज में सघर्ष अधिक है, तो दूसरे में सहयोग। कही एक ही समाज में किसी एक काल में सघर्ष अधिक रहता है तो दूसरे काल में सहयोग। परन्तु साधारणतया समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, जमात-जमात के बीच समस्याओ के हिसाब से सघर्ष और सहयोग की प्रवृत्तियाँ काम करती रहती है। सामाजिक सम्बन्ध का यह द्विविध रूप चिरकाल से चला आ रहा है। परन्तु दो राष्ट्रो अथवा दो जातियो के बीच का अथवा एक राष्ट्र या जाति के भीतर ही विभिन्न दलो के बीच का सघर्ष युद्ध का रूप ले लें, यह प्रागऐतिहासिक सभ्यताओं (जिनमे मिस्र, बेबीलीन, असीरिया वगैरह शामिल है) के जमाने की देन है जो आजतक चली आ रही है। और प्रागऐतिहासिक सभ्यताओ ने यह लत कुछ-एक जगली लड़ाकू जातियो से ली थी। तब से लेकर आज तक सभ्यताओ की किस्मत का फैसला युद्ध-क्षेत्र में होता रहा है। युद्धों ने मिस्र और मध्यपूर्व के प्राचीन सभ्यता-केन्द्रो को नेस्तनाबूद कर दिया और आज की सभ्यता को भी यही अन्देशा हो रहा है।

बुद्ध अथवा उनसे पहले से अब तक जितने धर्मोपदेशक और पैगम्बर हुए है, उन सबने हिंसा, घृणा और विद्वेष को मानव का शत्रु बताया है और शान्ति और प्रेम का सदेश सुनाया है। उन महापुरुषो के उपदेशो ने व्यक्तिगत जीवन को तो यथासभव खूब प्रभावित किया, किन्तु राष्ट्रो की राजनीति अप्रभावित रही। किसी भी राज्य ने अपनी सेना कभी भग नही की, यहाँ तक कि अशोक ने भी संभवतः अपनी सेना विघटित नही की। इतना ही नही, सेनाओं पर राज्य का खर्च क्रमशः बढता ही जाता है और आज के युद्ध अधिकाधिक भीषण और व्यापक होते जा रहे है। अपने को और सारी दुनिया को मानो धोखा देने के लिए युद्ध-विभाग को प्रत्येक देश रक्षा-विभाग कहता है। सिर्फ ईरान और मिस्र ने बड़ी साफगोई से युद्ध-विभाग का युद्ध-विभाग ही नाम दिया है

पुराने जमाने से लेकर आज तक के राष्ट्रों ने दो प्रकार से फौज तैयार की है। एक कायदा यह है कि देश-विदेश के युद्धजीवियों को एकत्र कर फौज में भर्ती किया जाय। दूसरा कायदा है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को सैनिक शिक्षा देकर एक फौजी कैम्प-सा बना दिया जाय। पहला तरीका अब पुराना पड़ता जा रहा है और उस प्रकार फौज बनाने की सुविधाएँ कम होती जा रही है। कोई देश नही चाहता कि उसका नागरिक युद्धजीवी के रूप में दूसरे देश की सेना में भर्ती हो। एक तो यह राष्ट्रीय सम्मान-भावना को चोट पहुँचाती है, दूसरे जिस देश के लोग विदेशी सेना में भर्ती होते है, उस देश की अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में कठिनाई होती है और उसका जनबल घटता है। तीसरे, विदेशियो से बनी फौज आज के जमाने में विश्वसनीय नही होती। अतः आज का राज्य अपने नागरिको की ही भर्ती करता है और सेना में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने पर अधिकाधिक जोर देता है। परन्तु अपना नागरिक भी तो फौज में युद्धजीवी के रूप में ही शामिल होता है। ऐसी सेना को पोसने में राज्य की आय का बहुत बडा अश लग जाता है। इसलिए राज्यो की दूसरी प्रवृत्ति सम्पूर्ण राष्ट्र को ही सैनिक शिक्षा देने की है। इस प्रकार राष्ट्र को अधिक विश्वस्त सैन्य-बल का भरोसा मिलता है।

किन्तु राष्ट्रीय सेना का आधार व्यापक बनाने की तमाम चेष्टाएँ आधुनिक युद्ध की निरन्तर बढती हुई विभीषिकाओ को देखते हुए करुण होती जा रही है। आज के युद्ध में शत्रु की दृष्टि में सेना और साधारण नागरिक में अन्तर नही रहता। फौजी शिविरों और शान्त गाँवो पर समान भाव से बम बरसाया जाता है। यह राष्ट्रीय सैनिक शिक्षा के पक्ष में बहुत बडा तर्क है। किन्तु आज जिस विशाल पैमाने पर विध्वस और विनाश होता है, उसे देखते हुए सारी दुनिया के सामने सवाल आ गया है कि आखिर युद्ध का ही क्यो अन्त कर दिया जाय। इसी मूल प्रश्न का रूप है कि सैनिक शिक्षा दी जाय अथवा निश्शस्त्रीकरण की नीति अपनायी जाय। यह युद्ध और शान्ति के बीच चुनाव करना है। वस्तुत यह चुनाव बड़ा ही सहल दीखता है, क्योकि शान्ति

को छोड़ कर युद्ध पसन्द करे, ऐसा व्यक्ति स्वाभाविक प्रकृति का नहीं हो सकता है। फिर भी चिरकाल से, हम जानते हैं, सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध हर स्वतन्त्र राज्य ने किया है, भले यह शिक्षा सभी नागरिको को अवश्यमेव न दी जाती हो। अपने ही देश में जिन दिनों अँग्रेजी राज के विरुद्ध आन्दोलन जारी था, हमने अक्सर सुना कि अँगरेजों ने हमारे लिए सैनिक-शिक्षा का द्वार बन्द कर रखा है। हथियार की आजादी छीन ली है। तात्पर्य यह कि स्वाधीन होते ही हम अपने लिए सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध करेंगे। इस प्रकार से सोचनेवालों ने समय-समय पर कहा भी है कि किसी-न-किसी रूप मे हर नागरिक को प्रारभिक सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए। कालेजों और विश्वविद्यालयो ने भी 'नेशनल कैडेट कोर' की व्यवस्था की है।

किन्तु निश्शस्त्रीकरण का प्रयास भी बहुत दिनों से हो रहा है। इस दिशा में मानवतावादियों ने भी प्रत्यन किये हैं, और स्वार्थसाधकों ने भी। विजयी राष्ट्रों ने भी समय-समय पर विजित राष्ट्रों को निश्शस्त्र किया है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ई०पू० २०१ ई० में रोम ने कार्थेज को निरस्त्र कर दिया। १८०८ ई० में नेपोलियन ने प्रशा (जर्मनी) की सैन्य-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाये और आधुनिक काल में प्रथम महायुद्ध के वाद १९१९ ई० में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की जल, थल और वायु सेना को वहुत ही सीमित कर दिया था। रूसी जार ने १९ वी सदी के अन्त और २० वी सदी के शुरू के दिनों में निश्शस्त्रीकरण में बड़ी दिलचस्पी दिखलायी थी और उसके प्रयत्न से १८९९ ई० और १९०७ ई० में हेग में इस विषय पर सम्मेलन हुआ था। किन्तु, दूसरी ओर यूरोप में सैनिकवाद का बोलवाला हो रहा था, विभिन्न राज्यों में तरह-तरह की गुप्त सन्धियाँ हो रही थी। फलत चारो ओर अविश्वास, भय और विद्वेष का धुआँ फैल रहा था जिसके विषाक्त वातावरण में हेग सम्मेलन की चेष्टाएँ घुट कर मर गयी। निश्शस्त्रीकरण की चेष्टा तो सुरक्षा के वातावरण मे ही सफल हो सकती है। प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व हर राज्य अपनी सैन्यशक्ति वढाने में ही तत्पर था। १९०८–१४ ई० में ६ यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मिलित फौजी वजट पहले की अपेक्षा ५००,०००,०००

डालर अधिक का हो गया था। सैनिकवाद की आग में मारक अस्त्रों के आविष्कार ने आहुति का काम किया।

युद्ध समाप्त होने पर स्वभावत: राष्ट्रों का युद्ध-खर्च घटाने की ओर लोगों का ध्यान गया और निश्शस्त्रीकरण की बात फिर से उठने लगी। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के सैनिक-विकास पर प्रतिवन्ध लगा दिये। स्वयं अपने लिए भी उन्होंने निश्शस्त्रीकरण की नीति को वर्साई (भाग ५) और कौवनेन्ट आफ लीग आफ नेशन्स (धारा ८) में कवूल कर लिया।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त निश्शस्त्रीकरण आन्दोलन का प्रधान माध्यम "लीग आफ नेशन्स" वनी, क्योंकि इस उलझी हुई समस्या का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वल पर किया जा सकता है। "लीग आफ नेशन्स" इस कार्य के लिए उपयुक्त प्लैटफार्म थी। "लीग आफ नेशन्स" ने १९२० में एक स्थायी कमीशन नियुक्त किया जिसमें सैनिक अफसर ही सदस्य चुने गये। एक वर्ष वाद एक स्थायी कमीशन भी वना जिसमें गैरफौजी अधिकारी भी शामिल किये गये। इन कमीशनो के माध्यम से "लीग आफ नेशन्स" के निश्शस्त्रीकरण-विभाग का काम शुरू हुआ। १९२३ में मिले-जुले कमीशन ने पारस्परिक-आश्वासन-सधि का मसविदा तैयार किया, किन्तु लीग के सदस्य राष्ट्रों ने सम्मिलित रूप से उस पर हस्ताक्षर नही किया और वह प्रयत्न व्यर्थ ही गया। १९२४ में "जेनेवा प्रोटोकल" तैयार हुआ। शान्ति और निश्शस्त्रीकरण की अव तक जितनी चेष्टाएँ हुई थी, उनमें प्रोटोकल सबसे व्यापक और प्रभावपूर्ण प्रस्ताव था। किन्तु लीग के मेम्वर राष्ट्र इतनी दूर तक कदम बढाने के पक्ष में नही थे। इस प्रकार जेनेवा प्रोटोकल भी असफल चेष्टाओ की सूची में दर्ज हो गया। स्थल सैन्य-बल में कमी करने का प्रयत्न तो फलप्रद सिद्ध नही हुआ किन्तु नौ-सेना की शक्ति सीमित करने में अवश्य यत्किंचित सफलता मिली। इसका श्रेय वाशिङ्गटन नौ-सेना कान्फ्रेंस को है। इसके बाद पुन सामान्य निश्शस्त्रीकरण की चेष्टा कुछ राष्ट्रों ने अपने-अपने तौर पर की। लोकार्नो सन्धि, फिर विभिन्न राष्ट्रों की अनाक्रमण सधि, और पचायत, आपसी झगड़ो को सुलझाने की कोशिश, इन तमाम बातो

से युद्ध का भय और सैन्य बल बढाने की होड़ कम करने में सहायता मिली और उतनी दूर तक निश्शस्त्रीकरण का सिद्धान्त भी आगे बढा। १९२६ में प्रबन्धक समिति (Preparatory Committee) की जिसमें लीग कौसिल के सदस्य, लीग के सदस्य राष्ट्रो के प्रतिनिधि, जर्मनी और अमेरिका के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, बैठक हुई। इस समिति का उद्देश्य था एक समान्य व्यापक निश्शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए योजना बनाना। समिति को इस कार्य में सफलता नही मिली। इसी बीच उधर केलौग—ब्रियाँ सधि हो गयी और रूसी प्रतिनिधि लितविनोव की निश्शस्त्रीकरण-योजना किंचित सनसनी पैदा करके खत्म हो गयी। उसके बाद का इतिहास और निश्शस्त्रीकरण की चेष्टाओ का फल हम सब को ज्ञात है। इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट सरकार सैन्य बल बढाने लगी। जर्मनी में नाजी पार्टी का उदय हुआ, सुदूर पूर्व में जापान अलग विश्व-विजय और साम्राज्य-विस्तार के सपने देख रहा था। इस प्रकार पुन. सभी प्रमुख राष्ट्रो में शस्त्रास्त्र बढ़ाने की होड़ मच गयी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर युद्ध के धौसे की धमक सुनाई पड़ने लगी। इस प्रवृत्ति का फल हमें द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में मिला।

इस युद्ध के बाद से, विशेषकर अणु बम के आविष्कार और प्रयोग से दुनिया इतनी आस्थाहीन हो गयी है कि सामान्य निश्शस्त्रीकरण की बात भी नही सुनाई पड़ती। इसका कारण यह नही कि निश्शस्त्रीकरण असभव है, वल्कि इसलिए कि राष्ट्रों की मनोवृत्ति इतनी बिगडी हुई है कि इस प्रकार महान् आदर्शो की चर्चा भी व्यर्थ, झूठी और निस्सार प्रतीत होती है। किन्तु सिद्धान्तत. कोई भी व्यक्ति निश्शस्त्रीकरण का विरोध नही करेगा और हमेशा उसको सैन्यीकरण के मुकाबले में तरजीह देगा।

परन्तु अगर निश्शस्त्रीकरण ही से विश्व का कल्याण है तो आज-न-कल सारी दुनिया को इस ओर झुकना ही पडेगा। आधुनिक युद्ध इतना अधिक खर्चीला और विभीषिकापूर्ण होता जा रहा है कि छोटे-मोटे राष्ट्र के लिए सभव नही कि वह महान् राष्ट्रो की तुलना में सैन्यबल बढाने की हिमाकत करे और युद्ध के मरण-त्योहार में शामिल हो। आज उत्पादन का ही

प्रश्न इतना प्रवल है कि सब राष्ट्र अपने जनवल को फौज से हटा कर कल-कारखानों और खेत-खलिहानो में लगा कर पैदावार वढ़ाना चाहते हैं। आत्मरक्षार्थ भी सैन्यवल एक सीमा तक ही वढाया जा सकता है। उस सीमा का अतिक्रमण करने पर फौजी अफसरो और शस्त्रास्त्रों के इशारे पर ही राष्ट्रनीति को चलना पड़ता है। उसी प्रकार निश्शस्त्रीकरण को लक्ष्य वनाकर चलाने वाला राष्ट्र अपनी नीति और व्यवहार में हमेशा रचनात्मक दृष्टिकोण को ही प्रमुखता देगा।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो जाता है कि अगर सभी राष्ट्र एक वार योजनानुसार निश्शस्त्रीकरण केलिए तैयार नही होते,तो क्या संभव है कि कोई राष्ट्र अपने ऊपर खतरा उठाकर अकेले यह कार्य शुरू कर दे, अथवा यथाशक्ति सैन्यवल वढाने के लिए नागरिको को सैनिक शिक्षा देने का प्रवन्ध करे ? वडे राष्ट्रो के लिए इस समस्या पर एक स्पष्ट राय देना भले कठिन हो, छोटे राष्ट्र तो निश्शस्त्रीकरण की तैयारी तो कर ही सकते है क्योकि वे सैनिक शिक्षा देकर अथवा अपनी सम्पूर्ण आय को फौज पर खर्च करके भी पार नही पा सकते।

छुट्टियों का उपयोग

प्राय: अभिभावको से यह शिकायत सुनी जाती है कि स्कूल-कॉलिजो में पढ़ाई नही होती, केवल रुपये बर्बाद होते है और अवारागर्दी का सामान मुहैया होता है। शिकायत है कि शिक्षण-सस्थाएँ छ: महीने वन्द ही रहती है। इधर कुछ लोग यह भी कहने लगे थे कि शिक्षा-विभाग की ये लम्वी छुट्टियाँ (vacations) अँग्रेजी हुकूमत की विरासत (legacy) है। चूँकि तव अँग्रेज आफिसर सरकारी स्कूल-कॉलिजो के प्रधान होते थे और उन्हें स्वदेश जाना होता था, इसलिए उन्होने लम्बी-लम्बी छुट्टियों की व्यवस्था की थी। ऐसा तर्क देकर वे यह प्रस्ताव उपस्थित करने जा रहे थे कि स्वतन्त्र भारत की शिक्षण-सस्थाओं की छुट्टियाँ अब घटा दी जायें पर जब उन्हें मालूम हुआ कि

संसार के स्वतन्त्र देशों, समुन्नत राष्ट्रो, में ऐसी छुट्टियाँ और लम्बी है तथा जब विश्वविद्यालय-समिति ने उसके विपक्ष में अपना मत दिया, तब कही जाकर वे चुप हुए।

विद्यार्थियों के अभिभावकों की शिकायत बहुत गैरवाजिब नही है। आखिर छुट्टियों में होता क्या है? कुछ लडके पढते है। कुछ घर जाकर ताश खेलते है। कुछ यात्रा-टोलियो में जाते है। छुट्टियो का एक बहुत बड़ा उपयोग ज्ञान के लिए यात्रा करना है। ऐसा करके हम किताबी दुनिया से निकल, आँखों और कानों से सीधा पढने लगते है। अनेक लोगो के सम्पर्क में आने से अनेक स्थानो के भ्रमण से हमारी जानकारी का विस्तार होता है और हमारी कूपमडूकता दूर होती है। हम शिविर-जीवन व्यतीत करते है। अपने हाथों पकाते, बर्त्तन साफ करते, धोती छाँटते और जूतो पर पालिश करते है। हममें आत्मनिर्भरता और स्वकर्म मे पवित्र प्रसन्नता आती है। हम कर्म का महत्व (dignity of labour) जानते है। अमेरिका तथा अन्य अनेक देशों में पढ़ाई तबतक समाप्त नही समझी जाती जबतक विद्यार्थी भ्रमण करके अपने अर्जित ज्ञान का व्यावहारिक पहलू न जान ले। भूगोल, भूगर्भविद्या, समाजविज्ञान, इतिहास इत्यादि के विद्यार्थी जबतक अपने-अपने विषयो के अध्ययन के लिए उपयुक्त स्थानों को स्वय जाकर न देख लें, वहाँ की धरती, पत्थर, खनिज, लोग, रिवाज, प्राचीन इमारतें, खुदाई इत्यादि का परिचय न प्राप्त कर लें तबतक उनका अध्ययन तो सिर्फ किताबी, और अधूरे ढग से सैद्धान्तिक रहेगा। भूगोल के विद्यार्थी को राजरप्पा तथा छोटानागपुर के अन्य स्थानो को देखना होगा। इतिहास का विद्यार्थी नालन्दा, वैशाली, अजन्ता इत्यादि को देखना चाहेगा। चिकित्सा-विज्ञान का अध्येता देश के चिकित्सा-केन्द्रो की विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों, रेडियम-चिकित्सा, सेनेटोरियम की चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, इत्यादि का अध्ययन करना चाहेगा। और उन सब का ऐसा चाहना अकारण नही है। बल्कि यह तो उनकी शिक्षा का एक परम अनिवार्य अग है। पर व्यवहार में ऐसा कहाँ होता है ? विद्यार्थी ज्ञान की पिपासा से अधिक महज मनोरंजन और सैर के शौक से स्कूल कॉलेजो की

यात्रा-मंडलियो में सम्मिलित होते है। वे जितना खर्च करते है उससे कम लाभ होता है क्योकि उनका अधिकाश खर्च फैशन की चीजें खरीदने, वाजार की उत्तेजक चीज खाने और सिनेमा इत्यादि देखने में होता है। इन यात्राओं में उनका चरित्र भी वडा उच्छृंखल हो जाता है। रेलवे-विभाग यात्रा करनेवाले विद्यार्थियो को कम दाम पर टिकट देता है। पर ये विद्यार्थी रेल के जिस डिब्बे में पहुँचेंगे, उसमें अन्य यात्रियो का रहना दूभर हो जावगा। वे आवश्यकता से अधिक स्थान ले लेंगे, दूसरो का रास्ता रोक देंगे। हल्ले से सब की नीद हराम कर देंगे। प्रतिवाद करने पर झगड़ने को तत्पर रहेंगे। रेलवे के अधिकारियो को वेवकूफ वनायेंगे। तरह-तरह की बोली बोलेंगे और कही कोई खूवसूरत नवयुवती आ गई तब तो ऐसे संकेत करने और बोल बोलने लगेंगे कि भले आदमियों का उनके साथ चलना मुश्किल हो जाय। स्वेच्छाचारिता की पराकष्ठा हो जाती है। कुछ विद्यार्थी रियायती टिकट भी नही लेकर योंही चलने में और कुछ नीचे क्लाश का टिकट लेकर ऊँचे क्लास मे चलने में अपनी चालाकी समझते है। उनके साथ जो अध्यापक होते है वे प्रायः नौजवान ही होते है। अत. उनका पूरा रौब इन पर नही होता बल्कि वे भी यात्रा में इनके साथ मिलकर किशोर-सा व्यवहार करने लगते है। इस प्रकार अभिभावकों की शिकायत दुरूस्त है। लडके न घर के रहते है, न घाट के। अगर वे घर पर रहते तो घर का कामकाज, खेती-बारी तो देख पाते। यात्रा में जाने से वे न तो घर का काम सीख पाते है और न बाहर का ज्ञान ही ला पाते है। जब वे लौटते है तो किसी के साथ चन्द तस्वीरें होती है, किसी के साथ बम्बई का हवाई शर्ट, कलकत्ते का मनीब्रेग, शान्तिनिकेतन का जूता और इसी तरह की चीजें। ज्ञान के नाम पर वे कुछ नही लाते।

इसलिए यदि हम चाहते है कि छुट्टियो का सदुपयोग हो तो आवश्यक है कि हम यात्रा के ढग को बदल दें। ये यात्रा-टोलियाँ अनुभवी, अनुशासन-पसन्द, व्यस्क अध्यापको की मातहती में जायँ के। ये अध्यापक देखें कि रेल, जहाज इत्यादि में विद्यार्थी विनम्रता से, सहायक के रूप में अन्य यात्रियो से व्यवहार करते है। बल्कि यात्रा का एक नियम अन्य यात्रियो को सहायता देना भी हो।

अगर कोई अपाहिज है, अन्धा है, बूढा है, अकेली औरत है, बीमार है तो यात्रिक विद्यार्थियों का कर्त्तव्य होगा कि वे यात्रा करने में तन-मन से उन्हें सहायता दें। अन्य यात्रियों को डब्बे में गंदी हरकतें करने से रोके, और अपने आचरण से सभी को प्रभावित करें। तब उनके बड़े बुजुर्ग जानेंगे कि आजाद हिन्दुस्तान की संतान शिक्षा का नया और अनुपम आदर्श उपस्थित कर रही है।

यात्रा-टोलियों को जिन-जिन स्थानो में जाना हो उनकी सूचना वहाँ के शिक्षा-अधिकारियो को पहले ही मिल जानी चाहिए ताकि वे उन्हें एक अच्छे वातावरण के स्थान में टिकावें और उनका निरीक्षण करावें।

यात्रा-टोलियों को शिविर-जीवन व्यतीत करना होगा। यानी विद्यार्थियो को कम से कम सामान साथ ले चलना होगा, इतना ही जितना वे स्वय ढो सकें। उन्हें टिकने के स्थानों में खाना-पकाना इत्यादि काम स्वय करना होगा। उन्हें नियत समय पर उठना, भ्रमण करना, खाना, पढना और सोना होगा। हर रात को अध्यापक भ्रमण किये गए विषयो पर विद्यार्थियों से बातचीत करें और उनकी जानकारी का हिसाब रक्खें। यात्रा की समाप्ति पर आचरण और जानकारी के हिसाब से विद्यार्थियों को अक दिये जायँ। इससे दो लाभ होंगे। एक तो नियमित कामो में लगे रहने से हुल्लड करने का अवकाश नही मिलेगा और फिर अक मिलने के कारण वे सलग्न होकर भ्रमण से उचित लाभ उठायेंगे।

फिर भिन्न २ विषय के विद्यार्थियो की भिन्न २ टोलियाँ होनी चाहिए। मेरे कहने का यह मतलब नही कि कला के विद्यार्थी के लिए जमशेदपुर का लोहा का कारखाना, पटने को बाटा-जूता-फैक्टरी, कलकत्ते का हिन्दुस्तान मोटर कम्पनी, चितरजन का रेल-इजिन का कारखाना, बगलोर का वायुयान-कारखाना, अहमदाबाद की वस्त्र-मील देखना निरर्थक होगा और न ही यह कि विज्ञान के विद्यार्थियो का कुछ बिगड जायगा अगर वे गया, पुरी, काशी, रामेश्वरम्, प्रयाग, हरिद्वार, भुवनेश्वर को देख लेंगे। पर्यटन तो कभी बेकार जाता हीं नही। घुमक्कडी-शास्त्र के आचार्य महापडित राहुल साकृत्यायन ने इस कार्य

के लिए जनेऊ की जगह कैमेरा टाँगा था। मेरे कहने का सिर्फ मतलब यह कि एक विषय और रुचि के एक साथ विद्यार्थियो के रहने से अध्ययन की सहूलियत होती है।

वैसे केवल मनोरंजन के लिए भी पर्यटन महत्वपूर्ण होता है, पर उस मनोरंजन को सृजनात्मक अवश्य होना है। आजकल विद्यार्थियों की यात्राओ में जो मनोरंजन होता है वह प्राय ध्वंसात्मक होता है। इस प्रवृत्ति को हमें रोकना चाहिए। चूँकि लम्बी छुटटियों में ही यात्राएँ सम्भव है, इसलिए इन छुट्टियो में यात्राएँ हो, मगर छुट्टियो के एक दूसरे पहलू पर भी हमें विचार करना चाहिए।

हमारी शिक्षा-पद्धति की दुर्बलता है कि वह आत्मनिर्भर नही है। विद्यार्थी माता-पिता की सम्पत्ति से पढ़ते हैं। फिर यह महज किताबी वा सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक वा प्रयोगात्मक नही। भारतवर्ष एक दरिद्र देश है। यहाँ घर-घर में गरीबी है। अत. यहाँ ऐशोआराम की पद्धति पर चलने वाली शिक्षा नितान्त गर्हित। साथ ही हिन्दुस्तान अभी-अभी आजाद हुआ है। यहाँ पढे-लिखे लोगो की सख्या अत्यन्त कम है। अन्न-सकट भी उपस्थित है। ऐसे सकट कालमें विद्यार्थियो का, जो साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और जाग्रत है, अपना उत्तरदायित्व होता है। और इन्ही लम्बी छुट्टियो में विद्यार्थी अपना उत्तरदायित्व पूरा कर सकते है तथा शिक्षा को व्यावहारिकता एव आत्मनिर्भरता की ओर ले जा सकते हैं। युद्ध के दिनो में रूस के विद्यार्थियो ने अपने अध्यापको के साथ खेतो में काम करके अभूतपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया था। १९४२ के ग्रीष्मावकाश में रूस के आठ लाख विद्यार्थियो ने विभिन्न प्रदेशो की खेती में योग दिया था। और उपलब्ध आँकडे के अनुसार बीस प्रदेशों के सिफ बालको ने ६००८ टन कुकुरमुत्ता, ३१५३ टन बेर और ११५० टन औषध का सग्रह किया था। हमारे विद्यार्थी भी आज के सकट-काल में देहातो में जा सकते है। वे अपने घर का छप्पर ठीक कर, मवेशियो के लिए चारा लाकर, खेतो में खाद डालकर माता-पिता का भार हल्का कर

सकते हैं। गाँवों के पोखरों को साफकर, कुँए की जगतों और नालियों को ठीक कर, सरकार द्वारा प्राप्त सहायता और अपने उद्यम से अहरो और पगारो को दुरुस्त कर वे सामूहिक-योजना में क्रान्ति ला सकते हैं। वे गाँववालो को खाद्य बनाना, मछली पालना, मधुमक्खी पालना इत्यादि सिखला सकते हैं। गाँवो में पुस्तकालय, रात्रि पाठशाला, लडकियों के लिए शिक्षा इत्यादि की व्यवस्था करके वे गाँव से निरक्षरता को भगा सकते हैं। जगह-जगह खुले मैदान में नाटक खेलकर वे ग्रामीन जनता को मनोरंजन के साथ-साथ नसीहत भी दे सकते हैं।

आज धरती का नया मसीहा, जो धरतीहीन को धरती दे रहा है, गाँव-गाँव पैदल चल रहा है। वह विद्यार्थियो को पुकारता है। उनसे योग माँगता है। कुछ विद्यार्थी छुट्टियो में उनके साथ गए भी हैं, मगर अभी बहुत ऐसे विद्यार्थियो को जाना है। विनोवा का काम तो हर गाँव में पडा है। विद्यार्थी अपने गाँव रहकर भी उनका काम पूरा कर सकते हैं।

जो विद्यार्थी बीमारी या किसी अन्य कारणवश क्लास की पढाई में पीछे रह गए हैं, वे छुट्टियो में पूरी कर सकते हैं। छुट्टियो में विद्यार्थी पढे हुए सबक को दुहरा सकते हैं, माँज सकते हैं। अच्छा अंक लाने के लिए यानी अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिए छुट्टी के एक भाग का ऐसा इस्तेमाल जरूर होना चाहिए।

जो अध्यापक हैं, वे तो छुट्टियों का उपयोग करते ही हैं। अधिकाश ऐसे हैं जिनपर बहुत-सी जिम्मेवारियाँ हैं। इनके पास पैसे नही हैं और तब वे सैर-सपाटे में प्राय. नही जाते। अध्ययन और प्रणयन ही प्रायः उनका काम होता है। अध्यापको की अनेक खोजपूर्ण अथवा रचनात्मक पुस्तकें छुट्टियो में ही लिखी गई हैं। पर आज राष्ट्र का उनसे आग्रह है कि वे छुट्टी का एक अंश देश-कार्य के लिए भी दें।

समाजवाद बनाम गान्धीवाद

आज भारतीय समाज और विश्वसभ्यता के लिए एक भीषण संकटकाल आ पहुँचा है। पुरातन पन्थ, पद्धति, मतवाद, सब कुछ एक आमूल परिवर्तन के सन्धिक्षण में वर्त्तमान है। हमलोगों के सामने अब यह प्रश्न है कि समाज के अस्तित्व और उन्नति के लिये किधर जाना चाहिये, किस मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। इसमें कोई संदेह नही है कि एक युग समाप्त हो रहा, और एक नये युग का सूत्रपात होनेवाला है। इस नवीन भविष्य को बनाने में हमलोग किस मतवादका साहाय्य लेंगे? यहाँ पर दो विख्यात मतवाद विशेष उल्लेखनीय है—समाजवाद और गान्धीवाद।

अब संक्षेप में विचार करना है कि इन दोनो का सिद्धान्त क्या है; दोनों में समानता क्या है, और पार्थक्य क्या है। उसके बाद विचारणीय होगा कि हिन्दुस्तान के लिये या विश्व के लिये कौन मतवाद ग्रहणीय है।

समाजवाद शब्द का प्रयोग तीन अर्थ में होता है। पहला, महाव्यापक अर्थ, दूसरा व्यापक अर्थ और तीसरा प्रचलित अर्थ। समाजवाद की महाव्यापक परिभाषा यह है कि आधुनिक वैषम्यबहुल पूंजीवाद के युग के अन्त में जनसाधारण के सुख के लिये जिस समाज की प्रतिष्ठा होनेवाली है या होगी वही समाजवादी समाज है। इस अर्थ में समाजवाद को दो विशेष धारायें हैं। एक कल्पित समाजवाद; दूसरा वैज्ञानिक समाजवाद। कल्पित समाजवाद के प्रवर्तक थे राबर्ट ओवेन, सेन्ट साइमन्, फूरीयर, कवेट, और लूई ब्लाक। महात्मा गान्धी बीसवी शताब्दी में इस मत के आंशिक समर्थक है। कल्पित और वैज्ञानिक दोनो मत के अनुसार व्यक्तिगत उत्पादन-सम्पत्ति अवाञ्छनीय है, और एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करनी है। कल्पित समाजवाद के अन्तर्गत गान्धीवाद का यह वैशिष्ट्य है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सिर्फ असामाजिक स्वार्थपूर्ण भोग के लिये खराब है, लेकिन समाज के हित के लिये संरक्षक के रूप में सम्पत्ति का अधिकार अनुचित नही है।

दोनो में पार्थक्य यह कि वैज्ञानिक समाजवाद इतिहास की एक वस्तुतान्त्रिक

व्याख्या के ऊपर प्रतिष्ठित है, वर्गसंघर्ष को मानता है, और आदर्श समाज की प्रतिष्ठा के लिये विशेष प्रयत्न की जरूरत है, यह मानता है। कल्पित समाजवाद वर्ग संघर्ष को नही मानता, भूतकाल की ऐतिहासिक व्याख्या की जरूरत नही समझता है, और यह विश्वास करता है कि शान्तिपूर्वक मनुष्यो को समझाकर धीरे-धीरे आदर्श समाज की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

दूसरा, व्यापक अर्थ में समाजवाद कहने से वैज्ञानिक समाजवाद समझा जाता है। इस वैज्ञानिक समाजवाद के दो विशेष अंग है। एक, विकास-मूलक समाजवाद, जिस मत के अनुसार समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये क्रान्ति की जरूरत नही समझी जाती है। दूसरा, विद्रोहमूलक समाजवाद, जिस मत के अनुसार पूँजीवादी समाज में परिवर्त्तन लाने के लिये क्रान्ति की अवश्य जरूरत समझी जाती है। विकासमूलक समाजवाद को माननेवाले तीन विशेष दल है। विलायत के फेबियन सोशलिष्ट और गिल्ड सोशलिष्ट लोग इसके अन्दर आते है। डेविड्सन, सिडनी वेब्, बर्नार्ड शा और लास्की फेबियन दल के परिपोषक थे। आजकल की लेबर पार्टी इस मत के ऊपर प्रतिष्ठित है। बर्टराण्ड रसेल, और जि. डि. एच्. कोल गिल्ड सोशलिष्ट मत के समर्थक थे। जर्मनी के सुधारवादी बर्णष्टाइन् वगैरह भी विकासमूलक समाजवादी थे। हिन्दुस्तान के समाजवादी लोग विशेषत. सुधारवादियो की तरह विकासमूलक समाजवादी है।

विद्रोहमूलक समाजवाद के अन्तर्गत तीन दल है। दार्शनिक अराजकतावादी बाकुनिन और प्रूधो, फ्रास के सिण्डिकलिस्ट दल और सोवियट कम्युनिष्ट दल क्रांतिवादी कहलाते है।

तीसरा, प्रचलित परिभाषा के अनुसार मार्क्स-लेनिन-परिचारित कम्युनिज्म या साम्यवाद ही ठीक-ठीक समाजवाद है। लेकिन रूस के साम्यवादी दल और भी अधिक सीमित अर्थ मे समाजवाद शब्द का प्रयोग करते है। इस अर्थ में पूँजीवाद के युग और साम्यवाद के युग के बीच में जो एक सामयिक युग आता है वही समाजवाद का युग है।

प्रचलित अर्थ में समाजवाद और गान्धीवाद दो परस्पर विरुद्ध मतवाद

है। इस अर्थ में समाजवाद कार्लमार्क्स और लेनिन के मतानुसार क्रान्तिवादी है। समाजवादी राष्ट्र में सभी उत्पादन की सम्पत्ति राष्ट्र के हाथ में रहती है और साधारण जनता की भलाई के लिये एक केन्द्रीय आर्थिक उद्योग के अनुसार देश में धनोत्पादन होता है। आर्थिक उद्योग में कल-कारखानो की जरूरत और विशेष महत्त्व माना जाता है। पूंजीवाद के साथ प्रधान पार्थक्य यह है कि समाजवादी राष्ट्र में समूची पूंजी राष्ट्र के हाथ में रहता है, पूंजीपतियो के हाथ में नही, और उत्पादन में पूंजी का प्रयोग होता है जनसाधारण की आर्थिक भलाई की दृष्टि से; पूंजीपतियो के मुनाफा की दृष्टि से नही। मार्क्स का कहना है कि इतिहास की अनिवार्य गति के अनुसार पूंजीवाद का जमाना बदलकर अवश्य ही समाजवाद के जमाने में परिणत होगा, और अन्त में जाकर एक राष्ट्रहीन, वर्गहीन आर्थिक प्राचुर्यपूर्ण और न्यायपूर्ण समाज की प्रतिष्ठा होगी। यह परिवर्त्तन लाने में पहले क्रान्ति की आवश्यकता है, पीछे केन्द्रीय आर्थिक उद्योग की आवश्यकता है।

प्रो० कोल का भी कहना है कि अगर समाज को आर्थिक उन्नति की ओर बढाना है तो पुराने पूंजीवाद को छोडकर समाजवाद को अपनाना ही श्रेयस्कर होगा।

महात्मा गान्धी इन बातो को नही मानते थे। वे एक सम्पूर्ण रूप से विभिन्न सभ्यता के अग्रदूत थे। सत्य, अहिंसा, विलासहीन जीवन उनके लिये धर्म का अग ही नही बल्कि असल रूप है। गान्धीवाद के अनुसार वर्गसघर्ष गलत है। समाज में सर्वोदय या सब ही वर्ग की एक साथ उन्नति होनी चाहिये। इतिहास की अनिवार्य आर्थिक व्याख्या भी गलत है। कलकारखानों की कोई जरूरत नही है बल्कि कलकारखाने शैतान के अस्त्र है। राजनैतिक शक्ति का एकीकरण व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये हानिकारक है, इसलिये पचायत प्रथा के अनुसार विभक्त शासन पद्धति होनी चाहिये। समाज में पूंजीपति और जमीदारो का भी स्थान है; सिर्फ वे लोग सम्पत्ति के सरक्षक के रूप में रहेंगे। समाज में परिवर्त्तन लाने के लिये क्रान्तिमूलक उपाय का प्रयोग करना सदैव अवाञ्छनीय है क्योकि अच्छे उद्देश्य को हासिल करने के लिये उसका उपाय

भी अच्छा ही होना चाहिये। हिंसानीति सर्वथा खराब है। इस मत के अनुसार मार्क्सवादी समाजवादी की प्रतिष्ठा होने से देश में मदगर्वित वस्तुतान्त्रिक नेताओं का राज्य होगा, व्यक्तिस्वातन्त्र्य का महत्त्व नही रहेगा।

गान्धीवाद का प्रयोग तीन काल में और तीन क्षेत्र में हो सकता है।

प्रथम काल—१५ अगस्त, सन् १९४७ के पहले, अर्थात् हिन्दुस्तान में आजादी हासिल होने के पहले। इस काल में गान्धीवाद का प्रधान उद्देश्य था राजनैतिक स्वातन्त्र्यलाभ। उसके लिये साधन था अहिंसा और सत्याग्रह। अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित होकर लडने के लिए नागरिकों के अन्दर आपस में शान्ति की जरूरत थी, अर्थात् हिन्दू-मुसलमानो में मेलभाव की जरूरत थी, इसमें कोई शक नही है। और प्रचंड ब्रिटिश शक्ति के साथ निरस्त्र हिन्दुस्तानियो को लडने के लिये आत्मिक बल को छोडकर और कोई भी साधन नही था; इसलिये अहिंसा, असहयोग का प्रयोग गान्धीजी का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार और दान है। काग्रेस के सुदीर्घकाल-व्यापी आन्दोलन में इसी उपाय का प्रयोग हुआ और आजादी हासिल करने में शायद यही उपाय अधिकांश रूप में सफल रहा है। विलायत के मिल-निर्म्मित कपडे की प्रतियोगिता से यहाँ के गरीब जुलाहों को वचाने के लिये उनका खादी वस्त्र व्यवहार का आन्दोलन भी प्रशंसनीय है। उनके धार्मिक भित्ति पर प्रतिष्ठित अनाडम्बर जीवन दर्शन ने नये नेताओ को शक्तिगर्व से बचाने में बहुत सहायता की है, यह भी मानना पड़ेगा।

द्वितीय काल:—(आजादी मिलन के बाद आजादी को सुदृढ भिन्ति पर प्रतिष्ठित करने के समय तक) इस समय गाँधीवाद का प्रधान उद्देश्य रहा देश को अर्न्तद्रोह से बचाना, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य प्रतिष्ठा करना। विंश-शताब्दी में एक व्यावहारिक प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा में नागरिकों के वीच धार्मिक भित्ति पर लडाई कितनी हानिप्रद है, यह कतिपय अदूरदर्शी व्यक्तियों को छोड़ कर और सभी समझ सकते है। उनके जीवन काल में तो इस विषय में सफलता नहीं मिली थी, किन्तु उन्होंने खृष्ट की तरह

अपना जीवन उत्सर्ग करके भारतवर्ष में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना की है।

तृतीय काल—(स्वाधीन भारत के नव-निर्माण में गान्धीवाद का प्रयोग और विश्वशान्ति की प्रतिष्ठा में गान्धीवाद का दान।) इस काल का अध्ययन तीन विभिन्न क्षेत्रो में अलग-अलग करना ही अच्छा होगा।

व्यक्तिगत क्षेत्र.—आधुनिक युरोप के साधारण मनुष्य राजसिक भावापन्न हैं। भोगसुख उनके जीवन का उद्देश्य ह। प्राचीन भारत का जीवनादर्श सरल और सात्विक था। सयत जीवन को महत्व दिया जाता था; धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सभी का प्रयोजन माना जाता था। महात्मा गाँधी चाहते थे कि आधुनिक मानव भी उस देवत्व के लिये कोशिश करे और सत्य एव अहिसा के पथ पर रह कर मोक्ष के लिये लोक सेवा करे। सब काल में सभी देश में श्रेष्ठ मानवो ने इस आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना ह। और इस महान आदर्श को अपनाने में ही मानवात्मा की विजय है, यद्यपि देश के सभी मनुष्य इस प्रयास में सफल नही भी हो सकता।

जातीय क्षेत्र.—जातीय क्षेत्र में सबसे पहले सु-नागरिक की जीवन-यापन-प्रणाली की बात आती है। शिष्ट नागरिको के लिये, विशेषत एक आधुनिक प्रजातन्त्र में, शान्तिपूर्वक कर्त्तव्यपरायण जीवन बिताना ध्येय होना चाहिये। इसलिये हिन्दू-मुसलमान, सिख, खृष्टान आदि सभी धर्मावलम्बी के लिये आपस में मेलमिलाप के साथ रहना जरूरी है। इसमें कोई दो मत नही हो सकता।

राजनैतिक क्षेत्र में गान्धीवाद शक्ति के एकीकरण के विरुद्ध है। क्योंकि इससे शक्ति के दुरुपयोग का डर रहता है और साथ-साथ प्रजातन्त्र एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हानि का डर भी रहता है इसलिये कन्द्रीय सरकार के हाथ में अत्यावश्यक शक्ति रहेगी और शेष शक्ति स्थानीय सरकार और पचायतो के हाथ में रहेगी। एक दष्टि से तो यह सही मालूम होता है। लेकिन और एक वास्तविक दृष्टकोण से यह सिर्फ दुर्बलता का पोषक ही नही बल्कि नव-प्राप्त स्वातन्त्र्य का घातक प्रतीत होगा। क्योंकि जब सारी दुनिया में शीघ्र ही

रणभेड़ी बजनेवाली है और जब कि सामान्य पडोसी पाकिस्तान भी लडने के लिये तैयार है तब सर्व प्रकार से राष्ट्र की शक्तिवृद्धि करने के लिये शक्ति का केन्द्रीकरण सामयिक रूप से होना चाहिये, अन्यथा कुछ वर्षों के अन्दर ही गांधीवादी आदर्शवाला दुर्बल राष्ट्र आजादी खो बैठेगा। इतिहास इसका साक्षी है। इसलिये इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। लेकिन हा, यदि विश्व के सभी राष्ट्र शान्ति और प्रजातन्त्र के पथ पर चलना शुरू कर दे, तब इस आदर्श में किसी प्रकार के भ्रम की शंका नही, वरन् यही श्रेष्ठ राजनैतिक आदर्श होना चाहिये।

राजनीति के साथ धर्म को विजडित करने की गाँधीजी की प्रचेष्टा भी उसी तरह समयानुकूल नही है; इसलिये परित्याज्य भी है।

दुर्बल राष्ट्र विशेष के लिये गाँधीवाद का अर्थनैतिक अश और भी हास्यास्पद है। वर्गसघर्प खराब हो सकता है, लेकिन अगर इतिहास इसका साक्षी देता है तो उसको मानने में द्विधाबोध क्यो? पूंजीपतियो के स्वार्थपर हाथ मे यन्त्रशक्ति असामाजिक काम करती है, इसलिए उसको त्याग करना चाहिये। तब तो, आग से बच्चो का हाथ जलता है, इसलिये आग का व्यवहार ही छोड देना चाहिये? आग का सु-व्यवहार सीख लेना ही उचित है। उसी तरह यन्त्र दानव को राष्ट्र के अधीन बना कर उससे समाज की भलाई के लिये काम लेना ही अच्छा है।

अवश्य यह बात ठीक है कि कुटीर शिल्प के द्वारा सभ्यता का सरल रूप प्रतिष्ठित रह सकता है; व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हानि भी नही होती है और समाजवादियों के केन्द्रीभूत आर्थिक उद्योग से समाज वस्तुतान्त्रिक बन जाता है, कारखाना-सचालको के हाथ में साधारण मजदूर स्वातन्त्र्य खो बैठता है एव केन्द्रीभूत आर्थिक शक्ति के दुरुपयोग की शका रहती है। लेकिन जिस यन्त्रयुग में चारो तरफ हिंसा का ताण्डव नृत्य चल रहा है उस युग में कोई भी राष्ट्र अकेले निर्भय होकर प्रतिकूल मार्ग का अवलम्बन नही कर सकता निरुपाय होकर उसको अर्थनैतिक शक्ति प्रतिद्वन्द्विता के स्तर पर प्रतिष्ठित रखना ही पड़ता है। इसलिये आज कल के जातीय जीवन को युद्ध से बचाने

के लिये हमलोगों को भी लाचारी से केन्द्रीभूत आर्थिक उद्योग का सहाय्य लेना ही पडेगा। कुटीर शिल्प को बचाते हुए उत्पादन शक्ति-वृद्धि के लिये कल-कारखानों से काम लेना ही पडेगा, नही तो हिन्दुस्तानियो की आत्मा आजाद तो रह सकती है, किन्तु शरीर फिर से गुलाम बन जायगा।

आन्तर्जातिक क्षेत्र—जातीय क्षेत्र में गाँधीजी की राजनीति और अर्थ नीति अस्वाभाविक होने पर भी आन्तर्जातिक क्षेत्र में उनका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। इसका कारण यह है कि अगर सभी राष्ट्र एक साथ गाँधीवाद को अपनाना शुरू कर दे तो देव-राज्य के प्रतिवेशी दानवो से कोई डर नही रहेगा।

अब विचारणीय है कि विश्वसभ्यता के इस सकटकाल में आन्तर्जातिक क्षेत्र में कौन रास्ता दिखला सकता है—समाजवाद या गांधीवाद ? हमलोगों ने पहले ही देख लिया है कि समाजवाद हिंसा की भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इसलिये हिंसानल से जब तक सारी दुनिया एक बार अच्छी तरह नही जल जाती है, और जब तक सभी देश में समाजवाद की प्रतिष्ठा नही हो जाती है, तब तक समाजवाद के द्वारा विश्वशान्ति लाभ का कोई सवाल नही उठता है। इस हालत में सभी राष्ट्र को कोशिश करनी चाहिये, गाँधीवादी अहिंसा नीति को मानने की। लेकिन इसमें सदेह है। उसके बाद प्रश्न यह है कि अगर सारी दुनिया में समाजवाद की विजय हो जाय तो क्या मनुष्य सुखी होगा ? कारखाना परिचालको के हाथ में मजदूर अपना कार्यस्वातन्त्र्य खो-कर और डिक्टेटरों के हाथ में प्रजा अपनी राजनैतिक शक्ति को जलाजलि देकर कैसे सुखी हो सकता है ? मनुष्य की आत्मा का स्वातन्त्र्य और गरिमा अक्षुण्ण रखने के लिये पंचायत परिचालित शासन-पद्धति और कुटीर शिल्पबहुल आर्थिक व्यवस्था की जरूरत है। इसमें गाँधीवाद की श्रेष्ठता प्रमाणित होगी। मनुष्य सभ्यता को शक्ति और स्वातन्त्र्य के पथ पर परिचालित करने के लिये गाँधीवाद की शरण लेनी ही पड़ेगी। किन्तु यहाँ एक गम्भीर प्रश्न उठता है—क्या यह सम्भव होगा ?.. शायद नही। राजसिक मदगर्वित राष्ट्र आज विनाश के पथ पर चल रहे है। तृतीय महायुद्ध अवश्यभावी

मालूम पड़ रहा है। पूंजीवादी और समाजवादी देशों में एक शेष युद्ध होने-वाला है। अणुबम किसका नाश करेगा और किसको छोडेगा कोई नही कह सकता है। लेकिन निराश होने का कोई कारण नही है। अगर विश्व सभ्यता को विनाश से बचाना है, तो सोवियट राष्ट्र में और सयुक्तराष्ट्र में जरूर गाँधीजी की आत्मा से अनुप्राणित होकर वहाँ के नेता लोग अहिंसा की आवाज आन्तर्जातिक सुरक्षापरिषद में उठायेंगे। इस बीच में हमलोगों का कर्त्तव्य है कि हमलोग सब कोई व्यक्तिगत जीवन में पूज्य बापू का आदर्श ग्रहण कर लें और सारी दुनिया में गाँधीवाद प्रचार करने की चेष्टा करें।

प्रजातन्त्रवाद बनाम अधिनायकवाद

अरस्तू से लेकर आजतक जितने भी राजनीति-दर्शन के आदर्शवादी विचारक हुए हैं उनका आदर्श प्रजातन्त्रवाद रहा है। फ्रासीसी क्राति के बाद से जनता के द्वारा, जनता के लिए जनता की सरकार, यही सभी राष्ट्रो का स्वप्न रहा है। यह प्रजातन्त्रवाद है क्या? आधुनिक युग के महान् साहित्यिक और चिन्तक बर्नार्ड शा के शब्दों में, प्रजातन्त्रवाद "एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो किसी देश के सभी लोगो के लिए, न कि वर्ग-विशेष के लिए, अधिकतम प्राप्य कल्याण को अपना लक्ष्य बनाती है।"

अनेक कवियों ने प्रजातन्त्रवाद के गीत गाए हैं, असख्य राजनीति-शास्त्रियो ने इसकी सुरक्षा के लिए माथापच्ची की है; और जाने कितनों ने प्राणोत्सर्ग तक किया है। यह प्रजातन्त्रवाद का ही आदर्श है जिसने फ्रास के सोलहवें लूई के अत्याचारों का खातमा किया था, रूस के जार के शोषण से त्राहि-त्राहि करती जनता का उद्धार किया था। प्रजातन्त्रवाद ही ऐसी व्यवस्था है जिसमें लक्ष-लक्ष बुभुक्षित मनुष्यों को भोजन मिलता है, नग्नप्राय जनसाधारण को वस्त्र प्राप्त होता है, और अत्याचार-पीडित, कराहती मानवता को शरण मिलती रही है। प्रजातन्त्रवाद से साहित्य, धर्म और राजनीति के क्षेत्रों में एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है।

किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के बाद नवीन और विचित्र विचारो का जन्म हुआ, और शासन के नए रूप, अधिनायकवाद ने सर उठाया। यह इस भावना का परिणाम था कि राज्य के नियन्त्रण का अधिकार चचल-मति जनता को सौंपना बुद्धिमत्ता का परिचायक नही है। यही कारण है कि जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी और स्पेन में फ्रैंको अधिनायक बन बैठे।

अधिनायकवाद प्रजातन्त्रवाद का प्रतिद्वंद्वी है। एक प्रजातन्त्रवादी देश में शासनाधिकारियों की गलतियों को सुधारने के उद्देश्य से सभी को यह स्वतंत्रता रहती है कि वे सरकार की आलोचना करें। कोई भी किसी दिन जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हो सकता है। सभी के व्यक्तिगत अधिकार होते हैं और सभी को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार प्राप्त रहता है। एक प्रजातंत्रवादी सरकार तभी तक अधिकार-सम्पन्न रह सकती है जबतक वह जनता का विश्वास-भाजन बनी रहती है। इसके विपरीत अधिनायक के विरुद्ध चूँ करने के लिए जान तक गँवानी पड़ सकती है।

प्रजातन्त्रवाद आज भी आदर्श शासन-प्रणाली के रूप में स्वीकृत होता है, किन्तु इसके आलोचक भी पाए जाते हैं। आलोचना के आधार एकाधिक हैं। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद में खर्च ज्यादा पड़ता है; इसमें आदर की भावना की कमी रहती है; इसमें समता का मिथ्या सिद्धान्त पाया जाता है; यह साधारणता को प्रोत्साहन देता है; यह चचल, परिवर्त्तनबहुल और उद्देश्यरहित होता है; इसमें गुण से अधिक सख्या को महत्त्व दिया जाता है, इत्यादि। इसकी एक बहुत बड़ी कमजोरी को एम० एन० राय जैसे राजनीतिज्ञ और विचारक ने इन शब्दो में निर्दिष्ट किया है, "प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली, जो कि पक्ष-विपक्ष में मत गिनने के अतिरिक्त और कुछ नही, अन्ततः सामूहिक अहभाव का आत्मसमर्पण-मात्र है। इसमें न तो व्यक्ति के लिए ही गुजाइश रहती है, न बुद्धि के लिए ही। प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में जोरदार भाषण कर सकनेवाले अयोग्य व्यक्ति भी बहुत ऊँचे उठ सकते है, बुद्धिमत्ता, विश्वसनीयता, दार्शनिकता और नैतिक-गुणो का इसमें कोई महत्त्व नही रहता।"

इसके विपरीत अधिनायकवाद में कार्यों के सम्पन्न होने में विलम्ब नही

होता। बहुमत और अल्पमत का झगडा अधिनायकतन्त्र में नही रहता। इस प्रकार के शासन-विधान के अन्तर्गत प्रशासन-कार्य व्यवस्थित, निर्विघ्न और योजनाबद्ध रूप में चलता रहता है। किन्तु इन कुछ गुणो के साथ ही अधिनायकवाद में ऐसी त्रुटियाँ है जो गुणो की अपेक्षा कही अधिक है। एक अधिनायक के अधीन व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन सैनिक जीवन की तरह नियन्त्रित हो जाते है, कार्य के लिए व्यक्तिगत प्रेरणा नही रह जाती और महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विकास की गुंजाइश नही रहती। अपने को प्रभुत्व-सम्पन्न बनाए रखने के लिए एक अधिनायक को बहुधा युद्ध का रास्ता भी अख्तियार करना पडता है—ज्वलन्त उदाहरण है द्वितीय विश्व-युद्ध को अनिवार्य बनानेवाले हिटलर और मुसोलिनी !

वास्तविकता यह है कि सावधान न रहने पर अधिनायकवाद और प्रजातन्त्रवाद दोनों ही ह्रासोन्मुख हो जाते है। पहला दूसरे की अपेक्षा बहुत आसानी से विकृत होकर स्वेच्छाचारिता में परिवर्तित हो जाता है और यह हिंस्र राष्ट्रीयता को उत्तेजित कर अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-शान्ति को भी खतरे में डाल देता है। जहाँ तक प्रजातन्त्रवाद का प्रश्न है, वह भी तब विकृत हो उठता है जब-जब जन-मत शिथिल हो जाता है और ऐसी स्थिति मे परिणाम होता है अमीरों के द्वारा गरीबो का शोषण। तब प्रजातन्त्रवाद जन-राज्य न रह कर वर्ग-राज्य में परिणत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जन-स्वातन्त्र्य की कीमत होती है अखड सावधानता !

तो क्या प्रजातन्त्रवाद सफल हो भी सकता है ? उपर्युक्त चिन्तक ने ही इस प्रश्न को उठाया है और उत्तर भी दिया है। उन्ही के शब्दों में, 'प्रजातन्त्रवाद का आधारभूत सिद्धान्त—अधिकतम सख्या का अधिकतम कल्याण—तभी कार्यान्वित हो सकता है जब सार्वजनिक कार्य ऐसे लोगो के हाथ में रहे जो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अधिकारी है और जो अन्य किसी मनुष्य या सिद्धांत के प्रति उत्तरदायी होने के पहले अपनी ही आत्मा का प्रतिनिधित्व करते है। आशय यह नही कि कुछ बौद्धिक व्यक्ति ही शासन करें, बल्कि यह कि एक ऐसा सामाजिक सघटन हो जो स्वाधीन व्यक्तियों को उच्चतम प्रशासनाधिकार देकर

मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा के विकास के लिए असीम क्षेत्र प्रस्तुत करे। ऐसे ही व्यक्तियों पर निहित स्वार्थों का कोई प्रभाव नही रहता, ये उस सामूहिक अहंभाव की चचलता से डिगनेवाले नही होते जो सहज ही नारेबाजी से विचलित हो जाया करते है। यदि प्रजातंत्रवाद को अधिनायकवाद का सफल मुकाबला कर आदर्श मानव-समाज का संघटन करना है तो इस दार्शनिक तत्व को ग्रहण करना ही पड़ेगा।

परंपरागत ढंग का प्रजातन्त्रवाद आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पूर्णतः सक्षम नही सिद्ध हो रहा है। समस्या यह है कि किस प्रकार प्रजातन्त्रवाद की परपरागत सस्थाओं को वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुरूप बनाया जाय। आज प्रजातन्त्रवाद की विफलता सबसे अधिक आर्थिक क्षेत्र में दिखाई पडती है। अत प्रजातन्त्रवादी देशों को सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे अपनी आर्थिक-प्रणाली की ऐसी व्यवस्था करें जिससे सभी मनुष्यो के लिए काफी अच्छे जीवन-स्तर को सभव बनाया जा सके। इसके अतिरिक्त सुरक्षित तथा स्वाधीन होने की भावना को लोगों में भरना, यह भी प्रजातन्त्रवाद का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए।

साम्प्रदायिकता का अभिशाप

वनस्पति जगत में विषवृक्ष वास्तव में है या नही, कहना कठिन है किन्तु हमारे जीवन में साम्प्रदायिकता सब प्रकार से विषवृक्ष सिद्ध हो रही है, इसमें बहुत कम ही लोगो को सदेह हो सकता है। इस विषवृक्ष की जड़ें हमारी जीर्ण समाज व्यवस्था में है और उन्हें हमारी सामाजिक रूढियों, अन्धविश्वासों, मध्ययुगीन धार्मिक असहिष्णुता और आधुनिक अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमताओ से खाद्य मिलती रहती है। इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर उठकर राजनीति के क्षेत्र में विस्तार पाती है। इसका सस्पर्श लेकर बहनेवाली हवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए घातक है और जो लोग इसकी छाया को सुखद मानकर पास

जाते है, उन्हें भी फल भुगतना पड़ता है। हाँ यह दूसरी वात है कि उन्हे इसका एहसास न होता हो।

साम्प्रदायिकता एक मध्ययुगीन भावना है, जो समाज और जमात को आज की दुनिया में सांस्कृतिक पिछडेपन का शिकार बनाकर रखती है। जो समाज या वर्ग एक बार सास्कृतिक पिछड़ेपन का शिकार बन जाता है, वह बाहरी प्रभावों से बचने के लिए अपने चारों ओर निषेधो का घेरा खडा कर लेता है। उसके बाद उस जमात के लोगों से अन्य प्रकार की जीवन-प्रणाली के प्रति युक्तिसगत दृष्टिकोण की अपेक्षा रखना कीचड बिलो कर मक्खन निकालने-जैसी चेष्टा है।

किन्तु निषेधों का घेरा खडा कर लेने से ही आज के जमाने में किसी जमात को त्राण नही मिल सकता है क्योंकि उस घेरे की दूसरी तरफ जो शक्तियाँ काम करती है, वे आ-आ कर टकराती है। इस सघात की कितनी ही प्रतिक्रियाएँ घेरे के भीतर रहनेवाली जमात पर पडती है। मध्ययुग की युग-वृत्ति चूँकि धर्ममुखीन थी, अतः दो जमातो का सघर्ष बहुधा धार्मिक स्वरूप ग्रहण कर लेता था। आज यह लडाई आधुनिक समाज की जमातो के वीच राजनीतिक क्षेत्र में चला करती है।

इस लड़ाई का संचालन लडनेवाली जमातों के जागरूक व्यक्ति करते हैं और इसका सर्वाधिक लाभ भी उन्हें ही मिलता है। उनके अनुयायी जहाँ के तहा रह जाते है। पर उन अनुयायियो को नारों और प्रतीको के आधार पर अथवा नयी-नयी आतरिक और वाह्य समस्याएँ खडी करके हमेशा वहलाया जाता है।

वस्तुतः आज के युग में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन करने का अर्थ है जनता को गुमराह करना ताकि उनकी नजर समाजगत वर्ग-सघर्ष और शोषण पर न पडे। यह तो अप्रत्यक्ष हानि है। प्रत्यक्षरूप से भी लोगों को जो कुछ भुगतना पडता है, उसका भी ताजा मिसाल अपने देश की सामाजिक अवस्था में देखा जा सकता है। सबसे पहले, तो देश का नक्शा ही बदल गया है। हम दो राज्यों में बँट गये। इस बँटवारे की पृष्ठभूमि में इतनी खीचतान, अविश्वास

और घृणा-उपेक्षा है कि इन राज्यों के लिए मैत्री भाव से पारस्परिक सहयोग का जीवन बिताना असंभव हो रहा है। कभी कश्मीर का झगडा है, तो कभी नहरों के पानी का। कभी आयात-निर्यात, और अवमूल्यन की लडाई है, तो कभी विस्थापितो की सम्पत्ति के सम्बन्ध में तनातनी है।

देश के बँटवारे का अर्थ केवल आवादी का बँटवारा नही, वल्कि प्राकृतिक, औद्योगिक और सामरिक शक्तियों का भी बँटवारा है। फलत. देश की जो शक्ति एकत्रित थी, वह दो टुकडो में बँट गयी है, और सहयोग के अभाव में दोनो के दोनो कमजोर पड गये है। उन्हें अनेक अभावो की पूर्त्ति के लिए दूसरे देशो का मुँह जोहना पडता है और इस लाचारी का गहरा मूल्य रुपये-पैसों की शक्ल में या परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में चुकाना पडता है।

सवसे वढकर तो विस्थापितो के पुनर्वास की समस्या है। देश-विभाजन के प्रसग में आवादी के तवादले की वात कभी की गयी थी, पर यह असम्भव समझकर छोड दिया गया। हालाकि आज भी वैसे कट्टरपथियो की कमी नही जो आवादी के तवादले की वात करते है। प्रश्न उठता है कि इस प्रस्ताव में कौनसी त्रुटि थी जिसके कारण यह प्रस्ताव अमान्य रहा। इस प्रस्ताव की मुख्य कमजोरी थी कि इतने विशाल पैमाने पर आवादी के इस-उस ओर आने-जाने के आर्थिक परिणामो का कदाचित् ही कोई युक्तिपूर्ण अनुमान किया गया था। यह मुख्यतया साम्प्रदायिकता की आग में घी डालने का सुझाव था। इसके परिणामो की कल्पना हम उन विस्थापितो की दशा देखकर कर सकते है जिन्हे, अधिकारी तौर पर आबादी का तवादला न होने पर भी, परिस्थितिवश अपना घर छोड कर भारत या पाकिस्तान जाना पडा है। इन लोगो को आज तक अच्छी तरह बसाया नही जा सका है। इनको व्यक्तिगत रूप से जो कुछ सहना पड़ा है, वह तो दारुण है ही, देश की अर्थ-व्यवस्था भी असह्य भार से चरमरा रही है। व्यक्तिगत रूप से विस्थापितो को पुनर्वास की कोई योजना मानसिक तोष नही दे सकती क्योकि उन्हें वशगत घरों से बलात् विलग होना पड़ा है। उन घरो के सुखमय जीवन की याद भुलाये नही भूलेगी। वह क्षति अपूरणीय है। तब रही विस्थापित व्यक्तियों के लिए घर और

आजीविका के साधन जुटा देने की समस्या। यह कार्य भी आसान नहीं है। अपने देश में, १९५१ की जनगणना के अनुसार, विस्थापितों की संख्या ७५,००,००० आँकी गई है। इसमें ४९,००,०० व्यक्ति पश्चिमी पाकिस्तान से आये हैं।

कोई भी समझदार आदमी समझ सकता है कि इतने व्यक्तियों के वास और रोजगार का प्रबन्ध करना कितना विकट है। मार्च, १९५१, के अन्त तक पश्चिमी पाकिस्तान से आये लोगो के मकान आदि पर २६०० लाख से अधिक रुपये खर्च किये जा चुके है। १९५१–५२ में १२५० लाख रुपये और भी व्यय होंगे। इन लोगों पर मार्च, १९५१ तक देश के कुल १०८००८० लाख रुपये खर्च हुए हैं और १९५१–५२ के लिए ३४८० लाख रुपये का बजट था।

स्मरणीय रहे, इन खर्चों से पूर्वी बगाल से आये हुए २६,००,००० विस्थापितों का सम्बन्ध नही। उन पर अलग व्यय हुआ है।

इतने पर भी कहना कठिन है कि यह कार्य कब तक पूरा होगा। देश की इतनी बड़ी सम्पत्ति का इस प्रकार व्यय केवल साम्प्रदायिकता के अभिशाप के कारण ही हो रहा है।

साम्प्रदायिकता का दूसरा पहलू भी है। यह अन्ततः मानवीय भावनाओं को सवेदनहीन और भोंडा बना देती है। यह मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं देखने देती, बल्कि मनुष्य से पहले उसके धर्म और सम्प्रदाय का बिल्ला देखने को बाध्य करती है। मानव की यह उपेक्षा मानव में जड़ता या पशुता का सचार करती है। तभी देश-विभाजन के साथ दगे हुए, दगों में बूढ़े-बच्चे कत्ल किये गये, स्त्रियों पर बलात्कार हुआ। मित्र ने मित्र को धोखा देकर मारा। इन काले कारनामों का साक्षी रामानन्द सागर का "और इंसान मर गया" नामक उपन्यास, अज्ञेय का "शरणार्थी" और कृष्ण चन्द्र का "हम वहशी है" नामक कहानी-सग्रह है।

और सबसे बढ़कर तो महात्मा गाँधी की हत्या है, जिसकी जिम्मेवारी एकमात्र साम्प्रदायिकता पर है।

साम्प्रदायिकता के अभिशापों का साक्षी यूरोप का इतिहास भी रहा है जहाँ धार्मिक असहिष्णुता के कारण ईसाइयों और गैरईसाइयों ने ईसाई धर्म के शुरू के दिनों में एक दूसरे को भाँति-भाँति से सताया। फिर इन्क्वीजिटरों की दारुण कहानियाँ हैं। मध्ययुग में रोमन कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के विषम संघर्ष ने पूरे यूरोपीयन समाज को जर्जर कर दिया। अन्त में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच क्रूजेड की लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयों के परिणाम यूरोप के इतिहास के पाठकों से छिपे नहीं हैं।

अपने देश में आजकल साम्प्रदायिकता का अर्थ हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष है। पर यह साम्प्रदायिकता का केवल एक पक्ष है। स्वयं हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज के भीतर भी इसके घुन लगे हुए हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में साम्प्रदायिक असहिष्णुता ने किस प्रकार उच्च वर्ण के हिन्दू को अस्पृश्य हिन्दू के कान में गलता हुआ राँगा डालने को बाध्य किया था। छुआछूत की समस्या आज भी समाज की शक्तियो को क्षीण बनाये हुए हैं। मुस्लिम समाज के भीतर शीया और सुन्नी की लडाई भी उसी प्रकार की है। इन सम्प्रदायो के बीच उत्तरप्रदेश में कितनी बार दंगे भी हुए।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के रूप में साम्प्रदायिकता के प्रसार की कहानो काफी दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। भारतीय समाज की यह समस्या तुर्क-अफगान काल से लेकर आज तक चली आ रही है, ठीक उसी तरह, जिस तरह अस्पृश्यता की समस्या। इसके समाधान के लिए राजकीय और धार्मिक स्तर पर तरह-तरह के प्रयत्न हुए। संतों और सूफियों ने एक ओर अपनी तौर पर समन्वय की चेष्टा की, दूसरी ओर अकबर ने। औरंगजेब भी आज शायद हमारी निगाह में कुछ दूसरा होता अगर अंगरेजों के पिट्ठू इतिहास-लेखकों ने सत्य को अर्धसत्यों की चादर से उसे ढँका नहीं होता।

यह भी बहुत सम्भव था कि धार्मिक विभेद के बावजूद दोनों सम्प्रदाय के लोग एक सामाजिक ढाँचे के भीतर अन्योन्याश्रित अंग की भाँति अविभाज्य हो गये होते। पर इस प्रक्रिया को अंगरेजों की फूट डालनेवाली साम्राज्यवादी

नीति से बड़ा व्याघात पहुँचा। अंगरेजों को अभीष्ट नहीं था कि हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक विभेद को भुलाकर राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बँधें। इसलिए उन्होंने कभी हिन्दुओं को उकसाया, तो कभी मुसलमानों को। १९ वीं सदी में उन्होंने सर सैयद अहमद के अलीगढ़ी आंदोलन को नवजात कांग्रेस के विरुद्ध प्रोत्साहित किया।

इस सदी के प्रारम्भ में अंगरेजों की प्रेरणा पर ही आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमंडल १९०६ ई० में वायसराय से मिला और मुसलमानों की माँग पेश की। उनकी माँगों के उत्तर में लार्ड मिन्टो ने जो कुछ कहा उसमें ही आधुनिक हिन्दू-मुस्लिम समस्या का बीज था। शीघ्र ही मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। उसके बाद की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता द्वारा बार-बार सैद्धांतिक समझौता करने की दु:खद चेष्टाओं की लड़ी है।

भारतीय राष्ट्रीयता के अनेक सूत्रधार सचेतन रूप से सम्प्रदायवादी नहीं थे। उनका लक्ष्य मुख्यत: स्वाधीनता-प्राप्ति का था। पर उनके (जो धर्म से हिन्दू थे) दृष्टिकोण पर परोक्ष रूप से १९ वीं सदी के हिन्दू नवजागरण आंदोलन का प्रभाव था। वे किसी-न-किसी रूप से राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि के सुधार-प्रचार से प्रभावित थे। इन आंदोलनों की धाराओं ने रूढ़ि-बद्ध संकीर्ण हिन्दू साम्प्रदायिकता को उदार बनाने की चेष्टा की थी। इसलिए इन धाराओं से प्रभावित लोग उदार तो अवश्य थे, पर वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता की मानसिक प्रतिक्रियाओं को समझ नहीं पाते थे। फलत: भारतीय राष्ट्रीयता का हिन्दू-पक्ष उदारतापूर्वक झुक-झुककर भी मुस्लिम प्रतिक्रियाओं को तुष्ट नहीं कर सका। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साम्प्रदायिकता की समस्या को असाम्प्रदायिक रूप से, समाज की बुनियादी आर्थिक आवश्यकताओं के आधार पर सुलझाने की चेष्टा नहीं हुई। फलत: वह आग न बुझ पायी, न बुझ पायी। और, उसकी ज्वालाओं में झुलसा हुआ देश और समाज कितना विरूप हो रहा है!

परमाणु बम और विश्वशान्ति का प्रश्न

रहस्य-भेद की तीव्र उत्कठा मानव जीवन और सभ्यता की मुख्य प्रेरक शक्ति रही है। इसके आधार पर ही मनुष्य प्रकृति से निरतर सघर्ष मोल लेकर भी अपने प्रगति-पथ पर अनादि काल से बढ़ता आया है। वह प्रकृति के तत्वों का रहस्योद्घाटन केवल अन्वेषण की भावना से पीड़ित होकर नही करता, उसका उद्देश्य नैसर्गिक उपादानों की शक्ति या कमजोरियों का पता लगा कर उन्हें मानव-हितो के लिए उपयोगी बनाना रहता है। इसलिए वह प्रकृति के जर्रे-जर्रे की खोज करता है, स्थूल पदार्थों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अगो का परिचय प्राप्त करना चाहता है। इस अभियान में उसे हमेशा सफलता ही नही मिलती। कभी-कभी तो वह ऐसे निर्णय पर पहुँचता है, जहाँ उसे ठहरकर अपने सारे विश्वास, परपरा या जीवन-प्रणाली को बदल देना पड़ता है।

कुछ दिन पहले की बात है, पदार्थ-विज्ञान के विद्वान स्थूल पदार्थों का विश्लेषण करते-करते परमाणु तक पहुँचकर रुक से गये थे। उन्हें परमाणुओ की असीम शक्ति का आभासमात्र ही मिलता था, कोई निश्चित प्रमाण नही। फिर भी गत महायुद्ध के सिलसिले में विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों में परमाणु की शक्तियो का पता लगाने और उनके सामरिक उपयोग के उपाय ढूँढ़ने में होड़ सी लगी थी। गुप्त रूप से सभी देशों में अनुसंधान चल रहे थे। परमाणु की कल्पनातीत भयंकर सभावनाओ का सबको पूर्ण विश्वास था, फिर भी इनका पूर्ण परिचय प्राप्त करने में १०–२० साल की देर भी हो सकती थी। किन्तु युद्ध-व्यवसायी राष्ट्रों के दुर्दमनीय साहस ने इसे जल्दी सभव बना दिया।

यह सच है कि इस आविष्कार के रहस्य सिर्फ मित्र राष्ट्रों, विशेषत. ब्रिटेन और अमेरिका तक सीमित हैं, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मानव-ज्ञान का आलोक छिप नही सकता। विज्ञान को किसी विशेष सीमा में बद रखना असंभव है। अतः मित्र राष्ट्रों की यह चेष्टा और रूस आदि देशो में इसका पता लगाने के घोर प्रयास को स्वस्थ, संतुलित मानव-बुद्धि का परिणाम नही माना जा सकता।

कारण भी स्पष्ट है। अभी तक मनुष्य को परमाणुओं की विनाशक शक्तियों का ही पता चला है, और उनके प्रयोग के परिणाम भी देखे गये है। अतः सारी दुनिया भयभीत और हतबुद्धि है। ऐसी मानसिक स्थिति में कोई तात्कालिक निर्णय समुचित नही हो सकता। यही कारण है कि आज यह प्रश्न बार-बार उठता है कि विज्ञान द्वारा मानव-सभ्यता का विकास या कल्याण संभव है? यद्यपि प्रकृति की शक्तियो पर विजय पाकर मनुष्य ने अपने लाभ के आशातीत साधन ढूँढ निकाले है, आज परमाणु के विनाशक तत्वो का पता पाकर वह अपने भविष्य की ओर सशकित एव त्रस्त नेत्रो से देखता है। वह सोचता है कि उसे अपनी दुनिया का आमूल परिवर्त्तन कर लेना चाहिए अन्यथा विनाश दूर नही। उसकी सभ्यता के आगे ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया है, जो उसकी सत्ता को गहरी चुनौती देता है। यदि वह सामूहिक रूप से इस सकट से त्राण पाने के उपाय नही निकालता और परमाणु की शक्तियों का अपने सामूहिक लाभ के लिए उपयोग नही करता तो उसका भविष्य अधकारपूर्ण है। वह जमाना तो कब का लद गया जब कि इसान अपनी रक्षा के लिए ईट-पत्थर, लाठी-डडो पर व्यक्तिगत रूप से निर्भर करता था अथवा देश और राष्ट्र की चहारदीवारी खड़ा करके सामूहिक रूप से वेतनभोगी सैनिक दल तथा राष्ट्रीय रक्षा-विभाग की नीतियों का भरोसा करता था।

रूस की भाति राष्ट्रीय सैनिक दलो का सगठन मोर्चा ही राष्ट्रीय सुरक्षा के अत्याधुनिक और सफल प्रबंध का नमूना माना जा रहा था परन्तु वह भी इस आविष्कार के बाद व्यर्थ जँचता है। परमाणु बम की विनाश-लीला ने न केवल आक्रमण या रक्षा के साधनो को अपूर्ण या व्यर्थ सिद्ध कर दिया बल्कि उसकी सभावनाओ के आलोक में आज का समूचा सामाजिक ढांचा, राज-नीतिक समस्याएँ, राष्ट्रीय रक्षा के प्रश्न, आर्थिक और औद्योगिक योजनाओ के स्वरूप और राष्ट्र के प्रचलित अर्थ पुराने या दकियानूस लगते है।

पिछले महायुद्धों के ५-६ वर्षो के बीच विज्ञान ने कल्पनातीत उन्नति कर ली है। देश, काल आदि की सीमाओ के व्यवधान बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गये है। मनुष्य के हाथों प्रकृति की इतनी घातक शक्तियो का अधिकार आ गया

है कि बड़े-से-बड़े क्षेत्र को देखत-देखते नष्ट कर दिया जा सकता है। जेट-सचालित राकेट, बी (१९) वायुयान आदि अस्त्रास्त्रो के आविष्कार से उसने अपने लिए नयी समस्याएँ उत्पन्न कर ली हैं, किन्तु उतनी ही मात्रा में प्रकृति पर उसका अधिकार भी बढ गया है। आज वह वायुमडल के भी ऊपर जा सकता है और उसकी गति शब्द की गति से भी अधिक शीघ्रगामी हो गयी है। इन आविष्कारों के वाद भी परमाणु वम का पता लगाकर उसने अपने को ऐसी स्थिति में ला रखा है जहाँ से उसे अँगरेज, रूसी या अमेरिकन होकर नही, सामान्य मानव होकर विश्व की समस्याओ का समाधान ढूँढना है। उसके लिए आज इतिहास और भूगोल के सीमा-बंधन लुप्त हैं और सारी दुनिया उसका वासस्थान है। उसे अपनी राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति और नैतिकता के मानदंडों का नवीन मूल्यांकन और संगठन कर लेना है, उसे देश और राष्ट्र की पुरानी धाराओं और परम्पराओं को जीतकर पारस्परिक सहयोग के आधार पर ऐसे विश्व का निर्माण करना है जहाँ भविष्य में किसी प्रकार का युद्ध नही होगा।

आज हमें परमाणु की शक्तियों को शान्तिकालीन योजनाओं में नियोजित करने का प्रश्न उतना नही सताता या उत्सुक करता, जितना राष्ट्रीय देशों की मनोधारा और युद्ध-काल में परमाणु की विनाशक शक्तियो की भीषण संभावनाएँ क्योंकि इतने बड़े रक्त-स्नान के बाद भी विभिन्न राष्ट्रों की नीति पुरानी लीक पर ही चलती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज भी व्यापारिक साम्राज्य के विस्तार की लिप्सा, पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और आतक-नीति से उसी प्रकार काम लिया जाता है। युद्ध की समाप्ति के इतने दिनों बाद भी शान्ति-स्थापना के प्रश्नों का समुचित हल नही निकल सका है। और, अस्त्रों के अत्याधुनिक विकास के विपरीत इंसान के पास बचाव के साधन विल्कुल अल्प और अपूर्ण हैं।

परमाणु अस्त्रों से बसे-बसाये देश को नाश करने में खर्च भी आज के साधारण अस्त्रो से सैकड़ों गुना कम पड़ेगा। इस प्रकार यह साफ है कि

मनुष्य के विनाश करने के साधनों में अभूतपूर्व गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया है। यदि आज दुनिया के सभी राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्रों के उत्पादन की सामग्री का अभाव है या उनमें इसकी प्रवृत्ति ही नही पायी जाती, तो यह कोई तर्क नही कि भविष्य में भी इस आधार पर युद्ध नही छिड़ेगा। एक बार अस्त्रशस्त्रों की प्रतियोगिता चली नही कि मनुष्य के बचने का कोई उपाय नही रहेगा। कुछ लोग तो ऐसा भी कहते है कि भविष्य के परमाणु अस्त्र आज की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्तिशाली होंगे। उनके प्रयोग से अणु-परमाणुओं की इकाइयों में भीषण प्रतिक्रिया चल पड़ेगी, जिससे यह धरती मनुष्य के बसने लायक नही रहेगी या मानव-सृष्टि ही विनष्ट हो जायगी।

गत महायुद्ध के अनुभवों के आधार पर कहा जाता है कि परमाणु बमों से बचने का कोई रास्ता नही है। कुछ अधिकारियों ने कहा है कि यदि ऐसे बमो का विस्फोट लक्ष्य से काफी दूरी पर सभव कर दिया जाय, तो किसी प्रकार का खतरा नही आयेगा। किन्तु ऐसे विचार सर्वथा भ्रामक है। यह कथन इन पक्तियों के लेखक का न होकर लुई० एन० राइडनर का है, जो माच्युसेट्स के रेडियेशन लेबोरेटरी में राडर के विकास के लिए युद्ध काल में अन्वेषण करता था।

कुछ लोग यह भी ख्याल रखते है कि परमाणु बम के मिसिल को लक्ष्य से काफी ऊपर कौस्मिक किरणो द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। पर ऐसे लोगो को कौस्मिक किरणो के प्रयोग के खर्च का अन्दाज नही है। फिर कौस्मिक किरणों का प्रयोग इक्के-दुक्के बमों के लिए ही सभव है, सामूहिक आक्रमण के समय यह विफल हो जायगा। वैसे समय में तो राडर का प्रयोग भी व्यर्थ सिद्ध होगा, क्योकि एक राडर-स्टेशन के निर्माण में अपार धन और लगभग ३०० कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। सामूहिक आक्रमण-काल में सैकडों, हजारों राडर-स्टेशनों का निर्माण देश के विभिन्न भागों में करना होगा। इस प्रकार की योजना का खर्च सर्वसाधन-सम्पन्न राष्ट्रो से भी बर्दाश्त नही होगा। अत परमाणु अस्त्रों से बचने के व्यावहारिक और सफल साधन सर्वथा अप्राप्य है।

ऐसी दशा में अगर विश्व के भविष्य की फिक्र राजनीतिज्ञों और श्रेष्ठ वैज्ञानिकों को चिन्तित एव सत्रस्त करे तो कोई आश्चर्य नही। जिन लोगों ने इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनके तर्कों और विपत्तियो की तह में युद्ध की अमानुषिक पुनरावृत्ति को सदा के लिए निर्मूल करने की भावना ही काम करती है, लेकिन जीवन की कठिन समस्याएँ सुखद स्वप्न और निर्दोष भावनाओं से नहीं सुलझतीं। इसके लिए वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान और यथार्थवादी विश्लेषण और समाधान आवश्यक है किन्तु ऐसी मनोदशा उत्पन्न करने के लिए विचारकों और राजनीतिज्ञों को ही नही, बल्कि दुनिया के साधारण लोगो को भी आसन्न सकट का पूरा ज्ञान हो जाना चाहिए। तभी शासकों को भी विनाश की सन्निकटता और युद्ध को स्थायी रूप से बन्द करने की आवश्यकता महसूस होगी।

नवम्बर १९४५ के सम्मिलित वक्तव्य में ट्रूमेन, एटली और कनाडा के प्रधान मन्त्री किंग ने कहा, हमलोग समझते है कि विज्ञान की विनाशक शक्तियों से सभ्य जगत को बचाने के लिए युद्ध बन्द कर देने के सिवा दूसरा कोई उपाय नही है। किन्तु इस प्रकार के भावनात्मक उद्‌गार तो प्रथम महायुद्ध के बाद भी सुनने को मिले थे। युद्ध रोकने के लिए लोगों ने कुछ सस्थाएँ भी बनायी थी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई। राष्ट्रों के पारस्परिक झमेलों को शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए 'लीग आफ नेशन्स' भी बनी। लेकिन इनका जो नतीजा निकला, वह राजनीति के किसी भी विद्यार्थी को मालूम है। इनकी असफलता के कारण भी बिलकुल स्पष्ट है। आज के राष्ट्रों की परम्परा इतनी दूषित है कि अलग-अलग कोई भी राष्ट्र किसी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय को नैतिक आग्रह से ही स्वीकार नही करता। और नैतिक बन्धनो की अवहेलना करनेवाले साधन-सम्पन्न शक्तिशाली राष्ट्र को कायल करने की शक्ति कही रहती नही है।

संयुक्त-राष्ट्र सघ भी केवल नैतिक सीमाओं को ही खडा कर बैठ गया, तो युद्ध रोकना असम्भव होगा। उसे अपने निर्णयो को व्यावहारिक रूप देने

के लिए यथेष्ट शक्ति-सचय करना चाहिए, अन्यथा समझौतों और निर्णयों का कुछ भी फल नहीं होगा।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सामूहिक सुरक्षा का एक ही स्वरूप लोगों के सामने है और वह है किसी राष्ट्र-विशेष को स्वतत्र अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को मानने के लिए बाध्य करना। लेकिन इस प्रकार के समाधान की कमजोरियाँ भी साफ है। शान्ति-प्रेमी राष्ट्रों को युद्ध रोकने के लिए ही युद्ध करना पड़ेगा और वह नियम इतना दूषित और अप्रीतिकर है कि कोई राष्ट्र-सघ इसका प्रयोग करने में ग्लानि अनुभव करेगा।

इन बातों को ध्यान मे रखकर हम एक ही उपाय की कल्पना कर सकते है जिसके द्वारा विश्व में सच्ची शान्ति स्थापित हो सकती है। उसका प्रधान सिद्धान्त यह है कि विश्व सघ के निर्णयों को मजूर करवाने के लिए राष्ट्रों से समझौता न करके आम जनता और व्यक्तियो से अपील की जाय। इस प्रकार का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नया नही है। और यह राज-विज्ञान के अनुभवों द्वारा समर्थित भी हो चुका है। अत. शान्ति कायम रखने के लिए जव विभिन्न राष्ट्रों का संघ बनता है और आपसी समझौते होते है, तो उसमें सम्मिलित होनेवाले सभी राष्ट्र अपने नागरिकों में युद्ध के विरुद्ध उचित वातावरण तैयार करें और इसके लिए समुचित प्रचार और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करें। क्योंकि केवल समझौते को स्वीकार कर सधिपत्र पर हस्ताक्षर कर देने से ही शान्ति स्थापित नही हो जाती। इसके लिए राष्ट्रीय सैन्य-सगठन, जनता में राष्ट्रवाद की उत्तेजना और अनावश्यक राष्ट्राभिमान को समाप्त कर देना होगा। आये दिन केवल परमाणु शक्ति के रहस्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण ही की चर्चा सुनी जाती है। पर यह स्थायी शान्ति का वाह्य उपकरण मात्र है। उसकी सफलता भी उपयुक्त प्रकार की मानसिक स्थिति में ही सभव है।

आज इस प्रकार की बात रोमान्टिक आदर्शवाद लगती है, और वर्त्तमान स्थिति में असभव जंचती है। किन्तु मानवता का कल्याण इसी में निहित है।

शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिये अणु-शक्ति का उपयोग

ससार के इतिहास में हिरोशिमा काड का अध्याय-इतिहास की एक नवीन दिशा की ओर सदा के लिये संकेत बन कर रहेगा। ऐसा इसलिये नही कि हिरोशिमा के समान बिध्वंस का दृश्य संसार के इतिहास में अभूतपूर्व था। बल्कि इसलिये कि भीषण सहारकारक अणुशक्ति का लक्ष्य सर्वप्रथम हिरोशिमा ही हुआ था और वहाँ के सर्वनाश के दृश्य ने मनुष्य को अणुशक्ति की अपरिमेय कार्यक्षमता के प्रति सचेत किया।

युद्ध कभी भी, किसी भी देश और काल में श्रेयस्कर हो नही सकता। श्रेयस्कर वह किसी समुदाय, जाति अथवा देश के लिये अल्पकाल के लिये, भले ही हो, मानव मात्र का उससे अहित ही होता है। द्वितीयत. युद्ध से युद्ध का ही जन्म होता है, शान्ति का नही तृतीयत., युद्ध कुछ सहार और सहारकारी अस्त्रों के प्रयोग को ही नही कहेंगे, एक मानसिक अवस्था को भी कहेंगे। और, यह तो निस्सदेह है कि शारीरिक रूप से युद्ध में सलग्न होने के पूर्व मानसिक तैयारी हो जाती है, यानी युद्ध के लिये मानसिक परिवर्त्तन। किन्तु इतना भी सत्य है ही कि प्रत्येक युद्ध ने विज्ञान को विकसित किया है, थोड़े समय में ही और शान्तिकाल में शायद विज्ञान उतना आगे नही बढ़ पाता जितना युद्ध-काल में आगे बढ़ता है। कारण स्पष्ट है। युद्ध सलग्न राष्ट्र और अन्य राष्ट्र भी, युद्ध में विजय के लिये और सुरक्षा-प्रतिरक्षा आदि के लिये विज्ञान से शस्त्रास्त्रों की माँग करते हैं और राष्ट्रीयता के नाम पर वैज्ञानिको को शस्त्रास्त्रों के ईजाद के लिये, नये प्रयोग के लिये प्रेरित और बाध्य करते है।

तृतीय विश्वयुद्ध काल में जर्मनी में अणुशक्ति सबंधी पड़ताल, प्रयोग आदि चल रहे थे। किन्तु हिटलरी जर्मनी को सफलता नहीं मिली थी।

पदार्थवाद के प्रकांड पंडित तथा अद्वितीय वैज्ञानिक एलबर्ट आइस्टाइन को जब हिटलर ने जर्मनी से निकाला तो आइस्टाइन ने इसकी सूचना दी कि जर्मनी अणुशक्ति के विस्फोट तथा युद्ध के लिये उसके उपयोग की दिशा में काम कर रहा है। यह सूचना उन्होंने कुछ अन्य सहयोगी वैज्ञानिको को दी जिसके फलस्वरूप उन वैज्ञानिकों ने आइन्स्टाइन से अनुरोध किया कि वे इसकी जानकारी अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट को दें। आइस्टाइन ने रूजवेल्ट के नाम एक पत्र लिखकर स्थिति पर प्रकाश डाला और उसमें कहा कि इसकी पूरी सभावना है कि अणुशक्ति का उपयोग भीषण सहारकारी अणुबम के रूप में किया जाय, और अणुबम बना सकना सम्भव है। इस आशय के एक पत्र पर आइंस्टाइन के अतिरिक्त कुछ और वैज्ञानिकों ने हस्ताक्षर किये और पत्र को राष्ट्रपति रूजवेल्ट के पास भेज दिया। बस क्या था। रूजवेल्ट ने अपने यहाँ के कुछ वैज्ञानिकों को इस दिशा में कार्य करने के लिये पूरी सुविधाएँ प्रस्तुत कर दी और अणुशक्ति आयोग की स्थापना कर दी। इसके फलस्वरूप शीघ्र ही अमरीका के पास अणुबम हो गये जिनका एक हल्का प्रयोग उसने जापान को पराजित करने के लिये, हिरोशिमा नामक नगर पर गिरा कर किया। और उसी घटना से समस्त मानव समुदाय ने अणु की अपरिमेय सहारकारी शक्ति का परिचय पाया।

हिरोशिमा काड ने जैसे सचमुच ससार को बिजली युग से अणु युग में ला बैठाया। युद्ध समाप्ति की ओर था किन्तु युद्ध सलग्न तथा तटस्थ, दोनों राष्ट्र समझ रहे थे कि इस अणु युग में अस्तित्व तभी तक सभव है जब तक उनके पास भी इसी प्रकार की घोर संहारकारी शक्ति हो। अमरीका में तो अणुविस्फोट के बाद, सफलता से उत्साहित वैज्ञानिक राष्ट्र की कृतज्ञता से आप्यायित इस सम्बन्ध में और आगे प्रयोग करने लगे, करने भी जा ही रहे हैं। युद्ध के अन्त के पश्चात् ससार में दो सशक्त राष्ट्र के रूप मे अमरीका और रूस निकले। किन्तु इन दो देशों के शासनो में दो नितान्त विरोधी विचारों का प्रतिबिम्ब है। फलत दोनो को एक दूसरे से आशका रही है जिसके परिणामस्वरूप निश्शस्त्रीकरण की आवाज के बुलंद होने पर भी दोनो देशों में अणु

की शक्तियों तथा तत्सम्बन्धी अधिकाधिक खोज और छानबीन जारी है। उद्देश्य है, अतुलनीय शक्तिशाली अणुबमों की ईजाद। इस सशकता के परिणाम-स्वरूप किये गये प्रयोगों से 'नेप्लाम बम', 'अटम बम' आदि तो निकले ही, अब हाइड्रोजन बम निकला है। रूस और अमरीका, दोनो देशो का दावा है कि उनके पास हाइड्रोजन बम है और हम आये दिन समाचारपत्रों में पढते रहते है कि आज यहाँ, कल वहाँ, हाइड्रोजन के अणु का विस्फोट किया गया।

एक बार किसी ने आइस्टाइन से, जिन्हें इसका दुख था कि उनके पत्र ने अणुबम के भूत को जन्म दिया, (आइस्टाइन इसके लिये अपने को दोषी मानते थे) पूछा कि चौथा विश्वयुद्ध किन अस्त्रो से लड़ा जायगा। इसके उत्तर में आइस्टाइन ने कहा था कि यदि चौथा विश्वयुद्ध सम्भव ही होगा तो उसमें लड़ाई तीरो और पत्थरो से होगी। अणुशक्ति की भीषणता का अनुमान आइस्टाइन के उत्तर से आसानी से लगाया जा सकता है। उनके उत्तर में इसकी व्यजना है कि तीसरा विश्वयुद्ध यदि होगा तो वह ससार को नष्ट-भ्रष्ट करके छोड देगा। वह इतना सहारकारी होगा कि समस्त ज्ञान-विज्ञान का अन्त हो जायगा और यदि प्राणी का विकास फिर हुआ तो मनुष्य की एक नयी सभ्यता का प्रारम्भ होगा।

मानव जीवन में प्राकृतिक शक्ति के उपयोग की परम आवश्यकता रहती है, इसके लिये किसी विशेष तर्क की आवश्यकता नही। यह स्पष्ट है कि प्रकृति की असीम शक्तियो का, यदि मानव-जीवन को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिये, उपयोग किया जाय तो सभ्यता तथा सस्कृति के विकास में समय की जो दूरी रहती है, वह कम हो जायगी और जिन कार्यों के होने में बहुत समय लगता है, वे तुरत हो जायेंगे। साथ ही मनुष्य की शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति से जो कार्य असाध्य से लगते है, वे भी सभाव्य की परिधि में आ जायँगे। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा प्राप्त शक्ति यदि एक ओर महासहारकारी सिद्ध हो सकती है, तो प्रयोग भेद से वह दूसरी ओर महाकल्याणकारी भी सिद्ध हो सकती है। प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्स ने

अपने वैज्ञानिक उपन्यासों में इसी पक्ष पर बल दिया था कि विज्ञान मनुष्य के हाथ में एक ऐसा तेज अस्त्र है कि चाहे तो वह अपना गला काट ले, चाहे तो प्रकृति पर राज्य कर सके। अणुशक्ति के अब तक के प्रयोग से ऐसा महसूस करना कि मनुष्य को यह भस्मासुरी शक्ति मिली है, गलत नही। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य चाहे तो इस शक्ति को लोक-कल्याण के अनेक मार्गों और मानव-जीवन के अनेक पक्षों के कल्याण के लिये प्रयुक्त कर सकता है। इस सदर्भ में भारत के प्रधान मन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू के ये शब्द ध्यातव्य है:—"यह सुस्पष्ट है कि अणुशक्ति का प्रयोग शातिपूर्ण उद्देश्यों तथा मानव के महान कल्याण के लिये प्रयुक्त हो सकता है। यह नयी शक्ति उत्तम जीवन के लिये, जो अन्यथा सदियों तक उपलब्ध न हो, एक छोटा रास्ता सिद्ध हो सकता है।"

साथ ही, अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर के ये शब्द भी ध्यान देने योग्य है:—"सयुक्त राष्ट्र आपके सामने यह प्रण करता है—और इसलिए सारे ससार के सामने—कि वह भयावह आणविक उलझन को सुलझाने के लिये सहायता करने को कृतसकल्प है। वह अपने हृदय और मस्तिष्क को उस पथ की खोज करने में लगाने को प्रस्तुत है जिससे मनुष्य की यह आश्चर्यजनक आविष्कारिता उसकी मृत्यु को समर्पित नही होगी, वल्कि उसके जीवन के लिये पवित्र बनायी जायगी।"

स्पष्ट है कि अणुशक्ति की भयानकता से अमरीका या रूस या संसार के अन्य राष्ट्र जहाँ इसलिये प्रसन्न हुए कि युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये उनके हाथों अमोघ अस्त्र आ गया है, वहाँ वे इस पर भी कम चिन्तित न हुए कि वैसी विजय केवल 'कलिंग विजय' (Pyrrhic Victory) मात्र होकर न रह जाय। जब मनुष्य ही नष्ट हो जायगा, जव उसकी सभ्यता-सरकृति सभी नष्ट हो जायगी तो विजय भी किसकी और किस पर? अणु की भीषणता ने ही राष्ट्रों को युद्ध से विमुख होने को सोचने के लिए वाध्य किया और इसकी आशा दी कि यदि शान्तिपूर्ण ढग से आणविक शक्ति का प्रयोग किया जाय तो जीवन की जटिल विषमताओं को सुलझाया जा सकता है और अकाल

किल, रोग और अन्य कष्ट-साध्य, परिश्रम-साध्य कार्यों को आसानी से सुलझाया जा सकता है। इसलिये ४ दिसम्बर, १९५४ ई० को राष्ट्र संघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह घोषणा की गयी कि ६० सदस्य राष्ट्रः

विश्वास करते हैं कि आणविक शक्ति की महान खोज से उत्पन्न कामो को मानवता की सेवा के लिए लगा दिया जाय।

उनकी **इच्छा** है कि आणविक शक्ति का मानव-कल्याण और शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिये प्रयोग हो, इसके लिये वे सोत्साह कार्य करेंगे ताकि मनुष्य के दैनंदिन जीवन को उन्नत किया जा सके।

वे इसे **मानते** हैं कि मूर्खता, दरिद्रता तथा रोगों के भार को मनुष्य के कंधे पर से उठाने के लिये अणु शक्ति के उपयोग, विस्तार तथा विकास में अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता की तत्काल आवश्यकता तथा महत्त्व है।

वे **विश्वास** करते हैं कि शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिये आणविक प्रविधि के क्षेत्र में प्राप्त ज्ञान के प्रसार को सहायता देने के लिये सभी राष्ट्रों को सहयोग देना चाहिये।

प्रकृति में अणुशक्ति का रहस्य युगों से छिपा हुआ था। और मनुष्य ने उसका उद्घाटन कर दिया है। आज वैज्ञानिक उसकी असीम शक्तियों का व्यवहार सीख गये हैं। पेचीदे यत्रों से वे अणु का विस्फोट करते हैं जिससे इतनी शक्ति निकलती है कि वह दुनिया के नक्शे को बदल दे। अणु एक कल्पनातीत छोटा पदार्थ है। करोड़ों-करोड अणु को जब एक साथ रखा जाय तो वह दिखाई पड सकता है लेकिन सघन आणविक ईंधन के १५ पाउण्ड उतनी शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं जितनी ४ करोड पाउंड कोयला। अणुशक्ति मरुभूमि को खेतो में परिवर्तित कर दे सकती है; उसके उपयोग से नए और अच्छे खाद्यान्न उपजाए जा सकते हैं। वह एक नगर को ध्वस्त कर दे सकती है; वह उसे रोशनी, गर्मी और शक्ति दे सकती है। वह एक बच्चे को लुंज बना दे सकती है; वह रोगो के उपचार के लिए और नवीन जीवन देने के रास्ते दिखला सकती है।

स्पष्ट है कि ऐसी भीषण शक्ति का सदुपयोग भी सम्भव है जिससे दुःख और रोगाक्रात मानव-समुदाय के जीवन में आशा की नई किरणें फूट सकती है।

अमरीका में कैंसर नामक असाध्य रोग का सफल उपचार अणुशक्ति ने ही सम्भव बनाया है। इस शक्ति ने प्रकृति के अनेक रहस्यों के उद्घाटन में वैज्ञानिको की सहायता की है और कर रही है। कहने की आवश्यकता नही कि रोग के उपचार, कृषि और खाद्यान्नों में सुधार और विकास तथा उद्योग में क्रातिकारी प्रगति की सम्भावना अणुशक्ति के उपयोग से है।

एशिया के राष्ट्रों में भारत का सबसे बड़ा और सर्वाधिक आगे बढ़ा हुआ अणु-शक्ति कार्यक्रम है। यह एक शान्तिपूर्ण कार्यक्रम है जिसका लक्ष्य अणु से शक्ति प्राप्ति करना है। ये कार्यक्रम भारतीय अणुशक्ति आयोग, जिसकी स्थापना १९४८ में हुई थी, जबकि भारतीय अणुशक्ति कानून अपनाया गया था, के अन्तर्गत सचालित हो रहे हैं। भारतीय अणुशक्ति आयोग में तीन व्यक्ति है जो अपने प्रतिवेदन सीधे प्रधान मत्री को देते है। यह आयोग अनेक शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओं में अनुसधान योजनाएँ आयोजित करता है।

भारत में प्रमुख आणविक-शोध-केंद्र टाटा इस्टीट्यूट ऑफ फडामेंटल रिसर्च है जो बम्बई में अवस्थित है। यह संस्था अभी सघन जल के उत्पादन और आणविक रियेक्टर के निर्माण के सम्भावनाओं की छानबीन कर रहा है। कलकत्ते का आणविक पदार्थ-विज्ञान सस्थान भी अब प्रमुख स्थान ग्रहण करता जा रहा है। अभी हाल ही इसने बत्तीस इच का साइक्लोट्रोन नामक यन्त्र लगाया है जो भारत में अपने प्रकार की पहली मशीन है। इनके अतिरिक्त कलकत्ते के बोस इंस्टीट्यूट, दिल्ली विश्वविद्यालय, बगलोर के इडियन इस्टीट्यूट ऑफ साइस, अहमदाबाद के फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी और अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भी शातिपूर्ण उपयोग के लिए अणुशक्ति के विकास सबधी काम हो रहे है।

भारत ने हाल के कुछ वर्षों में कॉस्मिक रे सम्बन्धी शोध की दिशा में अच्छी प्रगति की है। अब वहाँ औषधि में 'रेडियो आइसोटॉप्स' के व्यवहार

के लिए एक कार्यक्रम का विकास हो रहा है। ल्यूकेमिया और कैंसर के कुछ प्रकारों के निदान और उपचार के सम्बन्ध में काम चल रहा है।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ

आधी शताब्दी के भीतर ही दो-दो बार विश्व-व्यापी युद्ध की विभीपिकाओं से संत्रस्त होनेवाले मानव के नेक इरादो के बीच सयुक्तराष्ट्र सघ का जन्म हुआ है। विज्ञान ने जिन मारक हथियारो का आविष्कार किया है, उन्हें देखते हुए आज सबको अच्छी तरह मालूम है कि भविष्य में अगर लड़ाई हुई तो विजयी और विजित में कोई भेद नही रहेगा, सारी दुनिया तबाह हो जायगी और हजारों वर्षों में इसान ने प्रकृति से लडकर जो कुछ अर्जित किया है, सब नष्ट हो जायगा। हमारी सभ्यता मिट जायगी, कला-कौशल मिट जायँगे और शायद मनु-संतान की निशानी तक बर्बाद हो जायगी। यह सब सोच कर ही आत्मचिन्तन की घडी में शासन-सूत्रधारों को शान्ति की चिन्ता हुआ करती है। यह कोई नई बात नही। हर बडे सक्रान्ति-काल में मनुष्य ऐसी बुनियादी बातों पर ठंढे दिल से विचार करने को बाध्य होता है। पहले महायुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ और पिछली बार द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में भी चर्चिल और रूजवेल्ट ने एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की आवश्यकता महसूस की, जो विश्व के राज्यो के बीच सहयोग और समझौते की भावना जाग्रत कर शान्ति कायम रख सकेंगे।

इन्ही विचारो से प्रेरित होकर १९४१ में चर्चिल और रूजवेल्ट ने अतलांतक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। फिर १९४३ में मास्को सम्मेलन हुआ, जिसमें ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और चीन ने विश्व-शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने की घोषणा की। इसी बुनियाद पर चारो राष्ट्रो ने १९४४ में डम्बर्टन औक्स समझौते के मातहत सयुक्त राष्ट्र सघ का घोषणा-पत्र तैयार किया। १९४५ में माल्टा सम्मेलन हुआ जिसमें उस घोषणा-पत्र को निश्चित रूप-रेखा प्रदान की गयी। बातचीत में फ्रांस भी शामिल हुआ

और पाँचों राष्ट्रों ने मिलकर 'वीटो' के सिद्धान्त को भी कबूल किया। पर इस घोषणा-पत्र की धाराओं और सिद्धान्तों का प्लान सैनफ्रासिसको कान्फ्रेंस में तैयार हुआ। यह कान्फ्रेंस जर्मनी के आत्मसमर्पण के पहले शुरू हुई और जापान पर परमाणु बम गिरने के पहले समाप्त हो गयी। उसमें ही इस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था, सयुक्त-राष्ट्र सघ की बाकायदे स्थापना की गयी।

इस सघ के छः मुख्य अवयव हैं: १. जनरल असेम्बली २. सुरक्षा परिषद ३. सघीय सचिवालय ४. आर्थिक सामाजिक परिषद ५. सरक्षक परिपद ६. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

इन अवयवों के माध्यम से सघ अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति की चेष्टा करता है। इनमें से हर सघटन को आवश्यकतानुसार उप-समितियाँ बनाने का अधिकार है और हर के कार्यक्षेत्र और अधिकारो की सीमाएँ निश्चित हैं। जनरल असेम्बली में सघ के सभी सदस्यो (जिनकी सख्या अभी ६१ है) को बैठने का अधिकार है। इसका वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर महीने में होता है। पर सुरक्षा-परिषद् की या अधिकाश सदस्यो की माँग पर सघ के प्रधान मंत्री जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन भी बुला सकते हैं।

जनरल असेम्बली सघ के घोषणा-पत्र के अधीन विश्व-शान्ति से सबंधित सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके विचारार्थ विषय उपस्थित करने का अधिकार सुरक्षा परिषद को है, अथवा दुनिया के किसी भी राष्ट्र को (वह भले इसका सदस्य न हो)। इसकी कार्यवाही में सभी सदस्यो के अधिकार समान हैं।

सुरक्षा परिषद की हैसियत कार्यकारिणी जैसी है। उसके ५ स्थायी सदस्य है—१. ब्रिटेन २. रूस ३. अमेरिका ४ फ्रास और ५. चीन (कुओमिताग)। जनरल असेम्बली ३ वर्षों के लिए ६ स्थायी सदस्य चुनती है। परिपद के अध्यक्ष का कार्यकाल केवल १ महीने का रहता है। उसका चुनाव सदस्य राष्ट्रों के नामो के प्रथमाक्षर के क्रमानुसार होता है।

किसी प्रकार की समस्या उठ खड़ी होने पर वह सबसे पहले सुरक्षा परिषद में पेश की जाती है। परिषद उस पर जो फैसला ले, उसे सबको मानना

पड़ता है, अन्यथा परिषद को अधिकार है कि वह फैसले को न माननेवाले देश के विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई करे क्योंकि, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व मौलिक रूप से सुरक्षा परिषद पर ही है।

सुरक्षा परिषद की शक्ति या कमजोरी का स्रोत है 'वीटो' का अधिकार जो केवल उसके स्थायी सदस्यो को प्राप्त है। इस अधिकार के उपयोग का अर्थ है कि कोई भी स्थायी सदस्य अकेले सम्पूर्ण सुरक्षा परिषद को किसी प्रश्न पर कोई कदम उठाने से रोक दे सकता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य है कि परिषद कोई भी फैसला ले तो सर्वसम्मति से, अन्यथा बहुमत का फैसला किसी स्थायी सदस्य के हित के विरुद्ध चला जा सकता है। वैसा यदि होने दिया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर सुरक्षा और शान्ति की हिफाजत की बात असम्भव हो जायगी, क्योकि जिस राष्ट्र के विरुद्ध कोई फैसला होगा, वह सघ से अलग हो जा सकता है। और फिर, परिषद के ये ५ राष्ट्र ही तो आज की दुनिया की राजनीतिक का नियत्रण करते है। इनमें से किसी एक के भी हट जाने का अर्थ है सघ की असफलता।

जिस प्रकार सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्यक्षेत्र राजनीतिक है, उसी प्रकार आर्थिक-सामाजिक परिषद का कार्यक्षेत्र भी उसके नाम से स्पष्ट है। इसका काम है सम्पूर्ण विश्व में शान्ति को सकटापन्न करनेवाले, सामाजिक, आर्थिक कारणो को दूर करना।

इस सघटन का सबसे महत्वपूर्ण काम रहा है अन्तर्राष्ट्रीय मूलाधिकारो की सूची तैयार करना। ये अधिकार अमेरिका के विधान में उल्लेखित अधिकारो के आधार पर निश्चित किये गये है। पर अनेक ऐसे पहलू है, जिन पर गहरा मतभेद है और इसलिए इस सूची के बावजूद अधिकारों के व्यावहारिक रूप में बड़ी असमानता देखी जाती है।

इस सघटन का एक महत्वपूर्ण अंग है यूनेस्को (सयुक्त राष्ट्र सघीय शैक्षणिक और सास्कृतिक सघटन)। भारत को इस संस्था की कार्यवाही में विशेष दिलचस्पी है। इसका उद्देश्य है मानव का नैतिक और मानसिक परि-ष्कार करना ताकि वह क्षु

विश्व-व्यापी मानवता का ध्यान रखे और युद्ध की आग सुलगानेवाली तर्कहीन प्रवृत्तियो का शिकार न हो।

इस सस्था को विश्व के सभी विचारको, शिक्षा-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों का सहयोग प्राप्त है। इसके सदस्यो की सख्या ४५ है और प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र ने इसकी शाखा अपने यहाँ कायम कर रखी है। भारतीय शाखा की बैठक पिछली वार १९४९ ई० में दिल्ली में हुई थी और उसने बडे ही महत्व-पूर्ण सुझाव विश्व के समक्ष उपस्थित किये ।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के करीब ६ वर्ष हुए, इस अवधि में इसके जो अनुभव हुए है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जो आज अवस्था है, उन सबको देखते हुए प्रश्न उठता है कि क्या सघ अपने उद्देश्य मे किंचित् भी सफल हुआ है ? क्या इसके जरिए विश्व-शान्ति की रक्षा सभव है ?

जहाँ तक पहले प्रश्न का उत्तर है, आज की परिस्थितियो को देखते हुए, मानना पड़ेगा कि सघ अधिकाश में असफल ही रहा है। बडे-बडे राष्ट्रो के आपसी रिश्ते खतरनाक हो चले है। सब किसी को अदेशा है कि तृतीय विश्व-युद्ध का सूत्रपात किसी भी समय हो सकता है। तब कैसे कहा जाय कि सयुक्तराष्ट्र सघ को अपने महान उद्देश्यों की पूर्ति में कुछ भी सफलता मिली है ? इस संस्था का भी वही भविष्य दीखता है, जो "लीग आफ नेशन्स" का रहा। यह सही है कि संघ को लीग की तुलना में अधिक सफलता मिली है, पर इसका कारण यह है कि सघ ने शान्ति-सधियों से अपने को अलग रखा और द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त होने पर विश्व की जो स्थिति रही, उसे कबूल करते हुए भविष्य में विश्वयुद्ध को रोकने तक ही अपने कार्य्यों को सीमित रखा।

उसी प्रकार सघ की कमजोरियो के रहस्य भी साफ है। सघ की स्थापना के समय दुनिया युद्ध की ज्वाला में झुलस रही थी, और नेक इरादे अपनी बुलन्दी पर थे। आज पुरानी बाते भूल गयी है, या याद भी है तो जनसाधारण को, शासन के सूत्रधारों को नही। फलत शक्ति-राजनीति की बातें पूर्ववत् चलने लगी है। जिन राष्ट्रो ने सामूहिक शत्रुओ (हिटलर, मुसोलिनी

(आदि) के मोकाबले में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता समझी थी, वे आपस में ही बँटे हुए हैं। उनकी न केवल एकता नष्ट हो गयी है, बल्कि आपसी घृणा और द्वेष भी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। सारी दुनिया की राजनीति दो खीमो में बँट गयी है। एक खीमा रूस के ईर्द-गिर्द खडा है, दूसरा पश्चिमी यूरोप वा अमरीका में। दोनों खीमों या गुटो के न केवल स्वार्थ आपस में टकराते हैं, बल्कि इनके राष्ट्रीय सिद्धात भी परस्पर विरोधी हैं। इनके बीच किसी प्रकार का स्थायी समझौता सम्भव नही।

इन दोनो गुटो के मौलिक विभेद का प्रमुख परिचय सुरक्षा-परिषद में मिल चुका है और जन-साधारण को विश्वास हो चला है कि सघ अब केवल दोनों गुटो के शाब्दिक सघर्ष का अखाडा मात्र रह गया है। दोनों दल सिर्फ एक दूसरे पर शह देने की बात सोचते रहते हैं और वीटो की शक्ल में दोनों को बेजोर मोहरे मिला हुआ है। नतीजा है कि हर अहम सवाल पर सघ में 'जिच' (गत्यवरोध) हो जाता है।

संघ की इस असफलता के कुछ बीज इसके सघटन और विधान में भी हैं। सिद्धान्तत: सभी सदस्य राष्ट्र जनरल असेम्बली में समान माने गये हैं, पर सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यो की योजना रख कर दुनिया भर के राष्ट्रों में से ५ को सवर्ण और बाकी ५६ को अछूत करार दिया गया है। वीटो के कारण सुरक्षा-परिषद के अस्थायी सदस्यो को दोनो गुटो में से एक न एक के पीछे जाना पडता है। तटस्थ रहने से उन्हें आत्म-गौरव का सुख नही मिल पाता।

दूसरे, सघ के पास ऐसी कोई ताकत नही जिसके सहारे वह किसी भी देश को अपना मत मानने को विवश कर सके। इस सस्था के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस या फौज खडी की जा सकती थी किन्तु सुरक्षा-परिषद के स्थायी सदस्यो के आपसी मतभेद और अविश्वास के कारण यह सम्भव नही। शक्ति-राजनीति की खीच-तान के कारण हर मौके पर संघ का फैसला न्यायपूर्ण भी नही होता। कोरिया की लडाई में सघ की ओर से जो फौज भेजी गयी, उसमें सभी देशो के सैनिको नही गये। यह केवल इसलिए कि इस

सवाल पर जो फैसला हुआ, उसमें रूसी गुट शामिल नही हुआ और स्पष्टत: वह फैसला ऑंग्ल-अमेरिकी गुट के इशारे पर हुआ। इसका फल है कि कोरिया की लड़ाई विश्वशान्ति की समस्या न बन कर रूसी गुट और आग्ल-अमेरिकी गुट की ताकत-आजमाइश का सवाल बन गयी है। अगर सचमुच कोरिया की लड़ाई को विश्वशान्ति के लिए ख़तरा माना जाता, तो संघ के फैसले की सूरत कुछ दूसरी होती अथवा कोरिया की लडाई मे इतना भयकर नर-सहार नही होता। भला वह कैसी विश्व-शान्ति है जिसके नाम पर यह छोटा-सा मुल्क शब्दश: तहस-नहस कर डाला गया है।

विश्व-शान्ति के लिए सबसे बड़ा सकट है विश्व के विभिन्न भागो की आर्थिक असमानता। जब तक यह दूर नही होती, तब तक साम्राज्यवाद या कम्युनिज्म का अन्त नही। और जब तक साम्राज्यवाद और कम्युनिज्म कायम है विश्व-शान्ति स्थायी रूप से कायम नही रह सकती।

अत. यदि विश्व-शान्ति की रक्षा करनी है तो पहले रगभेद, और आर्थिक असमानता मिटाने के लिए जोरदार कदम उठाना होगा। पर इस प्रकार की कोई कार्रवाई तब तक संभव नही जब तक कि सघ में विभिन्न सरकारो के भेजे गये प्रतिनिधियों के स्थान पर सीधे चुनाव के जरिए चुने गये जनता के प्रतिनिधि न बैठें। वैसा हो जाने पर संघ को विश्व पार्लमेंट की हैसियत प्राप्त होगी और उसके फैसले सरकार को मान्य होगे। पर यह ऐसी शर्त है, जो संयुक्त राष्ट्र संघ से पूरी नही हो सकती। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विश्व-शान्ति इस सस्था के बस का रोग नही। आज यदि विश्व युद्ध नही छिड रहा है, तो इसका श्रेय सघ को नही, बल्कि दोनों गुटों के शक्ति-सतुलन को है। जिस दिन वर्त्तमान संतुलन बिगड़ जायगा, युद्ध छिड कर रहेगा।

हॉं तब, सघ की आज इतनी उपयोगिता अवश्य है कि इस प्लैटफार्म पर आकार दोनों दल अपने दिल का बुखार उतार लेते है और अपना-अतना गुस्सा किसी हद तक रफा करते है। और जिस प्रकार "लीग आफ नेशन्स" स्वयं तो खत्म हो गयी, पर अपने से मजबूत संस्था सयुक्तराष्ट्र सघ के लिए जमीन तैयार करती गयी उसी प्रकार यह सघ भी मरते-मरते विश्व सरकार

और विश्व पार्लमेंट के लिए रास्ता तैयार करेगा। इस कार्य में जनरल असेम्बली और सुरक्षा परिषद से अधिक उपयोगी यूनेस्को जैसे संघीय संघटन होंगें।

पंचशील

पंचशील ससार के विभिन्न देशो के बीच मैत्री और सद्भावना स्थापित करनेवाले आधारभूत सिद्धातो का साकेतिक नाम है। इस नाम के प्रवर्त्तन का श्रेय हमारे प्रधान-मत्री पडित नेहरू को है, जिन्होने इसे बहुत दूर तक सार्थक और व्यावहारिक बनाने में भी सफलता प्राप्त की है।

पचशील अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के पाँच सूत्रो का द्योतक है वे सूत्र है—(१) एक राष्ट्र की भौगोलिक अखडता और प्रभुता का दूसरे के द्वारा आदर, (२) दूसरे देश पर आक्रमण नही करना, (३) एक दूसरे के आन्तरिक कार्य व्यापारों में हस्तक्षेप नही करना, (४) समानता और पारस्परिक लाभ, और (५) शान्तिपूर्ण सह-अतित्व

पचशील की प्रेरक भावना ससार के उदात्ततम आदर्शों से प्राप्त हुई है। यदि उसमें एक ओर बाइबल का यह सिद्धान्त सन्निहित है 'तुम उस वस्तु पर दृष्टि मत डाले जो तुम्हारे पड़ोसी की है', तो दूसरी ओर उसमें गाँधीवाद के मूलभूत तत्त्व-सहिष्णुता और अहिंसा—भी समाविष्ट है।

पचशील एक महान् आदर्श को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसकी आवश्यकता वर्त्तमान युग को थी। कुछ तो इस कारण और कुछ इसलिए भी कि इसकी उद्भावना पडित नेहरू जैसे युग-पुरुष ने की है, यह शब्द और इसके द्वारा सकेतित आदर्श कुछ महीनो के अन्दर ही ससार के सभी देशो में प्रचलित और मान्य हो गया है। आधुनिक राजनीति-विज्ञान का यह नया शब्द एशिया से लेकर यूरोप तक, हताश मानवता को आशा और विश्वास का सदेश देता हुआ, चतुर्दिक प्रतिध्वनित हो उठा है।

युद्धोत्तर संसार अभी अपने पिछले कटु अनुभवों और आघातो को भूल भी न पाया था कि जो राष्ट्र विश्व का नेतृत्व कर सकने की स्थिति में है शीत-युद्ध छेड बैठे और कोरिया में तो इसका छोटा किन्तु खतरनाक विस्फोट भी हुआ। दूसरा विश्व-युद्ध विश्व-शान्ति के नाम पर लडा गया था। उसकी समाप्ति होते-न-होते तीसरे विश्व-युद्ध की विकराल छाया क्षितिज को धूमिल बनाने लगी। अमेरिका ससार भर में हवाई अड्डे स्थापित करने लगा और रूस अधिक से अधिक देशो को अपने रग में रँगने की कोशिश में लगा। राजनीतिक क्षेत्र में तो यह सब हो रहा था, उधर सामरिक क्षेत्र में अणु और उद्‌जन बम के प्रलयकारी प्रयोगों और आविष्कारो की होड-सी लग गई।

विश्व-शान्ति के नाम पर अमेरिका ने 'सामूहिक सुरक्षा' का नारा लगाना शुरू किया इसका व्यावहारिक रूप था छोटे और पिछडे देशो को सामरिक सहायता देकर उन्हें अपनी ओर मिलाना और इसका उद्देश्य था साम्यवाद के खिलाफ मोर्चा तैयार करना। इसका फल यह हुआ कि दक्षिण-पूर्व एशिया में खास कर इडो-चीन में, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि अमेरिका द्वारा संचालित तथा रूस से प्रभावित विश्व के विभिन्न राष्ट्रो के दो समूहो के बीच युद्ध अनिवार्य-सा हो चला। सौभाग्य से भारत के महान् नेता पंडित नेहरू ने यह समझ लिया कि इस बार पश्चिमी राष्ट्रो के दोनो समूह आपस में लडने को तैयार हो रहे थे और समर-भूमि एशिया को बनाना चाह रहे थे।

भारत ने अपने लिए तो शान्ति का रास्ता चुना ही है, उसने विश्व-शान्ति की कामना से इस आसन्न सघर्ष को भी शुरू में ही रोक देने का सफल प्रयास किया। यह प्रयास पचशील के सिद्धान्त के प्रचार के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। भारत ने ठीक ही समझा कि विश्वशान्ति सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त से नहीं, बल्कि सामूहिक शान्ति के आदर्श से सभव हो सकती है। शान्ति के क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तृत बनाने के अपने लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए उसने यह आवश्यक पाया कि विभिन्न मान्यताओं और विरोधी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचोंवाले देशो के बीच सामंजस्य और सद्भावना स्थापित होनी

चाहिए। पचशील ने इस असभव से लगनेवाले आदर्श को संभव सिद्ध कर दिया है। अणु और उद्जन वम के इस युग में मानव-सभ्यता की रक्षा पंचशील से ही हो सकती है, यह सभी निष्पक्ष विचारको का मत है।

पचशील सिद्धान्तो की उद्भावना के वाद शीघ्र ही अनेक देशो ने उनमें अपनी आस्था प्रकट की। चीन इसमें सव के आगे रहा। जुलाई १९५४ में जब चीन के प्रधान मत्री भारत में आए थे, तव पडित नेहरू और उन्होने नई दिल्ली में एक सयुक्त वक्तव्य प्रचारित किया जिसमें दोनो देशो की ओर से इन सिद्धान्तो के पालन का आश्वासन था। इसके वाद बर्मा, यूगोस्लाविया, रूस और पोलैन्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय सबध के निर्धारण के लिए पचशील के सिद्धान्तो को स्वीकार किया है। अप्रैल १९५५ में हिन्देशिया में वाडुग में जो अफ्रिका-एशिया परिषद् हुई थी उसके तत्त्वाधान में २९ राष्ट्रो ने इन सिद्धान्तो को स्वीकार कर उन पर अपनी मुहर लगा दी।

अभी ऐसे अनेक राष्ट्र है जो पचशील के सिद्धान्तो को वाछनीय मानते हुए भी अव्यावहारिक समझते है। किन्तु वे भी धीरे-धीरे महसूस करते-से दीख पड रहे है कि यदि पचशील के आधार पर सह-अस्तित्व के लिए प्रयत्न नही किया गया तो विश्व-संहार अनिवार्य है। मानवता और मानव-सभ्यता का प्रत्येक हितैषी यह आशा करता है कि पचशील को सार्वभौम स्वीकृति शीघ्र ही प्राप्त होगी और इस प्रकार युद्ध का सर्वग्रासी आतक ही नही युद्ध-मात्र अतीत की वस्तु वन जाएगा।

'जियो और जीने दो की भावना' और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आदर्श से अनुप्रेरित पचशील गाँधीवाद के अहिंसा के सदेश की नव-घोषणा करता है। इसके द्वारा राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिक नियमो के समावेश का सफल प्रयास हुआ है। समय और राजनीति के धक्के खा कर भी पचशील सजीव और दृढ़ वना रह सकेगा यह नही, यह तो भविष्य ही बतायेगा किन्तु अभी तो यही अकेला ऐसा साधन है जिसमे शान्ति के वातावरण का निर्माण हो सकता है।

पचशील ने युद्ध की सभावना के बढ़ते हुए आतक को दूर किया है।

इसने अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य और तनाव को कम किया है। इसने शत्रु-राष्ट्रों को मित्र बनाने के लिए प्रेरित किया है। ये कम बडी उपलब्धियाँ नही है। ये विश्व-शान्ति को, पचशील के माध्यम से, भारत की महामूल्य देन है।

विश्व-ऐक्य का सिद्धान्त और संसार का भावी शासन-विधान

इस महायुद्ध के बाद विश्व के नवीन शासन-विधान के क्या आदर्श होने चाहिये, इस विषय में श्रेष्ठ विचारक, राजनीतिज्ञ और पत्रकार जागरूक है। विश्व का शासन-विधान भविष्य मे ऐसा हो, जिसमें प्रथम श्रेणी के राष्ट्र और लघुतम राष्ट्र कधे से कधा भिडाकर मनुष्य-मात्र की 'स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व' के लिए सफल प्रयत्न कर सकें—इसके लिए योजनाएँ बनाने मे कागज और स्याही का मितव्यय नही हुआ है।

यहाँ पर यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि उच्चपदस्थ राजनीतिज्ञ बहुत कुछ कहकर भी अपने आशय को अस्पष्ट ही रखते है। धुरीराष्ट्र के अधिनायको की बातें छोड दे; मित्रराष्ट्रो के कर्णधारो की योजनाएँ भी, विशेषत. 'अटलाटिक चार्टर', अस्पष्टता के साथ अनुदारता से भी सदोप है। और इतना होने पर पर भी यदि कोई विश्व का शासन-विधान बनेगा, तो उसकी रूप-रेखा 'चार्टर' से मिलती-जुलती रहेगी, इसीकी सभावना है। वह स्पृहणीय न हो, पर व्यवहार में आने की सभावना उसी की अधिक है।

लेकिन हम यहाँ कुछ ऐसी योजनाओ की विवेचना करना चाहते है, जो अपनी मौलिकता के लिए—व्यावहारिकता के लिए नही, महत्व रखती है।

ऐसे विचारक सामान्यत भविष्य में संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना चाहते है। पर प्रजातन्त्र की कोई एक परिभाषा या व्याख्या तो है नही, फिर इन विद्वानो ने, मित्रराष्ट्रो की विजय के बाद अधिनायको का भाग्य-निर्णय कैसे होगा, इस पर भी पूर्णरूप से विचार नही किया है।

सुखासन पर बैठे हुए राजनीतिज्ञ और आलोचक इनके साथ भी पक्षपात-रहित व्यवहार ही चाहते है। उनके अनुसार विजेता और विजित विश्व के शासन-विधान के मूलाधार-तत्वो के समान-रूप से अधिकारी होगे, किन्तु अधिनायको के विरुद्ध मोर्चा लेनेवाले राष्ट्रो के नेता इतनी उदारता नही दिखा सकेंगे, वह उनकी आज की मनोवृत्ति से ही स्पष्ट है।

ऐसी हालत में स्वय एक जर्मन अपने देश के भाग्य के विषय में क्या मत रखता है, इसकी जानकारी मनोरजक होगी। 'एक्जिट रशा—ए प्लान फॉर यूरोप' (Exit Russia—A plan for Europe) नामक अपनी पुस्तक में डा० स्टर्न रूबार्थ ने यह प्रतिपादित किया था कि जर्मनी की वर्त्तमान नीति के लिए प्रशिया की मनोवृत्ति ही उत्तरदायी है। जर्मनी तो पाश्चात्य सभ्यता का ही अनुयायी है, पर यह प्रशिया की बर्बरता का ही प्रभाव है, जिसकी वजह से जर्मनों ने ससार को युद्ध के लिए वाध्य किया। प्रशिया तो जर्मनी है नही, कि युद्ध के बाद उसी का शासन स्पृहणीय होगा। पर हम रूबार्थ की इस योजना की युक्तियुक्तता के कायल नही। क्या इटली और जापान में भी ऐसे प्रदेश-विशेष थे, जिन्हें इन देशो की बर्बरता के लिए उत्तरदायी ठहरा दिया जाय ?

उपाय तो एक ही है और वह है, संसार के सभी शान्ति-प्रेमी राष्ट्रो का सगठन—चाहे वे छोटे हो या बडे, काले या गोरे। केवल इसी प्रकार भावी युद्ध को असभव या कम से कम लाभ की आशा से रहित वनाया जा सकता है। ऐसे सगठन का आधार क्या हो सकता है ? बिना किसी दबाव के स्वेच्छा-पूर्वक ऐसा सहयोग हो सके, इसके लिए कौन-सी बातें जरूरी है ? यहाँ हम कुछ महत्वपूर्ण योजनाओ पर विचार करेंगे।

क्लैरेंस० के० स्ट्राइट ने इस विषय पर पूर्वोक्त दृष्टि से महत्वपूर्ण सुझाव उपस्थित किया था। उन्होने अपनी पुस्तक, 'यूनियन नाउ' (Union now) में तत्कालीन युद्ध की अवश्यभाविता की भविष्य-वाणी की थी और उससे बचने का उपाय भी बतलाया था—यूरोप के अधिनायकवाद के विरोधी सभी राष्ट्रों का अविलब संगठन।

लेकिन, इस विचारक की बातो पर ये राष्ट्र भला क्यों ध्यान देते। जैसा कि टेलर गैल्ड्वेल ने अपने उपन्यास The Eagles Gather में दिखलाया है, इन देशों की वैदेशिक-नीति के सचालक पूंजीपतियो को तो अपने स्वार्थ-साधन से मतलब था और शस्त्रास्त्रो की बिक्री से गाढी रकम पैदा करना उनका प्रधान उद्देश्य था। वे युद्ध को रोकने के लिए बहुत उत्सुक नही थे। सच पूछिए तो, अधिनायक तो इन्ही की सृष्टि ही थे। सो विश्व-युद्ध छिडकर ही रहा।

पर स्ट्राइट महोदय हिम्मत हारनेवाले व्यक्ति नही थे। उन्होने एक दूसरी पुस्तक 'यूनियन नाउ विथ ब्रिटेन' (Union Now with Britain) लिखकर अपनी यूरोपीय सगठन की योजना को नये सिरे से प्रतिपादित किया। इसे व्यवहार-रूप में परिणत करने से केवल युद्ध ही नही जीता जा सकता था, प्रत्युत शान्ति भी चिरस्थायिनी बन सकती थी। इन्होने अँग्रेजी-भाषा-भाषी सात राष्ट्रों—अमरीका, इग्लैण्ड, आयरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा और दक्षिण अफ्रिका के लिये सघ-सगठन (Federal Union) की तजबीज पेश की थी। इस के सघ को आगे चलकर एक ऐसा स्थायी विधान बनाना पड़ता, जिसमें शामिल होने के लिए दूसरे शान्तिप्रिय राष्ट्रो को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती।

इसमें कोई सदेह नही कि योजना आकर्षक थी। लेकिन स्ट्राइट महोदय ने यह स्पष्ट नही किया था कि पीछे आनेवाले राष्ट्रो की हैसियत क्या होगी। क्या वे सघ के मूल राष्ट्रों के बराबर ही अधिकार पाते ? यदि ऐसी बात थी, तो प्रारंभ में अग्रेजी भाषा-भाषी राष्ट्रो को ही सघ-बद्ध होना क्यों जरूरी था ? इस योजना में यह एक ऐसी सकीर्णता है, जो इसकी मान्यता को बहुत कम कर देती है।

यूरोप को सघ-बद्ध करने की योजना आर० डब्लू० जी० मकाय ने भी अपनी पुस्तक 'पीस एम्स ऐंड दी न्यू ऑर्डर' (Peace Aims and the New Order) में उपस्थित की है। इन्होने यूरोप के सयुक्त राष्ट्रो की

कल्पना की है, जो सहानुभूतिपूर्ण पडोसियों की तरह शान्तिपूर्वक जियेंगे और जीने देंगे। उन्होंने अपनी पुस्तक में ऐसे सघ के लिए बना-बनाया विधान भी प्रस्तुत कर दिया है जो काफी व्यावहारिक है। पर जैसा स्ट्राइट महोदय की योजना की आलोचना में हम कह चुके है, यह समस्या समस्त संसार से सम्बन्ध रखती है और इसका समाधान यूरोप तक ही सीमित रखने से सफलता नही हो सकती। इन योजनाओ में पूर्वीय देशो को कोई स्थान नही; यूरोप में भी, रूस को अलग कर दिया जाता है। 'मकाय' तो स्पष्ट कहते है कि इस सघ में पूर्वीय देशो को निकट भविष्य में कोई स्थान नही मिल सकेगा—उन्हें अपनी शासनकला को पहले विकसित करना पडेगा तभी वे इसके लिये योग्य हो सकेंगे। हम फिर भी कहेंगे कि ऐसे एकागी समाधान कभी सफल नही होंगे।

सी० सी० पर्डन ने इस विषय पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दी न्यू ऑर्डर' (The New Order) में जर्मनी की 'न्यू आर्डर' की योजना का अँग्रेजी जवाब ही दिया था। जर्मनी की इस योजना के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया है और ठीक ही कहा गया है। जॉन इवास ने 'दी नाजी न्यू आर्डर इन पोलैंड' (The Nazi New Order in Poland) में जर्मनो की इस योजना के कुपरिणाम का मार्मिक खाँका खीचा है। ब्रिटेन की किसी ऐसी भावना से प्रेरित योजना अधिक स्पृहणीय होगी, इसकी आशा क्यो की जाय?

कुछ बौद्धिक विचारको ने मनोविज्ञान और मानवता की दृष्टि से भी इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की है। एच० जी० वेल्स ने 'गाइड टू दी न्यू वर्ल्ड' (Guide to the New World) में दुनिया की अगली पीढी की मनोवृत्ति को उदार-शिक्षा से युद्ध से पराङमुख करने की आवश्यकता बतलाई है। यह कोई मौलिक विचार नही है। गत महायुद्ध के बाद प्रसिद्ध मनोविज्ञान-विशारद 'ग्लोवर' ने भी कुछ ऐसा ही विचार प्रतिपादित किया था।

हर्बर्ट एगर, टॉमस मैन, लुई ममफोर्ड, हरमन ब्राख, हैंस कोन प्रभृति

बीस से भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विचारकों ने 'दी सिटी ऑव मैन—ए डिक्लैरेशन ऑन वर्ल्ड डिमोक्रेसी (The City of Man—A Declaration on World Democracy) नामक लेख-सग्रह में विवाद-ग्रस्त राजनैतिक योजनाओं के बदले विश्वव्यापक सत्यों के आधार पर विश्व-शासन के सगठन के निर्माण की आवश्यकता सिद्ध की है। इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनके दृष्टिकोण की उदारता की जितनी प्रशसा की जाय, थोडी है। पर कठिनता यह है कि व्यवहार में विश्व-सगठन का कार्य राजनीतिज्ञों के हाथ में ही रहेगा और वे इतनी ऊँची सतह से विचार कर सकेंगे, यह सदिग्ध है।'

नोबल पुरस्कार पानेवाली पर्लबक ने 'अटलाटिक चार्टर' को सभी राष्ट्रों पर समान रूप से लागू करने के लिए जो आन्दोलन चलाया, यदि वह सफल हो सके, तो इसमें कोई सन्देह नही कि जिस समाधान के लिए सारा ससार व्यग्र है, वह सरलतापूर्वक हासिल हो जायगा।

'डेली हेरल्ड' के भूतपूर्व सपादक, फ्रासिस विलियम्स 'ह्वाट् आर वी फाइटिंग फॉर' (What are we fighting for) में, एक प्रभावशाली पत्रकार की हैसियत से, इसके पहले ही, ब्रिटेन पर अपने युद्ध-लक्ष्य को व्यापक बनाने के लिए दबाव डाल चुके थे। अमरीका में भी, एक दूसरे प्रसिद्ध पत्रकार, लूई फिशर, पर्लबक के साथ ही इसी आदेश को ध्यान मे रखकर आन्दोलन कर रहे है।

इन्हें अपने आन्दोलन में सफलता मिले, यह कौन नही चाहेगा?

अहिंसा : एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

हिसा को आत्मपीडन-सुख का पर्याय मानने के लिए अब शायद ही कोई तैयार हो। इस विषय में इस भ्रामक धारणा का मूलोच्छेद हो चुका है, जो अब तक इससे छुटकारा न पा सके हो उन्हें गभीरतापूर्वक अपनी स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। महात्मा गाँधी के अनुयायियो के मन में भी उस भ्रम के बने रहने का कोई कारण नही दीखता।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने ही अहिंसा का आधान किया । इसे उनके अमौलिक, स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने में असमर्थ शिष्यों ने एक सर्वथा विकृत रूप दे दिया। यह बड़े सन्तोष की बात है कि जनता ने स्वाभाविक रूप से अपने सामूहिक प्रयोगों के द्वारा हिंसा को पूर्णता प्रदान की है। यह एक शुभ लक्षण है कि कई बार के ऐसे प्रयोगों के परिणामो को जनता ने अब अच्छी तरह समझ कर ग्रहण कर लिया है और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि उच्च कोटि के अनेक नेताओं ने भी, जो पहले अपने विचारो तथा व्यवहार में शकित बने रहते थे, अहिंसा के नवीन रूप को स्वीकार कर लिया है।

अहिंसा के व्यावहारिक प्रवर्त्तक के रूप में महात्मा गाँधी बुद्ध से भी बड़े है; उसके प्रतिपादक की हैसियत से बुद्ध से भी अधिक असफल । बहुविध प्रयोगो के बाद और महात्मा गाँधी के बावजूद, अहिंसा के विषय में अस्पष्ट भावनाएँ अब सुनियोजित हो सकी है। स्रष्टा निर्माणकर्त्ता भी हो यह जरूरी नही है, जननी सन्तान नही हो सकती। महात्मा गाँधी ने बीजारोपण किया। उस बीज के पौधे में जनता की अपरिष्कृत किन्तु प्रेरणा ने ही कलम लगाई है। आज जो दरख्त हमारे सामने है उसकी एक समृद्ध परम्परा है, वह महात्मा गाँधी का आकस्मिक प्रयोगमात्र नही रह गई ।

आधुनिक भारत की दुर्द्धर्ष, विद्रोहात्मक अहिंसा बौद्ध या जैन धर्म की नई कडी नही है। जिन लोगो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उन्हें अपने विचारों में आमूल परिवर्त्तन कर डालने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल सकते है । जिस अहिंसा को जनता ने कर्म की नसेनी पर पीट-पीट कर तैयार किया है, उत्साह और बलिदान की ज्वाला में तपा-तपा कर शुद्ध और लचीला बनाया है तथा अनवरत प्रयोग के जल में शीतल कर इस्पात की तरह मजबूत बना लिया है उसकी जड़ें हमारे देश की धरती में दूर तक चली गई है। यह अहिंसा प्रताप और शिवा से अपना सम्बन्ध जोड़ने से झिझकती नही । इस अहिंसा की पौराणिक परम्परा उस दीन-हीन ऋषि की कथा मे पाई जाती है जिसका नाम दधीचि था और जिसने विश्व-कल्याण के निमित्त अपनी हड्डियो का दान किया था। इसके प्रागैतिहासिक चिह्न महाभारत की उस घटना में मिलते है

जहाँ सत्य, शिव एव सुन्दर की प्रतिमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवो को कौरवो के आमूल विनाश के लिए आशीर्वाद ही नहीं देते, प्रेरित ही नही करते प्रत्युत् उनका सब तरह से पथ-प्रदर्शन भी करते है, क्योकि कौरव साम्राज्यवाद के शोषण के तथा अधिनायकवाद के प्रतिनिधि बन बैठते है।

ऐतिहासिक युग में आने पर ऐसे उदाहरणो की कोई कमी नही रह जाती जब अहिंसा कार्यरूप में परिणत की गई हो, जब अनय के उन्मूलन के लिए सर्वभूतानुकम्पा के उपदेशक युद्ध के सचालक बन गए हो। भारतीय इतिहास के पूर्व युग में इसी आदर्श के प्रतीक है ब्रह्मचारी चाणक्य। उन्होने दर्शन की पोथियो के आधार पर अहिंसा का अर्थ नही ग्रहण किया था, उन्होने अहिसा के मर्म को अपने देश के जीवित इतिहास तथा परम्परा को ध्यान मे रख कर पहचाना था। उन्होने बाध्य होकर जनता के विद्रोह का नेतृत्व किया। जिस दिन यह विद्रोह सफल हुआ उसी दिन वह ससार से पुनर्वार तटस्थ हो गये। बोलशेविक क्रान्ति के बाद 'जनता के अधिनायक' पद को अस्वीकार करते हुए लेनिन की कल्पना कर लीजिए और आपको उपर्युक्त घटना की एक ऊपरी उपमा मिल जायगी।

इसी प्रकार ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने एक बार में ही 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' अंतिम मौर्य-सम्राट् का खातमा किया था। राजा की प्रतिज्ञा होती है और होती थी कि वह जनता की रक्षा करेगा। मौर्य-सम्राट् इस प्रतिज्ञा का पालन नही कर सकता था और इसके लिए उसे समुचित दण्ड मिला। लेकिन इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि पुष्यमित्र अहिंसा की भावना का निर्वाह करने में असफल रहा—इसलिए नही कि उसने राजा की हत्या की थी वरन् इसलिए कि जब कृतज्ञ जनता ने उसे अपना शासक मनोनीत किया तो वह इस प्रलोभन से अपने को बचा न सका और वह खुद राजा बन बैठा।

हिन्दू-धर्म के स्कध से फूटनेवाली बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म की शाखाओ की राजनीति ने अहिंसा के विकृत नकारात्मक रूप को ही स्वीकार किया। बौद्धो और जैनियों ने विदेशी आक्रमणो तक को अहिंसा से रोकने का उपदेश दिया

तथा जीव-अहिंसा के लिए हिंसात्मक दण्डों की व्यवस्था की। प्राचीन तथा मध्य-युगीन भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि विदेशी आक्रमणो का प्रतिरोध करने में भारतीयो को असफलता मिली उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व बौद्ध-धर्म पर ही है।

ऐसी परिस्थिति में भी राजपूतों ने एकाधिक बार असाधारण शौर्य, दृढता तथा त्याग का परिचय देकर देश की रक्षा का प्रयत्न किया। उन्होंने अहिंसा की वह आग फिर से सुलगाई जो तब तक किसी को जलाती नही जब तक कोई उस पर फूंक मारने का दुस्साहस न कर बैठे। इस आदर्श के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है राणा प्रताप, जिनकी शक्ति उनके दुर्गों की चहारदीवारियो तक ही नही सीमित थी बल्कि जो लक्ष-लक्ष भीलो के हृदय पर शासन करते थे। ये भील राणा के वेतनभोगी, पेशेवर सैनिक नही थे, न तो वे साधारण अर्थ में उनके अधीनस्थ ही थे। शिवाजी भी एक ऐसे ही नेता थे जिनकी शक्ति जनता की शक्ति थी। शिवाजी और राणा प्रताप के सम्बन्ध में यह आधुनिक और किमाश्चर्यमतः परम्, वामपक्षी दृष्टिकोण है। आज तक इन महापुरुषो की प्रतिकूल ऐतिहासिको द्वारा निन्दा ही होती थी, निष्पक्ष विद्वानो के द्वारा भी उपेक्षा ही होती थी और केवल कट्टर हिन्दुओ द्वारा ही प्रशसा होती थी। अब समय आ गया है जब इन पर स्वस्थ दृष्टि से विचार किया जाय। पर इसकी उम्मीद भारतीय इतिहास परिषद् के विद्वानो से शायद ही की जा सकती है, जिनमें कम से कम एक विशेषज्ञ, सर यदुनाथ सरकार का यह मत है कि राणा प्रताप से कही महान् व्यक्ति मानसिंह थे चूंकि उन्होने आज से इतने दिन पूर्व हिन्दू-मुस्लिम एकता के महत्त्व को समझ कर मुसलमानो से बेटी-रोटी का संबध स्थापित करने का साहस दिखलाया था। अस्तु।

हम कह यह रहे थे कि जिस गतिशीलता के प्रतीक प्रताप और शिवा थे वह मूलत. अहिंसावादी थी। जहाँ तक शिवाजी का प्रश्न है उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के विघ्नरहित अभ्यास के लिए अनुकूल परिस्थिति की उपलब्धि के लिए उन्होने जिन उपायों का व्यवहार किया से सर्वाशत इस उन्नत आदर्श के अनुरूप नही थे किन्तु जहाँ तक राणा प्रताप का सम्बन्ध है

उनके उपायों के विरुद्ध भी कुछ कहना असम्भव है। उनके उपायों को सिर्फ इसीलिए हिंसावादी नही करार दिया जा सकता चूँकि उन्होने युद्ध किये और युद्धो मे उन्होने ऐसे शस्त्रास्त्रो का प्रयोग किया जिनसे शत्रु की हत्या हो सकती थी और हुई। इसके विपरीत सच बात तो यह है कि उनकी वीरता उतनी अहिसक थी जितनी अहिंसा हो सकती है क्योकि उसमें सर्वस्व के बलिदान की भावना निहित थी, क्योकि उसके पीछे प्रतिशोध निहित होकर निरीह शिशुओ, स्त्रियो और कृषको की रक्षा करने की प्रेरणा काम कर रही थी। इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नही है जिसमे विजय के अवसर पर राणा के सिपाहियों ने प्रतिशोधमूलक शत्रु-विनाश के कार्य किए हो। यदि अहिसा की कोई दूसरी परिभाषा भी हो सकती है तो यह कायरता हो सकती है ।

अहिंसा के इसी जग खाये हुए हथियार का पुरातत्त्वान्वेषण महात्मा गाँधी ने किया और उसे नई परिस्थितियो के अनुरूप बना कर हमारे सामने रखा। प्रयोग में आने पर, जनता के हाथो मे इसकी प्रच्छन्न सभावनाओ का भी उद्-घाटन हुआ और अब तो उसका रूप कुछ ऐसा हो गया है जिसका पूर्वभास स्वयं उसके आविष्कर्त्ता को भी न मिला होगा ।

इसमें कोई सन्देह नही कि निरस्त्रभारतीय जनता इसके सिवा किसी दूसरे हथियार का उपयोग चाहने पर भी नही कर सकती। जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने अपने एक भाषण में कहा था, जिस देश मे पशुओं से अपनी रक्षा करने के निमित्त हथियार रखने की भी मनाही है वह अणुबम के इस युग में शस्त्रास्त्रों का स्वप्न नही देख सकता। यह एक साधारण और सर्वविदित सिद्धान्त है कि एक सफल सशस्त्र क्रान्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो दल शासको को अपदस्थ करना चाहता है उसे अधिकारियो से भी अधिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होना चाहिए। हमारे देश की वस्तुस्थिति जैसी है उसमे हम इस बात के लिए महात्मा गाँधी के चिर-कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होने हमें एक ऐसा अस्त्र दे दिया है जिसका उपयोग हम हर मौके पर और बिना सरकारी अनुमति, लाइसेंस पाए ही कर सकते है।

लेकिन कृतज्ञ होने पर भी जनता ने इसे आँख मूंद कर ग्रहण करने से अस्वीकार कर अपनी बुद्धिमत्ता और जागरूकता का परिचय दिया है। मूलरूप

में महात्माओं के सिद्धान्त कल्याण-कर हीं होते हैं किन्तु वे भी जब अपने सिद्धातो की व्याख्या करने चलते है तो सांप की तरह अपनी केंचुली में ही फँस जाते हैं, अन्धभक्त, अन्धविश्वासी शिष्य तो अर्थ का अनर्थ करने के लिए प्रसिद्ध है ही। महात्मा गाँधी के अहिंसावाद की विवेचनाएँ और व्यावहारिक नियम भी, जैसा कि स्वय उन्होने या उनके शिष्यो ने प्रतिपादित किया है, सर्वथा निष्प्राण और निष्क्रिय प्रमाणित हुए हैं। अहिंसा के सिद्धान्त को शास्त्रकारो ने एक तत्वत गतिशील शक्ति को निर्जीव गतिहीनता में परिणत कर दिया है। वे जनता को सचेत बनाने के बदले उसके पौरुष का अपहार करते है; वे निर्बन्ध बनाने के बदले आत्मसमपर्ण करने की सीख देते हैं। यह सचमुच बड़े सन्तोष का विषय है कि जिस अतिशास्त्रीय छापवाली अहिंसा को जनता ने व्यवहार में दो दो बार अस्वीकार कर दिया था उसे इस बार, १९४२ में, उसने सिद्धान्त रूप से भी अस्वीकार कर दिया। यह देखकर तो और भी अधिक सतोष होता है कि सरदार पटेल और पट्टाभि सीतारमैया जैसें अनुदार मतवाले नेताओ ने भी न्यूनाधिक रूप में इस नवीन अहिंसावाद पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी थी। आज जनता की मूक पर अडिग भावना को अभिव्यक्ति मिलने लगी है, नेहरू जैसे वामपक्षियों की घोषित किन्तु अस्वीकृत नीति को लोगों ने अपना लिया है और बोस और जयप्रकाश के कार्य सर्वथा समुचित अथवा युक्तियुक्त प्रमाणित हो गए है।

इस प्रान्त में, या पडोस में, जो कुछ भी हो रहा है हम उस पर और कुछ कहना असामयिक समझते हैं; उसकी पेंचीली अन्तर्धाराओं तथा संभावित प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि में अहिंसा का विश्लेषण असमीचीन होगा। किन्तु इन पंक्तियो के लेखक को पिछले कांग्रेस-शासन के समय की एक प्रासंगिक घटना आज भी स्मरण है जो तथाकथित सच्ची अहिंसा के खोखलापन को उदाहृत करने के लिए पर्याप्त है। पटना सायंस कालेज के मैदान में साक्षरता-आन्दोलन सम्बन्धी एक विराट् सभा शुरू होने जा रही थी। इतने में मुख्य द्वार से अव्यवस्थित भीड, जो स्पष्टत मुस्लिम लीग के अनुयायियो की थी, अहाते में घुस आई। भीड़ के लोगो में काफी उत्तेजना थी और वे ऊँची आवाज में कांग्रेस

विरोधी नारे बुलन्द कर रहे थे। सभा की कार्रवाई रुक गई। कुछ स्कूली लडके तो उधर भी बढ़े जिधर औरतों के बैठने का इन्तजाम था। कोई अप्रिय घटना तो नही घटी लेकिन जिस खेदजनक बात को हम आज भी भूल नही पाते वह थी मंच पर आसीन नेताओं की किंकर्त्तव्य-विमूढता और निष्क्रियता। जिन धुरंधर महारथियो के आघातों के सम्मुख अंग्रेजी की दुर्जेय शक्ति भी पनाह माँग चुकी थी उनके चेहरों पर हवाई उड रही थी। इस दृश्य को देखकर किसी भी विवेक-शील व्यक्ति का हृदय क्षोभ से भर जा सकता था। पीछे चल कर जब मुस्लिम लीग के एक नेता बुलाए गए तो उनकी आज्ञा से भीड छँट गई पर इसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

यह स्पष्ट है कि इस तरह की अहिंसा को जागरूक जनता ने निस्सदिग्ध रूप से ताक पर रख दिया है। आज अहिंसा महात्मा गाँधी की प्रयोगात्मक, दार्शनिक, व्यक्तिगत 'आन्तरिक ज्योति' नही रह गई, उनके शिष्यो के भाष्यों में प्रतिपादित उसका गुह्य तो जनता ने कभी स्वीकृत किया ही नहीं; आज वह प्रबुद्ध जनता का अपना अस्त्र है जो सिद्धान्त में जितना ही सरल है प्रयोग में उतना ही अमोघ।

चुनाव

चुनाव गणतत्र की एक प्रमुख विशेषता है। लिंकन ने गणतन्त्र को परिभाषा करते हुए इसे जनता के द्वारा जनता के लिए जनता का राज कहा है। गणतन्त्र के लिए जो अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त होता है वह है (Democracy) जिसका अर्थ होता है 'जनता की ताकत'। गणतन्त्र का मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि उसका संघटन और विघटन दोनो ही जनता के मत से हो। जनता से मतलब वयस्क जनसमूह से है। इस समूह की अभिव्यक्ति-जन्य स्वतन्त्रता की रक्षा करना गणतन्त्र का सर्वप्रथम उद्देश्य है। मतदान इसका साधन है। प्रोफेसर सीली ने गणतन्त्र की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है कि 'गणतन्त्र एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें हरेक आदमी का हिस्सा होता है।' इसलिए आवश्यक

है कि गणतंत्र में समय-समय पर निर्वाचन होता रहे और बहुमत प्राप्त व्यक्तियों द्वारा उसका शासन चले। गणतन्त्र की सफलता इसी पर निर्भर है और ऐसा न होने पर गणतन्त्र नही रह जाता। ब्रिटेन में जो इतने दिनो से गणतन्त्र का एक विशेष रूप कायम है तो इसीलिए कि वहाँ राज्य के सविधान को सुरक्षित रखने, और बिना खून-खराबी के शान्तिपूर्ण ढंग से अपनी इच्छा के अनुसार शासन में परिवर्त्तन करने का मौका, वहाँ की जनता को कुछ वर्षों की नियत अवधि पर मिलता रहता है।

प्राचीन भारत में अनेक गणतत्र थे, इस बात को सभी इतिहासकार स्वीकार करते है। पाणिनि ने महाभाष्य में 'राष्ट्रपति' के अतिरिक्त 'गणपति' शब्द का भी व्यवहार किया है। गणपति गणतान्त्रिक राज्य का प्रधान होता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गणराज्यो के दो भेद दिखाए है और सघ अथवा गणतन्त्र पर विस्तार से विचार किया है। कौटिल्य ने २६ गणतान्त्रिक राज्यो का उल्लेख किया है जिसमें प्रमुख है—अग, मगध, काशी, कोशल वृज्जि, कुरु, पाचाल, अवती, गाधार, कबोज, लिच्छवि और शाक्य। इस बात का प्रमाण मिलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय अनेक गणराज्य थे, जो आगे चलकर चन्द्रगुप्त के अधीन हो गए। बिहार में वैशाली का गणतन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इसमें चुनाव अथवा निर्वाचन की पद्धति थी। बाँस के पतले टुकडो का मत-पत्र बनाया जाता था। उन टुकडो को पीले रग में रगकर खूबसूरत बनाया जाता था। इसे 'शलाका' कहते थे।

वर्तमानकाल में सभी गणतांत्रिक राज्यो ने सार्वजनिक बालिग मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश में बसनेवाले सभी बालिग, चाहे वे स्त्री हो या पुरुष, धनी हो या दरिद्र मतदान का अधिकार पाते हैं। हाँ, दक्षिण अमेरिका और जापान में स्त्रियो को वोट देने का अधिकार नही है। उम्र में थोड़ा भेद होता है, जैसे अमेरिका, इंग्लैड, फ्रास, इटली और भारत मे मताधिकार की आयु २१ वर्ष, रूस, टर्की और अर्जेण्टिना में १८ वर्ष, जर्मनी और स्वीजरलैड में २० वर्ष, नार्वे में २३ वर्ष, फिनलैड में २४ वर्ष तथा जापान, स्पेन, हौलैण्ड और डेनमार्क में २५

वर्ष है। इसके साथ ही सभी देशो में पागल, भीषण अपराध के अपराधी अथवा अवैध आचारवाले व्यक्तियों को वोट देने का अधिकार नही होता।

मतदान के दो प्रकार है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। जब मतदाता स्वय वोट देकर अपना प्रतिनिधि चुनता है, तब प्रत्यक्ष मतदान होता है। अप्रत्यक्ष मतदान तव होता है जब सर्वप्रथम मतदाता मतदान द्वारा प्रतिनिधियो को चुनते है और इस प्रकार चुने गये प्रतिनिधि फिर अपने प्रतिनिधियों को चुनते है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दो बार चुनाव होते है। आरम्भिक चुनाव साधारण मतदाता के वोट द्वारा होता है और अन्तिम चुनाव साधारण मतदाताओं से चुने गए प्रतिनिधियो द्वारा होता है। भारत की प्रान्तिक विधायिका सभाओ (Legislative Assemblies) और इग्लैण्ड की जन-सभा (House of Commons) का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (All India National Congress), अमेरिका के राष्ट्रपति, फ्रास के सिनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष होता है।

अप्रत्यक्ष चुनाव के पक्ष और विपक्ष में विवाद चलता रहा है। इसके पक्ष में दो बातें मुख्य रूप मे आती है। एक तो यह कि इस प्रणाली में अन्तिम और निर्णयात्मक चुनाव सुयोग्य प्रतिनिधियों द्वारा होता है, साधारण अथवा अयोग्य व्यक्तियो द्वारा नही। प्रत्यक्ष चुनाव के बुराई में उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने कहा था——

जम्हूरियत इक तर्जये हुकूमत है जिसमें
बन्दो को गिना करते है तौला नही करते।

तो अप्रत्यक्ष चुनाव प्रत्यक्ष चुनाव की इस बुराई को कुछ हद तक रोकता है। दूसरी बात यह है कि निर्वाचन के विस्तृत क्षेत्रो में अप्रत्यक्ष निर्वाचन अधिक निरापद और सुविधापूर्ण होता है। इसमें बुराई यह है कि इसमे मतदाता और अन्तिम प्रतिनिधि के बीच में एक मध्यम व्यक्ति आ जाता है और इस प्रकार आरम्भिक मतदाता के मत का महत्त्व नही के बराबर हो जाता है।

हाल में निर्वाचन का एक नया तरीका निकला है। इसे आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) का तरीका कहते है

इस सिद्धान्त का जन्म फ्रांस में १७९३ ई० में हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार अल्पसख्यकों को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है, जबकि अन्य प्रणालियों में नही मिलता। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के भी दो भेद है जिन्हें क्रमश 'मात्र एक स्थानान्तरयोग्य मतदान की पद्धति' (the single transferable vote system) और लिस्ट-पद्धति (list system) कहते है। इन दोनो में पहली पद्धति अधिक प्रचलित और योग्य है। इसके अनुसार एक व्यक्ति एक उतने वोट देने का अधिकार होता है जितने उम्मीदवार खडे होते है। सभी वोट एक ही कागज (मतदान-पत्र) पर लिखे जाते है और मतदाता अपने पसन्द के अनुसार उम्मीदवारों के नामों के सामने १,२, ३, ४. लिख देता है। यानी जिसकी वह सबसे ज्यादा पसन्द करता है उसके सामने १ लिखता है। जिसे उसके बाद पसन्द करता है उसके सामने २ लिखता है और इसी प्रकार। अब मान लीजिए कि एक निर्वाचन-मडंल में १०० मतदाता है। ५ प्रतिनिधि की जगहें है। तो $\frac{१००}{५}+१$ अर्थात् जिसको २६ प्रथम (first preference) के वोट आ जायेंगे, वह चुन लिया जायगा। साधारण पद्धति के अनुसार यदि उपरोक्त १०० मतदाताओं में ५१ का गुट होता तो सभी प्रतिनिधि (यानी पाँचों) उसी के हो जाते और ४९ आदमियों के प्रतिनिधि नही पहुँच पाते। मगर इस नई पद्धति के अनुसार प्रत्येक २६ व्यक्ति का एक प्रतिनिधि चुन लिया जायेगा। यदि इन पाँच जगहो के लिए उम्मीदवारो की सख्या पाँच से ज्यादा हो गई तो अल्पसख्यकों को प्रतिनिधि भेजने का और ज्यादा मौका मिल जाता है।

भारत में अग्रेजी-शासन-काल में बालिग मताधिकार सही मानी में कभी लागू हुआ ही नही। १९३५ में चुनाव-सम्बन्धी कानून बना। इसके अनुसार केवल १५ प्रतिशत भारतीयों को ही मतदान का अधिकार मिल सका। कारण यह था कि १९३५ के शासन-विधान के अनुसार वे ही लोग वोट दे सकते थे जो सरकार को टैक्स देते थे या जमीन के मालिक थे या शिक्षित थे। इसके साथ ही अंग्रेजी शासन की वह निर्वाचन-पद्धति साम्प्रदायिक होने के कारण अत्यन्त खतरनाक थी। उसके अनुसार विधान-सभाओ का चुनाव साम्प्रदायिक आधार

पर होता था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख यानी हरेक सम्प्रदाय अलग-अलग अपने प्रतिनिधियो को चुनता था। यह अंग्रेजो का एक बडा भारी षड्यन्त्र था। इससे भारतीय जनता की एकता भग होती थी, साम्प्रदायिक भेद-भाव आता था और स्वार्थभावना आती थी। किन्तु देश को इस प्रकार टुकडे-टुकडे करने मे अँग्रेज पूर्णतया सफल न हो सके और भारत स्वतन्त्र हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अपने को गणतन्त्र घोषित किया और अपना सविधान (Constitution) बनाया। इस सविधान के अनुसार भारत के प्रत्येक अधिवासी औरत-मर्द को, जिसकी उम्र २१ साल से कम न हो, मतदान का अधिकार प्राप्त है। इस सविधान के अनुसार शासन का सचालन जनता के बहुमत मे होता है। इस सविधान में निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचन की उचित व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार समस्त निर्वाचनो का सचालन, चाहे वह राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति का ही क्यो न हो, एक निर्वाचन आयोग (Election Commission) द्वारा होता है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तो को राष्ट्रपति, भारतीय ससद् (Indian Parliament) द्वारा इस हेतु बनाई गई विधि के अनुसार नियुक्त करते है। एक बार नियुक्त हो जाने पर निर्वाचन-आयुक्तो को साधारण ढग से हटाया भी नही जा सकता। वे उसी हालत मे और उसी ढग से हटाये जा सकते है जिस हालत में और जिस रीति से उच्चतम न्यायालय (Supreme court) का न्यायाधीश हटाया जा सकता है।

स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन के लिए यह आवश्यक है कि उसमे अधिक से अधिक गैर-सरकारी निरीक्षक और सचालक हो। और, बडी प्रसन्नता एव सतोष की बात है कि पिछले अखिल भारतीय चुनाव मे अधिक प्रेसाइडिंग आफिसर गैर-सरकारी ही थे।

भारत का पिछला सार्वजनिक चुनाव इस देश के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। इतने बडे पैमाने पर और इतने विस्तृत क्षेत्र में इसके पहले कभी चुनाव नही हुआ था। इसमें ससद् तथा प्रान्तीय धारा सभाओ के लिए कुल

३२९३ निर्वाचन क्षेत्र (Constituencies) थे और इसमें ४४१२ प्रतिनिधि चुने गए थे। मतदान-स्थानो (Polling booths) की सख्या २२४००० थी, लगभग ५६००० प्रेसाइडिंग आफिसर थे और २८०००० सहायक थे। नये ढग के २,३००,००० मत-पेटियाँ (Ballot Boxes) तैयार की गई थी तथा ७०००००००० मत-पत्र (Ballot papers)। प्रान्तीय राज्यो को छोड कर सिर्फ केन्द्रीय सरकार को १० करोड़ रुपये खर्च करने पडे थे। ४९६००० पुलिस कर्मचारियो को तैनात किया गया था।

इतने वडे पैमाने पर यह चुनाव हुआ था और फिर भी इस मुस्तैदी से कि कही खून-खराबी नही हुई। शान्तिपूर्ण ढग से सभी काम हुए। इसकी प्रशसा संसार के सभी देशों ने की है।

साधारण मतदाताओ की जागरूकता और उत्तरदायित्व-भावना के बिना इस प्रकार का चुनाव सम्भव न था। अतः उनकी प्रशसा भी करनी होगी। इस चुनाव की एक और विशेषता ध्यान में रखने की है। इसमें देश के अनेक नामी नेता हार गए। हारे लोगो में समाजवादी दल के जेनरल सेक्रेटरी श्री अशोक मेहता, उसी दल की सुप्रसिद्ध श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय, भारतीय सरकार के भूतपूर्व कानून-मन्त्री तथा हरिजन-फेडरेशन के नेता डा० अम्बेडकर, कृषक लोक पार्टी के प्रधान प्रो० रगा, कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के प्रधान श्री कृपालानी, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के प्रधान श्री खरे, रामराज्य परिषद् की सभानेत्री श्रीमती प्रभावती राजे, भारत सरकार के रेलवे-मत्री श्री सन्थानम, फारवर्ड व्लाक के नेता श्री कामथ, ट्रेड यूनियन काँग्रेस के प्रधान श्री खान्दुभाई देसाई, विहार के भूतपूर्व मत्री श्री विनोदानद झा तथा श्री असारी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन हारो के आधार पर कहा जाता है कि अभी तक भारत के मतदाताओ में व्यक्ति को पहचानने का मादा नही आया है। वे पार्टियो को वोट देते हैं और प्रचार एव नारों से प्रभावित होकर वोट देते हैं। पार्टियो को वोट देने की बात तो अन्य शिक्षित देशों में भी समानरूप से लागू हो सकती हैं। फिर इन आक्षेपों के पक्ष और विपक्ष में वहुत कुछ कहा जा सकता है। हमें तो इस बात का सतोष ही नहीं

वरन् गौरव होना चाहिए कि इतनी कम शिक्षावाले, तथा विदेशी हुकूमत द्वारा सम्प्रदायों एव खडो में विभक्त देश में इतनी शान्ति एवं इत्मीनान से इतना बड़ा चुनाव हो गया ।

स्वतन्त्र भारत के नवनिर्माण का प्रश्न

सदियों की गुलामी और शोषण से जर्जर होने के बाद अब हमारा देश स्वतन्त्र है। पिछले कई सौ वर्षों से भारत का विनाश इतना अधिक हो चुका है कि इसका नवनिर्माण सचमुच में एक महान कार्य है।

क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या राजनीतिक सभी दृष्टियो से भारत एक पिछडा देश है। सैकड़ों वर्षों से सामाजिक परिवर्तन न होने के कारण हमारा समाज जकड गया है। इतिहास की ओर नजर दौडाने पर यह पता चलेगा कि १५ वी सदी के बाद भारत में आमूल सामाजिक परिवर्त्तन हुआ ही नही। उस सदी के अन्त में सामाजिक उथल-पुथल मचा था और सामन्तशाही के अन्त के आसार नजर आने लगे थे पर वैसा हुआ नही। बाद को तो सामन्तशाही की नींव इतनी मजबूत हुई कि वह हाल-हाल तक कायम रही और उसका अवशेष तो अब भी बाकी है। लेकिन इस दौरान में बाकी दुनिया बहुत आगे निकल गयी। अन्य देशो में औद्योगिक क्रान्ति हुई और नये समाज का निर्माण हुआ । उत्पादन के नये वैज्ञानिक साधनो के जरिए दुनिया का नक्शा ही बदल गया। न केवल आर्थिक जगत में आमूल परिवर्तन आया बल्कि बौद्धिक, मानसिक जगत में भी क्रान्ति हुई। पुरातन रूढियो और ग्रन्थियो का खात्मा हुआ, अन्धविश्वास और अन्धभक्ति की जगह पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार होने लगा। कितने प्राचीन मूल्यों की जगह नये मूल्य स्थापित हुए। उदाहरणार्थ जन-साधारण को सत्ता का हकदार माना जाने लगा। इस प्रकार जनतंत्र की भावना का उदय हुआ। और सभी प्रकार के सामन्तवादी उत्पीडन का अन्त हुआ। यह था दुनिया का नक्शा। इसके विपरीत भारत में सामन्तशाही ही बनी रही। न तो औद्योगिक क्रान्ति हुई, न पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कायम हुई और न जनतन्त्र का उदय हुआ। स्वभावत. सामाजिक और बौद्धिक

स्तर पर हम पुरातन रूढियों, धारणाओं, गुत्थियों और मूल्यों से ही जकडे रहे। आर्थिक स्तर पर भी हमारी तरक्की न हुई ।

लेकिन अग्रेजो के आगमन से नई परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। एक तरफ अग्रेजो ने नई दुनियाँ से हमें अवगत किया, यातायात के साधनो द्वारा नई दुनियाँ से सम्बद्ध किया, अग्रेजी शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की भावना उत्पन्न की। दूसरी ओर हमारा बेहद आर्थिक शोषण शुरू हुआ। औपनिवेशिक पूँजीवादी नीति के नियमो के अनुसार उन्होने भारत को कच्चा माल देनावाली मडी और अपने पक्के मालो का बाजार बनाया। इस तरह हमारी दौलत विदेश जाने लगी। इतना ही नही, विदेशी सरकार होने के कारण सर्विस, फौज आदि के मद में भी दौलत का एक बड़ा हिस्सा विदेश जाने लगा। इस तरह साम्राज्यवादी शोषण के कारण भारत क्रमश. गरीब होता गया और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर हमारी दरिद्रता चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। लेकिन साम्राज्यवादी शोषण के बावजूद अँग्रेजों को कुछ उद्योग-धन्धे यहाँ खोलने पडे । बाद को भारतीय व्यापारियो में से भी कुछ ने उद्योग-धन्धे खोले। और इस तरह पूँजीवादी औद्योगीकरण का आरभ हुआ, यद्यपि अग्रेज नही चाहते थे कि भारत का औद्योगीकरण हो। यही कारण है कि पिछले १०० वर्ष के अन्दर देश का जितना औद्योगीकरण होना चाहिए था उतना नही हो सका। इस प्रकार हम उद्योगो की दृष्टि से पिछड़े ही रहे ।

भारत की पूरी अर्थ-व्यवस्था पर विचार करने पर ही आर्थिक समस्याओं का बोध होता है। सबसे पहले हमारी कृषि-समस्या आती है। कृषि-व्यवस्था और कृषि की पद्धति में कोई परिवर्तन पिछले कितनी ही सदियो से नही हुआ। इसलिए कृषि की पैदावार क्रमश. गिरती गयी। आज भारत की फी एकड़ पैदावार अन्य विकसित देशो की पैदावार के मुकाबले में बहुत कम है। दूसरे शब्दो में, हमारी धरती की उत्पादकता बहुत कम है और दोषपूर्ण काश्तकारी कानून तथा परम्परागत उत्तराधिकार कानून के कारण प्रतिदिन अलाभकर जोतें ही बढ रही हैं जिससे कृषि की उत्पादकता और भी घट रही है। तीसरे कृषि पर लगभग ९० फी सदी आबादी निर्भर है। परिणामतः कृषि पर निर्भर

लोगों की बहुत भारी संख्या साल में करीब ६ महीने तक बेकार रहती है। कृषि पर यह अत्यधिक बोझ हमारी एक महान कठिन समस्या है। चौथे, व्यक्तिवादी कृषिपद्धति के कारण कृषि को उन्नत करने के लिए सैकड़ों वर्षों से कोई विशेष पूँजी नहीं लग रही है जिसका परिणाम होता है उत्पादन-क्षमता का क्रमशः ह्रास। पाँचवें, वर्षा पर ही हमारी कृषि निर्भर है। सिंचाई की समुचित व्यवस्था नहीं रहने के कारण फसलों खराब होने की कहानी हमारे लिए आम कहानी हो गयी है। भारत के किसी न किसी भाग की जनता प्राय हर साल इस प्राकृतिक प्रकोप का शिकार होती है। अन्त में आबादी की बढ़ती रफ्तार के अनुपात मे नई आबादी नहीं हुई है। इस असन्तुलन और वैषम्य रफ्तार के अनुपात मे नई जमीनें आबाद नहीं हुई। इस असन्तुलन और वैषम्य ने भी समस्या को बहुत जटिल बना दिया है। संक्षेप में कृषि की ये कुछ समस्यायें है। स्मरण रहे, हमारी आबादी की ९० फी सदी सख्या कृषि पर ही निर्भर है। हमारा देश कृषि-प्रधान देश है। कृषि की उन्नति पर ही अन्य समस्या का समाधान और सामाजिक ढाचे की पुनर्व्यवस्था निर्भर करती है। कृषि भारत के आर्थिक जीवन का वह आधार है जिसकी प्रगति पर ही भारत की प्रगति आश्रित है। इसलिए भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सबसे पहले कृषि का पुनर्निर्माण करना होगा।

सदियो से जकडी व्यवस्था के नवनिर्माण के लिए आमूल परिवर्तन आवश्यक है। हमारे गाँव आज सतत अन्धकार और निराशा में पडे है। आशा की लौ जलाने के लिए सबमे पहले गाँववालो में नया उत्साह, नई प्रेरणा, नई आशा भरनी होगी और उसका एक मात्र उपाय है कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना। दूसरे शब्दो मे, भूमि का पुनर्वितरण करना। इस पुनर्वितरण से भूमि की भूख से पीडित बहुसख्यक ग्रामीण जनता मे नवजीवन की लहर उठेगी और वह चौगुनी मेहनत से निर्माण मे लग पडेगी, फिर, काश्तकारी कानून में उचित परिवर्तन कर, अलाभकर जोतो की जगह लाभकर जोतो की व्यवस्था कर और ग्राम सहयोग समितियो के जरिये समुचित पूंजी इकट्ठी कर कृषि को उन्नति के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। जहाँ तक सिंचाई

का प्रश्न है, उसके लिए जहाँ कुछेक बडी नदी-घाटी योजनाएँ कार्यान्वित हो रही है, वहाँ नये बाँध, नहर, तालाब, कुओं तथा ट्यूब वेल, गरज यह कि छोटी सिंचाई-योजनाओं द्वारा पानी का अभाव दूर किया जा सकता है।

कृषि के पुनर्निर्माण के ये ही कुछ रास्ते है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उक्त कार्य कहाँ तक वर्तमान अवस्था में व्यावहारिक है। मेरे विचारानुसार उक्त सभी कार्य व्यावहारिक है। यह ठीक है कि भारतीय किसान अपनी जमीन को जान से बढकर प्यार करता है, उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना बहुत जबर्दस्त है। इसीलिए तो हमने सिर्फ भूमि के पुनर्वितरण और सहयोगी कृषि-औचित्य पर जोर दिया है। सामूहिक कृषि को हम वर्तमान अवस्था में अव्यावहारिक और हानिकारक समझते है। हानिकार इस अर्थ में कि अगर राज्य की ताकत का भय दिखाकर सामूहिक कृषि चलाई गयी तो अन्तत जनतन्त्र की हत्या होगी और जिस समाज की उद्भावना होगी वह हमारे आदर्श समाज से बिलकुल भिन्न होगा।

फिर कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार को लाभकर जोत के लायक जमीन देने पर तो अनेक व्यक्ति बच जायेंगे, उनका क्या होगा। उनके लिए दो उपाय किया जा सकता है। एक, नई जमीन तोड कर उन्हें आबाद किया जा सकता है। अपने देश में करोडो एकड परती जमीन पडी है। अगर उसमें कुछ करोड जमीन भी अगले कुछ वर्षों के अन्दर तोडी गई तो करोडो व्यक्तियो को जमीन देना सम्भव होगा। दूसरा रास्ता है, कृषि से काफी लोगो को हटा कर उद्योगों में लगाना। अब हम भारत के औद्योगीकरण की समस्या पर आते है।

पहले ही बताया जा चुका है कि अपना देश उद्योग-धन्धो की दृष्टि से बहुत पिछडा है। १०० वर्ष के औद्योगीकरण के बाद भी हम आज तक सिर्फ ३० लाख लोगो को ही काम दे सके है। यह बहुत चिन्ताजनक रेकार्ड है। स्पष्ट है कि अगर हम कृषि के बोझ को कम करना चाहते है, बेकारी की समस्या का समाधान करना चाहते है तो अनेक नये उद्योग-धन्धे खोलने होगे। भारत में जो भी औद्योगीकरण होगा उसका पहला लक्ष्य यही होगा। दूसरा लाभ

होगा देश का दौलत बढाना और इस प्रकार रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना। इन्ही दोनो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हम औद्योगीकरण की समस्या पर विचार करेंगे।

आज दुनिया में बडे पैमाने पर चलाये जानेवाले उद्योग-धन्धो का बोलवाला है। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस प्रकार के औद्योगीकरण के गुण-दोषो तथा कठिनाइयो को हमें परख कर ही कुछ निश्चय करना चाहिए। जहाँ तक लाभो की बात है, हम यह कहेंगे कि इस प्रकार की उत्पादन-प्रणाली से उत्पादक शक्ति बहुत बढती है, समय की बचत होती है, मानव-श्रम की बचत होती है, लागत कम पडती है, चीजों की किस्म अच्छी होती है, चीजें प्रचुर परिमाण में तैयार की जा सकती है और इस तरह देश की दौलत तेजी से बढ़ सकती है। दोष यह है कि भारत जैसे देश का प्रचुर मानव-श्रम बेकार रह जाता है, भारी मशीनें पैदावार बढा सकती है पर बेकारी दूर नही कर सकती है। चीजो का दाम कम हो या ज्यादा, अगर उसके खरीदार ही कम होगे तो उससे क्या लाभ ? दूसरा बडा दोष यह है कि भारी उद्योगो के आधार पर जहाँ आर्थिक निर्माण होता है वहाँ केन्द्रीयकरण (रेजिमेन्टेशन) और स्वतन्त्रता की हत्या अनिवार्य हो जाती है। खास तौर पर जो देश पिछड़ा है, वहाँ जब व्यापक तौर पर भारी मशीनो के आधार पर औद्योगीकरण होने लगता है तो वहाँ केन्द्रीयकरण और जनतन्त्र का लोप अवश्यम्भावी है। आधुनिक इतिहास में रूस इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। अगर ब्रिटेन और अमेरिका में ऐसा नही हुआ तो इसका कारण यह है कि ये देश पिछडे नही थे। दुनिया मे औद्योगीकरण सबसे पहले ब्रिटेन में हुआ। उसकी आर्थिक व्यवस्था पिछड़ी नही थी जैसी रूस की १९२० में, या भारत की आज है। औद्योगीकरण की प्रणाली को भी देश काल के आधार पर तय करना होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत की जो आवश्यकता और अवस्था है उनको देखते हुए यहाँ भारी मशीनो द्वारा बडे पैमाने पर नये उद्योग-धन्धे खोलकर भारत का तत्काल औद्योगीकरण कदापि उचित नही होगा। जब हम ऐसे उद्योगो के लिए आवश्यक पूँजी पर विचार करेंगे तब हम इस नतीजे पर

पहुँचेंगे कि ऐसे औद्योगीकरण अनुचित ही नहीं असम्भव भी है। अगर देश में अधिक-से-अधिक पूंजी संग्रह हो तव भी भारी मशीनों की आवश्यकता पूरी नही हो सकती है। तव प्रश्न उठता है, क्या भारत का औद्योगीकरण सभव नही है ?

यह सभव तो है पर औद्योगीकरण की नवीन प्रणाली द्वारा ही। छोटी मशीनें ही हमारी आवश्यकता को पूरी कर सकती है और हम उसके लिए समर्थ भी हैं। सारे देश में प्रत्येक जिला में छोटी मशीनो वाले उद्योगो की स्थापना कर हम न केवल लाखों, करोडो वेकार लोगों को नौकरी देने की व्यवस्था करेंगे वल्कि हम नई उत्पादन-प्रणाली का श्रीगणेश भी करेंगे। इस प्रणाली के सामाजिक परिणाम पर हम पीछे विचार करेंगे। यहाँ इसके आर्थिक पहलू पर ही विचार किया जायगा। वताया जा चुका है कि यह वेकारी की समस्या का इलाज है। इसके लिए साधारण पूंजी की आवश्यकता होगी जिसके लिए हम समर्थ हैं। भारत के औद्योगीकरण का यही एक मात्र उचित और संभव रास्ता है। इसका मतलव यह कतई नही है कि वड़े उद्योग-धन्धे विलकुल खुलेंगे ही नहीं। कुछ वडे उद्योग तो अनिवार्य रूप से रहेंगे पर वे भारत के औद्योगीकरण के एक स्तम्भ होंगे। मूलस्तम्भ नही। मूल स्तम्भ तो छोटी मशीन ही होगी

आर्थिक पुनर्निर्माण कर अगर हम यह समझ लें कि देश का सामाजिक, नैतिक पुनर्निर्माण स्वयमेव हो जायगा तो यह गलत धारणा होगी। इस क्षेत्र में भी अभी से नवनिर्माण के कार्य करने होंगे। आज हमारा समाज भ्रष्टाचार से ग्रस्त है। नैतिक मूल्यो का पूर्ण ह्रास हो चुका है। रूढि और परम्परा के बोझ से हम कराह रहे हैं, जाति-व्यवस्था इसका प्रमाण है। अतः इस क्षेत्र में नवनिर्माण का पहला कदम होगा जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था का अन्त। खुशी की वात है कि भारतीय संविधान ने छुआछूत का अन्त कर दिया है पर उसे कार्यान्वित करने के लिए गाँवो में व्यापक आन्दोलन चलाना होगा। "नेति नेति" पर आधारित नीतिशास्त्र ने व्यक्ति को अनैतिक ही वनाया है और आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सावित कर दिया है कि दमन (repression, suppression) और निराशा व्यक्ति को कुंठित ही करती है। मुक्त और

सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अच्छे भोजन, सेक्स-सन्तोष और अच्छे घर की व्यवस्था करनी होगी। स्पष्ट है कि सामाजिक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था का अन्त करना होगा, व्यक्तित्व को कुठित करनेवाली परम्परा का नाश करना होगा और उसकी जगह सुन्दरता, समता, स्वतन्त्रता और सहानुभूति जैसे मानव मूल्यो के आधार पर नये इन्सान को गढने की क्रिया आरम्भ करनी होगी।

ऊपर जिस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की चर्चा की गयी है उसके द्वारा सिर्फ अपने-अपने क्षेत्र की समस्याओं का ही समाधान नही होता है बल्कि वह जनतात्रिक समाज की ठोस नीव प्रस्तुत करती है। नवनिर्माण एक अस्पष्ट शब्द है। गरीबी दूर करना, सबको खुशहाल बनाना; लेकिन नैतिक मूल्य का न रहना, यह भी नवनिर्माण हुआ। और जनतात्रिक समाज की उद्भावना करना जिसमें सभी सुखी हो, जिसमें स्वतन्त्रता और समता जैसे नैतिक मूल्यो की स्थापना हो, जिसमें मानव-मानव के बीच वास्तविक भाईचारे और ममता का सम्बन्ध हो, यह भी नवनिर्माण हुआ। हम दूसरे प्रकार के नवनिर्माण को वास्तविक निर्माण समझते है। प्रश्न आज सिर्फ रोटी का नही, बल्कि आजादी का भी है। क्योकि, रोटी मिले पर व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता नही तो रोटी बेमानी होती है। इसलिए रोटी और पूर्ण सामाजिक, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, हमारे निर्माण का लक्ष्य होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति विकेन्द्रीय आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था द्वारा सभव है। यही जनतात्रिक समाज की राह है। हमारे नवनिर्माण योजना की यही दिशा है।

भारत का राष्ट्रीय झंडा

प्रत्येक देश का अपना इतिहास होता है—उसके विकास और वृद्धि का। प्रत्येक देश का इतिहास अलग-अलग होता है। यह इतिहास देश की विशेष खूबियो को ससार के सामने लाता है।

राष्ट्रीय झडा देश-विशेष की वृद्धि और विकास का प्रतीक है। इसलिए हर देश का अपना अलग-अलग झडा भी होना चाहिए। और है भी। इस झंडे की रक्षा के लिए उस देश के निवासियों के प्राण तक न्यौछावर होते है।

इधर शताब्दियो से भारत का अपना झडा नही था, क्योकि अंग्रेजो ने उसे पराधीन कर उसे अपना झडा—'यूनियन जैक'—स्वीकार करने के लिए विवश किया था।

देश में राष्ट्रीय चेतना जगने के बाद हमें अपने झंडे की याद आई। अन्य देशों में वहाँ के झंडे की सम्मान रक्षा में जो त्याग और बलिदान किए गए है, उसकी शान की कीमत दी गई है, उसकी कहानी पढ़-पढ कर हमारे हृदय में भी अपने झंडे की कामना उत्पन्न हुई।

जैसे-जैसे यह चेतना उग्रतर होती गई, हमारी कामना तीव्रतर होने लगी, और अन्त में एक दिन हममें से किसी ने अपने राष्ट्रीय झंडे की कल्पना कर डाली। मालूम होता है कि सबसे पहले राष्ट्रीय झडे की कल्पना भारत के क्रांतिकारियों के मस्तिष्क में विदेशो में उपजी। सावरकर और श्यामजी कृष्ण वर्मा, हरदयाल और रासबिहारी बोस आदि ने ब्रिटेन और जर्मनी में इस झडे का उपयोग किया था। उस समय इस झडे का रूप दूसरा था। इसमें लाल, हारा, और उजला तीन रगों का समावेश था और इनके बीच में उगते सूरज और चाँद के चित्र थे, जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों का प्रतिनिधित्व करते थे। इसी झंडा का आतकवादियो ने बग-भंग आन्दोलन तक व्यवहार किया। किन्तु कांग्रेस ने उसे स्वीकार नही किया था।

कॉंग्रेस में आरंभ में 'यूनियन जैक' ही फहराया जाता रहा। कॉंग्रेस के के उस समय के झंडे में सफेद जमीन पर पाँच लाल एव चार हरी धारियाँ थी, और एक कोने में 'यूनियन जैक' बना हुआ था।

तिरंगे की ओर लोगों का ध्यान सबसे अधिक नागपुर के झडा-सत्याग्रह ने आकर्षित किया था, जो 'सेनापति' आवारी के नेतृत्व में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। यह सन् १९३० की बात है। इस सत्याग्रह ने झडे का स्वरूप उन लोगों के मस्तिष्क में स्थिर कर दिया, जिन्होने यह पढा और सुना कि इसी झडे की सम्मान-रक्षा के लिए रोज सैकडो आदमी पुलिस के डडे खाते, सिर फुडवाते एवं जेल जाते रहे थे।

सन् १९३१ में, अखिल भारतीय कॉंग्रेस समिति ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा, इस झडे की स्वीकृति दी और उसके बाद राष्ट्रीय समारोहो पर यही झंडा राष्ट्रीय झंडे के रूप में व्यवहृत होता रहा। उस समय से अब तक यही झंडा थोडे बहुत परिवर्त्तनो के साथ, देश को स्वीकार रहा है।

इस झंडे का कॉंग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में फहराया जाना नियम-सा हो गया। हर स्वतन्त्रता दिवस पर इस झंडे की सामूहिक सलामी कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग हो गया और तिरगे का भी अपना इतिहास बनना प्रारभ हुआ। इस झडे को देख कर ब्रिटिश अधिकारी वैसे ही भडकते जैसे लाल वस्त्र देख कर भैंस भडकती है। इस झडे के लिए बलिदान और त्याग की गौरवपूर्ण कहानी है। इसी झडे के साथ कॉंग्रेस ने भिन्न-भिन्न समयो पर के सत्याग्रह चलाए, इसी झडे के नीचे १९४२ का 'भारत छोडो' आन्दोलन छिडा, अगस्त-क्राति हुई और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने के प्रयत्न में सेना सगठित कर 'आजाद-हिन्द-सरकार' की स्थापना की। तब से यही झडा देश के अधिकाश जन-समुदाय को राष्ट्रीय झडे के रूप में मान्य रहा है।

जब अँग्रेजों ने भारत छोड कर चले जाने की घोषणा की तब विधान-परिषद की स्थापना हुई, जिसे भारत के लिए एक विधान बनाने का भार सौपा गया। इस परिषद् ने राष्ट्र के लिए एक झडे को निर्धारित करने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए एक समिति बनाई गई। समिति की रिपोर्ट प्रका-

शित हुई और उसी के आधार पर, २२ जुलाई, १९४७ को, अन्तकालीन सरकार के प्रधान मत्री पडित जवाहरलाल नेहरू ने विधान-परिषद् के सामने नया राष्ट्रीय झडा पेश किया। झडा पेश करते हुए नेहरूजी ने कहा कि यह झडा तो व्यवहार और मान्यता के कारण पहले से ही राष्ट्रीय झडे का स्थान प्राप्त कर चुका है, पर आज हम उसे सविधि स्वीकृति देने जा रहे हैं।

नवीन झडे में परिवर्तन यह किया गया कि चर्खा के स्थान पर चक्र अकित किया गया। इस परिवर्त्तन का कारण यह बताया गया है कि चर्खे के चित्राकन से झडे के दोनो ओर उसके उल्टा-सीधा होने का सवाल उठ खडा होता था जो अशोभन था। चक्र रखने के कारण वह दूर हो गया है।

भारत के इस राष्ट्रीय झडा की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् ने विधान-परिषद् में रमरणीय भाषण किया था। उनके विवेचन का साराश प्रस्तुत है—

यह झडा अतीत और वर्तमान की सधि है। हमारी स्वतन्त्रता के उन निर्माताओ द्वारा छोडी हुई पैतृक सपत्ति है जो इस झडे के नीचे लडे और जो भारत की स्वतन्त्रता के इस महान् दिवस को लाने के भागी हैं।

आज ससार मिथ्या-भ्रम, शका और विश्वास से भरा हुआ है। इन संकट के दिनो में यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम किस झडे के नीचे लडें। यहाँ हम ठीक केन्द्र में श्वेत सूर्य की किरणो के श्वेत रग की पट्टी रख रहे हैं। श्वेत का अभिप्राय प्रकाश के मार्ग से है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अन्धकार के बादलो को हटाएँ और उस आदर्श-प्रकाश के द्वारा अपने आचरण को नियत्रण करें जो सत्य का, पारदर्शी साधुता का प्रकाश है और जो कि श्वेत रग के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

जब तक हम सत्यपथ पर नही चलेंगे, हम न तो पवित्रता प्राप्त कर सकते हैं, न अपने अन्य उद्देश्यो को। अशोक का चक्र हमारे लिए न्याय का चक्र है, धर्म का चक्र है। सत्य केवल धर्म-पथ के अनुसरण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सका है। जो इस झडे के नीचे कार्य करें उनका अटल सिद्धान्त सत्य

होना चाहिए। यह चक्र हमको यह भी बतलाता है कि धर्म वह वस्तु है जो सदैव गतिमान है।

हमें सदैव इतनी चुनौतियाँ दी गईं कि यदि हममें समयानुकूल चलने का बल और साहस न होता तो हम पीछे रह जाते। जाति और अस्पृश्यता का आधार लेकर अनेकों संस्थाएँ बन गई हैं। जबतक इनको दूर नहीं किया जाता, हम नहीं कह सकते कि हम सत्य या धर्म प्राप्त कर लेंगे। यह चक्र जो गतिमान है, जो सदैव घूमनेवाली वस्तु है, यह सूचित करता है कि स्थिरता में मृत्यु है, जीवन गति में है। हमारा धर्म सनातन है। इसका यह आशय नहीं कि वह स्थिर है, बल्कि आशय यह है कि वह सदैव परिवर्तन-शील है। उसकी निर्बाध अविच्छिन्नता ही उसका सनातन लक्षण है। इस कारण हमारी सामाजिक दशाओं को विचारते हुए भी यह आवश्यक है कि हम आगे बढ़ें।

नारंगी और भगवा रंग त्याग की भावना प्रदर्शित करते हैं। कहा गया है कि 'सर्वेत्यागं राजधर्मेषु दृष्टा', अर्थात् त्याग के समस्त रूप राज-धर्म के अन्तर्गत हैं। हमारे नेताओं को निष्पक्ष होना चाहिए, उनको कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। वे ऐसे व्यक्ति हों जिनमें त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी हो, वैसे त्याग की, जो हमारे इतिहास के आरंभ-काल से ही इस केसरिया रंग ने हममें भरा है। यह इस सत्य को सिद्ध करता है कि संसार धनाढ्यों का नहीं, सम्पन्न व्यक्तियों का नहीं, बल्कि दीन-हीन, कर्त्तव्य-परायण और विरागी जनों का है। वैराग्य और त्याग की वह भावना नारंगी या केसरिया रंग से प्रदर्शित की गई है, और महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में हमारे लिए उसका समावेश किया है। यदि कठिन समय में हममें त्याग की भावना नहीं रहती, तो हमारा पतन ही होता चला जाता।

हरा रंग भूमि से हमारा संबंध, यहाँ के वनस्पति-जीवन से हमारा संबंध प्रकट करता है, जिस पर प्राणि मात्र निर्भर है। हमें इसी हरित भूमि पर यहीं अपना स्वर्ग बनाना चाहिए। यदि हमें प्रयत्नों में सफल होना है, तो हमें सत्य (श्वेत) का अनुसरण करना चाहिए, धर्म (चक्र) का पालन करना चाहिए

और आत्मनियन्त्रण तथा त्याग (केसरिया) की नीति ग्रहण करनी चाहिए। यह झंडा हमें आदेश देता है कि सदैव तत्पर रहो, सदैव प्रगति करते रहो, आगे बढो, और ऐसे स्वतन्त्र, परिवर्तनशील, दयालु, सभ्य और प्रजातन्त्रात्मक समाज की स्थापना करने का प्रयत्न करो, जिसमें ईसाई, सिक्ख, मुसलमान, हिन्दू और बौद्ध सभी शरण पा सकें। यही है ससार-प्रसिद्ध दार्शनिक और अब भारत के उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन की भारतीय झडे की मीमासा।

इस झडे ने समस्त एशिया को आशा और आश्वासन का सदेश दिया है। इसने ससार के सारे देशो की ओर मित्रता का हाथ बढाया एव शोषकों और साम्राज्यवादियो को चुनौती दी है। देश का कर्त्तव्य है कि वह इस झडे को कभी झुकने न दे।

स्वतंत्र भारत का संविधान

स्वतन्त्र भारत का संविधान जनवरी २६, १९५० को लागू हुआ। यह ससार के लिखित सविधानो में सबसे बड़ा है। इसमें अमरीका की राष्ट्रपति-प्रणाली और इग्लैण्ड की लोक-सभा-पद्धति (Parliamentary system) का अभिनव समन्वय पाया जाता है। लोक-सभात्मक (Parliamentary) और धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र (Democracy) पर आधारित यह सविधान एक सबल केंद्र से युक्त है और स्वरूप में सघीय (Federal) है।

संविधान के आधारभूत प्रारंभिक अश में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि भारत एक प्रभुतासपन्न (Sovereign) गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र होगा और उसमें सामाजिक और आर्थिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति (Expression), विश्वास (belief), धर्म (faith) और उपासना (worship) की स्वतन्त्रता; पद और सुविधा की समानता; तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता को बनाए रखनेवाले भ्रातृत्व की व्यवस्था होगी।

सविधान में इसकी भी व्यवस्था है कि भारत अनेक राज्यो का संघ होगा। राज्यों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे यथासभव व्यावहारिक रूप में एक

सामाजिक संघटन को स्थापित और सुरक्षित बना कर सर्वसाधारण के कल्याण के लिए प्रयास करेंगे। इस सामाजिक संघटन में (क) प्रत्येक नागरिक, वह पुरुष हो या स्त्री, आजीविका के पर्याप्त साधनों का हकदार होगा, (ख) समाज के भौतिक साधनों का अधिकार और नियंत्रण इस प्रकार वितरित होगा कि सबका कल्याण सर्वोत्तम रूप से हो सके, (ग) आर्थिक व्यवस्था का कार्यान्वियन इस तरह न हो कि संपत्ति कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाए, और (घ) पुरुषो और स्त्रियो को समान वेतन मिले।

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारो का सात शीर्षको के अन्तर्गत वर्गीकरण किया गया है, उदाहरणार्थ (१) समानता का अधिकार; (२) विशेष प्रकार की स्वतन्त्रता का अधिकार; जैसे (क) वाणी और अभिव्यक्ति, (ख) जन-सम्मेलन (Assembly), (ग) संपर्क (Association), (घ) आवागमन (Movement), (ङ) निवास और स्थिति (Settlement) (च) संपत्ति, (छ) वृत्ति (Profession), कार्य और व्यापार, (ज) शोषण के विरुद्ध अधिकार; (झ) धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार; (५) सांस्कृतिक अधिकार; (६) संपत्ति का अधिकार; और (७) वैधानिक उपायों का अधिकार। धर्म, जाति या पुरुष या स्त्री होने मात्र से किसी नागरिक के दूकानों और सार्वजनिक भोजनालयो इत्यादि में प्रवेश करने और सार्वजनिक कुँओ, तालाबों और सड़को के उपयोग पर बंधन नही लगाया जाएगा। यदि सार्वजनिक व्यवस्था नैतिकता और स्वास्थ्य की क्षति न होती हो तो सभी व्यक्तियों को अपनी भावनाओ के लिए स्वतन्त्रता होगी।

भारत-संघ के अध्यक्ष राष्ट्रपति के नाम से अभिहित किए गए हैं। राष्ट्रपति का चुनाव लोक-सभा, राज्य-सभा तथा विभिन्न राज्यो की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यो के द्वारा होगा। राष्ट्रपति में सभी कार्यकारिणी (Executive) शक्ति निहित रहेगी, जिसका व्यवहार वे लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रियो की सलाह के अनुसार करेंगे। वे पाँच वर्षों तक राष्ट्रपति पद पर रह सकते हैं और उनका केवल एक बार ही पुनर्निर्वाचन

हो सकता है। यदि वे संविधान के विरुद्ध कार्य करते हैं तो इसका अभियोग लगा कर ही उन्हे उनके पद से हटाया जा सकता है। मंत्रिगण लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे, इसकी निश्चित व्यवस्था संविधान में है। मंत्री सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे, किन्तु पृथक्-पृथक् मंत्रियो को पदच्युत करने का अधिकार राष्ट्रपति को रहेगा। राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को नियुक्त करेंगे, और दूसरे मंत्रियो को राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की सलाह से नियुक्त करेंगे। विधान मंडल राष्ट्रपति तथा दो सदनो (Houses) से निर्मित होगा। ये दो सदन राज्य-सभा और लोक-सभा कहलाएँगी। पहली में २५० सदस्य रहेंगे और दूसरी में राज्यो के ५०० से अधिक प्रतिनिधि नही रहेंगे। लोकसभा के सदस्यो का चुनाव पाँच वर्षो के लिए, बालिग मताधिकार के आधार पर, होगा।

संविधान में भारत के सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था है। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात अन्य न्यायाधीश रहेंगे। इनकी संख्या लोक-सभा ही बढा सकती है। इस न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति, भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से राष्ट्रपति करेंगे।

प्रत्येक राज्य के प्रमुख होंगे राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त राज्यपाल। इन राज्यो में एक या दो संसदो की विधान-सभाएँ होंगी। विधान-परिषद् या प्रवर सदन (Upper house) में अवर सदन (Lower house) की कुल सदस्य संख्या के पच्चीस प्रतिशत से अधिक सदस्य नही होंगे। किसी राज्य की विधान-सभा में ५०० से अधिक और ६० से कम सदस्य नही होंगे। ७५००० जन-संख्या पर एक सदस्य बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होगा। विधान-सभा की अवधि पाँच वर्ष होगी। प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होगा जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और उतने अन्य न्यायाधीश होंगे जितने की आवश्यकता राष्ट्रपति समझेंगे। सभी न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होगी। राज्यो पर केंद्र का नियंत्रण विस्तृत और व्यापक है।

देश ने अपने नवीन संविधान का प्राय. एक स्वर से स्वागत किया है, क्योकि इससे उत्कृष्ट संविधान का, वर्त्तमान परिस्थिति में, निर्माण संभव नही था। संविधान के कार्यान्वयन के सिलसिले में कई कठिनाइयाँ सामने

आई हैं जिनके समाधान के लिए संविधान में कुछ सुधार किए जा चुके और कुछ किए जानेवाले हैं।

संविधान चाहे जितना भी अच्छा हो, उसकी सफलता उसकी शब्दावली पर नहीं, प्रत्युत् उस भावना पर अवलंबित है जिससे वह कार्यान्वित की जाती है। अत हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने संविधान को इस प्रकार कार्य-रूप में परिणत करें कि उससे अधिकाधिक कल्याणकारी बातें संभव हो सकें।

पंचवर्षीय योजना

आज से कुछ वर्ष पहले तक किसी देश की सरकार की अर्थ-नीति परिस्थितियों पर निर्भर रहती थी। ऐसा प्रयत्न नहीं किया जाता था कि आदर्श अर्थ-नीति के अनुरूप परिस्थितियों का निर्माण किया जाए।

पहले विश्व-युद्ध के बाद इस दिशा में रूस आगे बढा। उसने यह सिद्ध कर दिया था कि योजनाबद्ध अर्थ-नीति से किस प्रकार प्रगति की जा सकती है। वहीं पहली बार पंचवर्षीय योजना के नाम से राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, ऐसे लक्ष्य बनाए गए जिनकी पूर्ति पाँच वर्षों की अवधि में निश्चित रूप से हो जाए। यह योजना सफल हुई तो फिर अगली पंचवर्षीय योजना बनी और रूस ने प्रायः सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति कर संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया।

हिटलर ने भी जर्मनी में "नवीन आर्थिक-नीति" के नाम से इस प्रकार की योजना बनाई थी और इसमें उसे आंशिक सफलता भी हुई थी। अन्य देशों में भी इस तरह के प्रयत्न हुए है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि योजना बनाना तो बहुत कठिन नहीं है, लेकिन उसे कार्यान्वित करना अत्यन्त ही कठिन है।

इस प्रकार की आर्थिक योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने में दिक्कत यह होती है कि राष्ट्र के उत्पादन के साधनों पर सरकार का अधिकार आवश्यक होता है और यह अधिनायकवादी देशों में संभव होता है। जनतान्त्रिक देशों

में यदि ऐसी योजनाएं बनती ही हैं और उन्हें कार्यान्वित करने की चेष्टा की जाती है तो शासन-तंत्र के अनुरूप ही उन्हें परिवर्तित कर लेना भी आवश्यक होता है।

भारत में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के काफी पहले ही, दूरदर्शी राजनीतिज्ञों का ध्यान आर्थिक-योजना की रूप-रेखा तैयार करने की आवश्यकता की ओर गया था। स्वय प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता, में एक गैर-सरकारी योजना-आयोग [Commission] की स्थापना की गई थी और उसके तत्वाधान में काफी काम भी हुआ था।

इस बीच द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा, भारत में स्वतंत्रता-आन्दोलन ने जोर पकड़ा और ऐसे अतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिवर्तन होते रहे कि इस सम्बन्ध में प्राय: कुछ नही के बराबर प्रगति हुई। किन्तु भारत सरकार ने अनुकूल अवसर पाते ही एक योजना-आयोग की स्थापना की और अब तो उसने अपने सुझावो को उपस्थित कर दिया है।

भारत की यह योजना समय की अवधि की दृष्टि से रूस की योजना की तरह पचवर्षीय है। दोनों में यह समानता भी है कि उनका उद्देश्य राष्ट्र की आर्थिक-उन्नति को शीघ्र से-शीघ्र सतोषजनक बनाना है। किन्तु महत्वपूर्ण अंतर भी है। रूस का शासन-तंत्र अधिनायकवादी है और वहाँ के उत्पादन के समस्त साधनों पर वहाँ की सरकार का ही अधिकार है। ऐसी दशा में वहाँ की सरकार के लिए यह संभव है कि वह एक सुनिश्चित योजना बनाये, उसे कठोरतापूर्वक लागू करे और निश्चित अवधि के अन्दर पूरा भी कर ले। इसके विपरीत भारत में जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है और यद्यपि यहाँ भी कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण किया गया है फिर भी यहाँ सरकार ऐसी ही योजना बना सकती है जो राष्ट्र-निर्माण संबधी कार्य करने के लिए लोगों को बाध्य न करे, बल्कि उन्हें प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता देती रहे।

इसलिए भारत की पंचवर्षीय योजना के सबंध में यह याद रखना चाहिए कि उसकी सफलता सरकार से अधिक यहाँ के लोगों की लगन और कर्त्तव्य-

परायणता पर निर्भर है। यह योजना प्रांतीय सरकारों, पूंजीपतियों या विभिन्न कार्यों में लगे हुए लोगों को निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार काम करने के लिए विवश नही करेगी, किन्तु यह उनका मार्ग-प्रदर्शन करेगी और उस लक्ष्य की ओर सकेत करती रहेगी जहाँ तक पहुँचे बिना देश, राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र होने पर भी आर्थिक दृष्टि से पराधीन बना रहेगा और सर्वसाधारण का जीवन-स्तर उन्नत नही हो सकेगा। उदाहरण के लिए पचवर्षीय योजना के अनुसार बिहार राज्य में केवल सोलह नये चिकित्सालयों की स्थापना के लिए केंद्रीय सरकार से सहायता मिलेगी। यदि राज्य-सरकार योजना के इस अंतिम रूप के अनुसार ही अस्पतालो की सख्या में वृद्धि कर अपना काम खत्म समझें तो पाँच वर्षों में केवल ग्यारह सौ से अधिक रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था हो सकेगी। किन्तु यह प्रगति नगण्य होगी और राज्य-सरकार को इस अवधि म जन-स्वास्थ्य के क्षत्र में कही ज्यादा काम कर दिखाने को तैयार रहना पडेगा। इसी प्रकार दूसरे क्षेत्रों में भी विभिन्न राज्य-सरकारो को तथा सरकारी और गैर सरकारी उद्योग-धन्धो की योजना के सुझावो से लाभ उठाते हुए स्वय तत्परता के साथ काम करना पड़ेगा।

पचवर्षीय योजना में खाद्यान्न के उत्पादन को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। देश की सरकार को खाद्यान्न की समस्या ने बहुत बडी चुनौती दी है। कुछ दिनो पहले तक तो ऐसा मालूम होता था कि यह विकट समस्या सुलझ नही सकेगी। किन्तु अधिकारियों ने बड़ी कुशलता और बुद्धिमानी के साथ खाद्यान्न के अभाव के सकट का सामना किया और अब यह समस्या बहुत कुछ सुलझ भी गई है। योजना में इस बात का ध्यान रखा गया है कि भविष्य में देश इस क्षेत्र में स्वत सपूर्ण बन सके।

खाद्य-उत्पादन आर्थिक-विकास का एक महत्वपूर्ण अग है। अतः कृषि-विकास के सबध में, पचवर्षीय योजना के अतर्गत, पर्याप्त व्यवस्था की गई है। इसके लिए सिचाई, विद्युत्-शक्ति और कृषि की वैज्ञानिक-प्रणाली के विकास के निमित्त आवश्यक व्यय का प्रबध किया गया है। इन मदो में, बिहार राज्य में लगभग अट्ठाइस करोड़ रुपये खर्च किए जाएँगे। इस राज्य में पचवर्षीय

योजना के कुल व्यय की राशि की आधी है। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कृषि-विस्तार को योजना में कितना अधिक महत्व दिया गया है।

पचवर्षीय योजना में विद्युत-शक्ति के विस्तार का भी पूरा ध्यान रखा गया है क्योंकि इसी पर अन्य विकास-कार्य निर्भर है। विद्युत-शक्ति के विकास के बिना सिचाई का ही नही, बल्कि उद्योग-धन्धो का विकास भी असभव है। अब तो यह भी अनुभव किया जा रहा है कि गृह-शिल्पो की उन्नति के लिए भी नगरों तथा गाँवो में पर्याप्त मात्रा में बिजली सुलभ होनी चाहिए।

इन्ही बातो को ध्यान में रख कर योजना में ऐसी व्यवस्था की गई है कि निकट भविष्य में बिजली द्वारा सचालित नलकूपों का निर्माण हो और साथ-साथ नगरों तथा गाँवो में जनता के उपयोग के लिए भी बिजली सुलभ हो जाय। दामोदर घाटी योजना के अतर्गत स्थापित विद्युत-केन्द्रो से बिहार और बगाल के अनेक भागों को बिजली मिल रही है। इस प्रकार जो बिजली मिलती है, उसका उपयोग कृषि के साथ-ही-साथ विभिन्न उद्योग-धन्धो में भी हो सकेगा।

खाद्यान्न के उत्पादन तथा बिजली के विकास के लिए योजना में जितने व्यय की व्यवस्था की गई है उसकी तुलना में सामाजिक-सेवा सबधी व्यय बहुत कम है जन-स्वास्थ्य के कार्यों में विभिन्न राज्य-सरकारो को अपने ऊपर निर्भर रहना पडेगा, यह पहले ही बताया जा चुका है। इसी प्रकार योजना में शिक्षा के विकास का जो कार्यक्रम है वह भी अपर्याप्त है और उसे राज्य-सरकारो को अपनी ओर से पूरा करना पडेगा।

योजना में यातायात के विकास का यथासम्भव ध्यान रखा गया है। देश की उन्नति के लिए यातायात के साधनो का महत्त्व है। बिहार में लगभग आठ करोड रुपए खर्च कर दो हजार मील लबी सडको की मरम्मत की गई है। इनमें से आधी से कुछ अधिक सडकें पक्की बनाई जाएँगी। इसी तरह समूचे देश में सड़को का ऐसा जाल बिछ जाएगा जिससे दूर भीतर के भाग भी व्यापार के केन्द्रों तथा नगरो से सम्बद्ध हो सकेंगे।

पचवर्षीय योजना में सामूहिक-विकास पर समुचित ध्यान दिया गया है। सामूहिक विकास से सम्बद्ध योजनायें देश के भविष्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु इनकी सफलता के लिए जनता का सहयोग आवश्यक है। ये योजनायें इस अभिप्राय से बनाई गई है कि इनके द्वारा हमारे ग्रामीण जीवन का पूर्ण विकास हो सके। जीवन के मानवीय, आर्थिक तथा सास्कृतिक पक्षों का समन्वित विकास ही इन योजनाओं का लक्ष्य है। हम यदि देश को जन-शक्ति का पूरा लाभ उठा सकें तो निश्चय ही सामूहिक विकास का कार्य बहुत सरल हो जाएगा। सामूहिक विकास सम्बन्धी योजनाओं की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह जन-शक्ति को महत्त्व प्रदान करती है और सरकार के साधनों का यथेष्ट उपयोग कर उसके समुचित विकास के लिए प्रयत्न करती है। साथ ही, ये योजनायें जनता में आत्मविश्वास और स्वावलबन की भावनाओं को भी जागृत करती है।

इस सक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते कि हमारा राष्ट्र अत्यन्त निर्धन है, उसकी आवश्यकताएँ अनेक है और उसके साधन सीमित है। कोई भी वास्तविकतापूर्ण योजना इस वस्तुस्थिति की उपेक्षा नही कर सकती। भारत सरकार के योजना-आयोग ने जो पचवर्षीय योजना प्रस्तुत की है उसकी सबसे बडी विशेषता यही है कि वह वास्तविकतापूर्ण है और उसका निर्माण देश के साधनो को ध्यान में रखते हुए किया गया है। उसकी दूसरी विशेषता यह है कि उसमें विभिन्न कार्यों का जो क्रम निर्धारित किया गया है, वह बहुत ही उपयुक्त तथा दूरदर्शितापूर्ण है। इसी के फलस्वरूप कार्यक्रम में कृषि को सर्वोच्च स्थान दिया गया है और विद्युत् के विकास तथा यातायात के साधनो के विस्तार को भी उचित महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार पचवर्षीय योजना में इस बात का आयोजन किया गया है कि हमारे पास जो भी साधन सुलभ है उनका अधिक से अधिक उपयोग सामाजिक सेवाओ के लिए किया जा सके। यह तो इतिहास ही प्रमाणित करेगा कि राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति में यह पचवर्षीय विकास-योजना कहाँ तक उपयोगी और सफल सिद्ध होती है।

भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना

भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना मई १९५१ में प्रवर्त्तित हुई थी। उन दिनो देश भयकर अन्न-सकट से गुजर रहा था। फलत. उस योजना में कृषि और सिंचाई को सर्वप्रमुख स्थान दिया गया। यह उचित ही था क्योंकि किसी अन्नाभाव में राष्ट्र की प्रगति की बात तो दूर रहे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

प्रथम पचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य, कृषि और सिंचाई का विकास, सतोषजनक रीति से हो चला है। अत. भारत सरकार अन्य समस्याओ की ओर ध्यान देने की स्थिति में है। उसने द्वितीय पचवर्षीय योजना की रूप-रेखा, सर्वसाधारण के विचार और आलोचना के लिए, प्रस्तुत कर दी है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना अप्रैल १, १९५६ से कार्यान्वित हुई। इसकी मुख्य विशेषताओं में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि योजना के उद्भावको ने पाँच वर्षों के अदर राष्ट्रीय आमदनी को २५ प्रतिशत वढाने का लक्ष्य रखा है। इसके अतिरिक्त एक करोड दस लाख नौकरियो की व्यवस्था कर वेरोजगारी का उन्मूलन भी योजना का एक प्रधान उद्देश्य है। उत्पादन सामग्रियो के निर्माण के लिए वुनियादी और वडे उद्योग-धधो का विकास भी योजना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि इस क्षेत्र में आज भी भारत अन्य देशों पर निर्भर है।

योजना में केवल उत्पादक सामग्रियों पर ही ध्यान दिया गया हो, ऐसी वात नही है। इसमें उपभोक्ता-सामग्रियो के उत्पादन का भी महत्त्व स्वीकृत हुआ है, किंतु कुटीर और छोटे उद्योग-धधो पर ही, इस क्षेत्र में, जोर दिया गया है। भारत में अतत. समाजवादी ढाँचे की व्यवस्था कायम हो सके, इसे दृष्टि में रखते हुए योजना में भूमि-सुधार, मिल-मजदूरों और नगरों के निर्धन निवासियो के लिए वढ़िया आवास, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और शिक्षा आदि को भी प्राथमिकता दी गई है। बैंक, बीमा और वैदेशिक व्यापार तथा कुछ चुनी हुई चीजो के लिए आतरिक व्यापार में भी, व्यक्तिगत उद्योग के

विस्तार के लिए गुंजाइश रखी गई है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की विशालता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि इस पर केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के द्वारा कुल मिला कर ८,८०० करोड़ रुपए की रकम खर्च करने का प्रस्ताव है। इस रकम में से ५,४०० करोड़ रुपए तो विकास-व्यय के लिए है और ३,४०० करोड़ रुपए विकासेतर-व्यय, जैसे सुरक्षा और नागरिक प्रकाशन आदि के लिए है। द्वितीय पचवार्षिक योजना में सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में कुल विकास-व्यय ४,३०० करोड़ रुपए का होगा। इसमें ३,४०० करोड़ रुपए तो बनाई हुई पूँजी (इनवेस्टमेंट) के होंगे, और ९०० करोड़ रुपए राष्ट्र-निर्माण सबंधी कार्यों, जैसे स्वास्थ्य और शिक्षा, के लिए चालू व्यय (करेंट एक्स्पेंडिचर) के होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में ४,३०० करोड़ की जो कुल रकम लगाई जाएगी उसके अतिरिक्त २,२०० करोड़ की रकम व्यक्तिगत क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर) में लगाई जाएगी और इस प्रकार ५,६०० की कुल रकम पूरी होती है।

५,६०० करोड़ की इस रकम का विभिन्न कार्यों के लिए निम्न प्रकार से विभाजन होगा :—सार्वजनिक क्षेत्र में—बिजली पर ५४० करोड़, उद्योग-धंधों और खनिजों पर १,००० करोड़, यातायात और परिवहन पर ८५० करोड़, कृषि, सिंचाई और सामुदायिक विकास योजनाओं पर ७५० करोड़, निर्माण और सामाजिक ऐश (मकान, विद्यालय, चिकित्सालय आदि) पर २५० करोड़, और अन्न तथा अत्यावश्यक कच्चे मालों के संग्रह पर १०० करोड़। जहाँ तक व्यक्तिगत क्षेत्र का प्रश्न है ये रकमें क्रमश. इस प्रकार निर्धारित की गई हैं—५०,४००, ५०,२००, ११०० तथा ४०० करोड़।

योजना की रूप-रेखा में ८,८०० के कुल सरकारी व्यय को पूरा करने के लिए इन स्रोतों को चुना गया है . रेवेन्यू और अन्य चालू साधनों से ५,२०० करोड़, जन-ऋणों से १००० करोड़, रेलवे सरप्लस से २०० करोड़, विदेशी सहायता से ४०० करोड़, अतिरिक्त कर और विभिन्न राज्यों के वाणिज्य संबंधी या औद्योगिक योजनाओं से ८०० से १००० करोड़ तक, और घटी की पूर्ति से १००० से १२०० करोड़ तक।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुछ सामग्रियों के उत्पादन का सभावित लक्ष्य स्थिर किया गया है। उनकी संख्या बहुत अधिक है, अतः उनका पूरा विवरण, न देकर, उनमें से कुछ का उल्लेख मात्र किया जाता है—बिजली ६० लाख किलोवाट, कोयला ६ करोड टन, सिमेंट १ करोड टन, वर्त्तमान से तिगुनी खाद, ५,५११० लाख गज सूती कपड़ा प्रति वर्ष, प्राय ६० लाख गट्ठर रूई, बीस लाख टन से कुछ अधिक चीनी, और जहाजी टनेंज (shipping tonnage) १, ५००, ०००।

सक्षेप में भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना की यही रूप-रेखा है। योजना की विशालता और व्यापकता को देखते हुए यह कहना आवश्यक नही रह जाता कि जब तक देश का प्रत्येक निवासी इसे सफल बनाने के लिए कृतसकल्प नही हो जाता तब तक वह कार्यान्वित नही हो सकती। इस बात पर, यह उचित ही है, योजना आयोग के अर्थशास्त्री-मडल ने खूब जोर दिया है।

इस योजना की आलोचनाएँ भी हुई है। आलोचनाओ का मुख्य आधार यह है कि योजना, अपने प्रस्तुत रूप में, अव्यावहारिक है। आलोचकों द्वारा ऐसी आशका प्रकट की गई है कि आर्थिक स्रोतो और सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही क्षेत्रो के उत्पादन के निश्चित लक्ष्य में कमी होना अनिवार्य है। इस आशा को भी सदेहास्पद माना गया है कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी। फिर इस प्रस्ताव को आपत्तिजनक समझा गया है कि नये कर लगाए जाएँ, क्योकि ये जनता के लिए अतिरिक्त भार साबित होगे। सार्वजनिक क्षेत्र व्यक्तिगत उद्योग-धधों के क्षेत्रो पर वहुत ज्यादा अधिकार कर ले इसे भी अवाछनीय कहा जा रहा है। इसी तरह वृहत् उद्योग-धधो की कीमत पर घरेलू उद्योग-धधो को प्रोत्साहन देना भी अनेक आलोचकों की दृष्टि में योजना का एक दोष है। अंत में यह भी भय प्रकट किया गया है कि योजना के कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त सख्या में आवश्यक प्रशासकीय और टेक्निकल आदमी शायद ही मिलें।

योजना की रूप-रेखा वस्तुतः इसी उद्देश्य से उसके कार्यान्वयन के बहुत पहले ही प्रकाशित कर दी गई है कि अधिकारियों के द्वारा सभी आलोचनाओं पर पूरी तरह विचार कर लिया जाए। योजना का पूर्णतः अंतिम रूप इन आलोचनाओं को ध्यान में रख कर ही स्थिर किया जाएगा।

जमीन्दारी उन्मूलन

"अंगरेजी राज्य के अधीन भारतवर्ष का रूप दिनोंदिन ग्राम-प्रधान होता गया। काम और रोजगार के बहुत से रास्ते बन्द हो गये और जनता का एक बहुत बडा समुदाय विवश होकर खेतों पर निर्भर करने लगा। नतीजा यह हुआ कि खेत के टुकडे-टुकड़े हो गये हैं और उनसे होनेवाली आमदनी बहुत ही कम हो गयी है। इसलिए यह आवश्यक है कि खेती की समस्या को सुलझाने के लिये चतुर्मुख प्रयत्न किया जाय।······हिन्दुस्तान में खेतों की बन्दोबस्ती की प्रणाली में सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है और इस सुधार का सबसे आवश्यक अंग है उन बीचवानो को हटाना जो किसान और राज्य के बीच पड़ते हैं। इसलिये, उचित है कि इन बीचवानो के अधिकार वाजिब मुआवजा देकर खरीद लिये जायँ।"

ये शब्द हैं कांग्रेस के चुनाववाले घोषणापत्र के। स्पष्ट है कि कांग्रेस जहाँ-जहाँ उसकी सरकार बनी और जहाँ-जहाँ जमीदारी प्रथा प्रचलित थी, जमीदारी उन्मूलन के लिये प्रयत्न करती रही।

भारत की स्वतन्त्रा प्राप्ति के बाद राज्य-सत्ता कांग्रेस के हाथों आई, क्योंकि जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली सब से बड़ी राजनीतिक संस्था यही थी। राज्यसत्ता हाथ में लेने के बाद केन्द्रीय कांग्रेस सरकार ने देश के बहुमुखी विकास के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करने के लिये आयोजना आयोग की स्थापना की जिसनें भारत की अनेकानेक आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हुए और देश के विभिन्न आर्थिक साधनों को ध्यान में रखते हुए जमीदारी प्रथा को भारत के ७० लाख गाँवों और भारत की कुल जनसंख्या के गाँवों में बसनेवाले

९० प्रतिशत लोगों के जीवन में सुधार, विकास तथा उन्नति के रास्ते में बड़ा बाधक पाया। अतएव उसने भी जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की सिफारिश की।

आयोजना आयोग की दृष्टि में भू-स्वामित्व और खेती, इन दोनो का अधिक महत्व है। ये दोनों विषय राष्ट्रीय विकास में बहुत अधिक महत्व रखते है, क्योंकि भूमि-समस्या के समाधान पर ही, बहुत अंश तक, आर्थिक और सामाजिक सघटन की रूप-रेखा निर्भर है। भूमि-समस्या के समाधान के लिये आयोजना आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना सबधी अपने प्रतिवेदन में केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों के लिए कुछ सुझाव दिये। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से राज्य सरकारों के ये दो लक्ष्य रहने चाहिएँ--(१) कृषि-उत्पादन बढाना और (२) कृषि अर्थ-व्यवस्था को कुशलता के उच्च स्तर पर लाते हुए उसमें विविध अगों की व्यवस्था करना। सामाजिक पहलू से, आयोजना आयोग का विचार है कि भूमि सम्बन्धी नीति उस हद तक उत्तम समझी जानी चाहिये जिस हद तक वह, आगामी वर्षो में धन और आय में विषमता कम करती है, शोषण का अन्त करती है, रैयतो और मजदूरों को सुरक्षा प्रदान करती है और ग्रामीण आबादी के विभिन्न वर्गो को सामाजिक स्थिति और अवसर की समानता का आश्वासन देती है।

विगत कुछ वर्षों से बिहार राज्य के खेतिहरों के बीच जमीदार विरोधी आन्दोलन जोरों से फैला हुआ था इसके चलते अक्सर काफी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थी और बहुधा झगडे हो जाया करते थे। इन झगडो का कारण था जमीदारी प्रथा तथा जमीदारों के विरुद्ध रैयतों की भावना एवं असंतोष। इस असन्तोष की जड थी जमीदारों की बेरुखी। वे सिंचाई की सुविधाओं की देख-रेख अथवा व्यवस्था आदि नही करते थे, मालगुजारी बढ़ा देते थे, बकाश्त जमीनो से, जिनके जोतने का अधिकार रैयतों को रहता था, रैयतों को बेदखल कर देते थे, गोचरों आदि को भी वन्दोवस्त कर देते थे और इसी प्रकार के अन्य असन्तोषजनक काम कर बैठते थे। जमीदार की सिंचाई सुविधाओं को बनाये रखने में दिल-

चस्पी की कमी के कारण राज्य के अन्न-उत्पादन में वृद्धि करने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते थे। अतः काश्तकारी झगड़ों का अन्त करने के लिये और विशेषकर 'अधिक अन्न उपजाइये' आन्दोलन को विस्तृत करने और सफल बनाने के दृष्टि से बिहार सरकार ने इसे आवश्यक समझा कि वह जमींदारियों तथा पट्टों का स्वामित्व अपने अधिकार में ले ले।

अत., कृतसंकल्प होकर बिहार सरकार ने इस दिशा में जो पहला कदम उठाया, वह था जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिये कानून बनने के पहले स्टेटों की व्यवस्था के लिये एक सक्रांतिकालीन योजना प्रस्तुत करना। इसके अनुसार ७ मार्च, १९४९ ई० को एक विधेयक विधान सभा में उपस्थित किया गया। इस विधेयक को २० सितबर, १९४९ ई० को भारत के गवर्नर-जेनरल की स्वीकृत मिली। इसी विधेयक के द्वारा जमींदारी उन्मूलन का सूत्रपात हुआ और आगे चलकर जमींदारी उन्मूलन कानून बना। यह कानून १५ नवबर, १९४९ ई० से कारगर हुआ और १४४ स्टेट और पट्टों के सबध में घोषणा कर दी गयी कि वे राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिये जायँगे। ये सभी स्टेट और पट्टे ५०,००० रु० वार्षिक आमदनी से ऊपर के थे।

जमींदारी प्रथा उन्मूलन कानून की वैधानिकता पर कुछ जमींदारों ने आपत्ति की। इस पर न्यायालय ने सरकार के विरुद्ध आज्ञा जारी कर दी। कानून में भूमि-सुधार विषयक आवश्यक व्यवस्थाएँ न होने के कारण यह कानून रद्द कर दिया गया और उसकी जगह १९५० ई० में भूमि-सुधार कानून बना। इस कानून की वैधानिकता पर भी आपत्ति की गयी किन्तु सविधान के ३१वें अनुच्छेद के सशोधन से कठिनाई दूर हो गयी तथा भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कानून को पूर्णत वैध ठहराया।

उन्मूलन कार्यक्रम के प्रथम चरण में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ५० हजार रुपये वार्षिक आय से अधिक आयवाली जमींदारियों को लेने का काम शुरू हुआ। राज्य में ऐसी जमींदारियों की सख्या केवल १५५ थी। सुविधा की दृष्टि से ठोस क्षेत्रों की ही जमींदारियाँ अधिकृत करने का

विचार हुआ। फलत १९५२ के सितम्बर महीने में गया, हजारीबाग, मुंगेर और दरभंगा जिलों की जमींदारियाँ ले लेने का निश्चय किया गया। १९५३-५४ ई० के वर्ष के अन्त में, सरकार ने शेष १३ जिलों में १० हजार रुपये से ५० हजार रुपये तक वार्षिक सकल आय वाली जमींदारियों को अधिकृत करना शुरू करने का निश्चय किया।

भूमि-सुधार कानून, १९५०, के अनुसार, किसी जमींदारी को अधिकृत करने क पहले प्रत्येक जमींदार के संबंध में अलग-अलग अधिसूचना प्रकाशित करनी पड़ती थी। इसके कार्य में विलंब होता था। फलत, कानून को संशोधन कर बिहार भूमि-सुधार (संशोधन) कानून, १९५४ बना जिसे १७ मई, १९५४ ई० को लागू किया गया।

इस संशोधन के अनुसार, राज्य सरकार केवल एक ही अधिसूचना प्रकाशित कर समस्त राज्य अथवा उसके किसी अंश की सभी जमींदारियाँ एक घोषणा द्वारा कम-से-कम तीन महीने की नोटिस देने के बाद अधिकृत कर सकती है। प्रमाणित कागजात और अपेक्षित राजस्व-कर्मचारी मंडल के अभाव में जमींदारी उन्मूलन का कार्य शीघ्रता से नहीं हो सका। किन्तु राज्य-सरकार ने इन बाधाओं को दूर करने का उपाय कर दिया है। गया, हजारीबाग, मुंगेर, दरभंगा, पूर्णियाँ, पलामू, सहरसा और चंपारण की सभी जमींदारियाँ २६ जनवरी, १९५५ ई० से ले ली गई है।

प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि १९४७ में उपस्थापित जमींदारी उन्मूलन विधेयक चुनाव के घोषणा-पत्र के संकल्पों का कार्यान्वित रूप था। जमींदारी उन्मूलन की ओर उठाये गये कदम को क्रांति कहना अनुचित न होगा। वस्तुतः यह एक अत्यन्त क्रांतिकारी कदम है और इसके जरिये जमींदारी की वह प्रथा उठा दी गई है जिसे लार्ड कार्नवालिस ने अंगरेजी राज्य की सुविधा के लिये चालू किया था और जिसमें विरुद्ध गत १५ वर्षों से राज्य के कोने-कोने से आवाजें उठायी जा रही थी। इस अवधि में किसानों ने यदि कोई मांग की थी, और वह भी एक स्वर से, तो वह थी जमींदारी उठा लेने की मांग।

इस विधेयक के मुख्य उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए बिहार राज्य में इसके प्रस्तावक, माननीय कृष्णबल्लभ सहाय ने कहा कि रैयतो की भलाई एवं प्रांत की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति और विकास के लिए सरकार ने इस नीति को अपनाया है कि सरकार और रैयतो की बीच किसी बीचवान को रहने न दिया जाय। कृषि सबधी नव-निर्माण के लिये यह जरूरी है कि मालगुजारी की दरें वाजिव हो, जमीन की बन्दोबस्ती पक्की हो, सिंचाई के स्थानीय प्रबंध सुचारु हों और उनमें फलस्वरूप अन्न की उपज बढे एव कृषि का क्षेत्र विस्तृत हो सके, लेकिन इस प्रकार के नव निर्माण की बहुमुखी योजना तबतक शुरू नही की जा सकती जबतक कि पट्टे की वर्त्तमान पद्धति में आमूल परिवर्त्तन न किये जायँ।........इसलिये सरकार ने यह फैसला किया है कि पट्टे के संबध मे उस ढाँचे को, जो जमीदारी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो आज के जमाने से बहुत पीछे की चीज हो गई है, खत्म करके उसकी जगह बंबई और मद्रास प्रातों में चलनेवाली पद्धति के अनुसार पर 'रैयतवारी प्रणाली' को चालू किया जाय।

जमीदारियो और पट्टों के मालिकों को सरकार मुआवजा भी देगी जो उनकी सपत्ति की चुकता आमदनी (नेट इनकम) पर निर्धारित विधि से कूता जायगा और नकद या बौड के रूप में अदा किया जायगा। सार्वजनिक ट्रस्टों पर मुआवजा इस प्रकार से दिया जायगा कि जिस काम के लिए ट्रस्ट बनाया गया है उसका वार्षिक व्यय सदा ठीक प्रकार से चलता रहे। घरबास की भूमि और खास कब्जे की खेती और बागवानी की जमीन पर मालिकों का कब्जा रहने दिया जायगा तथा वे सरकार के रैयत बनकर उस जमीन का उपभोग कर सकेंगे।

उपर्युक्त से यह सुस्पष्ट है कि जमीदारी उन्मूलन से एक प्रकार की सामाजिक क्राति की आशा की जा सकती है। इस प्रथा के अन्त से क्या लाभ हो सकते है उसके संबध में इस प्रथा को उपस्थित करने के कारणो पर विचार कर ही जाना जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नही कि विदेशी शासन को प्रारम्भिक अवस्था में यहाँ की ग्रामीण जनता की रक्षा, आर्थिक सपन्नता अथवा उसके विकास की उतनी चिन्ता नही थी, जितनी अपने स्थायित्व एव अपने राज्य के पाये मजबूत करने की। विदेशियो की ऐसी इच्छा स्वाभाविक भी थी। अतएव एक ऐसे वर्ग की सृष्टि करना उनके हित में ही था जो पुश्त-दर-पुश्त उनका परम भक्त होकर रहता। यह भी स्पष्ट है कि उनके द्वारा सुविधा प्राप्त भारतीय एक ऐसा वर्ग अपने देशवासियों को आर्थिक परतन्त्रता में दबाकर उनकी बड़ी सेवा कर सकता था। और जमीदार अँगरेजो के हितो की रक्षा में वडे सहायक भी होते रहे थे। अत, एक गणतन्त्र राज्य में, जब जनता अपने शासन यत्र का स्वय विधायक हुई, एक ऐसे वर्ग का रहना सामतवादी युग का स्मारक-स्वरूप ही माना जाता।

दूसरी बात यह थी कि ये जमीदार दूसरे के श्रम का नाजायज फायदा उठाया करते थे। अगरेजी में absentee landlord वडे प्रचलित शब्द रहे। ये जमीन्दार स्वय तो शहरो में रहते और जमीन पर आश्रित एवं मिहनत करनेवाले के पसीने की आय का उत्तमाश ले लेते। इनके शहरो में रहने से इनकी जमीन्दारियो में बसे किसानो को अनेकानेक असुविधाएँ होतीं लेकिन ये उनकी सहायता करने में बराबर शिथिल रहते। अत जमीन्दारी प्रथा के उन्मूलन से स्पष्ट लाभ ये होने चाहिये कि कृषि-विकास के साधनो में उन्नति हो तथा रैयतो की कृषि-सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो।

दूसरी ओर जमीन्दारी प्रथा के उन्मूलन से एक सामाजिक समस्या के उठ खडे होने की भी सभावना है। निस्सदेह अनेक सपन्न तथा समृद्ध जमीन्दार जमीदारियो के चले जाने से, शहरो में, नगरो में रहकर वाणिज्य-व्यवसाय की ओर झुके है। किन्तु छोटे-छोटे जमीदारो की अवस्था दयनीय हो रही है, होगी भी। इसका कारण यह है कि उनके पास बडा व्यवसाय करने के लिये अपेक्षित धन नही। दूसरी ओर वे छोटे व्यवसाय में लगना अपनी हेठी समझ सकते है। अत एक ऐसे नवीन वर्ग की इनसे सृष्टि हो रही है जिसकी अवस्था विस्थापितो की-सी हो जायगी। साथ ही जमीदारियो के बल पर आरामतलबी

का जीवन व्यतीत करनेवाले ये जमीदार मानसिक रूप से समाज-विरोधी तत्व के रूप में विकसित कर जा सकते हैं।

साथ ही, शासन-यंत्र के निर्जीव होने के कारण रैयतों और सरकार के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी रैयतों की अवस्था में सुधार तभी सभव है जब उन आदर्शो के लिये जिनके लिए यह कानून लागू किया गया है अधिकारी सहृदयतापूर्वक और पूरी रुचि के साथ कार्यरत हों। अन्यथा उनकी अवस्था पहले की अपेक्षा अधिक दयनीय भी हो जा सकती है। क्योंकि जमीदार तो तब भी कुछ चिन्तत होते थे कि उनकी आमदनी के मूल में खेतिहर ही हैं। शासन-यन्त्र तो निरकुश हो जा सकता है और फिर भी मालगुजारी की वसूली कानून के साधनों के जोर पर की ही जा सकती है।

किन्तु, किसी भी आदर्श का फल समय पाकर ही मिलता है। इस कानून के और इसको कार्यान्वित करने के पीछे जिन महान् उद्देश्यो को रखा गया है यदि वे उपलब्ध हो सके तो इसमें संदेह नही कि भारत का आर्थिक नक्शा ही बदल जायगा।

कृषि की उन्नति के उपाय

हमारे देश की करीब तीन चौथाई से अधिक जनसख्या कृषि पर ही निर्भर है। कृषि ही हमारे आर्थिक जीवन का आधार है। भारत का जो कुछ धन है, जो प्राथमिक साधन है उनमें दो तिहाई कृषि से ही उपलब्ध होते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि अपने देश में जितने लोग लाभप्रद धन्धों में लगे हैं उनमें से ६५ फी सदी कृषि से ही सम्बद्ध है। ऐसा है भारतीय कृषि का महत्व। पर जब हम इसकी वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करते है तो महान वैषम्य ही नजर आता है। इसके महत्व और वर्तमान अवस्था में कोई सन्तुलन नही है। दूसरे शब्दों में, कृषि, जो हमारे आर्थिक जीवन का मूलाधार है, पिछडी दशा में पड़ी है।

अपने देश में उद्योग-व्यवस्था की कमी के कारण कृषि पर बहुत अधिक बोझ है। इसलिए खेतो की जोत अलाभप्रद होती जाती है। खेतिहर मजदूरो की भी सख्या तेजी से बढती जाती है। आवादी के निरन्तर बढने से खेतो के टुकड़े-टुकडे होते जाते हैं और किसान का जीवन-स्तर बहुत गिर गया है।

अग्रेजी सरकार ने भारत को पक्के माल के लिए एक मडी बना रखा था और अपन कारखानो के लिए यहाँ से कच्चा माल खरीदा करता था। उसकी औद्योगिक नीति भारत के उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देने की नही थी। इस तरह किसान निर्धन होकर महाजनो के चगुल में फँस गया। आजकल यह मिथ्या धारणा फैल गयी है कि गल्ले का भाव बढ़ जाने के कारण किसान का कर्ज चुक गया है। किन्तु जाँच से यह बात पूर्णत सिद्ध नही होती है। यह धारणा इसी हद तक सत्य है कि बडे जमीदार और बडे किसान कर्ज से मुक्त हो गये हैं। किन्तु बहुमत तो अब भी कर्ज से लदा है।

आकडों पर नजर दौडाने से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। कृषक जनसख्या का लगभग ७० फी सदी खेतिहर मजदूर है। और जो खेत जोतने वाले भी है उनमें से सिर्फ २० फी सदी किसानो के पास ही लाभप्रद जोत है, बाकी सभी की जोतें अलाभप्रद है। आवाद जमीन का २५ प्रतिशत ५ प्रतिशत लोगो के ही हाथ में है। इस प्रकार जमीन पर भारी बोझ के साथ-साथ जमीन के इस असम बँटवारे से समस्या और भी कठिन हो गयी है।

सक्षेप में, कृषि-क्षेत्र में पिछले अनेक वर्षों से कोई प्रगति नही हुई है। प्रगति होना तो दूर, दिनो दिन अवस्था बिगडती ही जा रही है। १९३८-३९ में कृषि की पैदावार का साकेतिक नवर १०० था। तो १९४७-४८ में वह नम्बर ९७ तक पहुँच गया। देश-विभाजन से स्थिति और भी विकट हो गयी है। अविभाजित भारत की ७५ फी सदी आवादी भारत में है लेकिन आवाद जमीन का लगभग ७० फी सदी रकवा ही उसके पास है।

इन सब बातो का कुल नतीजा है आज भारत को अन्न के लिए दूसरे

देशों पर निर्भर रहना पडता है। दूसरे, अपने उद्योगों के लिए रूई, जूट आदि कच्चे मालों की भी कमी रहती है। इस मामलों में भी हम दूसरे देशों पर निर्भर है जिससे उद्योगों के उत्पादन और दामों में बराबर उतार-चढाव होता रहता है। तीसरा, और जो सबसे भयानक है, वह है देश की निरन्तर बढती हुई दरिद्रता। आज खेत पर निर्भर प्रति व्यक्ति पर सिर्फ आधा एकड़ जमीन का हिसाब बैठता है। उस पर जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। परिणाम-स्वरूप हमारे रहन-सहन का स्तर रोज गिरता जा रहा है।

भारत में कृषि में सुधार की जो भी योजनायें लागू हो उनकी अच्छाई, बुराई की परख तीन कसौटियों पर ही हो सकती है। वे कसौटियाँ है–१. उत्पादन-वृद्धि २. रहन-सहन के स्तर में उन्नति ३ सामाजिक न्याय। अब हम इन्हीं आधारों पर कृषि-सुधार के प्रश्न पर विचार करेंगे।

कृषि की वर्तमान दुरवस्था के कारणों का दो वर्गीकरण किया जा सकता है। एक वर्तमान कृषि पद्धति, दूसरा सामाजिक आर्थिकव्यवस्था। जहाँ तक कृषि-पद्धति का सवाल है, वह पूर्णतः व्यक्तिवादी रही है। इसके अतिरिक्त आबादी बढती गयी, दूसरी ओर नयी जमीनों का विस्तार नही हुआ। फलतः खेती पर बोझ बढ़ता गया। पुनः औसत जोत अलाभप्रद होने के कारण एक किसान परिवार को बारहों महीने काम नही मिल पाता है। ऐसी स्थिति में खेती में अधिक पूँजी लगाकर उसे उन्नत करने का सवाल ही नही उठता है। यही है व्यक्तिवादी ग्राम अर्थव्यवस्था की असफलता।

इस व्यवस्था को बदलकर ही कृषि में उन्नति की कल्पना की जा सकती है। जहाँ एक ओर सभी अलाभप्रद जोतों को लाभ-प्रद बनाना होगा, वहाँ सहयोग समितियाँ, गाँव बैंको, ग्राम पचायतो की स्थापना कर कृषि के लिए समुचित पूँजी की व्यवस्था करनी होगी। पहली कार्रवाई करने के लिए वर्त्तमान भूमि-कानून तथा काश्तकारी कानून में आमूल सुधार करना होगा।

और यही सामाजिक, आर्थिक-व्यवस्था का प्रश्न उठ जाता है। भारत में अब तक भूमि-स्वामित्व की जो व्यवस्था रही है उसने अकेले ही कृषि की

अपने देश में उद्योग-व्यवस्था की कमी के कारण कृषि पर वहुत अधिक बोझ है। इसलिए खेतो की जोत अलाभप्रद होती जाती है। खेतिहर मज-दूरो की भी सख्या तेजी से वढती जाती है। आवादी के निरन्तर वढने से खेतों के टुकडे-टुकड़े होते जाते हैं और किसान का जीवन-स्तर वहुत गिर गया है।

अग्रेजी सरकार ने भारत को पक्के माल के लिए एक मडी वना रखा था और अपन कारखानो के लिए यहाँ से कच्चा माल खरीदा करता था। उसकी औद्योगिक नीति भारत के उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देने की नही थी। इस तरह किसान निर्धन होकर महाजनो के चगुल में फँस गया। आजकल यह मिथ्या धारणा फैल गयी है कि गल्ल का भाव वढ जाने के कारण किसान का कर्ज चुक गया है। किन्तु जाँच से यह बात पूर्णत· सिद्ध नही होती है। यह धारणा इसी हद तक सत्य है कि वडे जमीदार और वडे किसान कर्ज से मुक्त हो गये हैं। किन्तु वहुमत तो अब भी कर्ज से लदा है।

आकडों पर नजर दौडाने से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। कृषक जनसख्या का लगभग ७० फी सदी खेतिहर मजदूर है। और जो खेत जोतने वाले भी है उनमें से सिर्फ २० फी सदी किसानो के पास ही लाभप्रद जोत है, बाकी सभी की जोतें अलाभप्रद है। आवाद जमीन का २५ प्रतिशत ५ प्रतिशत लोगो के ही हाथ में हैं। इस प्रकार जमीन पर भारी बोझ के साथ-साथ जमीन के इस असम बँटवारे से समस्या और भी कठिन हो गयी है।

सक्षेप में, कृषि-क्षेत्र में पिछले अनेक वर्षों से कोई प्रगति नही हुई है। प्रगति होना तो दूर, दिनों दिन अवस्था विगड़ती ही जा रही है। १९३८–३९ में कृषि की पैदावार का साकेतिक नवर १०० था। तो १९४७–४८ में वह नम्बर ९७ तक पहुँच गया। देश-विभाजन से स्थिति और भी विकट हो गयी है। अविभाजित भारत की ७५ फी सदी आबादी भारत में है लेकिन आबाद जमीन का लगभग ७० फी सदी रकबा ही उसके पास है।

इन सब बातो का कुल नतीजा है आज भारत को अन्न के लिए दूसरे

देशों पर निर्भर रहना पडता है। दूसरे, अपने उद्योगो के लिए रूई, जूट आदि कच्चे मालों की भी कमी रहती है। इस मामलों में भी हम दूसरे देशों पर निर्भर है जिससे उद्योगों के उत्पादन और दामों में बराबर उतार-चढाव होता रहता है। तीसरा, और जो सबसे भयानक है, वह है देश की निरन्तर बढती हुई दरिद्रता। आज खेत पर निर्भर प्रति व्यक्ति पर सिर्फ आधा एकड जमीन का हिसाब बैठता है। उस पर जनसख्या बढती ही जा रही है। परिणाम-स्वरूप हमारे रहन-सहन का स्तर रोज गिरता जा रहा है।

भारत में कृषि में सुधार की जो भी योजनायें लागू हो उनकी अच्छाई, बुराई की परख तीन कसौटियो पर ही हो सकती है। वे कसौटियाँ है–१. उत्पादन-वृद्धि २ रहन-सहन के स्तर में उन्नति ३. सामाजिक न्याय। अब हम इन्ही आधारों पर कृषि-सुधार के प्रश्न पर विचार करेंगे।

कृषि की वर्तमान दुरवस्था के कारणो का दो वर्गीकरण किया जा सकता है। एक वर्तमान कृषि पद्धति, दूसरा सामाजिक आर्थिकव्यवस्था। जहाँ तक कृषि-पद्धति का सवाल है, वह पूर्णत. व्यक्तिवादी रही है। इसके अतिरिक्त आबादी बढती गयी, दूसरी ओर नयी जमीनों का विस्तार नही हुआ। फलतः खेती पर बोझ बढता गया। पुन: औसत जोत अलाभप्रद होने के कारण एक किसान परिवार की बारहो महीने काम नही मिल पाता है। ऐसी स्थिति में खेती में अधिक पूँजी लगाकर उसे उन्नत करने का सवाल ही नही उठता है। यही है व्यक्तिवादी ग्राम अर्थव्यवस्था की असफलता।

इस व्यवस्था को बदलकर ही कृषि में उन्नति की कल्पना की जा सकती है। जहाँ एक ओर सभी अलाभप्रद जोतों को लाभ-प्रद बनाना होगा, वहाँ सहयोग समितियाँ, गाँव बैंको, ग्राम पचायतो की स्थापना कर कृषि के लिए समुचित पूँजी की व्यवस्था करनी होगी। पहली कार्रवाई करने के लिए वर्त्तमान भूमि-कानून तथा काश्तकारी कानून में आमूल सुधार करना होगा।

और यही सामाजिक, आर्थिक-व्यवस्था का प्रश्न उठ जाता है। भारत में अब तक भूमि-स्वामित्व की जो व्यवस्था रही है उसने अकेले ही कृषि की

महान क्षति पहुँचाई है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद ही प्रान्तीय सरकारों ने जमीदारी के अन्त करने की ओर ध्यान दिया और अब अधिकाश प्रान्तो में इस प्रथा का अन्त हो गया है। अब जरूरत इस बात की है कि खेतिहरो और सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। और भी जितने प्रकार के बिचवैये बचे हो उनका तत्काल अन्त होना चाहिए। इसके साथ-साथ एक और कार्रवाई आवश्यक होगी। वह है जमीन जोतने-वालो को बेदखली के भय से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया जाय, जैसा कि ब्रिटेन और अमेरिका में है। तभी अधिक उत्पादन के लिए उचित प्रेरणा प्राप्त होगी। नये काश्तकारी कानून द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। इस कानून का लक्ष्य दो होगा—१ सरकार और खेतिहर के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करना और २ किसानो को बेदखली से पूर्ण मुक्ति दिलाना।

जमीदारी का अन्त कृषि की पुनर्व्यवस्था का पहला कदम है। इसके बाद भूमि का पुनर्वितरण आवश्यक होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि अलाभप्रद जोतो का अन्त किये बगैर कृषि की पैदावार और गावो की बेकारी दूर करना असभव होगा। इसीलिए भूमि का बँटवारा करना होगा जिससे सभी जोतें लाभप्रद हो जाए। भविष्य में पुनः जोतो के टुकड़े न होने पायें, उसके लिए सरकार को उत्तराधिकार कानून में आवश्यक सशोधन करना होगा।

भूमि का पुनर्वितरण न केवल लाभप्रद जोतों की दृष्टि के लिए, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को दृढ़ करने और सबसे बढकर सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक कार्य है। आज हमारी कृषि अस्तव्यस्त अवस्था में पड़ी है। खेतिहरो में अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा नही है। उनमें निराशा और उदासीनता है। ऐसे समूह से सम्बद्ध व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए आमूल सुधार करना ही एकमात्र रास्ता है। सदियो से हमारी कृषिव्यवस्था एक सी रही है। आज उसमें महान् परिवर्तन लाकर ही हम अधिक उत्पादन और सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त कर सकते है। और भूमि का पुनर्वितरण

ही वह महान् परिवर्तन है। इस कार्रवाई से गाँवों में नवजीवन का सचार होगा।

लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि पुनर्वितरण का आधार क्या होगा। हमारे विचार से इसके तीन आधार हो सकते हैं—१. लाभप्रद जोत से कम जमीन किसी को न मिले, २. जो जमीन जोते उसे ही जमीन मिले, ३. सदियों से दलित औरपीडित निम्नतम वर्ग के लोगो में यथासभव अधिक से अधिक बँटवारा हो। जमीन बाँटने के बाद जो लोग बच जायेंगे उनके लिए नई जमीनों को आबाद करना होगा। अपने देश में करोडो एकड बेकार परती जमीनें पड़ी है। उचित सरकारी सहायता के बल पर उन्हें आबाद किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान खेतों पर निर्भर अनेक लोगों को नयी जमीनें देकर कृषि का बोझ भी कम करना सभव होगा।

हमारे रहन-सहन का स्तर जो गिरता जा रहा है उसका एक प्रधान कारण है कृषि पर अत्यधिक बोझ। इस बोझ को दूर करने का एक उपाय बताया जा चुका है। दूसरा उपाय है भारत का औद्योगीकरण। कृषि से काफी सख्या में लोगो को हटाकर उद्योग-धन्धो में लगाना होगा। ये उद्योग-धन्धे सभी तरह के होंगे। बड़े-बड़े उद्योग, गृह-उद्योग, गरज यह कि सभी तरह के उद्योग खोलकर कृषि का बोझ हलका किया जा सकेगा। और बेकारी के प्रश्न का भी समाधान तभी हो जायगा। इस प्रसग में यह कह देना उचित जान पडता है कि तत्काल पूँजी के अभाव में बड़े-बडे उद्योगो का निर्माण प्रायः असभव है। अत अभी तो छोटे उद्योगों का ही जाल बिछा देना होगा।

हमारी वर्तमान कृषिव्यवस्था पूँजीविहीन है। जमीदारी का अन्त, भूमि का पुनर्वितरण, लाभप्रद जोतो का निर्माण, इन कार्यों द्वारा भूमि-क्रान्ति तो हो जायगी पर पूँजी की समस्या तो हल नही होगी। उसके लिए सहयोग समितियो तथा ग्रामीण बैंको की स्थापना करनी होगी। इन्ही सस्थाओ के जरिए अच्छे खाद्य, बीज, हल तथा कृषि के अन्य साधन उपलब्ध किए जा सकते है। ग्रामीण खरीद-बिक्री की व्यवस्था ये सस्थायें कर सकेंगी। लेकिन

ये सस्थायें कदापि सफल नही हो सकती है जवतक कि गाँव-पचायतों की भी स्थापना नही हो जाती है। नई कृषि-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए इन दोनो प्रकार कीसस्थाओ का निर्माग आवश्यक है।

अन्त में कृषि के पुनरुद्धार के लिए एक और महत्वपूर्ण समस्या का समाधान आवश्यक है। हमारी कृषि आज आसमान का गुलाम है। एक मात्र वर्षा पर निर्भरता भी कृषि को कमजोर बनाती है। अत. सिचाई का समुचित प्रबन्ध किये वगैर उक्त सारी योजनायें असफल ही साबित होगी। और सिचाई की समस्या का समाधान सरकार और गाँव की सहयोग समितियो के सहयोग से ही सभव है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार ने इस दिशा में कदम तो उठाया है पर अब भी बहुत मजिल तय करना बाकी है।

नवजीवन की और कृषि की उक्त वुनियादी समस्याओं के अलावा और भी अनेक आनुषगिक समस्यायें है। तत्काल वुनियादी समस्याओं से ही भारत प्रगति के मार्ग पर महान् कदम उठा सकेगा। उक्त समाधान से उत्पादन-वृद्धि होगी, रहन-सहन के स्तर में उन्नति होगी। सबसे बढ कर कृषि से सम्बद्ध जनसख्या में नवजीवन और नवप्रेरणा का सचार होगा। कृषि की उन्नति हम सिर्फ अन्न की उत्पादन-वृद्धि के लिए ही नही बल्कि भारतीय स्थिर जीवन को नवस्वरूप प्रदान करने, उसमें नई जान और प्रेरणा भरने के लिए चाहते है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की कृषि में उन्नति का मतलब होता है पूरे भारतीय समाज की उन्नति और नवजीवन की स्थापना। हम जनतात्रिक समाज बनाने चले है, समुन्नत, विकेन्द्रित कृषि-व्यवस्था उसकी रीढ़ होती है और ऊपर इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था का चित्र पेश किया गया है।

हमारी अन्न-समस्या

आज भारत को ही नही, दुनिया की सबसे बडी समस्या है, अन्न की समस्या। सयुक्तराष्ट्र सघ की अन्न और कृषि-सस्था ने समय-समय पर जाँच-पडताल के बाद जो रिपोर्ट तैयार की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया में कुल अनाज का उत्पादन बढती जनसख्या के अनुपात में काफी कम होता है। यह स्थिति तब है जबकि पिछडे देशों के लोगों को युरोप, अमेरिका के लोगो की अपेक्षा काफी कम खाना मिलता है। अगर दुनिया के सभी देशों के लोगो के लिए एक मानवोचित परिमाण और पौष्टिकता का हिसाब रखा जाय तो आनाज की और भी कमी लक्षित होगी। वह कमी हम आपको गहरी चिन्ता में डाल देती है। इस तरह अनाज की समस्या को विश्व की जनसख्या की पृष्ठि भूमि में देखने पर उसकी वास्तविकता और विकटता का पता मिलता है। एक वाक्य में इतना ही कहना काफी होगा कि आज दुनिया अनाज कम पैदा करती है लेकिन खानेवाले ज्यादा पैदा करती है। और दुनिया के लिए यह दीर्घकालीन समस्या बन गई है। संयुक्त राष्ट्र सघ के सेक्रेटरी जेनरल ने अपने एक बयान में चेतावनी दी है कि अगर अनाज-उत्पादन की यही रफ्तार रही तो भविष्य में भयकर अकाल और भूखमरी का दृश्य उपस्थित होगा।

दुनिया की पृष्ठिभूमि में हमने इस समस्या पर विचार किया। लेकिन जब हम विभिन्न देशों पर पृथक्-पृथक विचार करते है तो समस्या और भी विस्तृत रूप से सामने आती है। उदाहरण के लिए भारत की तुलना अमेरिका तथा अन्य देशो से कीजिये।

एक औसत अमेरिका निवासी को अपने खाने में प्रतिदिन ३२४९ कैलोरी, कनाडा निवासी को ३१०७, ब्रिटेन निवासी को ३००५, डेनमार्क निवासी को ३२१५ कैलोरी जबकि औसत भारतीय को सिर्फ २०२१ कैलोरी मिलता है। भोजन-विशेषज्ञों का कहना है कि एक व्यक्ति को कम से कम लगभग ३ हजार कैलोरी मिलना चाहिए। कैलोरी की इस कमी के अलावा अन्य पौष्टिक वस्तुएँ

भी बहुत कम उपलब्ध होती हैं। यद्यपि भारत में ही सबसे अधिक मवेशी हैं, फिर भी उनका दुग्ध-उत्पादन सिर्फ २ करोड़ २० लाख टन है। फलस्वरूप फी व्यक्ति पर अढाई छँटाक दूध का हिसाब बैठता है। लेकिन पौष्टिक तत्व-विशेषज्ञो का कहना है कि फी व्यक्ति को रोजाना कम से कम आधा सेर दूध मिलना चाहिये। इस प्रसग में पुन. अन्य देशों के अनुपात पर दृष्टि डाली जाय। आस्ट्रेलिया, कनाडा और ब्रिटेन में फी व्यक्ति को रोजाना क्रमशः २२·२, २८ ४, २०·३$\frac{१}{७}$ छटाँक दूध मिलता है।

यही हाल अन्य पौष्टिक तत्वो, अण्डा, माँस, मछली, फल, हरी सब्जी, चीनी आदि का है। स्वास्थ्यप्रद जीवन विताने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सालाना २२८ पाउन्ड सब्जी मिलनी चाहिए। लेकिन असल में फी भारतीय को सालाना सिर्फ ३० पाउन्ड मिलती है। और यद्यपि हम सबसे अधिक गन्ना पैदा करते हैं पर हमें सबसे कम चीनी या गुड प्राप्त होता है। एक ब्रिटिश निवासी को सालाना १०६ पाउन्ड चीनी मिल जाती है जबकि हमें सिर्फ ३० पाउन्ड चीनी (जिसमें गुड़ भी शामिल है) सालाना मिलती है।

ये आकडे हमारे भोजन की अवस्था सूचक हैं। लेकिन अवस्था का पूरा बोध प्राप्त करने के लिए आकडो पर भी ध्यान देना उचित होगा। जाच-पडताल के बाद यह पता चलता है कि लगभग ४० फी सदी लोगों को ही उचित और यथेष्ट भोजन मिलता है, बाकी ६० फी सदी को कैलोरी तथा पौष्टिकता की दृष्टि से बहुत कम खाना मिलता है। दुनिया के ७० देशो की सूची में भारत सिर्फ ७ देशो से आगे है।

सक्षेप में यही है हमारी खाद्य-स्थिति। ऐसी अवस्था में अति मृत्यु सख्या बाल-मृत्यु, अकाल मृत्यु तथा बीमारी में वृद्धि स्वाभाविक है। और जब जन-स्वास्थ्य की यह हालत है तो फिर अधिक कार्यशक्ति और कार्यकुशलता कहाँ से आवे। यह तो एक भयानक चक्र है। कम भोजन मिले तो काम की शक्ति नही रहती और काम की शक्ति न रहने पर अनाज की पैदावार कैसे बढे ? यही वह भयानक चक्र है।

हमारी अन्न समस्या के दो पहलू है। एक, तात्कालिक या आगामी ५ वर्षों के अन्दर सबके लिए अन्न की व्यवस्था करना, दूसरा, दीर्घकालीन योजना द्वारा अन्न-उत्पादन इतना बढा देना कि प्रत्येक भारतीय को सम्भावित भविष्य तक उचित परिमाण में भोजन प्राप्त हो सके।

यह तो स्पष्ट है कि कम अन्न उत्पादन के कारण ही अन्न की कमी है। और यह उत्पादन-ह्रास आज का नही है, लगभग २५, ३० वर्षों से यह सिलसिला चल रहा है। लेकिन जब बर्मा भारत से अलग हुआ और उसके साथ चावल का भडार हाथो से निकल गया, तो पहली बार हमने अनाज की कमी की भयंकरता महसूस की। फिर द्वितीय महायुद्ध आया, बर्मा और हिन्दचीन से अनाज आना बन्द हो गया। अब समस्या विकट रूप में उपस्थित हुई।

अबतक आयात के सहारे हम जीते रहे, अब आयात बन्द हुआ कि वह भयंकर बंगाल का अकाल पडा जिसने हमारा ध्यान अन्य समस्याओ की ओर केंद्रित किया। यह बात नही कि पहले अकाल नही पड़ते थे, १९ वी सदी में ३ करोड २० लाख लोगों की मृत्यु अकाल से हुई थी। लेकिन ये अकाल इसलिए नही पड़ते थे कि देश की कुल जरूरतों के मुकाबले अनाज की कमी थी बल्कि अस्थाई स्थानीय कारणो और यातायात की सुविधाओं के अभाव में ये अकाल पड़ते थे। लेकिन आज अकाल तो सिर्फ इसलिए पड़ते है कि देश में एक ओर अनाज कम पैदा होता है, और दूसरी ओर जनसख्या वढती जाती है। फिर देश के विभाजन ने हालत को और बिगाड़ दिया।

इस प्रकार हम देखते है कि हालत एक लम्बे अरसे से विगड़ती जा रही है। भूमि की शक्ति लगातार घटती जा रही है। फी एकड़ पैदावार घटती जा रही है, सिंचाई, बीज तथा खाद्य के अभाव में खेती समुचित रूप से हो नही पाती है। इस कारण जितना उत्पन्न हो सकता था उतना नही होता है। मौजूदा भूमि-संबंधी कानून भी मार्ग के बाधक है। खेतिहरो को आज यह गारन्टी नही है कि वे जो पैदा करेंगे उनका माकूल हिस्सा उन्ही को मिलेगा। भूमि-व्यवस्था के इस दोष के कारण उत्पादन-वृद्धि के लिए लोगो में जोश

नही। फिर अलाभप्रद जोतें वढ रही है जिनका उत्पादन पर वहुत वुरा असर पड़ता है। जंगलों की अन्धाधुन्ध वर्बादी होने के कारण वर्षा समय पर नही होती है। हमारी चिन्ताजनक अन्न-समस्या के मूल में ये कुछ प्रमुख बातें है।

योजना-कमीशन ने एक अनुमान तैयार किया है जो वताता है कि उत्पादन और हमारी जरूरत में कितना अन्तर है और जनसंख्या की वृद्धि के साथ सन् १९५६ में यह अन्तर कितना वढ जायगा। उसके अनुमान के मुताविक १९५० के स्तर पर खपत लाने के लिए सन् १९५६ में हमको करीव ७० लाख टन अतिरिक्त अनाज की जरूरत होगी। लेकिन सन् १९५० का स्तर स्वास्थ्यप्रद जीवन की दृष्टि से काफी कम है। तव अगर इस अनुपात में वृद्धि करें और फा वालिग पर प्रतिदिन १६ औंस का हिसाव रखें तो १ करोड़ ५८ लाख टन अतिरिक्त अनाज की आवश्यकता होगी।

अभी जव अकाल और भूखमरी की संभावना बनी है तब १६ औंस को स्थगित कर कम से कम १९५० के स्तर पर ही खपत की व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए अधिक से अधिक पैदावार बढानी होगी, अनाज-भण्डार कायम करना होगा और वितरण का समुचित इन्तजाम करना होगा।

जहाँ तक उत्पादन-वृद्धि का सवाल है, वह एक पृथक पहलू नही है, वह सिर्फ खेती की तरक्की से जुडी वल्कि वर्त्तमान भूमि-व्यवस्था से भी सवद्ध है। देश के अधिकांश भागो में आज भी कृषि-संवंध सामन्तयुगीन है, विचवैयो का अन्त नही हुआ है, भूमि दास प्रथा का अन्त नही हुआ है; दूसरी ओर खेतिहरों की बेदखली होती है जिससे खेत पर मेहनत करनेवालो में वह प्रेरणा नही है जो उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक है। इसलिए आज जरूरत इस वात की है कि शीघ्र से शीघ्र विचवैया का अन्त कर, सुरक्षा की व्यवस्था कर, भूमि-पुन-र्वितरण कर, कृषि-संवंध में आमूल में परिवर्तन लाया जाय। इस परिवर्तन से वह वातावरण उत्पन्न होगा जिसमें हर खेतिहर शक्ति से अधिक मेहनत कर पायेगा। हमारी अन्न-समस्या इतनी भयंकर हो चुकी है कि वगैर महान प्रयास

के उसका समाधान असंभव है और वह महान् प्रयास तो कृषि-क्रान्ति के बाद ही संभव है।

यह ठीक है कि फिर भी समस्या का पूर्ण समाधान नही हो जाता है। आज खानेवाले अधिक है, जमीन कम है। अत. जमीन का रकबा भी बढ़ाना होगा। हमारे देश में करोड़ो एकड़ परती जमीन पडी है। अगर भूमि-सेना खडी हो जाय और युद्धस्तर पर कार्य किया जाय तो अगले ५ वर्षों के अन्दर कई करोड़ नई जमीन आबाद की जा सकती है।

अब सवाल उठता है, खेती के औजार और साधनों का। कृषि-क्रान्ति के बाद जो लाजिमी तौर पर आवश्यक हो जाता है वह है गावों को खाद, बैल, बीज, हल समुचित परिमाण में उपलब्ध करना: इसके लिए व्यक्तिगत सहायता-पद्धति गलत होगी। अनुभव ने यही साबित किया है। वस्तुत गाव को इकाई मानकर चलना होगा। गांव-पचायत को अपने दूर गाव के साधन एकत्र करने होंगे, तब भी जो कमी होगी सरकार को उसे पूरा करना होगा।

पूर्व वर्णित सुझावो के अनुसार कार्य होने पर देश की तत्कालीन अन्न-समस्या हल होगी पर फिर भी वह स्थाई हल नही होगा। स्थाई हल के लिए हमें पहले देश को स्वावलम्बी बनाना होगा और यह काम कोई असंभव कार्य नही है।

स्थाई तौर पर देश को स्वावलम्बी बनाने के लिए उत्पादन को प्रतिशत आज से कई गुना बढाना होगा। वह काम मौजूदा साधनो द्वारा पूरा नही हो सकता है। उससे लिए, (१) विशाल नदी घाटी योजनाओ द्वारा जल तथा सस्ती बिजली की व्यवस्था करनी होगी, (२) सारे देश में सहकारी खेती की प्रथा चलानी होगी, (३) जनसंख्या की रफ्तार कम करनी होगी।

यही वह राह है जिसपर चलकर भारत अन्न-समस्या का स्थाई समाधान कर सकेगा, तभी प्रत्येक भारतवासी को स्वास्थ्यप्रद जीवन बिताने लायक भोजन प्राप्त हो सकेगा, तभी भूख की समस्या का हल होगा। तभी हम व्यक्ति के

व्यक्तित्व की मर्यादा स्थापित कर सकेंगे। जनतान्त्रिक जीवन विधि के लिए भूख की समस्या का समाधान प्राथमिक आवश्यकता है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उद्योग, कृषि, बैंक, बीमा अर्थात् आर्थिक ढाचे के सभी अग स्वतन्त्र रहते है। व्यक्तिगत उद्योगपति ही विभिन्न उद्योगों का आरम्भ और सचालन करते है। बैंक और बीमा कम्पनियों पर भी उनका कब्जा रहता है। उसी तरह कृषि में भी पूँजीपतियो के बडे-बडे फार्म रहते है जैसे अमेरिका में। लेकिन कृषि-क्षेत्र में सब देशो की यह हालत नही है। जैसे भारत में असख्य किसान ही खेत के मालिक हैं। लेकिन इस अन्तर के बावजूद मूल कृषि-व्यवस्था दोनो देशों की एक ही है, यानी व्यक्तिगत स्वामित्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में उद्योग, कृषि तथा आर्थिक ढांचे के सभी अग व्यक्तिगत स्वामित्व के मातहत रहते हैं। जब इन सब आर्थिक विभागों से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर राज्य के स्वामित्व की स्थापना की जाती है तो उसे राष्ट्रीयकरण कहते है। अगर सिर्फ उद्योग-धन्धो को ही राष्ट्र के स्वामित्व में कर लिया गया तो वह उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हुआ मतलब यह कि राष्ट्रीयकरण पूरी अर्थव्यवस्था या उसके किसी एक या दो या उससे भी अधिक अगो का हो सकता है। राष्ट्रीयकरण मुख्यत. स्वामित्व में परिवर्तन का द्योतक है।

इस प्रसंग में समाजीकरण के भेद को भी समझ लेना चाहिए। व्यक्तिगत स्वामित्व खत्मकर राष्ट्र के स्वामित्व की स्थापना राष्ट्रीयकरण का सूचक है। लेकिन समाजीकरण इससे भी एक कदम आगे की चीज है। पूरे समाज के स्वामित्व की स्थापना को ही समाजीकरण कहते है। स्पष्ट है कि समाज राष्ट्र से अधिक व्यापक है। इस तरह स्वामित्व की तीन प्रक्रिया हुई। व्यक्तिगत स्वामित्व, राष्ट्रीयकरण (राष्ट्र का स्वामित्व) और समाजीकरण (समाज का स्वामित्व) अंतिम दोनो के भेद समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। भारत के रेलवे-उद्योग राष्ट्रीकृत उद्योग है। अतः इसका

संचालन और व्यवस्था सरकार द्वारा होता है। इस उद्योग के मुनाफे का उपयोग सरकार अपने इच्छानुसार करती है। लेकिन समाजीकृत उद्योग में ऐसी बात नही होगी। उसका तो संचालन नियंत्रण और व्यवस्था उस उद्योग से सम्वन्धित कर्मचारी और समाज के प्रतिनिधि ही करेंगे। और इससे जो उत्पादन होगा उसका समुचित बँटवारा पूरे समाज में होगा।

दोनों में एक और अन्तर है। राष्ट्रीयकरण पूँजीवादी व्यवस्था में भी सभव है जबकि समाजीकरण सिर्फ समाजवादी व्यवस्था में हो सकता है। मिसाल के तौर पर, रूस को ले लीजिए। वहाँ की पूरी अर्थ-व्यवस्था राज्य के अधिकार में है, राज्य की ओर से चुने हुए अधिकारी उसका सचालन करते है। इसलिए वहाँ की व्यवस्था को हम राज्य-पूँजीवाद कहेंगे यद्यपि वहा उद्योग, कृषि का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो चुका है। भारत की व्यवस्था भी पूँजीवादी है। लेकिन यहाँ के रेल-उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इस तरह यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण यद्यपि स्वामित्व में परिवर्तन का सूचक है तथापि यह पूँजीवादी व्यवस्था में भी सम्भव है जबकि समाजीकरण सम्भव नही है। राट्रीयकरण विकास की ओर एक बड़ा कदम है जबकि समाजीकरण अन्तिम समाधान है।

भारत में आज बुनियादी उद्योग-धन्धो तथा बैंक और बीमा की कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है। वह इसलिए कि उद्योगो का सुयोजित विकास हो, पैदावार मुनाफे के लिए नही, जनता के उपभोग के लिए हो, राष्ट्र की दौलत का अधिकांश मुट्ठी भर लोगो तक सीमित न रहे, उसका पूरी जनता में बँटवारा हो। इन बातो के अलावा यह तर्क भी पेश किया जाता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से कभी मन्दी और बेकारी आती है, तो कभी तरक्की का समय आता है। इस तरह समय-समय पर आर्थिक सकट उत्पन्न होता रहता है जिससे वहुसख्यक जनता तबाह और वर्बाद होती है, जिससे राष्ट्र की प्रगति रुकती है जिससे देश का अध.पतन होता है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सामाजिक न्याय की भी चर्चा की जाती है। कहा जाता है कि देश की दौलत किसी एक व्यक्ति की नही है। वह उस दौलत को पैदा करनेवालों की है।

अब हम विस्तार में इन तर्कों को परीक्षा करेंगे, इस प्रसग में हम खास तौर पर भारत के उद्योग-धन्धो का ही उदाहरण लेंगे।

करीब १०० वर्ष पहले भारत में आधुनिक ढग के उद्योग-धधे शुरू हुए। यद्यपि विदेशी शासन के कारण इसके आगे कुछ रुकावटें थी पर दूसरी ओर जनता ने राष्ट्रीय उद्‌योगों को खूब प्रोत्साहन दिया। स्वदेशी आन्दोलन ने भारत में ऐसे बाजार खोल दिए कि भारत में तैयार घटिया और मँहगे माल की खूब खपत शुरू हुई। पुनः विदेशी शासको ने भी बाद को लोहा, इस्पात, चीनी, कागज आदि उद्‌योगो को काफी मदद पहुँचाई। इस तरह उद्‌योगो का विकास होता गया। फिर दूसरा विश्व युद्ध शुरू हुआ जिससे कमी की स्थिति उत्पन्न हुई। इस स्थिति म उद्‌योगपतियों ने उद्योगों का ख्याल न कर बेशुमार मुनाफा ही कमाया। युद्ध के बाद भी दुनिया भर में चीजो की कमी बनी हुई है। माँग काफी ज्यादा है। पन्रतु इन सुनहले अवसरो का उपयोग उद्‌योगपतियो ने अपने हित में, न कि समाज के हित में किया। फल यह है कि १०० वर्षों के औद्‌योगीकरण के बाद भी हम आज पिछडे हैं। आज भी उद्‌योग-धन्धो में लगे लोगों की सख्या करीब ३० लाख ही है। और इसलिए हमारी कृषि पर अतिशय बोझ है। विशेषज्ञों की राय है १०० वर्ष में उद्‌योग-पतियो ने जितने उद्‌योग-धन्धे बढाये है उतना विकास सिर्फ ३० वर्ष में हो सकता है अगर उद्‌योगो पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित हो जाए।

यह तो विकास को बात हुई। फिर उद्‌योगों के जो विकास भी हुए है या हो रहे है वे किसी योजना के अनुसार नही, जैसे आज देश में वनस्पति घी तथा इस तरह के उद्‌योगों में उद्‌योगपति पूँजी लगा रहे है जिससे तत्काल मुनाफा आए जबकि देश को आज जरूरत है बुनियादी उद्‌योगो की मशीन तैयार करने वाल उद्‌योगो को, इन्जोनियरिग उद्‌योगो की। इन उद्‌योगो में पूँजी इसलिए नही लगाई जा रही है कि इनसे मुनाफा तुरन्त नही आयगा और आयगा भी तो अपेक्षाकृत काफी कम। इसीलिए वनस्पति-उद्‌योग में वह पूँजी लगाते है। इस तरह उन्हें अधिक मुनाफा तो मिल जाता है पर हमारे देश का सुयोजित आर्थिक विकास नही होता है, धन का उपयोग आर्थिक विस्तार मे

लिए नहीं हो पाता है बल्कि उससे तत्काल अधिक धन बनाया जाता है और उसको विलास में खर्च किया जाता है। कुछ मिलाकर इससे देश की दौलत की ही बर्बादी होती है। इसका बड़ा प्रमाण भारतीय कोयला-उद्योग है। विशेषज्ञों ने जाँच-पड़ताल कर यह मत प्रकट किया है कि कोयला-उद्योग के विभिन्न मालिक इस राष्ट्रीय सम्पत्ति की हिफाजत का बिल्कुल ही ख्याल नही करते है। वे अपने मुनाफे के लिए लागत कम लगाते है। इस तरह कोयला-मालिकों के मुनाफा और लापरवाही के कारण आज देश का बहुमूल्य धन बर्बाद हो रहा है।

जहाँ तक कार्यकुशलता का सवाल है, उस दिशा में भी हमारे उद्योगों का हाल बुरा है। आज भारतीय उद्योग अकार्यकुशलता के शिकार है, न तो उत्पादन उद्योगों की उत्पादन-क्षमता के अनुसार होता है और न चीजो के गुण में तरक्की आती है। सर्वांगीन कुशलता बढाने के लिए टेकनिकल कुशलता तथा व्यवस्था की कुशलता बढानी होती है। पुनः टेकनिकल क्षेत्रों मे नई खोजो द्वारा तरक्की लानी होती है। इस तरह उद्योगों की कार्यकुशलता बढती है। लेकिन भारत में ऐसी कोई चेष्टा नही होती है। फलतः हमारे उद्योग जितने है भी उनकी कार्यकुशलता अन्य देशों के मुकाबले में बहुत कम है। यह अवस्था अगर कुछ दिन और बनी रही तो देश के उद्योगो को बहुत धक्का लगेगा, औद्योगिक विकास ही रुक जायगा। इसलिए भी भारत में राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता बढ गयी है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में और भी अनेक बातें है। चूँकि भारत के उद्योगपतियों का लक्ष्य रहता है, शीघ्र-से-शीघ्र अधिक मुनाफा पैदा करना, अत. वे तमाम समुदाय के हितों का ख्याल नही करते है। आज अधिकांश जो ज्वायट स्टाक कम्पनी है उनमें छोटे-छोटे शेयर-होल्डरों के शेयर लगे हुए है। लेकिन इनका जो मुट्ठीभर लोग सचालन करते है वे शेयर-होल्डरो के साथ ईमानदारी नही बरतते है। आम तौर पर शेयर-होल्डर अनजान होते है, अतः उन्हें चकमा देना आसान होता है। मैनेजिंग एजेन्ट के रूप में जो चन्द

उद्योगपति कारखाने को चलाते है वे मुख्यत. अपने मुनाफे से, कारखाने की तरक्की से नही, दिलचस्पी रखते है। पुन., मैनेजिग एजेन्सी के अधिकार बेचे और खरीदे जाते है। इससे शेयर होल्डर और तमाम समुदाय के ही हित पर धक्का लगता है। इन बातों का बुरा प्रभाव यह भी पडता है कि आज अब लोग उद्योगो में शेयर-लगाना नही चाहते है और इस तरह बचत और पूँजी-सग्रह घटता जा रहा है। फिर उद्योगो का विकास कहाँ से हो ?

अन्त में पूरे जनसमुदाय को भी कम त्याग करना नही पडता है। जिस समुदाय ने भारतीय उद्योगपतियो का स्वदेशी आन्दोलन द्वारा समर्थन किया उसके साथ भी ये न्याय नही करते है। समुदाय के एक साधारण व्यक्ति के लिए दो बातें प्रमुख है, सस्ते दाम और अच्छा माल। लेकिन हालत आज बिलकुल उल्टी है। दाम भी ज्यादे है और चीजें भी घटिया मिलती है। कृत्रिम कमी की स्थिति पैदा कर बहुत अधिक मूल्य कर देने, चोरबाजारी का सिलसिला जारी रखने, आदि से जनसमुदाय का शोषण होता है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयकरण के पक्ष में जो तर्क पेश किये जाते है वे तर्कसम्मत यथार्थ हैं। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में एक और जबर्दस्त तर्क है।

अपने देश में वास्तविक अर्थ में उद्योगपति एकाध ही हैं, अधिकाश धन-पति हैं। चूँकि देश गरीब है अतः औद्योगिक विकास के लिए पूँजी की कमी है। ऐसी हालत में जिन मुट्ठी भर लोगो के पास पूँजी सग्रहीत है वे ही देश की अर्थनीति को जैसा चाहे चलाते है। पिछले कुछ वर्षो से, खास तौर पर दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से, पूँजी का केन्द्रीकरण हो रहा है, मुनाफा चन्द एकाधिकारी मालिक तक ही सीमित रह जाते है। इस तरह लोहा, सीमेंट, बिजली, कपडा-उद्योग तथा बैंक, बीमा आदि पर जिन गुटों का कब्जा है वे आज बहुत शक्तिशाली हो गये है। वे ही आज हमारे असली शासक है। वे देश के आर्थिक विकास के नियामक हो गये है, वे सरकार को निर्देश दे सकते है। पूरी अर्थ-व्यवस्था पर कुछ एकाधिकारी पूँजीपतियो का नियत्रण छोटे उद्योगपति, कर्मचारियों, उपभोक्ताओं और अन्त में पूरे जन-

समुदाय के लिए खतरे की बात है। यह जो पूँजीपतियों का शक्तिशाली गुट बन गया है वह जनतन्त्र के लिए भी खतरा है। आर्थिक शक्ति के इतने केन्द्रीकरण से जनतन्त्र को सबसे पहले क्षति पहुँचती है।

इस प्रकार हम देखते है कि देश के समुचित आर्थिक विकास, सुयोजित राष्ट्रीय विकास, उत्पादन-वृद्धि, समुचित वितरण, कार्यकुशलता और टेकनिकल प्रगति, कर्मचारियों तथा जनसमुदाय के हित और अन्त में जनतत्र की रक्षा गरज यह कि सभी दृष्टियो से राष्ट्रीयकरण उचित और आवश्यक प्रमाणित होता है।

आरम्भ में बुनियादी और प्रमुख उद्योगों, बैंक और बीमा कम्पनियों तथा उपभोक्ता की बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्त्ति करनेवाले उद्योंगों जैसे कपडे आदि का राष्ट्रीयकरण होगा। राष्ट्रीयकरण के बाद उद्योगों का विकास एक योजना के अनुसार होगा। सामाजिक कल्याण के आधार पर तय होगा कि किस उद्योग का पहले विकास किया जाय। जो कुछ भी मुनाफे आयेंगे उनको पुनः आर्थिक योजना के अनुसार उद्योग में ही लगा दिया जायगा। कार्य-कुशलता बढाने के लिए टेकनिकल प्रगति करनी होगी। और उद्योगों का सभालना नौकरशाही द्वारा नही होगा। बल्कि वह सरकार तथा कर्मचारियों की मिली-जुली समिति द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि औद्योगिक जनतत्र ही प्रबन्ध का मूलाधार होगा। इस ढाचे में स्वभावतः कर्मचारियों के साथ पूर्ण न्याय होगा। जहाँ तक वितरण का प्रश्न है, वह समानता के आधार पर होगा। जितनी पैदावार होगी उसे बराबर के आधार पर बाटा जायेगा।

सक्षेप में, राष्ट्रीयकरण के बाद यही तस्वीर सभव प्रतीत होती है। इतना हो जाने पर मुट्ठी भर लोगों का जनमत के साधनों पर नियत्रण और राजनीतिक दलो पर असर नही रहेगा, दूसरे शब्दो में जनतत्र को कोई खतरा नहीं रहेगा।

लेकिन राष्ट्रीयकरण के मार्ग में कुछ अनिवार्य कठिनाइयाँ भी उपस्थित होती है, जैसे मुआवजा का सवाल, अनुभवी कर्मचारियो का सवाल, केन्द्रीकरण

का सवाल, नौकरशाही का सवाल, इनमें जहाँ तक मुआवजा और अनुभवी कर्मचारियों का सवाल है, वे आसानी से हल हो सकते हैं। मुआवजा बौंड के रूप में दिया जा सकता है। दूसरे, पूँजी टैक्स लागू करने से धनपतियों से रुपये सरकार को मिलेंगे। इस प्रकार उद्योगों में लगी उद्योगपतियों की पूँजी सामाजिक स्वामित्व के खाते में दर्ज हो जायगी। तब मुआवजे की जो थोडी रकम बच जायगी उसके लिए बौंड जारी किया जा सकता है। जहाँ तक अनुभवी कर्मचारियों का मामला है वह तो और भी आसानी से हल हो सकता है। आज पूँजीपतियों के जो कर्मचारी है, कल सरकार के हो जायेंगे। वे ही मैनेजर और टेकनिशियन रहेंगे, सिर्फ स्वामित्व और व्यवस्था बदल जायगी। इसी प्रकार औद्योगिक जनतंत्र की स्थापना कर नौकरशाही और केन्द्रीकरण का खतरा भी दूर किया जा सकता है। मतलब यह कि चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाय, राष्ट्रीयकरण न केवल उचित कदम, बल्कि संभव कदम प्रतीत होता है।

स्वतंत्र भारत के उद्योग-धंधे

औद्योगिक क्षेत्र में समुन्नत पश्चिम के देश आज भी कुछ ऐसा ही समझते हैं कि भारत अभी बैलगाड़ी के युग से ही गुजर रहा है। हमें यह कहकर अवश्य संतोष कर लेना चाहिए कि आज जैसी भी स्थिति हो, किन्तु एक समय था जब पश्चिम के ये ही देश वर्बरावस्था में थे और हमारे यहाँ बडे-बडे दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के अतिरिक्त ऐसी भौतिक प्रगति भी हुई थी जिसकी समता तत्कालीन सभ्यता के केंद्र नहीं कर सकते थे। हाँ, हम इन देशों से यह अवश्य पूछ सकते हैं कि हमारे औद्योगिक ह्रास और अवनति के लिए उत्तरदायी कौन है? सत्य तो यही है कि हमारे औद्योगिक विकास में ब्रिटेन का शासन-यंत्र ही रहा है, अन्यथा न तो यहाँ कच्चे माल की कमी है, न शिल्पियों की और न व्यावसायिक बुद्धि रखनेवाले औद्योगिकों की ही।

द्वितीय महायुद्ध तक तो विदेशी शासन पग-पग पर भारत के औद्योगिक

विकास में बाधा देता रहा, किन्तु इस युद्ध की अवधि में ब्रिटेन के स्वार्थों के लिए ही यह अनिवार्य हो गया कि भारत में बड़े-बड़े उद्योग-धधों को प्रोत्साहन दिया जाए। रहस्य यह था कि जापान को पराजित करने के लिए भारत को ही सामारिक अड्डा बनाया गया था और यहीं से पूर्वीय और मध्य-पूर्वीय युद्ध-क्षेत्रो में सामरिक सामग्रियो को पहुँचाया जा सकता था। फलतः ब्रिटेन को ही अनेक उद्योग-धंधों की स्थापना भारत में करनी पड़ी।

द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्षों के बाद ही जब भारत स्वतत्र राष्ट्र बन गया, तो आर्थिक पुनर्निर्माण के पथ की समस्त बाधाएँ हट गईं और देश के अविलंब औद्योगीकरण की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। औद्योगीकरण केवल आत्म-निर्भरता के लिए ही आवश्यक नही था, बल्कि इसलिए भी कि राष्ट्रीय सपत्ति में वृद्धि की जा सके और इस प्रकार जनसाधारण के जीवन-स्तर को उठाया और बेरोजगारी की समस्या को दूर किया जा सके। जन-सख्या का जो भार कृषि पर दिनानुदिन बढता जा रहा था उसे भी, अधिकाधिक लोगो को उद्योग-धधो की ओर मोड़कर, कम करना जरूरी था।

इन्ही कारणों से प्रेरित होकर भारत सरकार न देश के औद्योगिक विकास के उपायो और साधनो की छान बीन शुरू की। तात्कालिक प्रयास के रूप में उसने कुछ उद्योगो की सपूर्ण सभावित शक्ति का अनुमान कर अधिकाधिक उत्पादन के लिए निर्देश जारी किए। इसके उपरान्त अप्रैल १९८८, में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की और सरकारी तथा गैर-सरकारी उद्योग-धधो के क्षेत्रो का निर्धारण किया।

इस नीति के अनुसार कुछ उद्योग-धधे उदाहरणार्थ शस्त्रास्त्रो का निर्माण आणविक शक्ति का उत्पादन और नियत्रण और रेलवे, केंद्रीय सरकार के एकाधिकार में रहेंगे। कुछ उद्योग-धधे, जैसे कोयला, लोहा, इस्पात, वायुयान, जहाज, टेलीफोन, टेलीग्राफ और रेडियो के सामान और खनिज तेल, ऐसे रखे गए जिनके विकास का दायित्व तो सरकार का था किन्तु आवश्यकतानुसार गैरसरकारी सहयोग भी लिया जा सकता था। कुछ सरकारी नियमो

और नियन्त्रणो के साथ अन्य उद्योग-धधे गैरसरकारी प्रयास के लिए छोड़ दिए गए, जैसे वस्त्र, पाट, चीनी, चाय, सिमेंट और चमड़े के उद्योग।

इसके बाद आई भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना, जिनमें औद्योगिक विकास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें १७३ करोड रुपए सरकारी और २३३ करोड रुपए गैर सरकारी उद्योग-धधो का खर्च करने की व्यवस्था है। अधिकतर रकम आधारभूत (Basic capital goods), उद्योग पर लगाने की योजना है। जहाँ तक उपभोक्ता-सामग्रियो (Consumer goods) का उद्योगो का प्रश्न है, लक्ष्य यह है कि वर्त्तमान क्षमता के ही अधिकाधिक उपयोग द्वारा, न कि नए कल-कारखानो से, उत्पादन में वृद्धि की जाय। इन विकास योजनाओ के लिए पारस्परिक लाभ की शर्त्तों और सुविधाओ के साथ विदेशी पूँजी भी ली जा सकती है।

यह तो बडे-बडे उद्योग-धधो के सबध में कार्य-क्रम है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि छोटे और घरेलू उद्योग-धधों की प्रथम पचवर्षीय योजना में उपेक्षा की गई है। वस्तुत ऐसे उद्योगों के लिए एक खासी रकम, २७ करोड़ रुपए, निर्धारित है। इनके और बड़े-बडे उद्योग-धधो के क्षेत्रो के बीच एक स्पष्ट विभाजक-रेखा अकित की गई है जिससे इनके बीच अहितकर प्रतियोगिता शुरू न हो जाए।

भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना में, जो १-४-१९५६ में लागू होने वाली है दो मुख्य लक्ष्य है—(१) राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष पाँच प्रतिशत की वृद्धि, और (२) एक करोड़ से भी अधिक लोगो के लिए जीविकोपार्जन के निमित्त नए कार्यों की व्यवस्था करना।

यह सतोष का विषय है कि प्रथम पचवर्षीय योजना के कार्यान्वियन की चार वर्षों की अल्प अवधि में ही उत्पादक (Producer) और उपभोक्ता (Consumer) सामग्रियो के क्षेत्रो में निश्चित लक्ष्यो की पूर्त्ति के लिए सफल प्रयास हुए है। कुछ क्षेत्रो में तो निर्धारित लक्ष्य से अधिक उत्पादन भी हुआ है। आधारभूत सामग्रियो के उद्योगों, उदाहरणार्थ लोहा

और इस्पात, ऐलम्यूनियम, रेल-इजिन, बिजली के बड़े-बड़े यन्त्र आदि के विकास योजना को भी कार्यान्वित किया जा रहा है।

भारत में जो उद्योग-धधे स्थापित हुए है या हो रहे है उनमें कुछ के लिए विदेशी पूँजी भी स्वीकृत हुई है। ऐसे उद्योगों में उड़ीसा के रूरकेला और मध्यप्रदेश के भिलाई नामक स्थानों में आयोजित लोहा और इस्पात के कारखाने महत्त्वपूर्ण है। लोहा और इस्पात का तीसरा कारखाना पश्चिम वगाल में दुर्गापुर में स्थापित होगा। बम्बई में पेट्रोल साफ करने के कारखाने खोले गए है। सरकारी उद्योग के क्षेत्रों में भी काफी प्रगति हुई है, उदाहरणार्थ चित्तरजन के रेल-इजिन कारखाने, सिदरी के खाद के कारखाने, भारतीय टेलिफोन उद्योग, मद्रास के रेल के डब्बों के कारखाने और विशाखापटनम के जहाज-निर्माण-केन्द्र का उल्लेख किया जा सकता है। पेनिसिलीन और डी० डी० टी० के कारखाने भी इस वर्ष से काम करने लगे है। कुटीर उद्योगों की प्रगति भी सतोषजनक है।

यह सक्षेप विवरण इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि भारत सरकार औद्योगीकरण के क्षेत्र में पूर्णतः सचेष्ट है। यदि पूँजी के अभाव में योजना के कार्यान्वियन में बाधा नही पहुची तो निकट भविष्य में भारत में औद्योगिक युगातर उपस्थित हो जायगा। इसके फलस्वरूप भारत की कोटि-कोटि जनता की आर्थिक अवस्था और जीवन-स्तर में तो वृद्धि होगी ही, वह औद्योगिक उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्म निर्भर भी बन सकेगा।

गृह-उद्योग

भारत जैसे कृषि-प्रधान और पिछड़े देश के लिये गृह-उद्योग का विशेष महत्व है। वैसे, वर्त्तमान सभ्यता आज जहाँ पहुँच गयी है उसके प्रसग में गृह-उद्योग और छोटे पैमाने पर चलनेवाले उद्योगो पर पुनर्विचार आरभ हो गया है। भारी उद्योगों पर आधारित समाज जहाँ टेकनिक की दृष्टि से काफी

विकसित होता है, वहाँ उसमें कुछ ऐसे आधारभूत दोष आ जाते हैं कि सभी विकास निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत रूस आदि देशो में भारी उद्योगों का बहुत विकास हो चुका है। बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इन देशो का आर्थिक केन्द्र-विन्दु है, बडे पैमाने पर चलनेवाले उद्योग-धन्धे। इन देशों के समाज को हम औद्योगिक समाज कह सकते है। खास तौर पर अमेरिका और रूस में इस प्रकार के समाज के गुण-दोष स्पष्ट दीख पडते है। ब्रिटेन की व्यवस्था जरा भिन्न है। रूस और अमेरिका में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। रूस में तो केन्द्रीकरण का चरम विकास हो गया। रूस की अर्थ-व्यवस्था भारी उद्योगो पर आधारित है। ऐसी व्यवस्था की स्वाभाविक परिणति केन्द्रीकरण में होती है। पहले आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण होता है और चूँकि आर्थिक शक्ति केन्द्रित करने के लिये सख्त राज्य-मशीनरी की आवश्यकता है, अत कालक्रम में राजनीतिक केन्द्रीकरण और इस प्रकार अन्त में पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाता है। सारा समाज नियन्त्रित हो जाता है, है। रूस में यही। अमेरिका में यद्यपि-स्वत्रता अभी हुई है पर अगर भारी उद्योगो के आधार पर ही औद्योगीकरण होता रहा तो वहाँ भी कालक्रम में पूर्ण केन्द्रीकरण होकर रहेगा क्योकि इस प्रकार की व्यवस्था का वही तर्क-सिद्ध परिणाम है। जहाँतक ब्रिटेन की बात है, वहाँ उद्योगो में केन्द्रीकरण कम करने कि चेष्टा की जा रही है और इस प्रकार औद्योगिक जनतंत्र की पूर्ण स्थापना की चेष्टा की जा रही है। इस दिशा में उन्हें कुछ सफलता भी मिली है पर अन्तिम सफलता तभी मिलेगी जब वहाँ भी उद्योगो का स्वरूप वदला जायगा। वर्त्तमान उद्योग-प्रणाली का केन्द्रीकरण से बचाव सभव नही है।

केन्द्रीकरण के इस खतरे को महसूस कर ही दुनिया का ध्यान आज छोटे और गृह-उद्योग-धधो की ओर गया।

भारत में तो इस पर एक और कारण से विशेष ध्यान गया है। हमारा देश कृषि प्रधान है, हमारी आवादी बेशुमार है। आवादी के बोझ से दबे

इस गरीब देश की बेकारी की भीषण समस्या का समाधान करना है। आर्थिक दृष्टि से देश काफी उन्नत नही है। तत्काल अनेक उद्योग-धन्धे खोलकर काफी लोगो को काम देना सभव नही मालूम होता है। ऐसी दशा में बढती हुई बेकारी क्या इलाज है ?

जब हम इस प्रश्न पर विचार करते है तो स्वभावतया हमारा ध्यान गृह-उद्योगों की ओर जाता है। हम गृह-उद्योगो को बेकारी के समाधान का एक बहुत ही लाभकारी तरीका मानते है।

अब इस स्थल पर गृह-उद्योग की परिभाषा देना उचित जान पडता है। इस उद्योग की सबसे पहली विशेषता होती है, कम पूजी। दूसरी विशेषता है इसका छोटापन; तीसरी, छोटी मशीनो द्वारा उत्पादन; चौथा, आदमी के पहले मशीनों से काम नही कराकर मानव श्रम का अधिक से अधिक उपयोग और पाचवी, केन्द्रीकरण का अभाव। इस प्रसंग से यह याद रखना चाहिये कि ग्राम-उद्योग के दायरे में ही गृह-उद्योग-धन्धे आते है। वस्तुत ये दोनो नाम भिन्न अर्थ के द्योतक नही है। गृह-उद्योग तो ग्राम-उद्योग के ही अन्तर्गत पड़ता है।

जब हम भारी उद्योगों पर आधारित व्यवस्था के दोषों की चर्चा करते है तो उससे यह भ्रम नही होना चाहिये कि हम भारी उद्योग बिल्कुल ही नही चाहते है। हमारे कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि हमारी जो भी आर्थिक योजना बने वह सिर्फ भारी उद्योग के विकास पर जोर न दे। हमारे विचारानुसार कुछ उद्योगों को तो बडे पैमाने पर चलना ही पडेगा। लेकिन तब भी हम गृह-उद्योग-धन्धों का विकास कर सकते है। हमारी उद्योग पर आधारित समाज-व्यवस्था के दोषो से बचने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगीकरण की योजना में गृह-उद्योग का भी महत्वपूर्ण स्थान हो। तभी कोई सुसभव योजना तैयार होगी।

भारत में बेकारी इतनी अधिक है और रोज बढती जा रही है कि सारे देश में गृह-उद्योगो का जाल बिछाये बिना इसका समाधान असभव है। २१ साल पहले यह हालत थी कि कम से कम दो करोड आदमी बिल्कुल बेकार थे और

अधूरे काम में लगे हुए व्यक्तियो की तादाद भी लाखो में थी। (१९३१ की मर्दुमशुमारी) खेती को वैज्ञानिक रूप देने के बाद, बचे हुए लोगों को काम में लगाने के दूसरे उपाय तलाश करने होगें। इसके अलावा शहरी क्षेत्रों के मध्यमश्रेणी के बहुसख्यक लोगो को और आबादी के बढने के कारण जो नये मजदूर तैयार होते है, उन्हें काम-धन्धा देने का सवाल भी है।

हर साल जिन लोगो के लिये हमको काम-धन्धा की तलाश करनी है, उनमें से बहुत कम को बडे उद्योगों में खपाया जा सकता है। बडे उद्योगो में इस समय करीब ३० लाख व्यक्ति लगे हुए है और मोटे तौर पर देश की आबादी में हर साल इतनी ही वृद्धि हो जाती है।

राष्ट्रपिता गाधी जी ने इन शब्दो में इस सिद्धात को पेश किया है—'बडे कारखानो में पैदावार करने के बजाय आम जनता के हाथो पैदावार होने दो। बड़े उद्योगो की तुलना में छोटे एवं घरेलू उद्योगो में रोजगार देने की ज्यादा ताकत है।'

दियासलाई-उद्योग का यह हाल है कि वेस्टर्न इन्डिया मैच कम्पनी दियासलाई के २ करोड ग्राम बाक्स तैयार करने में ४००० मजदूरो को काम देती है, जबकि सतूर और शिव काशी के घरेलू उत्पादक ५० लाख ग्रास पैदा करने में १६००० आदमियो को काम देते हैं।

इस बारे में आँकडे सुलभ नही है कि घरेलू और छोटे उद्योगो में कितने लोगो को काम-धधा मिला हुआ है। हाँ, हाथ-कर्घा-उद्योग में, यह अनुमान किया जाता है कि, २० लाख आदमियों को काम मिला हुआ है।

लोगो को काम देने के अलावा, घरेलू और छोटे उद्योग राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में भी काफी बडा हिस्सा लेते है। हमारी आबादी का बहुत बडा हिस्सा अपनी जरूरतो के लिये आज भी उन्ही पर निर्भर है। कपडा मिलों का उद्योग देश का सबसे अधिक उन्नत उद्योग है। फिर भी कपडे का घरेलू उद्योग देहाती जनता की जरूरत को एक बडी हद तक पूरा करता है। उपलब्ध आकड़ों के मुताबिक घरेलू श्रमिक कपड़े की २५ फी सदी जरूरत को पूरा

करता है, और उस हालत में जबकि उसे पिछले डेढ सौ वर्षों में तेज और कभी-कभी अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडा है। जब हम जनता की रोज जरूरत की दूसरी चीजों का विचार करते है तो घरेलू-उद्योग की स्थिति और भी मजबूत मालूम होती है। यह अनुमान किया जाता है कि धान का करीब तीन चौथाई भाग घरेलू उद्योगों की मारफत कूटा जाता है। खाने के काम में आनेवाले तेल का दो तिहाई हिस्सा अब भी घानी या कोल्हू के जरिये पेरा जाता है। गुड का उद्योग बहुत पुराना है, जिससे मुख्यत मीठे की आवश्यकता पूरी होती है। यह पूर्णतया घरेलू उद्योग है। देहातों में जनता के जूते, बैलों की जोत आदि की जरूरत अभी भी करीब-करीब घरेलू उद्योगों से ही पूरी होती है।

अगर घरेलू उद्योगों की पैदावार और उनमें लगे हुए लोगो के बारे में ठीक-ठीक आँकड़े रखे जा सकें तो यह मालूम करना आसान होगा कि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में उनका क्या स्थान है। राष्ट्रीय आय-कमेटी की रिपोर्ट में यह बताया गया है कि देश की आय में बड़े उद्योगों के मुकाबले, जो आम तौर पर सयुक्त उद्योग होते है, छोटे उद्योगों का योग, जो अधिकतर घरेलू है, करीब-करीब पाच गुना होगा।

विभिन्न राज्यों में घरेलू उद्योगों के विकास का स्तर एक सरीखा नही है और न उनकी उन्नति की ओर ही समान ध्यान दिया गया है। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि बी श्रेणी के राज्यों के मुकाबले ए श्रेणी के राज्यो में उनकी अधिक उन्नति हुई है। लेकिन सभी राज्यों में घरेलू और छोटे उद्योगों की उन्नति की ओर ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। ए श्रेणी के राज्यों में उत्तर प्रदेश और बम्बई और बी श्रेणी के राज्यों में मैसूर ने अन्य राज्यों के मुकाबले ज्यादा तरक्की की है।

मैसूर ने १६ घरेलू उद्योगो के शिक्षण और उत्पादन-केन्द्र कायम करने की तीनसाला योजना पर अमल किया है। घरेलू उद्योगो को प्रोत्साहन देने की मैसूर की योजना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषतायें ये है। घरेलू उद्योगों में लगे हुए कारीगरो को सहायता देने की योजना चालू की गयी है। एक

मजबूत विभाग सगठित किया गया है जिसके साथ नौ उद्योग-विशेषज्ञ नियुक्त किये गये हैं। सन् १९४९ के अन्त में श्री एम० विश्वेश्वरैया की देहात-औद्योगीकरण-योजना पर खुद उन्हीं की सक्रिय मदद से अमल शुरू किया गया है। श्री विश्वेश्वरैया की योजना के दो मकसद है—१. उत्पादन बढाना, २. लोगो में स्वावलम्बन, सामूहिक प्रयत्न और अनुशासन की भावना जगाना। इस योजना के अनुसार १५ हजार की आबादी के गावो का एक समूह बना दिया जाता है और हर समूह के लिए निर्वाचित सदस्यों की विकास-कमेटियाँ नियुक्त की जाती हैं। इस ग्राम-समूह की औद्योगिक उन्नति की जिम्मेदारी इन कमेटियों को सौंप दी जाती है। ये कमेटियाँ आय-सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठा करेंगी, पैदावार बढाने का कार्यक्रम बनायेंगी, विकास करने के लिए उद्योगों का चुनाव करेंगी और अपना खर्च चलाने के लिए चन्दा इकट्ठा करेंगी। शुरू के दिनो में कमेटियों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जायेगी। यह योजना बंगलोर और कोलार इन दो जिलों में शुरू की गयी है।

बिहार ने सूती और रेशमी कपडा-उद्योग में काफी प्रगति की है। उसके तैयार माल की बिक्री के लिए गुलजारबाग में बिहार घरेलू-उद्योग नाम की बढ़िया सस्था है। गुलजारबाग में कारीगरो को शिक्षा देने की सस्था अलग है। हाल ही में पुनर्गठन की एक व्यापक योजना बनाई गई है, जिसके अनुसार माल को बेचने और कारीगरो को शिक्षा देने के काम को फिर से सगठित और मजबूत किया जायगा और चलते-फिरते शिक्षण और प्रदर्शन वर्ग शुरू किये जायेंगे और विभिन्न उद्योगो के बारे में खोज की जायेगी। इसमें कोई शक नहीं है कि देश में बेकारो की बहुत बडी तादाद को देखते हुए उत्पादन में ज्यादा लोगों को खपाने के तरीकों को तरजीह दी जानी चाहिए। अनेक घरेलू उद्योगो में उत्पादन का तरीका अपव्ययकारी है। हमको ज्यादा अच्छे तरीको की खोज करनी होगी। जहाँ कही मुमकिन हो, कारीगरो को उत्पादन, बिक्री और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए सहकारी समितियो में सगठित किया जाना चाहिए। घरेलू उद्योगो, छोटे पैमाने के उद्योगो और बड़े पैमाने के उद्योगो में सामजस्य स्थापित करना चाहिये।

१९४९ में नई दिल्ली में केन्द्रीय गृह-उद्योग भंडार खोला गया। इसमें घरेलू उद्योगों द्वारा तैयार किया गया विविध किस्म का माल रखा जाता है जो राज्य सरकारों के बिक्री-भंडारों, घरेलू-उद्योगों की सहकारी और अन्य संस्थाओं और व्यक्तिगत उत्पादकों से प्राप्त किया गया है। वह अपने भवन में विशेष प्रदर्शनों का आयोजन करता है, हमारे विदेशी दूतावासों आदि को घरेलू उद्योगों के माल के नमूने भेजता है, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेता है।

यह महसूस किया गया है कि घरेलू उद्योगो की उन्नति के लिये उपयुक्त ट्रेनिंग पाये हुए शिक्षकों की जरूरत है। अतः घरेलू उद्योग-बोर्ड ने सिफारिश की है कि भारत सरकार ऐसे शिक्षक तैयार करने के लिये एक केंद्रीय शिक्षण और शोध-संस्था स्थापित करें। ये शिक्षण-शोध-संस्थाएँ कच्चे माल के उपयोग के बारे में शोध करें, औजार, छोटी मशीनों और श्रम बचानेवाली युक्तियो का आविष्कार करें, तथा अन्य देशो में काम आनेवाली मशीनों और औजारो का प्रयोग करें, ताकि यह मालूम हो सके कि हमारे देश में उनको किस तरह काम में लिया जा सकता है। एक कमेटी और उसकी नौ टेकनिकल कमेटियों ने इस संस्था की योजना बनाने की दिशा में शुरू की काफी कार्रवाई कर ली है।

छोटे पैमाने के उद्योग ज्यादातर शहरी क्षेत्रों में है और मध्यम श्रेणी के लोगो को रोजगार देते है। इन उद्योगों में कपड़े की मशीनो के पुर्जे, साइकिलो के पुर्जे, बटन, पेंसिल, फाउन्टनपेन की स्याही आदि बनाने के उद्योग शामिल है। कमीशन ने सिफारिश की है कि छोटे उद्योगों को बड़े उद्योगो की प्रतिस्पर्धा से बचाया जाय। उसकी सिफारिश है कि छोटे उद्योगो के लिए मात्रा निश्चित कर दी जाय और उत्पादन का क्षेत्र सुरक्षित कर दिया जाय और अमुक माल पैदा करने के लिए नये बड़े उद्योग कायम किये जाने पर रोक लगा दी जाय। कमीशन का सुझाव है कि जब कभी कोई बड़ा उद्योग शुरू किया जा रहा हो, सम्बन्धित राज्य को फौरन उस उद्योग के जन्मदाताओ के परामर्श

से इस बात की जांच करनी चाहिए कि कौन-सा खास काम छोटी इकाइयों के सुपूर्द किया जा सकता है। उद्योग और व्यापार-मन्त्रालय की विकास-शाखा को इस काम के लिए व्यावहारिक योजना बनाने में मदद देनी चाहिए। इस बात की भी जांच-पड़ताल जरूरी है कि उत्पादन को हानि पहुँचाये बिना मौजूदा उद्योगो की क्रियाओ को किस रूप में विकेन्द्रित किया जा सकता है। किन्तु यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि छोटे उद्योगो को जहाँ कही सभव हो बड़े पैमाने के उत्पादन के साथ इस तरह जोडा जाय कि उनका बड़े उद्योगो के साथ विकास हो सके और कुछ उत्पादन में वृद्धि हो। बड़े और छोटे उद्योगो की उत्पादन-योजना एक दूसरे से सलग्न होनी चाहिए जिसमें घरेलू उद्योग छोटे उद्योग और बड़े उद्योग सब उत्पादन बढ़ाने और देश की अर्थ-व्यवस्था में विविधता लाने में सहायक हो।

लोकतान्त्रिक पद्धति में, राज्य समाज के तमाम वास्तविक साधनो का, प्रत्यक्ष रूप से अथवा मुनाफे से प्रेरित निजी उद्यम के जरिये, उपयोग नही कर सकता। लोगो के बेकार समय, कौशल और दूसरे अतिरिक्त साधनो और देश के बेकार पड़े भौतिक साधनो को काम में लाने का व्यापक क्षेत्र बच रहता है। उनका स्वेच्छापूर्ण आधार पर उपयोग किया जा सकता है। तभी समाज और उसके निर्बल अंगो के लिए वे आर्थिक और सामाजिक सुविधायें प्राप्त की जा सकती है जिनका प्राप्त करना अन्यथा सभव नही हो सकता। घरेलू उद्योगों की उन्नति के लिए देहाती क्षेत्रो में शिक्षण और संगठन के लिए आदमियो का प्रबन्ध करके स्वेच्छापूर्ण सेवा प्राप्त की जा सकती है। इस आधार पर विभिन्न जगहो में स्वेच्छापूर्ण काम हो रहा है। कुछ जगह इस प्रकार का काम राज्य के तत्वावधान में हो रहा है। उत्तर प्रदेश में इटावा की प्रयोगात्मक योजना, बम्बई की सर्वोदय-योजना और मद्रास की फिरका विकास-योजना उसके कुछ उदाहरण हैं। योजना-कमीशन ने भारत-सेवा-सघ नामक एक नया सगठन कायम करने का सुझाव दिया है, जो आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए लोगों के स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नो को सगठित करेगा। इस सगठन को घरेलू और छोटे उद्योगों के क्षेत्र में उपयोगी काम करने का काफी अवसर मिलेगा।

पिछड़ी जातियां

भारत में पिछड़ी हुई जातियों के सुधार की समस्या नयी नही है। हमारे परिगणित जाति के लोगों और जगली जातिवालों की जो बुरी हालत चली आ रही है, उसमें आमूल परिवर्तन किये बिना देश कैसे चैन पा सकता है? पिछड़े हुए वर्गों की समस्या अपने ढंग की अकेली समस्या है। देश की आजादी की लडाई के दौरान में काग्रेस ने इस प्रश्न को सदा सामने रखा और उन परिस्थितियों में भी इस दिशा में सुधार के यथासंभव प्रयत्न किये।

देश की स्वतन्त्रता के बाद जब नये सविधान की रचना हुई तो उसमें पिछड़े हुए वर्गो के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गयी और इस आशय का निर्देश किया गया कि दस वर्ष की अवधि की भीतर इस कोटि के लोगों को सबके समकक्ष कर दिया जाय। दस वर्ष के बाद, इनके लिये किसी विशिष्ट व्यवस्था की आवश्यकता नही रह जायगी।

पुरानी भारत सरकार के सन् १९३५ के ऐक्ट में पिछड़े हुए वर्गों को तीन हिस्सों में बाँटा गया था। वर्तमान संविधान में भी इसी विभाजन को मान लिया गया है।

पिछड़े लोगों के तीन वर्ग

पिछड़े वर्ग के लोगों के जो तीन हिस्से स्वीकार किये गये है, वे इस प्रकार है।

१. परिगणित जातियाँ

२. परिगणित वन-जातियाँ

३. अन्य पिछड़े हुए वर्ग

परिगणित जाति के लोगों को पहले दलित वर्ग या अछूत कह कर संवोधित किया जाता था। सन् १९३५ के भारत सरकार के ऐक्ट में पहली वार यह व्यवस्था की गयी कि इनके लिए परिगणित जाति का प्रयोग हो। इसी के

साथ एक ऐसी सूची भी नत्थी की गयी जिसमें परिगणित जाति के अन्तर्गत आनेवाली तमाम उपजातियों और फिरको का वर्गीकरण किया गया था। सन् १९३६ के भारत सरकार के प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद्-आदेशो में वर्गीकरण की यह सूची प्रकाशित की गयी। इसी प्रकार पहले आदिम वन जातियों को विभिन्न नामो से पुकारा जाता था। यथा सन् १९१ की मर्दुमशुमारी में उन्हें एनिमिस्टस लिखा गया। सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी में उन्हें वन पर्वतीय जातियाँ नाम दिया गया। और सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में उन्हें आदिम जातियाँ कहा गया। इसके वाद क्रमशः पिछडी वन जाति और वन जातियाँ सम्वोधन प्रयुक्त हुए। अन्त में नये सविधान द्वारा इन्हें परिगणित वन जाति का नाम दिया गया।

इन जातियो के लोग शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा और हैसियत की दृष्टि से तथा सरकारी नौकरियो की दृष्टि से भी ये काफी पिछडे हुए हैं। पिछड़ी हुई जातियों के विभिन्न वर्गो की तुलनात्मक हालत का अन्दाज हमें सन् १९५१ की मर्दुमशुमारी से होता है। किन्तु इनकी माली हालत की सही जानकारी करानेवाली सामग्री का अभाव है।

अन्य पिछड़ी जातियो के अन्तर्गत आनेवाले लोगो का कोई स्पष्ट वर्गीकरण अभी तक नही किया गया है। अत राज्य सरकारो और केन्द्रीय सरकार द्वारा होनेवाले वर्गीकरणो में काफी भेद है। सविधान की ३४०वी धारा के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा पिछडे वर्गों की शैक्षिक और आर्थिक हालत की जाच करने के लिए निकट भविष्य में ही एक 'वैक्वर्ड क्लासेज कमीशन' नियुक्त होनेवाला है। यह कमीशन जव अपनी रिपोर्ट पेश करेगा तभी मौजूदा वर्गीकरणो में एकरूपता आ सकेगी।

परिस्थितियों में अन्तर

एक राज्य से दूसरे राज्य में परिगणित जातियो, परिगणित अन्य जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लोगो की अवस्था में तरह-तरह के फर्क हैं। अनेक पिछडी हुई रियासतो के एकीकरण और विलयन तथा नये राज्यो की रचना

के कारण ये अन्तर और स्पष्ट हो गये है। जिन रियासतों का विलयन हुआ है उनमें इस विषय के कोई ऐसी विश्वसनीय रिकार्ड नही पाये गए जिनके द्वारा पिछडे वर्गों के लोगों का समुचित परिचय उपलब्ध हो।

परिगणित जातियाँ

परिगणित जातियों के वर्गीकरण के लिए अस्पृश्यता ही मुख्य लक्षण है। अस्पृश्यता के अन्तर्गत ही सडकों, कुओं और स्कूलों आदि की वे सार्वजनिक सुविधायें आ जाती है जिनका उपयोग वर्ग विशेष के लोगों के लिये निषिद्ध रहा है। यदि इस अस्पृश्यता के लक्षण को मुख्य मान लिया जाय तो, फिर परोक्ष रूप से उत्पन्न होनेवाली उनकी सामाजिक और धार्मिक असमर्थताएँ अन्य पूरक लक्षणों के रूप में ही आँकी जा सकती हैं। एक राज्य से दूसरे राज्य में अस्पृश्यता के रूप में अन्तर है। इसी प्रकार परिगणित जातियों के विभिन्न फिरकों के बीच में भी इस तरह के भेद मौजूद है। कुछ राज्यो में परिगणित जाति के कुछ फिरकों के गहने पहनने, घोडे पर सवारी करने की मनाही है। वे शादी-व्याह के मौको पर भी ऐसा नही कर सकते। वे अपने मुर्दों को मुख्य सडकों से नही ले जाने पाते और न वे न श्मशानों का उपयोग कर पाते है जिनमे अन्य हिन्दुओ के दाह-सस्कार होते है। इस दुर्दशा के अलावा होटलों और बाल कटवानेवाले दूकानों आदि के उपयोग भी उनके लिए निषिद्ध है। कुछ पिछडे हुए राज्यों में आज परिगणित जाति के कुछ वर्गों के लिए सार्वजनिक जलाशयो और मन्दिरों का उपयोग वर्जित है। इन राज्यो के देहाती इलाकों मे खास तौर से अस्पृश्यता का रोग अधिक है।

परिगणित जातियों के विषय में सन् १९५० की राष्ट्रपति की विधान-आज्ञा में पूरे भारतवर्ष की परिगणित जातियो की सूची दी गयी है। सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार देश भर में परिगणित जातियो की कुल आवादी ४ करोड २८ लाख थी। सन् ११५१ की मर्दुमशुमारी में परिगणित जातियो की जनसख्या ४ करोड़ ९८ लाख बतायी गयी है। (देखिये परिशिष्ट अ) देश के कई राज्यों (पार्ट ए वाले) अस्पृश्यता निरोधक मन्दिर-प्रवेश सम्बन्धी कानून बनाये है और कुछ राज्यों द्वारा अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित

किया गया है। इसी प्रकार के कानूनों को केन्द्रीय सरकार ने पार्ट सी के राज्यो में लागू कर दिया है तथा पार्ट बी वाले कुछ राज्यो ने भी आवश्यक सशोधन परिवर्द्धन के बाद उक्त कानूनो को अपनाया है और अपने यहाँ लागू किया है।

अस्पृश्यता और जनमत

हमारे सविधान ने अस्पृश्यता पर रोक लगा दी है। और पिछले वर्षों में कांग्रेस सरकार द्वारा इस विषय में अनेक कानून बनाये गये हैं। परन्तु इन कानूनो को भलिभाँति लागू करने की जवाबदेही जनमत के ऊपर है। सन् १९३४ में महात्मा गाँधी ने अछूतोद्धार के लिए अपना ऐतिहासिक अनशन किया। फिर, हरिजन सेवक सघ और दूसरी गैरसरकारी सस्थाओ द्वारा हरिजन सेवा कार्य हुए। इन कार्यों को विभिन्न काग्रेस सरकारो ने नैतिक और आर्थिक सहयोग दिया। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि भारतीय जनता पर काफी प्रभाव पड़ा। अस्पृश्यता-विरोधी जनमत का निर्माण हुआ। आज कोई भी विवेकवान व्यक्ति न तो अस्पृश्यना में विश्वास करता है और न वैसा व्यवहार ही करता है। कुछ राज्यो और कुछ देहाती इलाकों को यदि छोड दिया जाय तो फिर देश में शायद ही कही उन जातियों के लोगों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार होता हो, जिनके नाम सरकारी सूची में बताये गये है।

सन् १९४२ के बाद

सन् १९४६ से आज तक के आँकडे बताते है कि विभिन्न सरकारों ने पिछडे हुए वर्गों की तरक्की के लिए कैसे लम्बे-लम्बे कदम उठाये हैं, और कितना रुपया खर्च किया है। केन्द्रीय सरकार ने पिछडे हुए वर्गों के विद्यार्थियों को पढाई के वजीफे दिये। सन्-१९४४–४५ से इन वजीफो पर केंद्रीय सरकार द्वारा केवल ४७,६९७ रुपये खर्च किये गए थे। काँग्रेस सरकार द्वारा यह रकम काफी बढाई गयी और सन् १९५०–५१ तक में इन वजीफो पर १२,६९,४५६ रुपये खर्च किये गये। सन् १९४४–४५ से लगातार सन्

१९५०-५१ तक केन्द्रीय सरकार ने कुल मिलाकर ३८,९६,९२६ रुपये पिछड़े हुए वर्गों के विद्यार्थियों के वजीफों पर खर्च किये हैं। ५९१४ विद्यार्थियों ने ये छात्रवृत्तियाँ पाईं। चालू आर्थिक वर्ष में इन छात्रवृत्तियों पर १५ लाख रुपये खर्च करने का निश्चय केन्द्रीय सरकार ने किया है।

वन्य जातियाँ :

बीते दिनों में वन्य जातियों के प्रश्न को सुलझाने के लिए सरकारी अथवा गैरसरकारी सूत्रों द्वारा उपयुक्त भावना के साथ समुचित प्रयास नही किये गये। वैसे भी इनकी समस्या परिगणित जातियों की समस्या से भिन्न थी, किन्तु उक्त कारणवश वह और उलझन वाला सवाल बन गया है। सामान्यतः सरकार और समाज द्वारा वन-जातियों की न केवल उपेक्षा की गयी वरन् उनका शोषण भी काफी किया गया। नतीजा यह हुआ कि ये लोग मजदूर होकर जगलों के भीतर जाकर बस गये।

विभिन्न राज्यों की वन्य जातियाँ :

विभिन्न राज्यों में बसनेवाले वन्य जातियो के लोगो के रहने के ढगों और रीति-रिवाज में काफी फर्क है। सास्कृतिक विकास की दृष्टि से भी यह अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए बम्बई राज्य के भीलों और मध्य-प्रदेश के गोड, कोकू और बैगा लोगों में अन्तर है। इसी प्रकार ये लोग उड़ीसा के अत्यन्त पिछडे हुए खोंड, जुआग और बोंदोपोराजा जाति के लोगों से भिन्न है। एक ही राज्य में भी इन लोगों के विभिन्न वर्ग परस्पर भिन्न सांस्कृतिक स्तरों पर है।

इनका जीवन :

वन्य जातियों के लोग सभी दृष्टियों से बहुत पिछडे हुए हैं। वे अछूत भले ही न हों किन्तु इसमें संदेह नही कि वे समाज से अलग ही रहे हैं और उनका काफी शोषण हुआ है। समाज से यथासंभव दूर रहते हुए वे एकान्त की जिन्दगी बसर करते हैं। उनके जगली रहन-सहन, रीति-रिवाजों और आदतो ने समाज के और उनके बीच की खाई को बनाये ही रखा है। उनके सम्य

देशभाइयो को जीवन की जो सुविधाएँ उपलब्ध है वे उनमें मयस्सर नही। मिशनरियो के उद्योग से कुछ राज्यो में ऐसा भी हुआ कि ये लोग समाज के और लोगों के सम्पर्क में आये। किन्तु इसका परिणाम जैसा होना चाहिए था नही हुआ। इन्होंने अपने सभ्य पडोसियो के गुणो की अपेक्षा अवगुण अपनाये और अपनी जाति की अच्छाइयाँ खो बैठे। इसीलिए मानव-विज्ञानवेत्ताओं ने कहा है कि वन-ज़ातिवालो के साथ दूसरे ही ढगो से व्यवहार करना चाहिए जिससे कि वे अपने सभ्य पडोसियो के सम्पर्क से लाभ की जगह नुकसान न उठायें।

एक अनुचित प्रवृत्ति :

पिछडे हुए वर्गों को समय-समय पर जो सुविधायें और रियायतें दी जाती हैं और जो विशेष स्वत्व उन्हें दिये गये है उनके कारण जब कई दूसरे फिरकों और जातियों के लोग यह दावा करने लगे है कि वे भी पिछडे वर्ग के हैं। ये लोग है जो कुछ वर्ष पहले अपने आपको पिछडे वर्ग वाला कहने में अपमान समझते।

इस अनचित प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक है। और इसे रोकने के लिए पिछडेपन की जाच करनेवाली एक वैज्ञानिक कसौटी का होना जरूरी है।

दस वर्ष की निश्चित अवधि में पिछडी हुई जातियो के सुधार की दिशा में वास्तविक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि इनका एक वैज्ञानिक वर्गीकरण करके इस बात पर बराबर नजर रखी जाय कि सही ढग पर तरक्की हो रही है या नही, और साथ ही तरक्की और सुधारों के लिए हर तरह के प्रयत्न किए जायँ। यह बात भी जरूरी होगी कि इन्हें इस बात का विश्वास दिलाया जाय कि दस वर्ष की अवधि के बाद भी जब उन्हें सविधान द्वारा प्राप्त विशेष सरक्षण की अवधि समाप्त हो जायगी वे अपने बूते पर समाज में अपनी उचित जगह बनाए रख सकेंगे।

परिगणित वर्ग के लोगो ने काफी हद तक अपनी हीनता की भावना पर विजय पा ली है, और विधान-सभाओ आदि द्वारा उनके प्रतिनिधि आगे आ

रहे हैं। किन्तु इन वर्गों में भी जो सबसे नीचे की श्रेणियाँ हैं, उनकी हालत अभी भी बहुत शोचनीय है। भविष्य में इन्ही अत्यन्त नीची श्रेणियों की हित-चिन्ता की ओर हमें अधिक ध्यान देना है।

यह आशा की जाती है कि भविष्य के कुछ वर्षों में वह सामाजिक और आर्थिक भेद की खाई जो आज इन पिछडे वर्गों के और शेष समाज के बीच मौजूद है, पट जायगी। और, इन जातियों के लोग भारतीय समाज में अपनी समुचित प्रतिष्ठा को प्राप्त कर राष्ट्र के निर्माण में अपना हिस्सा बँटायेंगे।

गृह-विज्ञान

व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से हमें सबक मिला है कि हमारी शिक्षा दीक्षा हमेशा जीवन की समस्याओं को सामने रख कर हो, अन्यथा महज किताबी ज्ञान से हम वास्तविकताओं से दूर चले जाते हैं। इस कडवे सत्य को हमारे शिक्षा शास्त्रियो ने भी स्वीकार किया है और वे शिक्षा-पद्धति को क्रमशः जीवन के सन्निकट लाने की चेष्टा कर रहे हैं। तदनुसार स्कूल-कालेजो के शिक्षाक्रम में अनेक व्यापक परिवर्तन हुए हैं। शिल्पो के माध्यम से शिक्षा, फिर शिक्षा का साहित्यिक, वैज्ञानिक, निर्माणात्मक और कलात्मक श्रेणियो में विभाजन और टेकनिकल स्कूलो की स्थापना—ये तमाम प्रवृत्तियाँ इस बात का द्योतक है कि हमारी शिक्षा-पद्धति यथार्थ जीवन को सामने रखकर विकसित हो रही है।

हमने यह भी अनुभव किया है कि यदि जीवन के कार्य-विभाजन के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए, तो लड़कियो की शिक्षा भी कुछेक विषयों में लडकों से भिन्न रहनी चाहिए। यही कारण है कि जहाँ हमने लडको के लिए रोजगारी शिक्षा का प्रबन्ध किया है, वहाँ लडकियो के कोर्स मे गृह-विज्ञान को स्थान दिया है।

यहाँ स्वाभाविक रूप से शका उठ सकती है कि लडकियो को ही क्यो गृह-विज्ञान पढ़ाया जाय? लडके क्यों नही पढें? यह एक मौलिक प्रश्न है। पर इसके साथ हजारो वर्षों की धारणाओ और परम्पराओ का बोझ है। आज का

हमारा समाज साधारणत. पितृसत्ता-परक है। इस व्यवस्था में नारी को घर में बाँध कर रखा गया है। यह जितना भारत तथा अन्य एशियाई समाजो के लिए सही है, उतना ही यूरोप और अमेरिका के लिए भी। हम अक्सर सुनते हैं कि पश्चिम की स्त्रियाँ आजाद हो गयी हैं। यह एक सापेक्ष स्थिति है। इससे हमें कदापि यह न समझना चाहिए कि पश्चिमी समाज का आधार बदल गया है। वहाँ की स्त्रियाँ अपनी समग्र स्वच्छन्दताओं के बावजूद घर से उसी प्रकार बँधी है जिस प्रकार हमारे समाज की स्त्रियाँ। उन्हें ही घर सम्हालना पड़ता है, बच्चो की निगरानी करनी पडती है, और गृह-प्रबन्ध के बीसियो मस्ले हल करने पड़ते हैं। ये काम स्वत. पूरे नही, बल्कि सामाजिक पारिवारिक जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। इनमे अगर किसी प्रकार की हीनता का बोध होता है तो महज इसलिए कि पितृसत्तापरक समाज का आधार नारी की आर्थिक परवशता है। अगर स्त्रियो और पुरुषो के कार्य-विभाजन में यह ऐतिहासिक अन्याय नही रहता, तो शायद हमारे समाज का सघटन कही ज्यादा स्वस्थ और प्रसन्न रहता।

संभव है कि प्राकृतिक-शारीरिक आवश्यकताओ ने स्त्रियो को घर में बँधकर रहने को मजबूर किया हो। पर पितृसत्तात्मक समाज की स्थापना के साथ आर्थिक अन्याय का जो अध्याय जुडा है, वह इतना कठोर और शर्मनाक है कि हम इस तथ्य को बहुधा गौण समझ लेते हैं। पढी-लिखी स्त्रियो से शारीरिक मजबूरियों का जिक्र कीजिए तो बहुधा सुनने को मिलेगा कि यह तो अपने आर्थिक अन्यायो को ढकने के लिए पुरुष वर्ग का युक्तिपोषण (रेशनेलाइजेशन) मात्र है। अगर स्त्रियो के इस मत में अगर सच्चाई भी है तो फिर वर्तमान वस्तुस्थिति से निस्तार कैसे हो। पुरुषो के ऐतिहासिक अन्याय का अन्त कैसे हो ? यह तो तभी सभव है जब कि स्त्रियाँ आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लें। यह योग्यता भी उन्हें वर्त्तमान सीमाओ के भीतर ही प्राप्त करनी होगी। पर क्या ऐसी परिवार-व्यवस्था की योजना अन्यायपूर्ण होगी जिसमें आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से पुरुष और स्त्री का

श्रम समान महत्त्व रखे, पर कार्य विभाजन के लिए स्त्रियाँ घर सँभालें और पुरुष जीवन खुले और संघर्षपूर्ण क्षेत्रों का उत्तरदायित्व लें। व्यावहारिक रूप से स्थिति तो आज भी यही है, सिर्फ परम्परागत बंधनों और समाज के आर्थिक ढाँचे के कारण नारी आर्थिक दृष्टि से परवश है।

अस्तु आर्थिक परवशता की बात को अलग रख कर घर के कुशल-प्रबन्ध की बात सोचें तो, मानना पड़ेगा कि गृह-विज्ञान उतना ही उपयोगी है, जितना अन्य कोई शिल्प। इसके दायरे में हमारा सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन आ जाता है। क्योंकि गृह-विज्ञान की शिक्षा वैवाहिक जीवन को कुशलतापूर्वक चलाने और घर का सुचारु प्रबन्ध करने का ज्ञान देती है। शिशुपालन, सेवा-सुश्रुषा, सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन बनाने, खाने और खिलाने की कला, मितव्ययिता, घरेलू अर्थशास्त्र, शरीर-ज्ञान, स्वास्थ्य-शिक्षा, मनोविज्ञान, सीना-पिरोना और बुनना—ये सब इस व्यापक विषय के अंग-उपांग हैं। ये विषय अलग-अलग पढ़े जा सकते हैं पर गृह-विज्ञान के अन्दर सब के सब एक साथ आ जाते हैं और उनका तारतम्य भी स्पष्ट हो जाता है। इन विषयों में से कितने ही विषय लडकों के लिए उतने ही उपयोगी हैं, जितने लडकियों के लिए। पर भविष्य की दृष्टि से उनका प्रारम्भिक ज्ञान ही लडकों के लिए आवश्यक है। और, जब हम इन सब विषयों को एक साथ गृह के विज्ञान के रूप में पढाने की बात करते हैं, उस समय उन विषयों की स्वतंत्र संभावनाओं और उपयोगिताओं पर नहीं, बल्कि गृह-व्यवस्था के प्रसंग में उनकी सापेक्ष उपयोगिता पर जोर देते हैं। उस दृष्टिकोण से उपर्युक्त विषयों की संतुलित जानकारी ही गृह-विज्ञान का उद्देश्य है।

घर से यदि हमारा मतलब केवल दीवार, छत और सहन से ही नहीं बल्कि उनसे लिपटी मानवीय भावनाओं और स्मृतियों से भी है, तो मानना पडेगा कि घर एक संस्था के रूप में हमारे समाज-संघटन का आवश्यक अंग है। इसका प्रबन्ध केवल आवश्यक सामग्रियों को जुटाने से ही पूरा नहीं हो जाता बल्कि इसके लिए वातावरण भी तैयार करना होता है—ऐसा वातावरण जिसमें रहनेवाले

को मानसिक संतोष और भावात्मक स्फूर्ति मिले। यह क्या समुचित शिक्षा के बिना सभव है ?

वस्तुत हमें आदर्श घरेलू जीवन का ज्ञान ही नही है, इसीलिए गृह-विज्ञान को हम उचित महत्व नही दे पाते। यह स्त्रियो के लिए खुले स्कूलो और कालेजो की शिक्षाप्रणाली से स्पष्ट है। माँ-बाप भी अपनी लड़कियो को अधिकतर इसी ख्याल से स्कूल-कालिज में दाखिल कराते है, कि उनके विवाह में आसानी हो, क्योंकि आजकल लडकेवाले पढ़ी-लिखी लडकी खोजते हैं। यह बात कम ही ध्यान में रहती है कि जिस प्रकार लडकों को अपने पेशे के उपयुक्त शिक्षा रहनी चाहिए, उसी प्रकार लडकियों को भी आदर्श माँ, आदर्श गृहिणी बनने की शिक्षा मिलनी चाहिए अन्यथा स्वस्थ सतान और स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना हम नही कर सकते।

आज हमारे राष्ट्रीय जीवन के सम्मुख जो समस्याएँ उपस्थित है, उनको देखते हुए गृह-विज्ञान की शिक्षा बडी उपयोगी और आवश्यक जान पड़ती है। हम उदाहरण के लिए खाद्य समस्या को ले लें। अन्न की कमी केवल हमारे देश को ही नही है। पर जहाँ अन्य देशवालो ने इस सकट को दूर करने का प्रबन्ध कर रखा है वहाँ हमलोग मुख्यत सरकारी प्रयत्नो पर निर्भर करते है। नयी खेती करना और पुरानी खेती को नये तरीको से अधिक लाभ कर बनाना तो दूर की बातें है, हमसे इतना भी नही होता कि हम अपने रोज के व्यवहार में अन्न की बर्बादी रोकें। हम अपने खाद्यान्नो का बहुत बडा अश अपने अज्ञान के कारण बर्बाद कर देते है। कही तो कुछ लोगो ने जरूरत से ज्यादा खा लिया, कही जरूरत से ज्यादा भोजन तैयार कर लिया गया, अथवा जो भोजन बना, वह भी हिफाजत से नही रखने के कारण बर्बाद हो गया। इतना ही नही, कभी तो स्वादहीन होने के कारण बना भोजन बेकार हो गया, कभी स्वाद के पीछे भोजन की पौष्टिकता की उपेक्षा कर दी गयी। इस प्रकार के असतुलन का फल देश और समाज के लिए तो घातक होता ही है, व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर भी उसका बुरा असर पडता है।

अगर घर की स्त्रियो को मालूम रहे कि सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन

कैसे बन सकता है, कैसे भोजन को सम्हाल कर रखना चाहिए और किस तरह से बर्बादियो को रोका जाय, तो हम कितनी ही परीशानियो से बच सकें ? पर क्या यह योंही सभव है ? क्या इसके लिए गृह-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक नही ?

कुछ ऐसे भी मिलेंगे, जो कह देंगे, अरे, सभी स्त्रियाँ खाना बनाना या इस तरह के काम योही सीख लेती है। इन सब की शिक्षा-दीक्षा क्या ? ऐसा दृष्टिकोण केवल हमारे अज्ञान का ही परिचायक है। ज्यो-त्यो भोजन राध लेना एक बात है और स्वाद और पौष्टिकता की रक्षा करते हुए भोजन बनाना दूसरी बात। कितनी स्त्रियाँ जानती है कि प्रोटीन क्या है, विटामिन क्या है, कार्बोहाइड्रट क्या है और इनमे से किसका, कितना अश भोजन के लिए आवश्यक है और किस पदार्थ में कौन तत्व किस रूप में और किस अनुपात में उपलब्ध हो सकता है ?

यह तो गृह-विज्ञान का एक पहलू हुआ। उसी प्रकार घर के अन्दर चीजों को रखना, सजाना, सफाई पर ध्यान देना—ये तमाम बातें गृह-विज्ञान के अन्दर आती है। स्त्रियो को मनोविज्ञान, शारीरिक गठन और शारीरिक प्रक्रिया का बोध रहना चाहिए। इन विषयो का ज्ञान उन्हें सफल माता बनाने में सहायक हो सकता है। अगर उन्हें अच्छी तरह मालूम हो जाय कि भ्रूणावस्था से लेकर किशोरावस्था तक लडके का मन आसपास के वातावरण और माता-पिता तथा अन्य लोगो के व्यवहार से किस प्रकार प्रभावित होता रहता है, तो वे अवश्य ही अपना तथा दूसरो का व्यवहार और घर का वातावरण सुन्दर बनाने की विशेष चेष्टा करेंगी। इस प्रकार बच्चो का स्वस्थ विकास हो सकेगा।

यह प्रसन्नता की बात जरूर है कि अब गृह-विज्ञान का महत्व समझा जाने लगा है और विभिन्न स्तर के शिक्षा-क्रम में इस विषय को स्थान दिया जा रहा है, पर गृह-विज्ञान का पाठ्य-क्रम कभी सतुलित नही किया जा सका है। जैसे, बच्चे-बच्चियो को प्रारम्भ से ही भोजन, वस्त्र और घर के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें बतायी जानी चाहिए। हम अक्सर देखते हैं कि बच्चे

छुटपन में रेत का घर बनाते हैं, ईंट-खपरों का चूल्हा बनाते हैं और मिट्टी का चावल राधते हैं, रोटी पकाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति का संकेत हमें समझना चाहिए और उन्हें प्रारम्भिक कक्षाओं में इन विषयों की मोटी बातें बता देनी चाहिए। पर कितने प्राइमरी स्कूलों में ऐसा प्रबन्ध है ? या, क्या अधिकारियों ने इन विषयों को पाठ्यक्रम में जगह भी दी है ? हाँ, विनोबा भावे ने अवश्य सीनियर बेसिक के लिए भोजन-कला को आवश्यक विषय माना है।

उसी प्रकार सफाई की शिक्षा भी प्रारम्भ से ही देनी चाहिए। फिर ज्यों-ज्यों ऊँचा दर्जा आवे, नये-नये विषय सिखाये जायँ। विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र, घरेलू अर्थशास्त्र आदि की ऊँची शिक्षा दी जाय। मद्रास, इलाहाबाद, बनारस और लखनऊ विश्वविद्यालयों ने इस ओर ध्यान दिया है। मद्रास विश्वविद्यालय में गृह-विज्ञान का डिग्री-कोर्स भी है।

पर इस दिशा में अभी सबसे बड़ा सवाल है कि इस विषय की शिक्षा देने वाले शिक्षक कहाँ से आवें। जब तक योग्य शिक्षक अथवा शिक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं होंगी तब तक गृह-विज्ञान को पाठ्य-क्रम में जगह देकर भी हम इस विषय की उचित शिक्षा नहीं दे पायेंगे।

बेकारी की समस्या

'बेकारी की समस्या' से हमारा तात्पर्य प्राय शिक्षित मध्य-वर्ग की बेकारी से रहता है। किन्तु इसका आशय वस्तुत. अधिक व्यापक है। कोई मनुष्य, वह किसान हो या कारखाने का मजदूर, किरानी हो या इंजिनियर, वैज्ञानिक हो या साहित्यिक, यदि आजीविका का ऐसा साधन नहीं पाता जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके, तो अवश्य ही बेकार कहा जाएगा। और ऐसे तथा उनलोगों के लिए जो अशत काम में लगे हुए हैं, जीविका के साधन को ढूँढना ही बेकारी की समस्या का मुख्य विवेचनीय विषय है।

बेकारी बहुत बड़ा अभिशाप है। इससे समाज का वातावरण दूषित हो

करता है । यह राष्ट्र के राजनीतिक ढाँचे को ध्वस्त कर देती है । यह अच्छे को बुरा और ईमानदार को अपराधी में परिणत कर देती है। यह भ्रष्टाचार और जाल-फरेब असत्य और हिंसा को प्रोत्साहन देती है । यह मनुष्य में छिपी दानवता को जगाती है और उसकी सत्प्रवृत्तियों पर पर्दा डाल देती है । भूखे पेट भजन नही होता—यह कहावत सर्वथा युक्तिसगत है । जिसे दोनो जून भरपेट भोजन नसीब नही होता, जो अपनी तथा अपने परिवार की साधारण आवश्यकताओं की भी पूर्ति नही कर सकता, उससे सत्य, महानता और ईमानदारी जैसे गुणों की आशा करना ही भूल है ।

बेकारी किसी देश की शासन-व्यवस्था के लिए भारी खतरा है। इससे असंतोष उत्पन्न होता है । असतोष से विद्रोह की भावना फैलती है, और यही भावना अन्तत हिंसात्मक क्रांति का रूप धारण करती है । जो बेकार रहने को विवश है, वे सबमें सर्वत्र दोष ही देखते है और स्वय जघन्य-से-जघन्य अपराध कर डालें, तो आश्चर्य की कोई बात नही । अत. यह आवश्यक है कि ऐसे कुछ लोंगों को छोडकर जो मिलने पर भी लाभ नही करना चाहते, सभी मनुष्यों के लिए जीविकोपार्जन के साधन सुलभ बनाए जाएँ।

यह कहना तो आसान है, किन्तु समस्या की विशालता को देखते हुए मानना पडेगा कि इसका समाधान आसान नही है । देश के एम्पलायमेंट एक्सचेंज की शाखाओं द्वारा समय-समय पर बेकारी के जो आँकडे प्रकाशित किये जाते है, उनमें स्थिति की गभीरता का अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उनसे भी पूरी तस्वीर की जानकारी नही हो पाती ।

भारत में जन-सख्या में वृद्धि के कारण प्रत्येक वर्ष तीस लाख से भी अधिक नये बेकार रोजी के लिए भटकते चलते है। इससे देश में आर्थिक और राजनीतिक अराजकता का खतरा बढ जाता है ।

इस समस्या के सम्बन्ध में हमारी सरकार पूर्णतः जागरूक थी, फलतः उसने प्रथम पचवर्षीय योजना में बेकारी दूर करने के कुछ उपायों का निर्धारण किया था । किन्तु योजना के अन्तर्गत रोजी के बढते हुए अवसरों की तुलना में, देश

में बेकारी की वृद्धि कही अधिक है। अतः भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना बनाई जा रही है, जिसमें बेकारी की समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। इसके कार्यान्वित हो जाने पर, भारत सरकार आशा करती है, बेकारी की समस्या सदा के लिए समाप्त हो जाएगी।

बेकारी की समस्या के अनेक सुलभ साधनो में जो सर्वाधिक अमोघ प्रतीत होता है, वह है देश का औद्योगीकरण; क्योकि कोई भी अन्य उपाय आजीविका के इतने अवसर प्रस्तुत नही कर सकता। किन्तु वृहत् उद्योग-धधो के त्वरित विस्तार के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ है, जैसे पर्याप्त पूँजी, आधारभूत सामग्रियो (Capital goods) और यत्रशास्त्रीय निर्देशन का अभाव। अत. शीघ्रतर और अपेक्षाकृत ज्यादा लाभकर परिणाम कुटीर-शिल्पो के पुनर्जीवन और विस्तार से ही प्राप्त हो सकते है। कुटीर-शिल्पो की आजीविका प्रदान करने की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता के अतिरिक्त भी उनके पक्ष में अनेक बाते है; उदाहरणार्थ, उनके लिए बहुत बडी पूँजी के खर्चीले और जटिल यंत्रो की तथा उच्च यत्रशास्त्रीय ज्ञान की जरूरत नही रहती। उनसे यह लाभ भी होगा कि जो लोग बाध्य होकर उन दिनो में बेरोजगार बन जाते है, जिन दिनों खेती-बारी का काम नही होता, उन्हें भी जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त हो सकेंगे। इसी बात को ध्यान में रखकर महात्मा गाँधी ने जनता के बीच चर्खे का अधिकाधिक प्रचार करना चाहा था। और यही कारण है कि आज भी जब देश में वृहत् उद्योग-धधो के विस्तार का प्रयास चल रहा है, कुछ ऐसे अर्थ-शास्त्री है जिनका सुझाव है कि 'अबर चर्खा'-जैसा नये ढग का चर्खा बहुत बडी सख्या में लोगो के बीच वितरित किया जाए और इस प्रकार देशव्यापी बेकारी को यथासभव कम खर्च और आसान तरीके से दूर किया जाय।

बढती हुई बेकारी की समस्या को दूर करने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा-पद्धति को आज की तरह केवल सैद्धान्तिक और साहित्यिक न रहने दें; बल्कि उसे जीविकोपार्जन के लिए उपयुक्त बनाएँ। शिक्षितो की बेकारी कम करने के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा-

पद्धति में पहले की अपेक्षा अधिक व्यावसायिक और शिल्प-शास्त्रीय ज्ञान के वितरण की व्यवस्था करें।

हमारा राष्ट्र कल्याण-राष्ट्र (Welfare State) होने का दावा करता है और जहाँ तक अन्तरराष्ट्रीय राजनीति और विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रश्न है, उसका दावा ठीक भी है, किन्तु उसकी कड़ी परीक्षा इस बात में है कि वह कितना शीघ्र बेकारी की समस्या दूर कर पाता है। उसे अभी इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना बाकी ही है।

भाषाधार राज्यों का प्रश्न

आजादी के बाद देश के आगे जो बहुत-से जटिल प्रश्न उपस्थित हुए और स्वाधीन भारत को अँगरेजी हुकूमत से विरासत में जो समस्याएँ हल करने के लिए प्राप्त हुईं, उनमें प्रान्तो का नये सिरे से बँटवारे की समस्या सबसे महत्वपूर्ण समस्याओ में से एक थी। प्रादेशिक सीमाओं को नये ढग से निर्धारित करके व्यापक आन्तरिक सादृश्य वाले प्रान्तों के निर्माण में एक बुनियादी बात का ध्यान रखना आवश्यक है। वह यह कि मुख्यत. नये प्रान्तो का निर्माण भाषा के आधार पर हो और उनका यह नया रूप शासन-प्रबन्ध तथा आर्थिक दृष्टि से अनुकूल हो। इस प्रकार के सुधार की दृष्टि से भारतवर्ष को दो भागों में बाँटा जा सकता है। इन दो विभागो में एक तो विंध्यपर्वतमाला के उत्तर में स्थित भूभाग होगा और दूसरा विन्ध्यमाला के दक्षिण का प्रदेश। इस प्रकार देश के उत्तरी और दक्षिणी दो विभाग हुए। अब इन विभागो को भाषा की दृष्टि से देखा जाय।

अपने पूर्वोक्त विभाजन के अनुसार उत्तर में पजाब, उत्तरप्रदेश, बगाल, विहार और आसाम प्रदेश आते है। भाषा की दृष्टि से ये राज्य सादृश्य-युक्त है। इनमें ऐसे प्रदेश नही है, जिनमे अनेक भाषाओ का प्रचार हो। विन्ध्याचल के दक्षिण में स्थित अनेक प्रान्तों की हालत इसके ठीक विपरीत है। उदाहरण के लिए हम बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश को ले लें। इनमें से प्रत्येक

राज्य में एक से अधिक भाषाओं का चलन है। कहीं दो भाषाएँ व्यवहार में आती है, कही तीन और कही पर चार-चार।

राज्यों का, जिन्हें हम पहले प्रान्त कहकर संबोधित करते थे, जो मौजूदा ढाँचा है, अर्थात् जिस रूप में आज वे नजर आते है, वह ईस्ट इंडिया कंपनी की करामात है।

शताधिक वर्षों में ईस्ट इंडिया कंपनी की अमलदारी ज्यो-ज्यो बढी और फली उसीके सुविधानुसार और शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से कंपनी की सहूलियत के मुताबिक इन प्रान्तो का निर्माण हुआ।

इस प्रकार बनाये गये प्रान्तो के अलावा देश का बहुत बड़ा हिस्सा देशी रियासतो की छोटी-बडी सीमाओ में बँटा था।

जब हम इतिहास की दृष्टि से देखते है तो पता चलता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा इन प्रान्तो की रचना किस प्रकार हुई। वस्तुतः होता यह था कि देश के किसी भाग-विशेष में कंपनी द्वारा जीते गये इलाके में क्रमश वे जिले भी जोड दिये जाते थे जो धीरे-धीरे उसके कब्जे में आते जाते थे

इसका परिणाम यह हुआ कि कम्पनी द्वारा बनाये गये प्रान्तो की सीमाएँ न तो ज्यामिति के अनुकूल बनी और न आन्तरिक सादृश्य के आधार पर ही उनकी रचना हुई। इस प्रकार होनेवाले सीमा-निर्माण का जो कुफल होना चाहिए था, वही हुआ। एक ओर यदि किसी प्रान्त के अन्तर्गत तीन या चार भिन्न भाषाओ के क्षेत्र समाहित हो गये तो दूसरी ओर एक ही भाषा के प्रचलनवाले भूभाग के दो या तीन प्रान्तो के टुकडे कर दिये गये। तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता ने अपनी आर्थिक और शासन-प्रबन्ध-संबधी सामर्थ्य के अनुसार उक्त व्यवस्था की थी।

प्रान्तो की जो रचना अँगरेजो ने की उससे उनका काम तो सहज हुआ और वह व्यवस्था उन्हें अपनी सुविधा के अनुकूल प्रतीत हुई, किन्तु बहुभाषा-भाषी प्रान्तो, जैसे बम्बई या मद्रास में रहनेवाली जनता को इस अन्याय-पूर्ण प्रान्त-रचना का कटु अनुभव हुआ। उन्होने अनुभव किया कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप उनकी अपनी-अपनी भाषाओ और सांस्कृतिक विशेषताओ

पर जो प्रभाव पड़ रहा है, वह हितकर नही है। अत स्वाभाविक था कि ऐसी व्यवस्था के विरोध मे आवाज उठाई जाती।

एक के बाद एक उत्कल, आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र की जनता ने आदोलन शुरु किया। इनलोगो की माँग थी कि मौजूदा प्रान्तों को भाषा के आधार पर फिर से बाँटा जाय और भाषाधार राज्यों की रचना हो।

देश आजाद हुआ और सविधान-सभा की स्थापना हुई। सविधान-सभा के आगे भाषाधार प्रातो के निर्माण से सबधित १९४७ की एक उप-समिति द्वारा की गयी जाँच के फलस्वरूप समस्या के सभी पहलू स्पष्ट रूप मे मौजूद थे। इसके बाद भारत-सरकार ने एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन का कार्य भाषा के आधार पर प्राती के बँटवारे की सुगमता के बारे में जाँच करना था।

इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में प्रान्तो के पुनर्निर्माण की माँग के औचित्य को तो स्वीकार किया, किन्तु अनेक कारण बताते हुए उसने यह राय दी कि इस दिशा में तुरत कोई कार्रवाई करना उचित न होगा।

भाषाधार प्रातो के निर्माण से सम्बन्धित पुरानी नीति के विरुद्ध कोई कार्य करने का तो कोई सवाल नही था। किन्तु रास्ते की दिक्कतो की तो आँखों से ओझल नही किया जा सकता है। जिस समय देश एक सकटकाल से गुजर रहा था उस समय इस प्रकार विभाजित प्रातो के आर्थिक और शासन-प्रबन्ध-सबंधी स्थायित्व की समस्या तथा अन्य व्यावहारिक कठिनाइयों को उपेक्षा की दृष्टि से तो नही देखा जा सकता है।

भाषाधार प्रातो के निर्माण की दिशा में आगे बढते समय राह के एक और खतरे को भी ध्यान में रखना होगा। यह खतरा अलगाव की भावना का है। भाषाधार स्वशासन के परिणामस्वरूप बढनेवाली भेद-मूलक प्रवृत्तियो का खतरा बडी बुरी चीज है। हर कीमत पर हमें इससे बचना है। गुजरे जमाने में हम इस फूट की प्रवृत्ति का बहुत कड़ुवा फल चख चुके है। और अब किन्ही भी देश-लाभ के लिये हम अपने भविष्य को बिगाड़ना नही चाहते।

राज्यों की सीमा-रेखा को नये सिरे से भाषा के आधार पर गढ़ने के फल-स्वरूप जिन समस्याओं का हमें सामना करना पड़ेगा, उनकी विवेचना नेहरू-पटेल-पट्टाभि रिपोर्ट में की गयी है। इसी रिपोर्ट में उन कठिनाइयों का उल्लेख भी कर दिया गया है, जो इस दिशा में तुरन्त आगे कदम बढ़ाने में हमारी राह में रोड़े अटकाएँगी। साथ ही, इस बात का संकेत भी रिपोर्ट में कर दिया गया है कि इन समस्याओं और दिक्कतों से किस प्रकार निपटा जा सकता है।

आन्ध्र के प्रश्न को, दूसरे प्रान्तों के निर्माण के प्रश्न से अलग रखा जा सकता है; क्योंकि आन्ध्र के समर्थन में न केवल प्रबल मतैक्य है, वरन् इस भाषाधार प्रान्त का निर्माण जिस भूमि पर होना है उसका बहुत बड़ा भाग, ठसे हुए रूप में एक ही प्रान्त के भीतर मौजूद है। अतः हम यह सुझाव पेश करते हैं कि यदि इस दिशा में कार्यारम्भ करना है तो हमें पहले उन समस्याओं का अध्ययन और परीक्षण करना चाहिये, जो नये प्रान्त के निर्माण के फल-स्वरूप सामने उपस्थित हो जाएँगी। साथ ही, हमें इस बात की भी जाँच करके सतोष पा लेना चाहिए कि क्या यह प्रांत अलग किया जा सकता है; यदि आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हो जायँ, तो हम यह सिफारिश करते हैं कि इस दिशा में कार्रवाई की जाय।

सबसे प्रमुख विचारणीय बात पूरे देश की सुरक्षा, एकता और आर्थिक सम्पन्नता ही होनी चाहिए और अलगाव तथा भेद-फूट की तमाम प्रवृत्तियों को कड़ाई के साथ निरुत्साहित किया जाना चाहिये। इसलिए भाषाधार प्रान्तों के लिये निर्मित काँग्रेस की पुरानी नीति को केवल उसी हालत में अमल में लाया जा सकता है जब कि प्रत्येक नये प्रान्त के अलग-अलग प्रश्न पर सावधानी के साथ विचार कर लिया जाय और उनके निर्माण द्वारा किन्हीं ऐसे आपसी संघर्षों अथवा शासन-सम्बन्धी अस्तव्यवस्तताओं की संभावना न हो, जिनके फल-स्वरूप देश की राजनीतिक और आर्थिक मजबूती को नुकसान पहुँचे। हम इसे ज्यादा पसन्द करेंगे कि नये प्रान्तों के निर्माण का कार्य कुछ वर्षों के लिये स्थगित कर दिया जाय ताकि हम इस दौरान में और अधिक महत्त्वपूर्ण सम-

स्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें और यह सवाल हमारा ध्यान न बँटा सके। फिर भी, यदि इस सम्बन्ध में जनता की भावना जबर्दस्त और हठपूर्ण होगी तो लोकतन्त्रानुयायी के नाते हमें उसे शिरोधार्य करना ही पडेगा। किन्तु ऐसा करने में भी समूचे देश के हित में सम्बद्ध सीमाओ का और उन शर्तों का पालन अनिवार्य होगा, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। अपनी माँगों के प्रतिफल का ठीक-ठीक अनुमान कर सकने के लिए, सम्बन्धित जन-मानस को यह बात स्पष्ट रूप से अनुभव करनी चाहिये कि अब और बँटवारे के परिणाम क्या होंगे ?

मद्रास, बम्बई और मध्यप्रदेश आदि प्रातों में तथा हैदराबाद, ट्रावनकोर-कोचीन, मैसूर और कोल्हापुर, जो पहले रियासतें थी, की सीमाओं के भीतर काफी बड़े-बडे इलाके ऐसे है, जिनमें बसनेवाले लोगो की एक बहुत बडी तायदाद तामिल, तेलुगु, मलयाली, कन्नड, मराठी, गुजराती या हिन्दी बोलती है। इन भाषाओं की अपनी परम्परा है और इन्हें बोलनेवालों की एक अपनी सामाजिक या सास्कृतिक विशेषता होती है, जिसके कारण ये अपने अन्य भाषा-भाषी पडोसी से अलग पहिचाने जा सकते है। काफी पुराने जमाने में जिन प्रदेशों में उपर्युक्त भाषाएँ बोली जाती थी, उनके नाम भी आज के नामों से भिन्न थे। उदाहरणार्थ जिस क्षेत्र में तेलुगु बोली जाती थी, उसे आध्रदेश कहा जाता था, जहाँ मलयाली बोली जाती थी, वह प्रदेश केरल कहलाता था। इसी प्रकार कन्नड, मराठी, तामिल और गुजराती भाषाओं के क्षेत्रों को कर्नाटक, महाराष्ट्र, तामिलनाड और गुजरात कहा जाता था। किन्तु ऐतिहासिक काल-प्रवाह ने पुरानी भौगोलिक सीमाओ में तरह-तरह के उलट-फेर और परिवर्त्तन कर दिये है। आज वह पुराना रूप नही रह गया है।

भाषाधार के सिद्धात को कार्यरूप में परिणत करते समय बहुत-सी समस्याओ का सामना करना पड सकता है। बावजूद इस बात के कि मौजूदा प्रातो की समस्याएँ अस्वाभाविक है, यह कहना ही पडेगा कि इन्ही सीमा-रेखाओं के भीतर बहुत हद तक राजनीतिक, आर्थिक और शासन-प्रबधिक एकता की प्राप्ति की जा चुकी है। इसीलिए क्षेत्रों का नये सिरे से बँटवारा

करने में, यह स्वाभाविक ही है, कि नाना प्रकार की समस्याएँ सामने खड़ी हो जायेंगी। अत. भाषाधार राज्यो के निर्माण की किसी भी योजना को कार्यान्वित करने से पहले उन समस्याओ पर बड़ी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है, जो प्रातो की नवरचना के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाएँगी।

भारतीय त्योहार, पर्व और व्रत

व्रत, पर्व और त्योहार में अन्तर—

व्रत, पर्व और त्योहार समान उद्देश्य से किये जाने पर भी रूप और साधना की दृष्टि से परस्पर भेद रखते है। व्रत प्राय एकाकी और एकान्त-रूप से किया जाता है। इसके साधको की सख्या भी कम होती है। पर्व में तीर्थ-स्थानों, जलाशयो, नदियो या देवालयों में भीड होती है। इसके करनेवालो की सख्या भी अपेक्षाकृत बड़ी होती है और त्योहार तो राष्ट्रीय रूप में मनाया जाता है। उसके जमाव का क्या कहना। फिर व्रत में सात्विक गुणो की प्रधानता होती है; क्योंकि उसमें उपवास रहना मुख्य साधना है। पर्व में जमाव और प्रसाद-वितरण एव पान की समुचित व्यवस्था तथा सगीत-नृत्य इत्यादि के आयोजन के कारण राजसी गुण की प्रधानता होती है। त्योहार तो साधारण लोगो के लिए जलसे का रूप धारण कर लेते है। उसमें तो खासकर होली, दीपावली इत्यादि में जोश उपद्रवी वेष भी धारण कर लेता है।

पंचमहाव्रत—

भारतवर्ष में वैसे व्रत तो अनगिनत है, पर प्रमुख है पाँच, जो पचमहाव्रत कहलाते है। वे है—सवत्सर, रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, शिवरात्रि और दशावतार। सवत्सर चैत्र मास, शुक्ल पक्ष, प्रतिपदा तिथि को मनाया जाता है। कहा जाता है कि इसी दिन ब्रह्मा ने ससार की सृष्टि की थी और इसी प्रकार इसी दिन से ससार का सवत् (जो विक्रमीय नाम से प्रसिद्ध है) शुरू होता है। अत इस दिन ब्रह्मा की पूजा होती है।

रामनवमी चैत्र, शुक्ल नवमी को मनायी जाती है। कहा जाता है कि इसी

दिन भगवान् रामचन्द्रजी ने जन्म-ग्रहण किया था। अत इस दिन राम, उनके अन्य भाइयो —लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न- —उनकी पत्नी सीता और भक्त हनुमान की पूजा होती है ।

कृष्ण-जन्माष्टमी भाद्र, कृष्ण अष्टमी को मनायी जाती है; क्योकि यही भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-तिथि मानी जाती है। रामनवमी की तरह जन्माष्टमी को कृष्ण-परिवार अर्थात् कृष्ण, वलदेव, वसुदेव, देवकी, नन्द, यशोदा और लक्ष्मी की पूजा होती है। चूँकि कृष्णजी का जन्म इस दिन आधी रात को हुआ था, इसीलिए उपासक आधी रात तक निराहार जगे रहते है और इसके वाद प्रसाद पाते है ।

शिवरात्रि फाल्गुन, कृष्ण चतुर्दशी को मनायी जाती है; क्योकि इसी दिन शिवलिंग का आविर्भाव हुआ था। इस दिन शिवभक्त निराहार रहकर शिव का ध्यान करते है।

दशावतार भाद्र शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। इस दिन दशावतारों; अर्थात् मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, त्रिविक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध और कल्कि का पूजन होता है।

पर्व —

जैसा ऊपर कहा गया है, पर्व व्रत का ही एक वृहत् और सामूहिक रूप है। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, संक्रांति, सोमवती, कार्तिक पूर्णिमा अर्थात् कार्त्तिकी स्नान, रामनवमी इत्यादि ऐसे ही पर्व है। इन्हें मनाने के लिए लाखो-लाख देहाती और शहरी लोग गंगा-तट अथवा तीर्थ-स्थानों में एकत्र होते है। रामनवमी में अयोध्या; कृष्णजन्माष्टमी में वृन्दावन; कार्त्तिक-स्नान में प्रयाग, काशी, पटना और सोनपुर तथा गंगादशमी मे गंगासागर, हरिद्वार इत्यादि स्थानों में मेला लग जाता है।

त्योहार—

त्योहार का व्रत या पर्व से भी बडा वृहत् रूप है। इन त्योहारो में उपवास से अधिक उत्सव और खानपान की प्रधानता होती है। जहाँ पर्वों में लोग बाहर

तीर्थ-स्थानों में जाते है, वहाँ त्योहारो के अवसर पर लोग घर पर ही रहना चाहते हैं और जीविका के लिए वाहर गये लोग भी गाँव में ही ये दिन विताना चाहते है।

हिन्दुओ के त्योहारो में तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है--होली, दीपावली और दुर्गापूजा (दशहरा)।

होली फाल्गुन-पूर्णिमा और चैत्र प्रतिपदा को मनाई जाती है। यह तिथि कई कारणो से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि इस दिन ईश्वरभक्त सत्यवादी प्रह्लाद को उसके पापाचारी पिता ने आग में न जलने का वरदान पा लेनेवाली होलिका की गोद में वैठाकर आग में डाल दिया था, किन्तु भगवान् की महिमा से होलिका जल मरी और प्रह्लाद का वाल भी वाँका न हुआ। उसीके उपलक्ष्य में होलिका-दहन महोत्सव मनाया जाता है। कहा जाता है कि इसी दिन राम ने लंका पर विजय पाई थी और होलिका-दहन लंका-दहन का प्रतीक है। होली के दिन हिन्दू नया वस्त्र पहनते है, रंग-अबीर खेलते है, झाल-ढोलक के साथ होली गाते हैं और पकवान खाते है। एक दिन पहले कही-कही कादो मिट्टी खेलने का भी रिवाज है और होली की रात को कही-कही अश्लील होलैया और जोगीरा बोलने का भी। इससे कटुता बढती है, अतः इस गंदी आदत को छोड़ देना चाहिए।

विजयादशमी और दीपावली की पौराणिक पृष्ठभूमि लगभग एक-सी है। जव महिषासुर के अनाचारो ने पृथ्वी और स्वर्ग दोनो को कँपा दिया था, तब देवताओं के सगठन से एक दैवी शक्ति पैदा हुई थी—दुर्गा, जिसे सभी देवताओ ने अपने-अपने शस्त्रास्त्र दे दिये थे। देव-प्राप्त आयुधो से वह नौ दिनो तक महिषासुर से लड़ती रही और अन्त में आश्विन शुक्ल दशमी को देवी ने उक्त दानव का नाश किया। विजयादशमी भारतीय अतीत की उस सास्कृतिक घटना की स्मृति है, हमारा कौमी त्योहार है।

दीवाली भी एक ऐसी घटना की याद दिलाती है। महिषासुर की तरह प्राग्ज्योतिष के अधिपति नरकासुर ने अपने अत्याचारो से अपनी समस्त निरीह

प्रजा को त्रस्त कर दिया था। लाखों व्यक्ति उसके अहंकार की खुराक बने थे। उसकी लिप्सा ने असख्य वेबसों का धन लूटा था और उसकी वासना ने सोलह हजार कन्याओं को अन्धकूप में डाल दिया था। चारों ओर घोर अन्धकार था। ऐसे समय में अचानक प्रकाश की एक स्वर्गिक रेखा झिलमिला उठी। भगवान् श्रीकृष्ण ने देश के स्वर्ग को नरक बनानेवाले नरकासुर का वध करने का निश्चय कर लिया। वे समर-यात्रा के लिए प्रस्थान कर रहे थे कि सत्यभामा सामने आकर बोली—'देश के पुरुषो और स्त्रियों दोनों पर सकट आया है। ऐसी स्थिति में नारी का चुप वैठा रहना शोभा नही देता। युद्ध में आप पुरुषों का प्रतिनिधित्व करेंगे और मैं नारी का। मै युद्ध में जाऊँगी।' यह कहकर सत्यभामा कृष्ण के रथ में वैठ गई। दोनो के सम्मिलित युद्ध से कार्तिक अमावस्या के दिन नरकासुर का संहार हुआ। अमा का अन्धेरा जैसे फट गया। उसीकी याद में हम दीपो की पक्ति सजाते हैं।

इस प्रकार विजयादशमी और दीपावली—दोनो ही हमारे सास्कृतिक विजयोत्सव के दिन हैं—दोनों ही हमारे राष्ट्रीय पर्व हैं। दोनो ही दिन देश के पुरुष-नारी ने हमारे सांस्कृतिक सकट को अपने सम्मिलित उद्योग से टाला था और हमारा मार्ग प्रशस्त किया था। ये दोनों ही तिथियाँ हमारे लिए आनन्द और उत्तरदायित्व के संदेश लाती हैं। हम प्रमादवश आनन्द की लौ को देख लेते हैं, किन्तु उत्तरदायित्व के स्वर को सुन नहीं पाते। यह हमारे जातीय जीवन की असंगति है। यह असगति उस दिन भी खडी हुई थी जब महिषासुर ने शक्ति को अपने लिए रख लिया था और नरकासुर ने जन-जन की लक्ष्मी को स्वायत्त कर लिया था। हम विजयादशमी के दिन पाठे काटते हैं और दीपावली की रात को द्यूत-क्रीडा करते हैं। यानी, आनन्द (?) के अतिरेक में हम दुर्गा और राम, सत्यभामा और कृष्ण के श्रेष्ठाश छोड़कर महिषासुर और नरकासुर की भूमिका में उतर आते हैं। विजयादशमी हमारे क्षत्रियत्व की पराजय बन गई है और दीपावली हमारे श्रेष्ठत्व का विभ्रम।

वस्तुतः विजयादशमी और दीपावली दोनों की छवि करुणोज्वल है।

विजयादशमी के दिन शमी वृक्ष की पूजा होती है और दीपावली के दो दिन पहले धन-तेरस का दीप (यम का दीया) जलाया जाता है। इनकी भी अपनी-अपनी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि एकबार राजा रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया और उसके उपलक्ष्य में इतना दान दिया कि उनका खजाना ही खाली हो गया। उसी समय वरतन्तु ऋषि के शिष्य कौत्स उनके पास आये और गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए उनसे चौदह करोड स्वर्ण-मुद्राएँ माँगी। राजा रघु बडे सोच में पड गये। खजाने में कुछ न था, पर वे याचक स्नातक को लौटा भी नही सकते थे। अन्त में उन्होने इन्द्र से युद्ध कर उनके कोष को जीत लेने का निश्चय किया। पर इन्द्र ने होशियारी से काम लिया। इसके पहले कि रघु आक्रमण करें, इन्द्र ने एक शमी वृक्ष पर असख्य स्वर्ण-मुद्राओ की वर्षा कर दी। रघु प्रसन्नता से खिल उठे और उन्होने सभी मुद्राएँ कौत्स को भेंट कर दी। पर कौत्स भी एक ही निकला। उसने केवल चौदह करोड़ मुद्राएँ ही ली और शेष वही छोड़ दी। धन-तेरस के दीप की कहानी इस प्रकार है। एक बार यमराज के मन में ममतापूर्ण कौतूहल जगा। उसने अपने दूतो को बुलाया और पूछा—तुमलोग तो बड़े कठोर काम करते हो। बतलाओ तो तुम्हें अपने काम से कभी दु ख भी हुआ है? कभी किसी समय ममता की अनुभूति हुई है? यमदूतो ने कहा—महाराज, एक बार जब हेमराज के नवविवाहित पुत्र की अकाल-मृत्यु हुई थी, तब उसका प्राण-हरण करते समय बडा दु ख हुआ था। दूतो के इस निश्छल उत्तर को सुनकर यमराज ने कहा था—'धन-तेरस की रात जो हमें दीप-दान करेगा, उसकी अकाल मृत्यु नही होगी।'

आज न तो शमी वृक्ष पर सोने की वर्षा होती है और न दीप-दान से अकाल-मृत्यु रुकती है। पर सकट में भी अपने कर्त्तव्यो को न भूलना और विवश निराशा में भी आशा का दीप जलाना कितना बडा बल है, कितना बड़ा आश्वासन है! जीवन का जूआ ढोना यो ही कठिन है, फिर दु ख-दु ख चिल्लाने से दुख-दर्द की दुनिया में क्षण-भर के लिए भी टिक रहना असम्भव हो जायगा। जब भाग्य की रेखा को हम मेट नही सकते, तब भाग्य पर रोना निरर्थक है। रोना निरर्थक ही नही, हानिकारक भी है; क्योंकि दु.ख की भावना

दुःख को बढ़ा देती है। उपचार तो यही है कि हम कष्टों पर मुस्कुराना सीखें, साधना में आनन्द ढूँढे। कृति का सुख बड़ा सुख है, सुलभ और महान्। लक्ष्मी 'करुणामधुरा' है--

अशेषभुवना मोदसाधयानां शुचिस्मिताम्।
करुणामधुराकारां लक्ष्मी देवीमुपास्महे।

(उस देवी की उपासना करता हूँ जो अखिल विश्व को आनन्द प्रदान करने-वाली पवित्र मुस्क्यानवाली और करुणा की मधुर आकृतिवाली है।)

हम लक्ष्मी की सुन्दर आकृति और मुस्कान पर जाते है, पर उस पवित्र करूणा को पढना भूल जाते है, जो उसकी मुस्कान को स्निग्धता तथा उसकी आकृति को रुचि देती है। सो लक्ष्मी चचल होती रही।

आग, सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश से दीपक की ज्योति को श्रेष्ठ कहा गया है—

अग्निज्योतिः रविज्योतिश्चन्द्र ज्योतिस्तथैव च।
उत्तमः सर्वज्योतीना दीपोऽय प्रतिगृह्यताम्॥

क्यों? इसीलिए न कि दीपक की ज्योति पर स्नेह की करुणा की नमी है।

आज देश में सकट उपस्थित है--आर्थिक और सास्कृतिक दोनों। इसलिए हमारा आग्रह होगा कि हम दीपावली को करूणा से देखें, महज विनोद से नही। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मुसलमानों के त्योहार :

मुसलमानो के प्रमुख त्योहार है—मुहर्रम और ईद। मुहर्रम के दिन मुसलमान लोग ताजिया निकालते है और गदका, बाना, पाटा इत्यादि खेलते है। ईद के दिन सामूहिक रूप से नेवाज पढ़ते है और सेवइयाँ खाते है।

आदिवासियों के त्योहार :

छोटानागपुर के आदिवासियों के मुख्य दो त्योहार है—सरहुल और करमा। सरहुल प्रकृति-पर्व है। यह पर्व खेती आरम्भ करने के पहले मनाया जाता है।

कहा जाता है कि आदिवासियों के पुरखों ने सरहुल मनाकर ही पहले-पहल खेती की थी। उसी परम्परा की स्मृति में आदिवासी सरहुल मनाते हैं। सरहुल-पर्व मनाने के पहले खेत की नयी फसल खाना मना है। सरहुल के समय खेती-बारी का काम बन्द रहता है। निश्चित दिन को पाहन (गाँव का पुरोहित या प्रधान) सरना-पूजन करता है। इस अवसर पर मुर्गे की बलि दी जाती है और हड़िया (चावल से बनाया गया नशीला पेय) का अर्घ्य दिया जाता है। नाच-गीत से गाँव-गाँव का वातावरण फूल उठता है। एक गीत है—

खद्दी चांदो हियो रे नाद नौर
फागु चादो दुलम रे नाद नौर
भर चादो चादो रे नाद नौर
मिरिम चादो हो-सोड ले-डना।
खैया ने-डोय हियो रे नाद नौर
खेडो ने-डोय दुलम रे नाद नौर
भर चादो चादो रे नाद नौर
मिरिम चांदो हो-सोड से-डना।
वडी खेरन पिटोय रे नाद नौर
बूचा हाडी तुदोय रे नाद नौर
भर चांदो चादो रे नाद नौर
मिरिम चादो हो-सोड ले-डना।[1]

(सरहुल का चाँद आया है। फूल-फल लेता आया है। भर चाँद हम उसे सेते हैं, फिर त्याग देते हैं। भाभियों, बहुओं और स्वजनो को बुलाओ। बड़ी मुर्गी की बलि चढाओ। टूटे घडे से हँडिया अर्घ्य दो।)

ऐसे ही अनेक गीतों को गाते हँडिया पीकर मस्त युवक-युवतियाँ, नगाड़े, मृदंग और बाँसुरी पर थिरक-थिरक कर नाचते और आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

करमा का त्योहार भाद्र, एकादशी को मनाया जाता है, यों इसके गीत

1. 'आदिवासी', २ अप्रील, १९५३।

आषाढ़ से आश्विन तक गाये जाते हैं। इस पर्व में भी हँड़िया-पान और नाच-गान की धूम रहती है। पर करमा के खास गीत होते हैं। सबमें प्रकृति और प्रेम का वर्णन होता है। संयोग-पक्ष के गीत बड़े उल्लासपूर्ण और वियोग पक्ष के गीत बड़े मार्मिक होते हैं। एक गीत देखिए।—

"हसा टाटी पीतल टाटी
होड़मोरे दो तितेजागी
तिरिरीरि तिरिरीरि
रुतु दोरे साड़ीतन।
पिड़ी रेदो चिकन कामी
ओड़ारे दो हनर-होजर
तिरिरीरि तिरिरीरि
रुतु दोरे साड़ीतान।

[मिट्टी के दिये (से), पीतल के दीये से (लेकर अपने शरीर में तेल) लगा चुकी (अपना शृंगार कर चुकी)। (उधर) बाँसुरी तिरिरीरि तिरिरीरि बज रही है।

(वह सोच रहा है कि) घर में सास-ससुर (मौजूद) हैं। मैदान में कौन-सा काम है (जिसका बहाना करके बाहर निकलूँ उधर)। बाँसुरी तिरिरीरि तिरिरीरि बज रही है।]"[२]

कुछ गीतों में राम और कृष्ण की जीवन-सम्बन्धी घटनाओ का भी वर्णन रहता है। जैसे :—

"राम राम मेन्ते
दो भाई, दो भाइ लकाते
राम राम मेन्ते
सीता देवी पिछाते।
जेता वीराए कुड़िलतना
जेदा वीराए सवा काद्

२. मुंडा जाति के करमा-गीत, 'आदिवासी', १९५२।

राम राम मेन्ते
दुर तना को मोसाते
राम राम मेन्ते ।
सेनो तना को लकाते ।
रामायण रे ओला कना
वृदु वावुए दुरतना
राम राम मेन्ते
सेटेर केदा को लकारे
राम राम मेन्ते
सीता देवी पिछाते ।

[राम की जय बोलते हुए, हे भाई हमलोग लका चलें। राम की जय-जयकार करते हमलोग सीता की खोज में लका चलें। कोई-कोई वीर उछल रहा है, कोई-कोई (हाथ में कुछ) घरे हुए हैं। राम की जय बोलते हैं, गाना गाते हैं और एक साथ उछलते हैं। सीता देवी की खोज के लिये राम की जय बोलते हैं।

जो कुछ रामायण में लिखा है, उसीको वुदू बावू गा रहा है। (वे) राम-राम बोलते हुए लका में उतर गये। मीता की खोज में, राम-राम बोलते हुए।]

उरि. गुपियाते गोपाल
हिजुलेना अकल वकल
एला बाछा सुगारे चोओ लेमा
अमा सुगड मिरू मोचारे चोओ लेमा
हिजु लेना डगर-डुगुर
ओडाराटी शोभा जाना
आम नातिन दोवा काना
रोका तोवा लोटा रे, चोओ लेमा
अमा सुगड मिरु मोचारे चोओ लेमा ।

यशोदा जी का जितना
उरी गुपी आलोम सेना
कंस राजा मेनाई बछा
मुदई मूरकाटारे—चोओ लेमा
अमा सुगडा मिरू मोचारे चोओ लेमा।

["गोपाल कृष्ण गाय चराकर थके-माँदे आये हैं। (यशोदा कहती हैं कि) हे सुग्गा के समान बच्चे, आओ, तुम्हें चूम लूँ।

तुम्हारा मीरू (पक्षी) के समान सुन्दर मुँह चूम लूँ। तुम जो डुगुर-मुगुर आये (इससे) सारा घर शोभायमान हो गया। मैंने तुम्हारे लिए लोटे में ताजा दूध रखा है। आओ, तुम्हारे सुग्गे के समान सुन्दर मुखडे को चूम लूँ।

यशोदाजी कहती हैं कि तुम गाय चराने मत जाओ। कस राजा जानी दुश्मन है। आओ, चूम लूँ। तुम्हारे सुग्गे के समान सुन्दर मुखडे को चूम लूँ।"][3]

पत्रकारिता

पत्रकारिता एक समाचार-पत्र या साहित्यिक पत्र-पत्रिका को सचालित अथवा प्रकाशित करने की कला को कहते हैं। पत्रकार वे ही कहे जा सकते हैं, जो समाचार-पत्रों के लिए लेखक-कार्य कर जीविकोपार्जन करते हैं। लेकिन ऐसे सपादक, जो पत्र के लिए लिखते तो कुछ भी नही, पर उसमें व्यक्त विचारों का कानूनी उत्तरदायित्व लि रहते हैं, और ऐसे उपसपादक, जो केवल सशोधन का काम करते हैं, वे भी पत्रकार ही कहलाते हैं।

प्रजातत्र और दलीय (Party) शासन के युग में पत्रकारिता एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है। अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था में विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतत्रता नही रहती। फलतः, ऐसी वस्तु-स्थिति में पत्रकारित का उपयोग सीमित हो जाता है; किन्तु, एक प्रजातत्रवादी देश में, जहाँ के

---

3. वही

समाचार-पत्र विचार की अभिव्यक्ति के लिए पूणत स्वतत्र है, पत्रकारिता एक बहुत बडी शक्ति होती है। ऐसे देश में पत्रकारिता जनता और सरकार के बीच की कडी बनी रहती है। यह सरकारी कार्यों और नीतिओ की व्याख्या करती है, उन्हें प्रभावित करती है और आवश्यक होन पर उनकी आलोचना और निदा भी करती है। यह जन-मत को अभिव्यक्त करती है और सर्वसाधारण के कष्टो और माँगो को सरकार के सामने प्रस्तुत करती है। यह सरकार और जनता, दोनो को ही सलाह देती है, दोनो का ही पथ-प्रदर्शन करती है।

पत्रकारिता निष्पक्ष भी हो सकती है और पक्षपात तथा स्वार्थ से प्रेरित भी। पहले प्रकार की पत्रकारिता समाचार और विचारो को बिना किसी लाभ के उद्देश्य से प्रकाशित कर देती है। सत्य के लिए आदर और मनुष्य की सेवा, ये ही इसके मुख्य सिद्धात है।

पक्षपातपूर्ण पत्रकारिता, इसके विपरीत, चेष्टा करती है कि दलगत भावनाएँ उत्तेजित हो, असतोष की आग भडके और विभेद और सदेह का वातावरण तैयार हो। यह शिष्टाचार और औचित्य को तिलाजलि देकर व्यक्तियो पर गोली की बौछार करती है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए यह दानव को देवता, निकृष्ट को महान् और दुर्जन को सज्जन घोषित करने में रचमात्र सकोच या हिचक नही महसूस करती।

कुछ ऐसे भी पत्रकार होते है, जो दलविशेष, सप्रदायविशेष या व्यक्ति-विशेष से सबद्ध पत्रों में काम करते है। इनकी पत्रकारिता निर्धारित दृष्टिकोण से तथ्यो को रँग कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करती है।

पत्रकारिता के लिए विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। इतिहास, भूगोल, राजनीति और अर्थशास्त्र का तो, पत्रकारिता के लिए, विशेष और गभीर ज्ञान अपेक्षित है। सफल पत्रकारिता के लिए बिजली की तेजी से लिखते चले जाने की क्षमता, तथ्यो को शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति, सतुलित निर्णय और विश्व की प्रचलित विचार-धाराओ का सम्यक् परिज्ञान भी सर्वथा आवश्यक है।

यह सत्य है कि कविता, नाटक, उपन्यास, आदि की तुलना में पत्रकारिता के विषय क्षणिक महत्त्व के होते है; किन्तु, यह भी स्मरण रखना उचित है कि

इन्ही विषयो से किसी देश के इतिहास का आगे चलकर निर्माण होता है। यही कारण है कि सभ्य और समुन्नत देशो में, पत्रकारिता की श्रमसाध्यता और उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर, पत्रकारो को पर्याप्त पारिश्रमिक, वेतन और सम्मान दिये जाते हैं । किन्तु, भारत में, कुछ तो पाठको की सीमित सख्या, विज्ञापनदाताओ में प्रचार पर कम-से-कम पैसे खर्च करने की मनोवृत्ति और पत्र-सचालको की शोषण-नीति के कारण, पत्रकारिता अभी आजीविका का अवलवनीय साधन नही वन सकी है । इसका परिणाम यह होता है कि आज भी हमारे देश में, पत्रकारिता के क्षेत्र में, विशेष रूप से भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता के क्षेत्र में, उत्कृष्ट प्रतिभा, शिक्षा और योग्यता-सपन्न व्यक्ति नही पाए जाते । वहुधा पत्रकारिता वे ही अपनाते है, जो और पत्रो से निराश हो चुके रहते हैं। पत्रकारिता ऐसे लोगो के लिए अतिम शरण-स्थल बनती है।

एक-प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार ने ठीक ही कहा है—"भारत की वर्त्तमान राजनीति सशक्त पत्रकारिता के विकास के सर्वथा विरोध में है।" इस प्रकार के कटु निर्णय का कारण यह है कि राजनीतिक दल स्वतत्र पत्रकारिता को पनपने का मौका नही देते । किंतु, इससे भी भयंकर स्थिति तो अब उत्पन्न हो रही है । पूँजीवाद के विस्तार के साथ-ही-साथ हम देख रहे हैं कि जितने भी प्रभावशाली पत्र थे, वे किसी-न-किसी बडे उद्योगपति के द्वारा खरीद लिए गए हैं और वे उसी ढंग की पत्रकारिता को प्रश्रय देते है, जो उनके प्रचार में आकाश-पताल एक कर देने को तैयार हो। यह स्वतत्र पत्रकारिता की पूर्ण समाप्ति है ।

पत्र पर इस प्रकार के उद्योगपतियों के बढ़ते हुए एकाधिकार और पत्रकारों के शोषण को खत्म करने के लिए भारत के प्रजातान्त्रिक नेताओं ने पत्रकारिता संबधी वास्तविकता, उसकी त्रुटियाँ और उनके मार्जन, स्वतंत्र पत्रकारिता के विकास और पत्रकारोंकी स्थिति के सुधार, आदि पर विचार करने की आवश्यकता समझी है। कुछ दिन हुए, भारत सरकार ने एक आयोग को इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। उसका प्रतिवेदन (Report) बड़े परिश्रम से तैयार किया

गया है। अब उसीके सुझावों के अनुसार लोकसभा ने एक अधिनियम स्वीकृत किया है। इस अधिनियम के कार्यान्वित होने पर निस्संदेह ही भारत में भी पत्रकारिता का मानदंड ऊँचा हो जाएगा।

—:—

सैनिक प्रशिक्षण (मिलिटरी ट्रेनिंग)

स्वतत्र भारत एक विशाल देश है। यूरोप से रूस को हटा दीजिए, तो जितना वड़ा भू-खड वच जाता है, उतने पर इस देश का विस्तार है। और, यहाँ के निवासियो की सख्या भी कितनी बड़ी है—सैंतीस करोड़ ! इतने वडे देश की दूर-दूर तक फैली हुइ सीमाओ की सुरक्षा सहज साध्य नही है। यों तो हमारी सेना सुसगठित और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित है; किन्तु यदि दुर्भाग्य से कभी व्यापक अशाति फैल जाय या वाहरी आक्रमण हो, तो हमारी इस स्थायी सेवा से काम नही चलने का। यही कारण है कि हमारी सरकार ने देश के उन नवयुवको को भी सामरिक प्रशिक्षण देने की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की है, जो स्थायी सेना में भर्ती होकर सैनिक बनने के बदले अन्य क्षेत्रो में कार्य करने का विचार रखते है।

युवको को सामरिक प्रशिक्षण देने के लिए सरकार ने (१) भारतीय टेरिटोरियल फोर्स, (२) नेशनल कैडेट कोर और (३) नेशनल वॉलंटियर फोर्स का संगठन किया है। इन सगठनो का ध्येय है—नवयुवकों के लिए बुनियादी सामरिक प्रशिक्षण की सुविधाओ को सुलभ वनाना तथा उनमें अनुशासन तथा सघ-बद्ध होकर काम करने की प्रवृत्ति को विकसित करना।

टेरिटोरियल फोर्स का उद्घाटन गवर्नर-जेनरल ने ९ अक्तूबर, १९४९ में ही किया था। इसमें १,३०,००० युवकों को भर्त्ती करने का लक्ष्य रखा गया था। १८ से लेकर ३५ तक के सभी स्वस्थ भारतीयो को, वे चाहे अशिक्षित ग्रामीण हों या उच्च शिक्षित नागरिक, इसके दोनो विभागों—ग्रामीण या नागरिक—में भर्ती होने के योग्य माना गया है। दोनो विभागों में प्रशिक्षण

की अवधियाँ भिन्न-भिन्न है । इस सैनिक-सगठन के सदस्यों के लिए यह नियम है कि उन्हें भारत की सीमा के बाहर सैनिक कार्य करने की बाध्यता नही होगी । यदि यह आवश्यक समझा भी गया, तो इसके लिए केन्द्रीय सरकार को विशेष आदेश जारी करना पड़ेगा। इसमें भर्ती होने की योग्यता का निर्णय, सांप्रदायिक या जातिगत बातों को ध्यान में रखकर नही किया जाएगा। असाधारण परिस्थितियों को छोडकर, टेरिटोरियल फोर्स के सदस्य अपने सामान्य जीवन-व्यापार करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र रहेंगे। राष्ट्रीय संकट के काल में यह देश की द्वितीय सुरक्षा-पक्ति के रूप में स्थायी सेना की महत्वपूर्ण सहायता करेगी ।

इस सेना में सभी सैनिक-विभाग सम्मिलित है—उदाहरण के लिए भारतीय आर्मर्डकोड, भारतीय आर्टिलरी, भारतीय इंजिनियर्स, भारतीय सिग्नल इनफैंट्री, भारतीय आर्मी आर्डनैंस कोर, भारतीय एलेक्ट्रिकल एड मेकैनिकल इंजिनियर्स औरपोस्टल युनिट्स। जो व्यक्ति भर्ती होने के योग्य सिद्ध होगा, उसे सात वर्षों के लिए सक्रिय सैनिक के रूप में भर्ती किया जाएगा और आठ वर्षों के लिए 'रिजर्व' में। सक्रिय सैनिकता की अवधि एक-एक बार करके दो साल तक के लिए बढाई जा सकती है ।

चूंकि टेरिटोरियल फोर्स की नागरिक शाखा में अपेक्षित संख्या में युवक भर्ती नही हुए, इसलिए भारत सरकार ने कुछ दिन पहले लोकसभा में एक विधेयक उपस्थित किया, जिसमें इस बात की व्यवस्था थी कि आवश्यकता पड़ने पर २० से ४० वर्षों तक के सरकारी तथा जनोपयोगी सस्थाओं के कर्मचारियो को टेरिटोरियल सेना में अनिवार्य रूप से भर्तीहोना पड़ सकता है ।

सैनिक प्रशिक्षण का दूसरा संघटन है—नेशल कैडेटकोर, जिसमें ऐसे छात्रों के भर्ती होने की व्यवस्था है, जो टेरिटोरियल सेना के योग्य युवकों की अपेक्षा अल्पवयस्क है। यह संघटन बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और आजतक प्राय: डेढ़ लाख छात्र इस योजना के अतर्गत प्रशिक्षित हो चुके है। इसमें छात्राओं की भी एक टुकड़ी है, जिसमें हजारों की संख्या में बालिकाओं का सैनिक

प्रशिक्षण सपन्न हो चुका है ।

चूँकि इस योजना के अतर्गत प्रशिक्षण की व्यवस्था माँग की तुलना में अत्यधिक अपर्याप्त सिद्ध हुई है, इसलिए एक ऑकजिलियरी केडेट कोर की स्थापना की भी आवश्यकता हुई । इसमें पाँच लाख से भी अधिक छात्र हैं ।

नैशनल वॉलटियर फोर्स स्वय सेवको को प्रारभिक सैनिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करता है। इसमें भर्ती होने वालो को अनिवार्य रूप से सैनिक सेवा करने की बाध्यता नही है । इस सघटन के तत्वावधान में सारे देश में प्रतिवर्ष प्रायः एक लाख व्यक्तियो के प्रशिक्षण के लिए अस्थायी व्यवस्था की जाती है ।

यह कहना आवश्यक है कि भारत की सुरक्षा का प्रत्येक भारतीय पर दायित्व है, और विशेष रूप से युवकों पर। अत, उनका तो धर्म ही है कि वे अपने जीवन का एक अश, इन सैनिक सघटनों में से किसी एक का सदस्य बनकर सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने में अवश्यमेव लगाएँ । सुविधा और विलासिता के जीवन के लिए लालायित रहने के बदले भारतीय युवको को यह सिद्ध कर दिखाना है कि यदि उनके देश पर कभी सकट आ पड़े, तो वे उसकी सुरक्षा के लिए साहस का ही परिचय नही देंगे, बल्कि सामरिक निपुणता का प्रमाण भी उपस्थित कर सकेंगे; क्योकि दूसरे के बिना पहले की सफलता सदैव सदिग्ध बनी रहती है ।

—:—

भारत की ऋतुएँ

सर्वविदित है कि पृथ्वी के सूर्य के चारो ओर चक्कर काटने से भूखण्डो का ऋतु-परिवर्त्तन होता है । पर चूँकि, भूखण्डो की पृथ्वी के गोलार्द्ध पर स्थिति का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है, भिन्न-भिन्न अक्षाशो पर स्थित देशो में ऋतुओं की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है । कोई देश अपेक्षाकृत ज्यादा गर्म होता है, कोई ज्यादा ठंडा । ऋतुओं के मानी में भारतवर्ष अन्य देशो की अपेक्षा ज्यादा समृद्ध है । यह छ ऋतुओ का देश है और वे ऋतुएँ है—ग्रीष्म, वर्षा, शरत्,

हेमन्त, शीत (शिशिर) और वसन्त। हरेक ऋतु का काल दो मासो का होता है। इस प्रकार वैशाख और ज्येष्ठ को ग्रीष्म, आषाढ और श्रावण (सावन) को वर्षा, भाद्र (भादो) और आश्विन (आसिन) को शरत्, कार्तिक और अगहन को हेमंत, पौष और माघ को शीत या शिशिर तथा फाल्गुन (फागुन) और चैत्र को वसन्त ऋतु कहेंगे। वैसे मोटे तौर पर तीन ही ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा और शीत——अनुभूत होती है, गोकि इनकी अन्तर्वर्ती ऋतुओ का अनुभव भी कठिन नहीं है।

चूँकि साहित्य और समाज पर देश की भौगोलिक स्थिति का प्रभाव पडता है, भारतीय साहित्य में षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासे की परिपाटी परम्परा से आ रही है। भारतीय काव्यशास्त्रियो ने ऋतुवर्णन को महाकाव्य का एक आवश्यक अंग माना है। हिन्दी कवियो में भी, संस्कृत के प्रभाव——स्वरूप, यह परिपाटी मिलती है। जायसी, आदि प्रेमाख्यानी कवियो में तो ऋतु-वर्णन या बारहमासे का एक अच्छा खासा साहित्य उपस्थित है। विरह के प्रसग में चूँकि उद्दीपनकारी प्रकृति का वर्णन होता है, अत हिन्दी के लगभग सभी कवियो ने ऋतुओं को वियोग-वर्णन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है।

ग्रीष्म——भारत मे यह ऋतु अपना प्रभाव शायद सब ऋतुओ से अधिक दिखलाती है। दिन पहाड-सा बडा होता है, रात चिडिया-सी छोटी। दोपहर को लू चलती है, बगूले उठते हैं। पसीने के मारे बुरा हाल होता है। अगर तंग जगह में सफर करना पडे, तो जान ही निकल जाय। मगर खुली जगह में, पानी के छिड़काव के बाद, रात की टहटह चाँदनी में सोने में मजा आ जाता है। सुबह-शाम का गंगा-स्नान भी इस मौसम में कम स्मरणीय नही होता। गर्मी का मौसम अमीर-गरीब दोनो के लिए समान रूप से सुखदायी अथवा दु:ख-दायी होता है। हैजे की बीमारी दोनों को होती है। शादी-ब्याह का यही मौसम है। इसी मौसम में किसान खेत-खलिहान से फुर्सत पाकर बारात-बारात करता है। गाँव-गाँव मे मंडप छाया जाता है, बाजे बजते हैं, रोशनी जगमगाती है, नाच-गाने, हँसी-मजाक होते हैं। एक नई रवानी आती है। अमीर घर में खसखस की टट्टी लगाता है, गुलाब-जल का छिडकाव करता है, इत्र-फुलेल से

वस्त्रों को सुवासित करता है। शहरों में शाम को मलमली अँगरखा झाड़कर निकलनेवाले बाबुओं का कुल्फी मलाई, आइसक्रीम, लस्सी और पानी की दुकानों पर जमाव देखने लायक होता है। लीची, जामुन, आम और कटहल ये सब इसी ऋतु के अमृत फल हैं।

निर्धन भी घर को मिट्टी से लीप-पोत कर, छप्पर के पुआल को भीगोकर आराम कर लेता है और कभी-कभी ठढई तथा छाछ का आनन्द भी उठा लेता है।

खेती के लिहाज से यह एक अत्यन्त आवश्यक ऋतु है। जब खेत अधिक तपता है, तभी अच्छी फसल होती है। गर्मी के कारण खेत के घास-पात, कीड़े-मकोडे मर जाते हैं। मिट्टी का विजातीय द्रव्य निकल जाता है। सही है कि घास के सूख जाने से मवेशियों को तकलीफ होती है, पर दूब कुछ हद तक उनकी जरूरतें पूरी करती है। और, वैशाखनन्दन तो इसी ऋतु में मोटे-ताजे होते हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि ने बडे ढग से इस ऋतु का वर्णन किया है--

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥
बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँहि।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहों चाहत छाँह॥

वर्षा—वर्षा की कल्पना में एक अजीब जादू है। 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' की कल्पना करके कालिदास का प्रकृति-मुग्ध हो जाना अस्वाभाविक न था। साधारण आदमी का मन भी वर्षा-ऋतु की कल्पना करते ही मयूर-सा नाचने लगता है। आषाढ के बादल आसमान पर चढते हैं, हाथियों के झुड की तरह। प्रथम फुहार से तपी धरती सोंध गध फेंकने लगती है। मुरझायी लताएँ हरी हो उठती हैं। एक नवजीवन की हरियाली छा जाती है। खेतों में धान बोया जाता है। रिमझिम के बीच जब रोपनी गीत गाकर धान रोपी जाती है, बीच-बीच में मेढक टर्र करते हैं और बगुलों की पाँति उड़ती है, तो एक समा बँध जाता है। हरिऔध जी की ये पक्तियाँ सार्थक हैं—

सरस सुन्दर सावन मास था
घन घटा नभ में घिर घूमती।
विलसती जिसमें बहुधा रही
छविवती उड़ती बकमालिका।

आदिकवि वाल्मीकि ने वर्षा-ऋतु का जो वर्णन किया है, वह संस्कृत-साहित्य की अमर निधि है।

हिन्दी में तुलसीदास, निराला इत्यादि ने इस ऋतु को अमर किया है। आसमान में घिरने-घुमड़ने वाले बादलों और कौंधने वाली बिजली को गोस्वामी ने इन पंक्तियों में मूर्तिमान किया है—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।
दामिनी दमक रही घन माँही।
खल की प्रीति जथा थिर नाही।

बादलों के संगीत को निराला के बादल-राग में सुनिए—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर!

बरसात में उमड़कर बहनेवाली नदियों और हहराकर ढलनेवाले निर्झरों की गति उन्हीं के शब्दों में देखिए—

धँसता दलदल,
हँसता नद खल्-खल्,
बहता, कहता कुलकुल कलकल कल्कल।

शरद्—वर्षा के बाद शरद ऋतु आती है—'वर्षा विगत शरद ऋतु आई' (तुलसीदास)। आसमान साफ हो जाता है। यों कभी-कभी इन्द्र-धनुषी बादल दिखाई पड़ जाते हैं। धरती का कर्दम दूर हो जाता है। पानी इतना स्फटिक हो जाता है कि आदमी चेहरा देख ले। कमल-कुमुद खूब शोभा देते हैं। हरसिंगार इस ऋतु का विशेष फूल है। धान की बालियाँ अब फूटने लगती हैं। खंजन इस ऋतु का विशेष पक्षी है, जो अन्य ऋतुओं में दिखाई

नही पडता । अगस्त्य नक्षत्र आसमान का विशेष शृंगार करता है । इस काल में अनेक त्योहार मनाए जाते है, जिसमें प्रसिद्ध है, दुर्गापूजा । एक प्रकार से हम इसे त्योहारो का मौसम कह सकते है।

हेमन्त--इस ऋतु में ठढक वढने लगती है । शाम को ओस या हिम गिरने लगता है । इस ऋतु में धान की कटनी होती है। गाँव-गाँव, घर-घर 'नवान्न' का महोत्सव होता है ।

शीत--शीत ऋतु अमीरों की है, गरीबो की नही । इस ऋतु में, खास-कर पूस-मास में इतनी ठढक वढ जाती है कि फुटपाथ पर सोनेवाले अनेक अपाहिज और भिखमगे इस धरती से उठ जाते है । गरीवो को ठिठुर-ठिठुर कर रात काटनी पडती है । सबको घूरे की आग भी नसीव नही होती । अमीरो के क्या कहने है। शरीर पर कीमती-से-कीमती ऊनी वस्त्र है । ऊनी वस्त्रो में सिलाई की काट अच्छी आने से, अमीरो की शारीरिक शोभा वढ जाती है । वाबुओ के कोट पर ओभर कोट पडा होता है, गले में मफलर, माथे पर फेल्ट हैट । वे उन गरीवो को क्या जाने, जो आधी धोती कमर में और आधी सर पर रखकर दिन काटते है और जिनकी औरतें फटे आचल में वच्चो को गर्म रखती है । अमीर इस मौसम में गिजा खाते है और फुर्तीला वनने को टेनिस खेलते है । रात वडी होती है । अत कवियो ने विरह की रात और सुहाग की रात के प्रसग में इस ऋतु का खूब वर्णन किया है ।

न कट सकी न घट सकी
विरह-घिरी विभावरी ।

तुषार से लगा रहा उमीद मैं
वहार की थी

पूस का दिन कितना छोटा है, विहारीलाल ने इन पक्तियो में वतलाया है---

आवत जात न जानिये, तेज तेजहि सियरान ।
घरहि जमाई लौं, घट्यो, खरौ पूस दिनमान ।।

वसन्त—वसन्त सौंदर्य की सीमा है। इसलिए तो कालिदास ने कहा था—'सर्व प्रिये ! चारुतर वसन्ते'। स्वभावत: वसन्त से कला और साहित्य को बहुत प्रेरणा मिली। वसन्त और कला के सम्बन्ध का प्रमाण देते हुए ज्योतिषशास्त्र ने बतलाया है कि जिस व्यक्ति का जन्म वसन्त-पंचमी के दिन होता है, वह ललित कलाओं का प्रेमी होता है। (निराला जी का जन्म इसी दिन हुआ है)।

इस वसन्त की वासन्तिकता के बीच भगवान् शंकर को कामदेव के मोहन-रूप ने मोहने की चेष्टा की थी और तब महादेव के तीसरे नेत्र ने उसे भस्म कर दिया था। प्रतिवर्ष होलिका-दहन अन्य बातों के अतिरिक्त इस घटना की स्मृति भी दिला जाता है। वही स्वस्थ शृंगार भारतीय साहित्य ने वसन्त में ढूंढा है। अत: हमारे इस सांस्कृतिक पर्व में रति और विरति का अनूठा सामञ्जस्य है। इसीलिए जहां इसे एक ओर 'मदन महोत्सव' की संज्ञा दी गई है, वहाँ दूसरी ओर 'शतपथ ब्राह्मण' ने वसन्त को ही ब्रह्म माना है।

फागुन में पुराने पत्ते झड़ने लगते हैं। नवीन कोपलें निकलती हैं। वसंत के इस अनुराग-विराग-समन्वित रूप की स्पष्ट झाँकी कबीर में मिलेगी। एक ओर विराग की यह अन्योक्ति है—

फागुन आवत देख करि बन रूना मन माहि।
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाहिं॥

दूसरी ओर, मधुर भाव की पुजारिन कवि की आत्मा परम प्रियतम से चुनरी पहनकर फाग खेलना चाहती है—

"मैं तो वा दिन फाग मचैहो
जा दिन प्रिय मेरे द्वारे ऐहैं।
रंग वही, रंगरेजवा ओही
सुरँग चुनरिया रँगैहों।"

इस प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों के लिए होली 'मृत्यु' और 'महा-मिलन' का प्रतीक बनकर आती है।

जायसी ने बारहमासे में होली का विस्तृत विवरण दिया है। मीराबाई की रचनाओ में भी होली के कई पद है। इन पदो में दग्ध हृदय का तीव्र विरह-निवेदन है।

आधुनिक कवियो ने विभिन्न रूपो में वसन्त के अनुराग-विराग का चित्रण किया है।

—:—

भारतीय पोशाक

राष्ट्रीय परिधान की समस्या

भारत अनेक अर्थों में एक महादेश है। यहाँ नाना जातियाँ, धर्म और भाषाएँ है। गर्म-से-गर्म और ठढे-से-ठंढे प्रदेश है। भौगोलिक स्थितियो और विभिन्न अभ्यस्तियों एव प्रभावो के कारण एक प्रदेश का खान-पान, ओढावा-पहिरावा दूसरे प्रदेश से बहुत भिन्न है। अगर पजाबी रोटी और गोश्त अधिक पसन्द करते है, तो बगाली भात और मछली (जलेर फल) चाव से खाते है। अगर मद्रासी झाल अधिक खाते है, तो बिहारी मिठाई। पोशाको का भी यही हाल है। अगर पजाबी पाग बाँधते है, तो महाराष्ट्री पगड़ी अथवा कुल्ही। बिहारी दुपलिया टोपी, कलीदार कुर्त्ता, पट्टा और खूँटिया धोती पहनते है, तो बगाली चूनदार धोती और बगला कुर्त्ता पहनते है और नगे सिर रहत है। इन सबका ऐसा परस्पर प्रभाव पडा है कि एक-एक घर एक-एक महादेश बना है। एक ही घर में अगर दादा मिर्जई, पेंचदार पगड़ी और चमरौधा जूता पहनते है तो बडे चाचा डिलेवाल जूता, कामदार कुर्त्ता और अच्छी टोपी डाटते है; बाप अल्बट जूता, खद्दर के कोट और गाँधी टोपी में रहते है और बेटा अबाराकट शर्ट पहनकर पिकनिक पर जाते है, सूट डाटकर कॉलेज जाते है, कुर्त्ता-धोती में रग खेलते है तथा चूडीदार और शेरवानी पहनकर राजनतिक सभाओं में शरीक होते है। स्त्रियो के सम्बन्ध में ज्यादा दिक्कत नही है; क्योंकि साडी के सौंदर्य और उपयोगिता ने अन्य सभी नारी-परिधानो को मात कर दिया है। अब तो पश्चिम की स्त्रियाँ भी साडी की ओर आकृष्ट होने लगी है

और साडीनुमा गाउन के अनेक डिजाइन निकले है। पर, पुरुषों में बड़ा झमेला है। सही है कि चूड़ीदार और शेरवानी को दफ्तरी पोशाक मान लिया गया है; किन्तु यह परिधान लोकप्रिय नही हो सका है। अधिकाश राज्यों के मन्त्रिगण धोती कुर्ता ही पहनते है। अधिकाश अफसर, वर्दीधारी महकमों के आदमियों को छोड़कर, पतलून और बुशशर्ट में ही रहते है। वस्तुत. गर्म देश के लिए चूडीदार और शेरवानी बहुत आरामदेह पोशाक नही है।

प्राचीन परिधान

कपडे की जरूरत आदमी ने तब महसूस की होगी, जब उसमें अपने शरीर के प्रति लाज उत्पन्न हुई होगी। शायद सबसे पहले ईव (हौवा) पेड की डाली की आड में खडी हुई होगी और शायद इसके बाद आदम और हौवा दोनों ने ही अपनी कमर में पत्ते बांधे होगे।

गुप्तांगो को ढकने का आदेश देते हुए ऋग्वेद मडल ८ सूक्त ३३ मन्त्र १९ में ऋषि ने कहा कि हे नारि ! नीचे देख, ऊपर न देख, होशियारी से पैर रख, ताकि तेरा गुप्ताग न दिखाई पडे; क्योकि स्त्री-वेष में ब्रह्मा ही तेरे भीतर आविर्भूत हुआ है—

अध: पश्यवमोपरिसन्तरा पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दशन् स्त्रीहि ब्रह्मा बभूविथ ॥

वेदो में अनेक प्रकार के वस्त्रो और उनके बुने जाने का उल्लेख मिलता है। कपड़ा बुनना स्त्रियो का एक प्रधान काम था[1] पुरुष और स्त्रियो के कपड़े भिन्न-भिन्न हुआ करते थे और पुरुष के लिए स्त्रियों द्वारा पहने गए कपडे का पहनना मना था।[2] पर इसी से सिद्ध होता है कि पुरुष और नारी के कपड़े अलग-अलग रहकर भी लगभग एक से थे अर्थात् दोनो ही लपटने वाला वस्त्र

1. वयन्ती वस्त्र वयन्ती नारीव।
2. अश्लीयला तनूर्भवति रूशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वोवाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥
ऋग्वेद १०। ८५। ३०

पहनते थे। स्त्रियो का सामान्य वस्त्र साडी ही था। भद्र महिलाएँ साड़ी के ऊपर उत्तरीय भी डालती थी।

कुछ लोगो का मत है कि वैदिक काल में लम्वे वस्त्र धोती-साडी एवं उत्तरीय के रूप में पहने और ओढे जाते थे, पर तव सिले हुए कपडो का रिवाज न था। जब यमन भारतवर्ष में आए, तव आर्यो ने उनसे सिले हुए वस्त्र पहनना सीखा। किन्तु, यह धारणा गलत है; क्योकि वेदो में सिले हुए वस्त्रो का जैसे 'पेशसू'[3] (घँघरा, जिसे नृत्य करते समय स्त्रियाँ पहनती थी), 'तुप'[4] (झालर, किनारी, वा गोटा) तथा सिलाई के यत्रो जैसे 'सूची'[5] (सूई) एव 'भुरिज'[6] (कैची) का भी उल्लेख अनेक स्थानो पर हुआ है। वैदिक साहित्य में गिनाए गए वस्त्रों से ऐसा जान पडता है कि उस समय भिन्न-भिन्न कामो एव अवसरो के लिए भिन्न-भिन्न वस्त्र थे। जैसे ऊपर उल्लेख किया गया, नृत्य करने के लिए स्त्रियाँ घँघरा पहनती थी, विवाह के समय 'वाधूय. वास अर्थात् शादी का विशेष 'कपड़ा पहना जाता था। सर-पर 'उष्णीष'[7] (पगडी) रक्खा जाता था। ऋषि[8]-गण 'द्रापि'[9] (लम्बा चोगा) पहनते थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में इस आशय का विचार प्रकट किया है कि चोगा मध्य एशिया से भारत में उधर से आनेवाले ऋषियो के साथ आया। किन्तु, वेदो में 'द्रापि' का वर्णन मिलने के कारण उनके इस

---

3. ऋग्वेद २। ३। ६
4. तैत्तिरीय सहिता ४। १। १। ३
5. ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि में सूची का उल्लेख कई स्थानो पर हुआ है। शतपथ में सूई के तीन भेद माने गये हैं—

   त्रय्य: सूच्यो भवन्ति। लोहमय्यो रजता हिरण्य।
6. ऋग्वेद ८। ४। १६
7. ऋग्वेद १०। ८५। ३४
8. अथर्ववेद १५। २ ५
9. ऋग्वेद १। ११६। १०

कथन को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। कपड़े सादे भी होते थे और रंगीन भी। वेद में भूरे चोगे, इत्यादि का वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद में एक वाक्य आया है—युव वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोर छिद्रा मतवो हि सर्गा। इस वाक्य में आये हुए 'वस्त्राण पीवसा' से ज्ञात होता है कि वेदकालीन वस्त्र मोटे (पीवसा) हुआ करते थे। उस समय रेशमी और ऊनी वस्त्र भी बनते थे। अथर्ववेद में और शतपथ ब्राह्मण में 'तार्प्य' (रेशमी वस्त्र) का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में लिखा है कि कवि मनीषी मनन के साथ ऊन के सूत से (ऊर्णासूत्रेण) कपड़ा बुनते हैं।[10] अथर्ववेद में अच्छे कम्बल को साफकर उस पर बैठने का आदेश किया गया है।[11]

रामायण-महाभारत-काल

रामायण-महाभारत-काल में तपस्वी और उनकी पत्नियाँ प्रायः 'वल्कल' पहना करती थी। 'वल्कल' भी एक प्रकार का वस्त्र था, जो लता और वृक्षों के रेशों से बनता था। रामायण-काल में रेशमी वस्त्र का चलन ज्यादा था।

'सीताजी ने जिस समय नवोढा (नववधू) के रूप में दशरथ के राजमहल में प्रवेश किया था, उस समय उन्होंने रेशमी वस्त्र पहन कर ही उसका स्वागत किया था। इसी तरह भरत जिस समय श्री रामचन्द्र जी से भेंट करने के लिए गए, उस समय उनकी पोशाक भी रेशमी ही थी। रावण सोने के समय भी रेशमी वस्त्र पहनता था। सीताजी जिस समय दण्डकारण्य में विरह-विह्वल बैठी थी, उस समय भी उनके शरीर पर रेशमी ही साड़ी थी। रामायण के अयोध्याकाण्ड के वर्णन से यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि उस समय साधारण दासी की साड़ी तक रेशमी ही थी।'[12]

महाभारत के समय भारतीय आर्य पुरुषों की पोशाक बिल्कुल सादी थी। दो धोतियाँ ही उनकी पोशाक थी। एक धोती कमर के नीचे पहन ली जाती

---

10. सीसेन तन्त्र मनसा मनीषिणः ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। यजुर्वेद १९।८०

11. समले मलं सादयित्वा कम्बले दुरित वयम्। अथर्व० १४।२।६७

12 खादी मीमांसा

थी और दूसरी शरीर पर, चाहे जैसे, डाल ली जाती थी। उल्लिखित दोनों वस्त्रो के सिवा भारतीय आर्यों की पोशाक में और कपडे न थे। आजकल स्त्रियाँ जैसे लहँगे आदि वस्त्र पहनती है, वैसे उस समय न थे; वल्कि पुरुषो की तरह, पर उनके वस्त्रो से लम्वे होते थे।[13]

महाभारतकाल में कपडे वडे महीन वनने लगे थे, कपडो की रगाई भी होती थी और सूती, ऊनी एव रेशम का व्यवसाय भी होता था। सभापर्व में युधिष्ठिर को अन्य राजाओ द्वारा दिये गए उपहारो का दीर्घ वर्णन है। उसमें कहा गया है कि चोल और पाण्डव देश से हीरे-मोती एव सूक्ष्म वस्त्र, उत्तर देश से अलकार, दुशाले एव मृगचर्म, और हिमालय-प्रदेश से ऊनी, सूती एव रेशमी वस्त्र उपहार-स्वरूप मिले थे।

मध्यकालीन वस्त्र

'आपस्तम्व धर्म सूत्र' तथा 'भिक्खुनी पातिमोक्ख' महावग्ग' जैसे वौद्ध-ग्रंथों में 'कुचक' (पुरुषो के पहनने का लम्वा वस्त्र) का उल्लेख हुआ है। मौर्य, शुङ्ग और शतवाहन के राज्यकाल में भी 'कचुक' का व्यवहार होता था। कचुक एक लम्वा अंगरखा-सा वस्त्र होता था। उस काल में लम्वा अगरखा अथवा अचकन का काफी प्रचार था। इसकी लम्वाई पूरी आस्तीन की होती थी, और नीचे जँघे तक भरहुत, भीटा, साँची की मूर्तियाँ इसी प्रकार के वस्त्रो को पहने हैं। शुंगकाल की, भीटा से प्राप्त एक मूर्ति के अचकन में छाती पर वन्द करने के लिए घुडियाँ लगी है। समुद्रगुप्त की जो मूर्ति मिली है उसमें भी वह लम्वा-सा अचकन पहने हैं। 'सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्को से पता चलता है कि राजाओ की वेश-भूषा में वहुधा मुकुट, लम्वे कोट, पायजामा तथा कमरवन्द, आदि होते थे। रानियाँ विशेषकर घाँघरा और करधनी प्रयोग करती थी।[14]*

13. महाभारत मीमासा

14. श्री भास्करनाथ मिश्र (गुप्तकालीन समाज)

*प्राचीनकालीन वस्त्रो का विवरण श्री शिवपूजन सिह के 'भारतीय परि-धान मीमासा' शीर्षक निवन्ध पर आधारित है।

मुगलकाल में साधारण जनता अपनी पुरानी पोशाक पहनती थी यानी धोती, अचकन और पगडी। ठढे पहाडी इलाको के लोग पायजामा पहनते थे। राजकीय विभागो से सम्पर्क रखनेवाले मुलाजिम, शासक और उनसे प्रभावित रईस पायजामा, अचकन, आबा-क़ाबा और शाफा पहनते थे।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में कुछ दिनो तक मुगलकालीन वस्त्र चले। आगे चलकर अँगरेजी पोशाक का फैशन बढा। तब गाँधीजी का आन्दोलन हुआ। विदेशी वस्त्रो की होली खेली गई। पतलून और मलमल की जगह मोटी खादी ने ले ली। सिर पर गाँधी-टोपी लगी। इस गाँधी-टोपी की भी एक कहानी है। इसके आविष्कार का श्रेय दक्षिण अफ्रिका के उस जेलर को है, जिसके जेल में गाँधीजी क़ैद थे। बात १९१० की है। तब गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह करने के कारण कैद कर लिए गये थे। गाँधीजी के साथ जेल में अनेक अन्य गोरे और काले कैदी भी थे। जेलर ने कालो को गोरों से अलग करके पहचानने के लिए एक खास किस्म की उजली टोपी बनवाई और सबसे पहले गाँधीजी को दी। गाँधीजी को इस टोपी पर इतना अभिमान हो गया कि जेल से निकलने पर उसे पहनते रहे। तब इसका नाम गाँधी-टोपी पड गया। आगे चलकर गाँधीजी ने टोपी पहनना छोड दिया, पर उसके पहननेवालों की सख्या करोडो की हो गई।

राष्ट्रीय पोशाक की माँग

जब देश स्वतन्त्र हो गया तो स्वभावत. राष्ट्रीय झडे की तरह राष्ट्रीय पोशाक की भी माँग हुई और बहरहाल चूडीदार एव शेरवानी ने राष्ट्रीय पोशाक की इज्जत पाई। वैसे ये दोनो ही चीजे विदेशी नही दीखती। शेरवानी अरब से आई हो, इसका कोई प्रमाण नही। अरब-जैसी गर्म भूमि के लिए छाती कसनेवाली शेरवानी का जन्म देना अस्वाभाविक है। इस्लाम की धार्मिक पुस्तको में भी इसका उल्लेख नही मिलता। प्रत्युत् जैसा ऊपर देखा गया है, भारत की प्राचीन मूर्तियो में अचकन या शेरवानी-सा वस्त्र धारण करनेवाली आकृतियाँ मिलती है। कुछ लोग ऋग्वेद के 'अत्क' शब्द से शेरवानी

का सम्बन्ध जोड़ते हुए इसे भारतीय कहते हैं और मानते हैं कि अत्क (भीतर के वस्त्रो को ढँकनेवाला लम्बा-सा वस्त्र) शेरवानी का प्राचीन रूप था। 'हर्षचरित' में वर्णित 'चण्डातक' और परवर्तीकाल के ग्रथो में आया हुआ 'आतक' भी उसी प्रकार के वस्त्र का द्योतक है। कुछ मूर्तियाँ जघिया पहने भी मिली है। अत. यदि पायजामा और शेरवानी का प्राचीन रूप था। 'आतक' भी उसी प्रकार के वस्त्र का द्योतक है। कुछ मूर्तिया जघिया पहने भी मिली है। अत. यदि पायजामा और शेरवानी भी राष्ट्रीय पोशाक बनती है, तो राष्ट्रीय भावना को चोट नही पहुँचती; क्योकि उनमें विदेशीपन नही है। सवाल सहूलियत का है। चूडीदार और शेरवानी उत्सवो या खास अवसरो के लिए ही उपयुक्त है। सदा व्यवहार में आनेवाले वे वस्त्र नही है। धोती की तरह उठने-बैठने, चलने-फिरने और देर तक सुखपूर्वक पहने रहने में आराम देनेवाला दूसरा वस्त्र नही है, ऐसा तो ससार के सभी विद्वान् मानते है। पर यह सही है कि यह पूर्ण पोशाक नही है। लेकिन ससार के अन्य देशो में भी भिन्न-भिन्न कामो और समयों के लिए भिन्न-भिन्न पोशाकें होती है। अत यदि भारत में भी भिन्न-भिन्न पोशाकें सहूलियत के मुताबिक चलें तो एतराज नही होना चाहिए। हमारा विश्वास है कि अनेक सकट से निकल जानेवाला भारतवर्ष निकट भविष्य में अनुकूल राष्ट्रीय परिधान ढूंढ लेगा।

भारतीय फिल्म

करीब ४० वर्ष पहले की बात है, कुछ प्रदर्शको ने बम्बई में इगलैड के बादशाह पचम जार्ज के राज्यारोहण का चल-चित्र दिखलाया। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रदर्शको ने स्थायी रूप से एक प्रदर्शन-गृह बना डाला और बाहर से फिल्में मँगाकर दिखलाना शुरू किया। इस प्रकार भारतीय फिल्म-उद्योग की महज मामूली-सी शुरुआत हुई। इसमें चार व्यक्ति—जे० एफ० म्यून, एफ० एच० मिधवा, अलेक्जेन्डर हेग और चुन्नीलाल मुनीम सबसे आगे आये। इनका काम था विदेशी मूक फिल्मो को मँगाकर सिनेमा-घरो में प्रदर्शित

करना। इस प्रकार के सिनेमा-घर-सम्पूर्ण उत्तर भारत में छाये हुए थे। अमेरिकी फिल्मों का सर्वत्र बोलबाला था।

ऐसे समय में ही कुछ भारतीय उद्योगपतियों का ध्यान फिल्म-निर्माण की ओर गया। सबसे पहले महाराष्ट्र के दादा फडके ने चार रीलों की पौराणिक फिल्म "हरिश्चन्द्र" बनायी, जिसमें राजा हरिश्चन्द्र के सत्य-प्रेम की कथा वर्णित थी। यह प्रथम भारतीय चल-चित्र था। इसका प्रथम प्रदर्शन बम्बई के कोहनूर सिनेमा-घर में हुआ। यह चित्र इतना लोकप्रिय हुआ कि दादा फडके ने देश के विभिन्न भागों में इसके प्रदर्शन का प्रबन्ध कराया।

अपने प्रथम प्रयास में ही आशातीत सफलता पाने से फडके का उत्साह बढ़ा हुआ था। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने कई पौराणिक चित्र बनाये। पर दुर्भाग्यवश उन्हीं दिनों उनके साझीदारों में मतभेद हुआ और वे खिन्न होकर फिल्म-व्यवसाय से अलग हो गये। उनके बाद जो लोग इस व्यवसाय में आये, वे अमेरिकन फिल्मों की प्रतियोगिता में टिक नहीं पाये। १९२८ ई० में इंडियन सिनेमेटोग्राफ-कमेटी नियुक्त हुई, जिसने इस भारतीय उद्योग की समस्याओं पर विचार करके अपने सुझाव दिये। पर उन सुझावों की ओर किसीने विशेष ध्यान नहीं दिया।

इसके बाद ही विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के लक्षण प्रकट हुए। फिल्म-कम्पनियों के आगे बड़ी कठिन समस्याएँ उपस्थित हो गयीं। कुछ ने समय के बहाव के विरुद्ध सवाक्-चित्रों के निर्माण में हाथ लगाया और वे फेल हो गईं। कई उद्योगपतियों का दिवाला पिट गया। फिर भी आर्देशिर ईरानी ने साहस नहीं त्यागा और १९३१ में "आलमआरा" नामक बोल-पट तैयार कर लिया। आर्थिक मंदी के हटने पर बोल-पट का जोर-शोर शुरू हुआ। शुरू में पूना के 'प्रभात' और कलकत्ता के 'न्यू थियेटर्स' ने खूब नाम कमाया। इन कम्पनियों ने उन दिनों ऐसे-ऐसे कलात्मक चित्र बनाये, जिनका रेकार्ड आज भी अछूता है।

१९३१ से लेकर १९३८ तक का समय भारतीय फिल्मों का स्वर्णकाल रहा। इस उद्योग का आर्थिक पहलू जैसा भी रहा हो, हम भूल नहीं सकते कि शान्ता-

रस, बरुआ, देवकी बोस, हिमाशु राय जैसे निर्देशकों और चन्द्रमोहन, सहगल, नवाब, पृथ्वीराज, यमुना, कानन, शान्ता आप्टे, पहाडी सन्याल जैसे कलाकारों के उच्चतम अवदान हमें उन्ही दिनों प्राप्त हुए । इस अवधि में ही भारतीय फिल्मों की कथावस्तु में कई प्रकार के परिवर्त्तन हुए । प्रारभ में सनसनीखेज चित्र बनाये जाते थे । फिर धार्मिक फिल्मों की बाढ आयी । उनसे तृप्ति हो जाने पर निर्माताओ का झुकाव सामाजिक कथावस्तु की ओर गया और समाज-सुधार-सम्बन्धी फिल्में बनायी जाने लगी । 'अछूत-कन्या', 'चण्डीदास', 'जागरण', 'मुक्ति', 'दुनिया न माने', 'आदमी' और 'जेलर' जैसे उत्कृष्ट कोटि के चित्र बने और दर्शको ने उनका स्वागत किया ।

ये भारतीय फिल्मो के कलात्मक उत्कर्ष के दिन थे, जबकि व्यावसायिक कठिनाइयो के बावजूद निर्माताओ की नजर हमेशा प्रगतिशील विषय-वस्तु और प्रतिभाशील कलाकारो की तलाश किया करती थी । ऐसे समय में ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड गया और भारतीय फिल्म-उद्योग का नया अध्ययन शुरू हुआ । तबसे अब तक दो प्रवृत्तियाँ बडी स्पष्ट होकर सामने आयी हैं । एक तो यह कि निर्माताओ की दृष्टि कलात्मक उत्कर्ष से ज्यादा सस्ती, भावुकतापूर्ण और लोक-चित्रों की ओर रहती है । दूसरी, इस व्यवसाय में अब अधिकाधिक पूँजी नियोजित की जाने लगी है; हालाँकि प्रति चित्र-निर्माण में आज युद्धपूर्व की तुलना में बहुत कम पैसे खर्च किये जाते है । इन प्रवृत्तियो ने इस उद्योग पर गहरा असर डाला है । आज की फिल्मो का स्तर बडा ही नीचा हो गया है और कोई भी ऊँचे पाये का नया कलाकार नही आया है, जिसे हम पुराने महा-रथियो की पाँत में बैठा सकें । आज की अधिकाश फिल्मो में प्रेम के त्रिकोण-वादी फॉर्मूला को किन्ही घटनाओ के ताने-बाने के साथ फिट कर दिया जाता है । नतीजा है, सर्वत्र बासीपन और दुहराहट । देश और समाज के जीवन-सघर्ष की झलक तो दूर की बात है, सुरुचिपूर्ण मनोरजन भी नही हो पाता। हाँ, गानो की अलबत्ता भरमार रहती है और भारतीय सगीत के लिए पश्चिमी आर्केष्ट्रा की पृष्ठिभूमि देने का अच्छा प्रयास किया जाता है ।

इस अवधि में भारतीय फिल्मो ने आर्थिक दृष्टिकोण से अच्छा विकास किया

है। लड़ाई के पहले के दिनों में इस उद्योग की सम्मिलित आय लगभग तीन करोड़ रुपयों की थी, जो आज करीब १४ करोड के लगभग है। आज इस व्यवसाय में १० करोड से अधिक की पूंजी लगी है और करीब २० हजार लोगों की इससे जीविका चलती है। पूरे देश में लगभग ६० स्टूडियो है, जहाँ फिल्म-निर्माण होता है और निर्माता-कम्पनियों की सख्या करीब ३०० है। वितरक १५० है, जिनमें ८ अमेरिकन फिल्मो का वितरण करते है और एक ब्रिटिश फिल्मो का। इनकी सख्या रोज बढती ही जा रही है।

भारतीय फिल्मो का स्तर नीचा रहने पर भी उनकी खपत एशिया के उन भागो में हो जाती है, जहाँ भारतीय जनता किसी-न-किसी अनुपात मे है। इस प्रकार विदेशो मे भी कुछ आय हो जाती है, पर इसकी रकम मामूली-सी है। किन्तु इस आय में वृद्धि होने की सभावना है, बशर्ते कि कुछ उन वसूली और बुनियादी बातो पर ध्यान दिया जाय।

युद्धोत्तर काल में इस उद्योग का जैसा विस्तार हुआ है, वह अभिनन्दनीय अवश्य है, पर नाकाफी है। ३० करोड की आबादीवाले इस देश में केवल २५०० सिनेमा-घर है, जिनमें से २,००० घरो में भारतीय चित्रो का प्रदर्शन होता है। उधर ब्रिटेन में ४ करोड की आबादी में ५००० सिनेमा-घर है, और अमेरिका में १२ करोड़ की आबादी में १७,००० प्रदर्शनगृह है। इसलिए अभी भारत में फिल्मों के विस्तार का बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। अभी तो केवल ६०० शहरों में ही सिनेमा-घर है। करीब २,००० शहर और लाखो गाँवो में प्रदर्शन का कोई प्रबन्ध नही है। अगर इस बाजार का उपयोग किया गया, तो यह उद्योग बड़ी तेजी से आगे बढ़ेगा।

पर यह बाजार केवल सिनेमा-घर खोलने से पकड़ में नही आयगा। इसके लिए फिल्मो में जनजीवन की झाकी रहनी चाहिए। जब तक कथावस्तु, निर्माण और अभिनय का स्तर ऊँचा नही उठेगा, वास्तविक उन्नति सभव नहीं है। विषय और अभिनय में गिरावट आयी है, उसको तो सबसे पहले रोकना है। फिर टेकनीक में भी सुधार करना चाहिए। रगीन चित्र बनाने की ओर भी ध्यान देना है। अब तक इस दिशा में लगातार कोशिश नही की गयी है। इनके टुकड़े

फिल्मो में प्रयास किया गया है, पर विशेष सफलता नही मिली है। इधर एक दो रगीन चित्र बने है।

फिल्मी दुनिया के वातावरण में भी सफाई आवश्यक है। आज वहाँ हद दर्जे की कुरीतियाँ घर कर गयी है। भले घर की लडकियाँ, जो भी इस क्षेत्र में आयी है, बुरे अनुभव लेकर लौटी है। पुरुष कलाकारो में से भी कुछ ही ऐसे भाग्यशाली है, जिन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसलिए जबतक फिल्म-क्षेत्र के कामो की प्रतिष्ठा और मर्यादा कायम नही की जाती और स्त्री-पुरुष के लिए सम्मानपूर्ण आजीविका-प्राप्ति करने का अवसर नही मिलता तबतक वास्तविक उन्नति संभव नही है।

इन सब दिशाओं में बडे सुधार की आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने इसकी जाँच के लिए एक जाँच-समीति नियुक्त की है। सरकार ने इस उद्योग के सामाजिक महत्त्व को भी स्वीकार किया है। वह महसूस करती है कि यह उद्योग शिक्षा और प्रचार का साधन बन सकता है। उसके सूचना और ब्रॉडकास्टिंग विभाग के 'फिल्म्स डिवीज़न' ने १९४८ से डॉकुमेन्टरी फिल्में बनाना आरभ किया है। इस विभाग की ओर से किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण घटना पर बराबर डाकुमेन्टरी मुक्त की जाती है। इन फिल्मो को जनता ने पसन्द किया है। इनके जरिए साधारण लोगो को नाना प्रकार की उपयोगी बातें बतायी जा सकती है।

पुस्तकालय की उपयोगिता

मनुष्य सदा बुभुक्षु, पिपासु और लोलुप बना रहनेवाला प्राणी है। उसकी भूख-प्यास केवल रोटी-दाल या पानी से शान्त नही होनेवाली है। इनसे उसके शरीर की ही भूख-प्यास मिट सकती है, किन्तु उसकी बौद्धिक भूख-प्यास तो ज्ञान से ही शान्त हो पाती है। और, ज्ञान के आगार है—ग्रथ।

मुद्रण-कला के विकास को यह श्रेय है कि पुस्तकें हजारो की सख्या में छपने लगी है। किन्तु कुछ ही लोग ऐसी स्थिति में होते है कि अपनी रुचि

और आवश्यकता की पुस्तकें खरीद सकें। एक पुस्तकालय की सबसे बडी उपयोगिता यही है कि वह सामान्य व्यक्तियो की इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

पुस्तकालय का अर्थ ही है पुस्तको का भाडार। दूसरे शब्दो में, एक पुस्तकालय पुस्तकों, पत्रिकाओ, समाचारपत्रों आदि का ऐसा आगार होता है, जिसमें जाकर या जिससे ले आकर, लोग नि:शुल्क या निर्धारित शुल्क देकर पुस्तकें वगैरह पढ सकते हैं।

पुस्तकालय दो प्रकार के होते है, व्यक्तिगत या सार्वजनिक। जो शिक्षित एवं सम्पन्न है, जो पेशेवर या पत्रकार हैं, वे बहुधा अपना निजी पुस्तकालय रखते है। ऐसे व्यक्तिगत पुस्तकालयों में दूसरे लोगों का प्रवेश नही हो सकता। सर्वसाधारण के लिए सार्वजनिक पुस्तकालय होते है, जो सरकार या जनता के द्वारा सचालित होते है और जिन्हें नगर-निगम आदि से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। कलकत्ते में स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय भारत का सबसे विशाल सरकारी पुस्तकालय है। आधुनिक ढग के पुस्तकालयों में पुस्तको का वर्गीकरण किया जाता है और उन्हें वर्णानुक्रम से रखा जाता है। आजकल पुस्तकालयों में साधारणत पुस्तकें 'ड्यूई' (Dewey) पद्धति से रखी जाती है।

पुस्तकालयो की उपयोगिता का महत्त्व ठीक-ठीक निरूपित कर सकना असम्भव है। पुस्तकालय किसी भी देश की सभ्यता और सस्कृति के मानदण्ड होते है। इन्हीसे जाना जा सकता है कि किसी देश का शैक्षणिक विकास कहाँ तक हुआ है। किसी देश में कितने पुस्तकालय है, किसी पुस्तकालय में कितनी पस्तकें है, पुस्तकों के विषय क्या है, पाठकों की सख्या कितनी है, इन बातों से वहाँ के लोगों की अभिरुचि और प्रगति का बहुत दूर तक अनुमान किया जा सकता है।

पस्तकालय से स्वतन्त्र चिंतन को प्रोत्साहन और अनुसधान को आवश्यक साधन प्राप्त होते है। यहाँ पर विद्वानों को ऐसे पुराने कागज-पत्र और प्राचीन

कुंडलियाँ मिल जाती हैं, जिनकी सहायता से वे मानवीय ज्ञान के अज्ञात क्षेत्रों पर प्रकाश डालने में समर्थ होते हैं। एक पुस्तकालय से पुस्तक-प्रेमियो को समय काटने, चिंता दूर करने और शक्ति प्राप्त करने के आधार भी प्राप्त होते हैं। पुस्तकालय ज्ञान का प्रसार करता है। सभी मनुष्य विश्वविद्यालयो में शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति में नही होते। किन्तु चाहें तो सभी पुस्तकालय में सुलभ ज्ञान-राशि का लाभ उठा सकते हैं। कार्लाइल ने ठीक ही कहा है कि आज का वास्तविक विद्यालय तो पुस्तको का सग्रह ही है।

हमारी शिक्षा-पद्धति कुछ ऐसी है कि हम पाठ्य-क्रम के बाहर के विषयों के अध्ययन का अवसर नही पाते। पुस्तकालय में बैठकर छात्र विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम से प्राप्त अपने सीमिति ज्ञान को विस्तृत बना सकते हैं। वह अतीत की समस्त सचित ज्ञान-राशि का तो लाभ उठा ही सकता है, सम-सामयिक बौद्धिक उपलब्धि को भी सहज ही अधिकृत कर सकता है।

भारत में निरक्षरता और अज्ञान का बोलबाला है। यहाँ तो पुस्तकालयों की सबसे अधिक उपयोगिता है। देश में जितने अधिक पुस्तकालय खुलें, उतना ही अच्छा। चलते-फिरते पुस्तकालयो की व्यवस्था बहुत लोकप्रिय सिद्ध हो रही है। गाँव-गाँव तक ज्ञान का आलोक फैलाया जा सके, इसके लिए ऐसे पुस्तकालय बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

पुस्तकालय सास्कृतिक निधियाँ होते हैं। वे युग-युग की ज्ञान-राशि और मनीषा के आगार होते हैं। उनमें अतीत और वर्त्तमान, मृत और जीवित एक साथ ही सुरक्षित रहते हैं। उनके भीतर भिन्न जातियो और धर्मों, नाना रुचियो और मनोवृत्तियो और परस्पर-विरोधी विचारो और आदर्शो के व्यक्तियों को शान्तिदायी शरण मिलती है। एक पुस्तकालय में गाँधी या मार्क्स, तुलसीदास या प्रसाद, गालिब या रवीन्द्रनाथ आज भी आपको अपनी उपस्थिति से प्रेरणा देने के लिए वर्त्तमान हैं। वहाँ बैठकर आप इन ऋषि-महर्षियो के विचारों, भावो और आदर्शों को ग्रहण कर सकते हैं, अपने ज्ञान की पिपासा को शान्त कर तृप्ति का अनुभव कर सकते हैं।

यह तो ठीक ही है कि पुस्तकालय इस प्रकार की वास्तविक सेवा तभी कर सकता है, जब उसकी अलमारियों में वढिया किताबें हों। रद्दी किताबें बहुत बड़ी संख्या में भी हों तो उनसे विशेष लाभ नही होता। अच्छी पुस्तकें कम भी हों तो लाभकारी सिद्ध होती है। एक पुस्तकालय के अधिकारियो को यह समझना चाहिए कि पुस्तकालय की वास्तविक उपयोगिता यह है कि वह जनता में अच्छी और ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों के लिए रुचि पैदा करे—ऐसी पुस्तकों के लिए जो ज्ञान का विकास कर सकें, बुद्धि के लिए निर्मल खाद्य जुटा पाएँ और अपने पाठकों के नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण के साधन प्रमाणित हों।

किताबों का चुनाव (Choice of Books)

प्राचीनकाल में, हमारे पूर्वजो के लिए, किताबें दुर्लभ और बहुमूल्य हुआ करती थीं। किन्तु आज स्थिति सर्वथा भिन्न है और हम अपने को अपेक्षाकृत अधिक सौभाग्यशाली पाते हैं। अब तो सख्यातीत किताबें छपती है और उनकी कीमत भी पहले की तुलना में बहुत कम होती है। फलत. अब समस्या दूसरी ही हो गई है—अब समस्या यह है कि हम कौन-कौन-सी पुस्तकें पढने के लिए चुनें ? एक समझदार आदमी के लिए यह जरूरी है कि वह बड़ी सावधानी से किताबो का चुनाव करे, अन्यथा हमारे समय और अर्थ का अपव्यय होता है। बहुत-सी किताबें तो सिर्फ नाम के लिए होती है, उन्हें इस नाम से अभिहित करना ही अनुचित है। बहुतेरी किताबें तो ऐसी होती है जो रद्दी से भी रद्दी होती है; क्योकि उनमें असत्य, अशिव और असुन्दर के ऐसे चित्रण-वर्णन होते है जिनसे हमारे नैतिक जीवन का स्रोत ही पकिल हो जाता है।

फिर, पुस्तकों की सख्या इतनी अधिक है कि न तो सभीको पढ पाना सभव ही है, न आवश्यक और न उपयोगी ही। रद्दी के ढेर के रूप में वृहत् पुस्तकालय रखने से तो कही अच्छा है कि कुछ चुनी हुई बढिया पुस्तकें ही हम रखें—ऐसी पुस्तकें जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, जो विवेक, आनन्द, लाभ,

शान्ति और सुख प्रदान करनेवाली है। अत: जीवन के आनन्द और चरित्र के के निर्माण के लिए यह निहायत जरूरी है कि किताबों का सही तरीके से चुनाव किया जाय।

यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का युग है। पुस्तकों के चुनाव में भी आज का मनुष्य अपने को स्वतन्त्र रखना पसन्द करता है। किन्तु बौद्धिक प्रौढता की स्थिति में पहुँचे बिना पुस्तकों के चुनाव की यह स्वतन्त्रता पुस्तक-प्रेमी को भी पथभ्रष्ट कर दे सकता है। अतः कम-से-कम प्रारम्भिक जीवन में तो उसके लिए यह बहुत लाभदायक सिद्ध होगा कि वह योग्य व्यक्तियों से सलाह और पथ-निर्देश लेने की कोशिश करे।

एक पुस्तक-प्रेमी को सबसे पहले तो ऐसी श्रेण्य पुस्तकों (Classics) को चुनना चाहिए जो सर्वोत्तम लेखकों की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हो, जो समय की कसौटी पर खरी उतर चुकी हों। जैसे मनुष्यों के बारे में सिद्धान्त है कि अस्तित्व की रक्षा के लिए उनके बीच सदैव संघर्ष चलता रहता है और उनमें जो सबसे अधिक सशक्त होते है, वे ही बच पाते है, वैसे ही किताबों के बारे में सच है कि जो सर्वोत्तम होती है, वे ही समय की सीमा का अतिक्रमण कर युग-युग तक जीवित रहती है, अन्यथा जिनमें दम नहीं है वे तत्काल प्रसिद्धि पाकर भी कुछ दिनों के बाद काल-कवलित हो जाती हैं। पश्चिम में एक कहावत है कि प्राचीनता चार चीजों की उत्तमता प्रमाणित करती है पुरानी लकड़ी, पुरानी शराब, पुरानी मित्रता और पुरानी पुस्तकें ही उत्कृष्ट होती हैं। एक हद तक बात ठीक भी है। नई पुस्तकें तो समय के सागर में बुलबुलों के समान होती हैं। कोई नहीं कह सकता, इन बुलबुलों में कितने फूट जाएँगे और कितने बचे रहेंगे। किन्तु श्रेण्य पुस्तकें तो समय की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सिद्ध कर चुकी होती है कि वे श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार की श्रेण्य पुस्तकों के अध्ययन से अध्ययन की परिष्कृत रुचि विकसित करने में सहायता मिलती है। अध्ययन-रुचि एक बार परिष्कृत हो गई तो फिर यह खतरा नहीं रह जाता कि पाठक रद्दी किताबें पढने में अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग और अपव्यय करेगा। किन्तु श्रेण्य पुस्तकों के

बीच भी यह ध्यान रखकर चुनाव करना आवश्यक हो जाता है कि किन विषयों में रुचि है और किन्हें ग्रहण करने की योग्यता है। मानव-जीवन इतना लम्बा तो होता नहीं कि सभी श्रेण्य पुस्तकें भी पढ डाली जा सकें।

पुस्तकों का चुनाव करते समय जिस दूसरी बात का ध्यान रखना आवश्यक है, वह यह कि हम जिस कार्य-क्षेत्र में है, उसमें हमारे अध्ययन से हमें कहाँ तक लाभ होता है। एक वकील को कानून की किताबों के अध्ययन से, एक चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र के ग्रंथों के अवलोकन से अपने-अपने विषयो का नवीन ज्ञान प्राप्त होता रहता है और उन्हें अपने कार्य में अधिकाधिक सफलता मिलती है। भिन्न-भिन्न पेशो में लगे रहनेवालों को अपने विषयो से सबद्ध पत्र-पत्रिकाओ का भी अध्ययन करते रहना चाहिए; क्योंकि वे भी एक तरह की पुस्तकें ही है।

कुछ लोगों का विचार है कि सभीको यह स्वतन्त्र रहनी चाहिए कि वे जैसी पुस्तक चाहें पढें; वह अच्छी हो या बुरी। ऐसे लोगों का यह कहना है कि पढते-पढते अन्ततः पाठक को अच्छी-बुरी पुस्तक पहचानने का विवेक हो ही जाता है। यह ठीक भी हो तो इस प्रकार से—पुस्तको के चुनाव में बहुत वक्त बर्बाद होता है और इसे वाछनीय नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि ऊपर से देखने पर पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक आकर्षक होता है, और गदी बातों का वर्णन करनेवाली पुस्तकों के निरन्तर अध्ययन से पाठक के नैतिक स्वास्थ्य की क्षति होती है।

फिर यह भी प्रश्न है कि अध्ययन में रुचि रखनेवाले को अधिक पढना चाहिए या कम; पर अधिक ध्यान मे पढना चाहिए; क्योकि सस्ती और बहुसख्य पुस्तकों के प्रकाशन के इस युग में दोनों प्रकार का अध्ययन एकसाथ चलाना संभव नही। वास्तविकता यह है कि अन्ततोगत्वा पुस्तको का अध्ययन ही लाभदायक होता है। अतः हमें चाहिए कि हम कम ही किताबें पढें; लेकिन वे उत्तमोत्तम हों, और हम उनके सार-सर्वस्व को ग्रहण करने के लिए ही प्रयास करें, न कि अधिक सख्या में पुस्तकें पढ लेने का सतोष प्राप्त करें।

भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यहाँ के निवासियों का, पाठकों के रूप में, उत्तरदायित्व बहुत बढ गया है। सस्ती भावुकता उत्तेजित करनेवाली पुस्तकें पढकर इस नवीन देश के नव-वय के पाठको को अपने समय का अपव्यय नही करना चाहिए। उन्हें तो ऐसी किताबें पढनी हैं, जो महान् साहित्यकारो, राजनीतिज्ञो और अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न भाषाओ में मानव-कल्याणार्थ प्रस्तुत की हैं। भारतवासियो को ससार के सभी देशों से उत्तमोत्तम पुस्तकें सगृहीत करनी चाहिए, जिनमें विश्व की ज्ञान-निधि की कुजी छिपी रहती है। इसके विपरीत हम देखते यह है कि विदेशो से रद्दी, विकृत और अनैतिक पुस्तको के ढेर विदेशो से आयातित हो रहे हैं। इनसे भावी पीढी का कितना अहित होगा, इसका अनुमान करना भी कठिन है। आधुनिकयुग में मुद्रण-यत्र के विकास के साथ-साथ नित्य सहस्र-सहस्र पुस्तकें प्रकाशित होती है, अतः उनमें से पढने लायक पुस्तको के चुनाव में अत्यधिक सावधानी बरतने की जरूरत है। यही कल्याण का मार्ग है—पुस्तको के अव्यावहारिक चुनाव और उनके सतत अध्ययन से भी कोई लाभ नही हो सकता।

सहकारिता-आन्दोलन

अर्थशास्त्रियो और सरकारी विशेषज्ञो ने भारत में सहकारिता-आन्दोलन का आरम्भ कर एक ऐसे साधन का प्रयोग किया है, जिससे ग्रामीण जनता के बीच कृषि, स्वास्थ्य, सफाई और शिक्षा का समुचित विकास हो सके। जर्मनी में भी एक समय था जब कृषि की वे समस्याएँ थी, जिनसे हम छुटकारा पाने में कठिनाई का सामना कर रहे है और वहाँ सहकारिता-प्रणाली से उनका सन्तोषजनक समाधान सभव हुआ। लेकिन यहाँ-जैसे रोग के लिए वहाँ जो उपचार सफल हुआ था, वह यहाँ प्रारभ में लाभ पहुँचाने में असमर्थ सिद्ध हुआ।

सन् १९०४ ई० में 'कोऑपरेटिव क्रेडिट सोसाइटी ऐक्ट' लागू कर भारत में

इस आन्दोलन का सर्वप्रथम सूत्रपात किया गया था। इस अधिनियम (ऐक्ट) की परिधि को १९१२ में व्यापकतर बनाया गया। १९१५ में मेकलेगन कमिटी (Maclagan Committee) ने केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंको की स्थापना के लिए सुझाव उपस्थित किया। इसके उपरान्त १९१८ से १९२९ तक सहकारिता आन्दोलन ने काफी प्रगति की। १९३० के बाद जो विश्व-व्यापी मदी शुरू हुई थी, उसका प्रभाव इस आन्दोलन पर भी पड़ा और भारत की सहकारिता-समितियों के सगठन और ढांचे की अनेक त्रुटियाँ उद्‌घाटित हुईं। इन त्रुटियों में मुख्य ये थीं—ऋण लेनेवाले की, ऋण चुकाने की शक्ति पर ठीक से विचार किए बिना ऋण देना; जो ऋण चुकाए नहीं जा सकते थे, उनपर पर्दा डालने के लिए झूठी अदायगी दिखाना, और सामान्य रूप से सहकारिता के सिद्धान्तों और आदर्शों की अवहेलना करना। इस अवधि में सहकारिता-समितियाँ ग्रामीण आर्थिक समस्या के एक ही पहलू, ऋण-दान, पर ध्यान दे रही थी। अन्य क्षेत्रों में ग्रामीणों का जो शोषण हो रहा था, उनकी ओर इनका ध्यान नहीं गया था। जहाँ तक ऋण-दान का प्रश्न है, इस क्षेत्र में भी समितियाँ ऋण की कुल आवश्यकता के दस प्रतिशत मात्र की पूर्ति कर पाती थीं।

सहकारिता-आन्दोलन का अगला महत्त्वपूर्ण कदम था—भारत के रिजर्व बैंक की स्थापना, जिसमें एक विशेष विभाग ही था कृषि-ऋण-विभाग (Agricultural Credit Department)। रिजर्व बैंक के द्वारा ऋण-संबंधी सहायता सुलभ बना दी गई थी। उसका लाभ अनेक प्रांतीय सहकारिता बैंकों ने उठाया था।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरकारी नियंत्रण और निरीक्षण के बावजूद, आन्दोलन को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उससे अपेक्षित थी। चतुर ग्रामीणों ने आन्दोलन के प्रवर्त्तकों की आँखों में धूल झोंकने के लिए ऐसे लोगों को बहुत बड़ी सख्या में ग्रामीण-समितियों का सदस्य बनवा लिया था जिनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं थी। केन्द्रीय बैंक से ये लोग बहुत कम ब्याज पर ऋण लेने की स्थिति में थे। इसका परिणाम यह होता था कि कृषि आदि कार्यों के नाम पर लिये गए ऋण की रकम को ये मुकदमेबाजी,

विवाह आदि के उत्सवो और अन्य समारोहों पर खर्च कर देते थे। यदि साव-धानी से काम किया गया होता, तो सपत्तिहीन सदस्य ऐसा आचरण नही कर पाते, जो उस सस्था के लिए घातक सिद्ध होता, जिसने उन्हें आर्थिक सहायता दी थी।

किन्तु इधर कुछ वर्षों से सगठन की त्रुटियो और इसके मार्ग की कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न चल रहा है और यह सन्तोष का विषय है कि अब सहकारिता-आन्दोलन अपेक्षित प्रगति कर रहा है। हाल-साल में देश भर में सहकारिता-समितियो की सख्या १,७३,००० थी। इनकी सदस्यता-सख्या एक करोड बीस लाख थी और कार्यलग्न (Working) पूंजी २३३ करोड़ रुपये। इधर कृषको को ऋण देने के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो में भी आन्दोलन का विस्तार हुआ है, और विभिन्न उद्देशो की पूर्त्ति के लिए समितियो का सगठन किया गया है, उदाहरणार्थ सहकारिता गृह-निर्माण, उपभोक्ता दूकानें (Comsumers Stores), कृषि-सम्बन्धी विक्रय-व्यवस्था (Agricultural marketing), मत्स्य-विभाग (Fisheries), दुग्ध-आपूर्त्ति और सहकारिता खेती। देश के विभिन्न भागो में विविध उद्देश्यो वाली समितियाँ (Multi-purpose Societies) भी स्थापित हुई हैं।

देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए इस आन्दोलन में असीम सभावनाएँ वर्त्तमान है, विशेषत· ग्रामीण पुनर्निमाण के क्षेत्र में। यही कारण है कि भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना का एक लक्ष्य यह भी है कि भारत की आबादी की कम-से-कम एक-तिहाई १९५५–५६ तक बुनियादी (Primary) सहकारिता-समितियो की परिधि में लाई जा सके।

—:—

नदी-घाटी योजना

भारत के प्रधानमत्री पडित जवाहरलाल नेहरू ने कुछ वर्ष पहले कहा था, "गत तीन या चार वर्षों में हमारी सरकार ने जो सबसे अधिक बुद्धिमत्ता-पूर्ण बात की है, वह है योजना-कमीशन की नियुक्ति।"

भारत में आयोजन की विचार-धारा ने अक्तूबर, सन् १९३८ में प्रथम बार मूर्त्त रूप ग्रहण किया। उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय आयोजन-समिति की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू हुए। इस समिति को अनेक बाधाओं के बावजूद देश को योजना के विचार के प्रति सचेत करने में सफलता मिली।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद भारतीय जनता के जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए, युद्ध तथा विभाजन आदि से भारत की कमजोर हुई अर्थ-व्यवस्था को सशक्त करने के लिए तथा बेइन्तहा प्राकृतिक सम्पत्तियों के सम्यक् विकास के लिए भारत-सरकार ने विकास की एक समग्र योजना की एक संस्था की स्थापना करने का निश्चय किया। इस प्रकार मार्च, सन् १९५० में योजना-कमीशन का जन्म हुआ। कमीशन से कहा गया कि वह देश के जन, धन और सामग्री के साधनों की जाँच करे, उनके सर्वाधिक प्रभावशाली और संतुलित उपयोग के उपाय सुझाए, प्राथमिकताओं को निर्धारित करे और समग्र योजना की कार्यान्विति के लिए आवश्यक प्रशासन-यन्त्र आदि के विषय में निर्णय करे।

पन्द्रह महीने तक कमीशन ने समस्याओं का अध्ययन किया और उसके बाद तीन भागों में विभक्त उसके प्रतिवेदन में कतिपय अन्य विषयों के साथ ही 'प्राकृतिक साधनों का विकास' कार्यक्रम को भी प्राथमिकता दी गयी।

भारत में जल का प्राचुर्य्य है, पर इसका पूर्ण और जिस प्रकार चाहिये, उस प्रकार उपयोग नहीं किया जाता रहा है। विशेषज्ञों के अनुसार, इस समय हमारी नदियों में जितना पानी बहता है, उसमें से केवल छ. प्रतिशत ही हमारे काम में आ रहा है। भारत में जितने क्षेत्र में सिंचाई होती है, उसका परिमाण लगभग ४ करोड़ ८० लाख एकड़, अर्थात् दुनिया के किसी भी देश के सिंचाई-वाले क्षेत्र का दुगुना है। फिर भी, जितने बड़े इलाके में खेती होती है, उसके केवल पंचमांश को ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। शेष कार्य भूमि वर्षा की दया पर ही निर्भर है। और कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्षा पर भरोसा किया नहीं जा सकता। फलस्वरूप हमारे देश के खाद्य-उत्पादन में सदा एक अनिश्चयता का उपादान रहता है।

आयोजना-आयोग ने यह अनुभव किया कि यदि किसानों को वर्षा की अनिश्चित गति से बचाना है, तो जल-सम्बन्धी साधनों का पूर्ण उपयोग अनिवार्य है। अत योजना में सिंचाई तथा शक्ति-परियोजनाओं के लिए ४५० करोड़ रुपये निर्दिष्ट किये गये।

जल-सम्बन्धी साधनो के पूर्ण और सम्यक् उपयोग की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर भारत की वैसी नदियो—जिनमें बाढ आ जाया करती हो, अथवा जिनके जल को नियन्त्रित करने से सस्ती विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकती हो—के लिये लगभग ३०० नदी-घाटी परियोजनाओ की परिकल्पना की गयी, जिनमें से एक दर्जन से ऊपर परियोजनाएँ बहुधन्धी (multi-purpose) हैं। तात्पर्य यह है कि इन परियोजनाओ से बाढ-नियन्त्रण, विद्युत्-उत्पादन तथा सिंचाई और पानीय जल-आपूर्त्ति प्राप्त होगी। ऐसी परियोजनाओ में प्रमुख हैं—भाकड़ा-नंगल परियोजना, दामोदर-घाटी-योजना, कोशी-योजना, हीराकुड-योजना, कृष्णा-पेनार योजना, पाड़कारा, वैतरण आदि।

बिहार की नदियो में दामोदर, कोशी, गंडक आदि में भीषण बाढ आया करती है। बाढ से सुरक्षा तथा नियन्त्रित जल से लाभ उठाने के लिए कोशो तथा दामोदर की योजनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोशी से तो एकमात्र बिहार को ही लाभ होगा, किन्तु दामोदर-घाटी-योजना से बिहार तथा बंगाल, दोनो को लाभ होगा। साथ ही कोशी से दामोदर-घाटी-योजना अधिक विशाल तथा एकाधिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। निम्नलिखित पंक्तियों से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

पंचवर्षीय योजना में दामोदर-घाटी-योजना को प्राथमिकता दी गयी। इसका कारण केवल दामोदर की भीषण बाढ ही नही, विकास की सम्भावनाएँ भी थी।

दामोदर में आनेवाली बाढो के आँकडो के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस नदी में हर दसवें वर्ष भीषण बाढ आती है और हर सौ वर्ष पर तो ऐसी बाढ आती है जिसकी भीषणता और विनाशकारिता का सहज अनुमान किया नही जा सकता।

फिर दामोदर-घाटी-क्षेत्र खनिज-सम्पत्ति का भाडार है। वस्तुतः इसे भारत का 'रूर' (Ruhr) कहा जाता है। इन खनिज-सम्पत्तियो में कुछ तो ऐसे खनिज है जो युद्ध एव प्रतिरक्षा के लिए बडे महत्त्वपूर्ण है। इनका अभीप्सित विकास तभी सम्भव है जब इस क्षेत्र में कल-कारखाने खोले जा सके।

इसके अतिरिक्त दामोदर-घाटी के निचले हिस्से में, जो बगाल के अतर्गत है, खेती के लिए बडी उर्वर मिट्टी है। लेकिन बाढों के चलते फसल मारी जाती है, साथ ही कुछ क्षेत्रों में जलाभाव के कारण सिंचाई का समुचित प्रबन्ध न होने से पैदावार जितनी हो सकती है, नही होती रही है।

दामोदर का नियन्त्रण इन तीनों कार्यो में सहायक होगा। निचली घाटी में सिंचाई की व्यवस्था हो सकेगी। बाढ के आने से रेलवे, सडक, यातायात आदि को जो लाखोलाख की क्षति पहुँचती रही है, उससे सुरक्षा मिलेगी; और घाटी के खनिज के विकास के लिए जो सस्ती बिजली चाहिए, दामोदर-योजना के अन्तर्गत पनबिजली-उत्पादन से, वह भी सुलभ होगी।

नदी-घाटी-योजना की चेतना हमारे देश में अभी नयी है। अब तक बाढ आदि को रोकने के लिए ही बाँध आदि बनते रहे थे, और वे भी छोटे-मोटे। ऐसे विशाल बाँधो की परिकल्पना, जिनसे एक दिन लाभ उठाया जा सके, हाल की चीज है। जल को इस प्रकार नियन्त्रित करना कि उससे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक प्रकार के लाभ मिल सकें, अपेक्षाकृत नवीन चेतना है। दामोदर-घाटी-आयोग का जन्म ऐसी चेतना का प्रतिफल है।

दामोदर घाटी के अन्तर्गत, प्रथम पक्ष में, तिलैया, कोनार, माइथन और पंचेत हिल बाँध तथा बोकारो का वाष्प-विद्युत् गृह बनाने का कार्यक्रम था। इनमें से तिलैया तथा कोनार बाँध और बोकारो का वाष्प-विद्युत्-गृह भी बन कर तैयार हो गये। इन कार्यों के सिलसिले में कुछ और भी कार्य इस योजना के अन्तर्गत अनिवार्य हो गये—बाँधो के साथ के जलागार के लिए भूमि अवाप्ति का कार्य, जलागारो में डूबनेवाली जमीन पर बसे लोगो के पुनर्वास का कार्य, भूमि अपक्षरण को रोकने के लिए छोटे-छोटे बाँध आदि के कार्य भी मुख्य कार्यक्रम

के साथ चलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त वोकारो तथा तिलैया की विजली के वितरणार्थ विजली की लाइनें विछाने का कार्य भी आवश्यक था, जो अधिकांशत पूरा हो चुका है। दुर्गापुर का वराज भी वनकर तैयार है।

दामोदर-घाटी-योजना का पूर्ण अनुमानित व्यय लगभग एक सौ करोड़ रुपया है। आशा की जाती है कि जब ये सभी बाँध वनकर तैयार हो जायेंगे तो इस योजना से लगभग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से देश को साढे चार करोड़ रुपये का लाभ होगा। दूसरे शब्दो में, इसकी विभिन्न उपयोगिताओ से खाद्य-उत्पादन में वृद्धि होगी, मत्स्य-उत्पादन का वढेगा और विजलीकरण के फलस्वरूप छोटे कुटीर-उद्योगो का विकास होगा। इन उपलब्धियो में, कुछ तो प्राप्त होने लग गये हैं। तिलैया के जलागार में मत्स्य-पालन का कार्य शुरू हो चुका है; कोडरमा की अभ्रक-खानो तथा टाटा आदि कारखानो को विजली प्राप्त होने लग गयी है। हजारीवाग शहर को अपक्षरण-निरोधी छरवा बाँध से पानीय जल-आपूर्त्ति प्राप्त होने लग गयी है। साथ ही, छोटानागपुर का वह भाग, जहाँ पहले घना जगल था, अब प्रवेश्य हो गया है और उन स्थानो में अव छोटे-मोटे शहर जगमगा रहे हैं।

दामोदर-घाटी-योजना को कार्यान्वित करनेवाला आयोग भी अपने ढंग का भारत में सर्वप्रथम आयोग है। इसके सम्वन्ध में कहा जाता है कि आयोग द्वारा सरकारी योजना कार्यान्वित करने का यह एक प्रयोग है। स्वभावत. ही यह अमरीका की 'टेनेसी वैली ऑथॉरिटी' के साँचे पर सगठित की गयी है। निस्सदेह भारत की अन्य किसी भी नदी-घाटी-योजना का कार्यान्वयन इस प्रकार के आयोग द्वारा नही किया जा रहा है। इस योजना के पूर्ण हुए कार्यो को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि यह प्रयोग सफल है।

दामोदर-घाटी-योजना के सम्वन्ध में इसके भूतपूर्व अध्यक्ष, श्री एस० एन० मजुमदार ने कहा था कि यह योजना सामाजिक तथा प्राविधिक अभियन्त्रणा का समन्वय है, क्योकि आयोग पर न केवल घाटी के पूर्ण एव वहुविध विकास का भार है, वल्कि उसपर घाटी में वसे लोगो के जीवन-यापन-स्तर को उन्नत एव समृद्ध वनाने का भी उत्तरदायित्व है।

कोशी-योजना का विचार, कोशी-क्षेत्र में आनेवाली भीषण बाढ़ों के कारण हुआ। प्रत्येक वर्ष कोशी में बाढ़ आती है। बाढ के कारण प्रत्येक वर्ष उत्तर विहार के उस भूभाग में, जिसे विहार का अन्न-भांडार माना जाता है, भीषण नाश का ताण्डव उपस्थित हो जाता है। मोटे तौर पर ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष कोशी की बाढ के कारण ६ से १० करोड रुपये की क्षति होती है; जान-माल की जो अपार क्षति होती है, उसके अतिरिक्त कोशी क्षेत्र के निवासियों को पूर्णिया, सहरसा, दरभंगा के पूर्वी क्षेत्र आदि से यातायात में अकथ कठिनाई होती है, क्योंकि इस नदी में आनेवाली बाढ से रेलमार्ग अव्यवस्थित और नष्ट हो जाता है। यातायात के साधनो के विकास की बात तो क्या, रही-सही साधन-सुविधाएँ भी नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र के निवासियो का स्वास्थ्य भी, बाढ के बाद हैजा, शीतज्वर आदि के फैलने से नष्ट हो जाता है।

इस नदी में इस प्रकार की भीषण बाढ आने का कारण इस क्षेत्र की भूमि की बनावट है। यह नदी हिमालय से निकलकर उत्तर बिहार की समतल भूमि पर वहती है। फलस्वरूप, जब इसमें विशाल परिमाण में जल ऊपर से अनियन्त्रित ढग से चलता है तो समतल में आकर चारो ओर फैल जाता है। इसके अतिरिक्त यह नदी बहुत जल्द-जल्द अपनी धारा बदलती रहती है। इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि विगत १५० वर्षो में इसकी धारा ७० मील पश्चिम की ओर खिसक आयी है। इसका कारण यह है कि इस नदी में आनेवाली बाढों के साथ मोटे बालू और पत्थरो के बुरादे प्रचुर परिमाण में नीचे उतर आते है और समतल भूमि में आकर इस नदी की पेटी में बै जाते है। इससे यह नदी अपनी धारा बदलने को बाध्य होती है। अपने इस स्वभाव के कारण कोशी नेपाल-तराई के दो-से-तीन हजार वर्गमील के क्षेत्र को नष्ट करती रहती है।

सन् १९४५ ई० में भारत के तत्कालीन वायसराय तथा गवर्नर जेनरल, लार्ड वैवेल ने कोशी के बाढ़-ग्रस्त क्षेत्रो का दौरा किया था। वे वहाँ की क्षति का दृश्य

देखकर अत्यधिक विचलित हुए और उनके आदेश पर सन् १९४६ में केंद्रीय जल-सिचाई और जलमार्ग-आयोग ने, इसमें आनेवाली बाढ़ों को नियन्त्रित किया जा सकता है या नही, इस विषय पर जाँच-पड़ताल शुरू की । जांच-पड़ताल के फलस्वरूप यह प्रस्तावित हुआ कि बाराहक्षेत्र में एक विशाल बाँध बनाकर इसमें आनेवाली बाढो को नियन्त्रिण किया जाय। लेकिन चूँकि उस प्रस्तावित बाँध पर अत्यधिक व्यय का अनुमान किया गया, इसलिए उसे बनाने का विचार त्याग दिया गया। बाराहक्षेत्र का प्रस्तावित बांध ससार का सबसे ऊँचा बाँध होनेवाला था। उसके सम्बन्ध में यह आशंका भी हुई कि उस क्षेत्र के गर्भ में कड़े पत्थरो के न होने से उसकी मजबूती के विषय में इत्मीनान नही किया जा सकता था। साथ ही, उस विशाल बाँध के बनने से जो विद्युत्-उत्पादन होता, उसके लाभप्रद उपयोग के लिए कोई रास्ता नही था। फिर समय भी बहुत लगने की सम्भावना थी। अत इसके विकल्प-स्वरूप बाँध के लिए अन्य उपयुक्त स्थान की खोज होने लगी। एतदर्थ सघटित अभियन्ताओ की एक परामर्शदात्री समिति ने पहले तो बेल्का में बाँध-निर्माण की सिफारिश की। लेकिन अधिक छानबीन करने पर देखा गया कि इस बाँध पर भी अत्यधिक व्यय की सम्भावना थी, साथ ही कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी थी; अत. बेल्का बाँध का भी विचार कार्य-रूप में परिणत नही हुआ।

किन्तु-स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद इस बाढ से जान-माल की रक्षा के लिए उठाई गयी आवाज जोर पकडती गयी और इस दिशा में कुछ करने की मांग इतनी बलवती हुई कि इसके सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचने की आवश्यकता को और भी टाला नही जा सका। इधर बिहार-सरकार भी भारत सरकार को इस सम्बध में कुछ निश्चय करने के लिए बराबर स्मरण दिलाती रही। फलतः वर्त्तमान योजना की रूपरेखा सन् १९५३ के नवम्बर में, केंद्रीय जल और विद्युत्-आयोग ने तैयार की। यह योजना विशेषज्ञो की एक समिति के सामने रखी गयी और उस समिति ने इसे स्वीकार किया। तब दिसम्बर, १९५३ में इस योजना को भारत-सरकार ने स्वीकृत घोषित किया। यह योजना कितनी पेचीदा और विशाल है, इसका अनुमान इस बात से सहज ही लगाया

जा सकता है कि इस योजना को प्रस्तुत करने में ही एक करोड रुपए से अधिक खर्च हुए ।

वर्त्तमान योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य होंगे :—

(१) हनुमाननगर से लगभग ढाई मील ऊपर एक बराज। बराज उस प्रकार के बाँध को कहते है, जिससे इच्छानुसार पानी रोककर उसके ऊपरी तल को ऊँचा उठाया जा सके। इस बराज की लबाई लगभग तीन मील होगी, जिसका पक्का हिस्सा तीन हजार दो सौ फीट होगा। इस बराज का दो-तिहाई से कुछ अधिक भाग नेपाल के क्षेत्र में पडता है। इसका काम होगा बराज के ऊपर और नीचे के किनारो के बाँधों की पक्तियो को बाँधना; मोटी मिट्टी को नीचे आने देने से रोकना और ढाल को समतल करना; प्रति सेकेंड पचास हजार से एक लाख घनफुट जल के प्रवाह का दिशा-परिवर्त्तन कर कोशी के पूरब की ओर वाली चार पुरानी नहरो में बहा देना और पूरब की ओर की चौदह लाख एकड़ भूमि को सिचाई के लिए जल देना।

पच्छिम की ओर जल ले जाने की भी व्यवस्था होगी, लेकिन सिचाई की योजना बलान और कमला जैसी शाखा-नदियो के सम्बन्ध में और जाँच-पड़ताल कर लेने के पश्चात् तैयार की जायगी।

(२) पच्छिमी तट पर सत्तर मील लबा झामता तक एक बाँध। इन दोनों बाँधों की पंक्ति के बीच की चौडाई तीन से दस मील तक होगी। लेकिन ऐसी आशा की जाती है कि यह नदी आधे मील से एक मील तक की पतली और गहरी नहर बना लेगी।

(३) दिशा का परिवर्त्तन करने के लिए चार पुरानी धाराओं, ढेमरा, तिलवा, परवानी और मेंगा को पुनरुज्जीवित करके नहरें तैयार करना ताकि धारा का कुछ अश इनमें चला आवे। ये धाराएँ समय-समय पर बडी सक्रिय रही है और बाढ़ के अवसर पर जलनिःसरण का कुछ भाग लेती रही ह। वर्त्तमान नि.सरण-क्षेत्र में बाढ़ की तीव्रता को कम करना ही धारा-परिवर्त्तन का ध्येय होता है। धारा-परिवर्त्तनकारी नहरो से अतिरिक्त सिचाई की व्यवस्था हो सकती है।

(४) भीमनगर से अररिया तक एक नहर-प्रणाली निकाली जायगी। इस प्रणाली में चार मुख्य वितरक शाखाएँ होंगी—सुपौल शाखा, प्रतापगंज शाखा, पूर्णिया शाखा और अररिया शाखा।

(५) बेल्का के पास भूमि-अपक्षरण रोकने के लिए पहाड़ी दर्रों पर जल-स्रोत-बाँध बनाये जायँगे और एक मिट्टी का बाँध भीमनगर के पास बनेगा। ये सब जल के साथ आनेवाली मिट्टी के नियन्त्रण के लिये बनेंगे।

इन निर्माण-कार्यों के लिए निम्नलिखित व्यय का अनुमान है :—

(१) बराज—१३·२८ करोड रु०

(२) बचाव के लिये बनाये जानेवाले बाँध तथा धारा-परिवर्त्तन-कार्य—१०·६७ करोड रुपए।

(३) पूर्वी कोशी नहर और शाखाएँ—१३·४ करोड रुपए।

(४) पूर्वी तट से नेपाल में लगभग दो लाख एकड भूमि को सिंचाई का जल देने पर ३ करोड रुपए।

ऐसा अनुमान है कि बराज के पास के निर्झर से लगभग २१,००० किलोवाट जल-विद्युत् प्राप्त हो सकता है।

कोशी-योजना को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व बिहार सरकार पर रहेगा। इसके लिए भारत सरकार बिहार सरकार को लगभग ३७ करोड रुपये कर्ज देगी। योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए 'कोशी कंट्रोल बोर्ड' की स्थापना की गयी है। इस देश में यह सर्वप्रथम बडी नदी घाटी-योजना है, जिसे राज्य-सरकार कार्यान्वित करेगी।

अणु-बम

मनुष्य ने आज तक अपनी बुद्धि के दुरुपयोग के द्वारा जिन भयंकर शस्त्रास्त्रों के आविष्कार किये हैं। उनमें भयंकरतम है अणु-बम, यद्यपि उसके तुरत बाद आविष्कृत उद्‌जन-बम उससे भी भयंकर साबित हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके आविष्कार का श्रेय एक जर्मन वैज्ञानिक ओटो हान को है, जिसे

१८४४–४५ का नोवेल-पुरस्कार मिला था। कुछ लोग कहते हैं कि अँगरेज और अमरीकी वैज्ञानिकों ने पारस्परिक सहयोग से इसका निर्माण अमेरिका में किया था। यह भी कहा जाता है कि इगलैंड में रदरफोर्ड नामक वैज्ञानिक के द्वारा इस संबध में सर्वप्रथम प्रयोग किये गये थे। किन्तु यह सत्य है कि अणु-बम के आविष्कार के लिए नोवेल-पुरस्कार तो उक्त जर्मन वैज्ञानिक को ही मिला था।

६ अगस्त, १९४५ को एक अमरीकी वायुयान ने जापान के एक नगर हिरोशिमा पर पहला अणु-बम गिराया था। इस बम के गिरते ही २५०,००० निवासियों का यह नगर प्रायः भस्मसात् हो गया था। ९ अगस्त, १९४५ को एक दूसरे जापानी नगर नागासाकी पर भी अणु-बम गिराया गया और यह नगर भी राख का ढेर बन गया। इस नृशस नर-सहार से क्षुब्ध होकर फ्रास के प्रसिद्ध वैज्ञानिक यो लियो-क्यूरी ने कहा था—'जिन लोगो ने हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु-बम गिराया है, उन्होने विज्ञान के साथ व्यभिचार किया है।'

अणु-बम की भयानकता का अनुमान इसीसे सहज ही किया जा सकता है कि एक बम के गिरने से इतनी शक्ति मुक्त हो जाती है कि चार वर्गमील भूमि और प्राय. ८०,००० मनुष्य तत्काल नष्ट हो जा सकते हैं। इस बम का विस्फोट एक प्रकार की रेडियो-प्रक्रिया (Radio-activity) से होता है, जिससे असख्य मनुष्यों की तो तत्काल ही और अन्य बहुतो की कुछ ही दिनों के अन्दर मृत्यु हो जाती है। जो बच भी जाते हैं, उनमें नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

अणु-बम की भयकरता से सन्तुष्ट न होकर वैज्ञानिको ने अब उद्जन-बम का भी निर्माण कर लिया है। अणु, बम में उस शक्ति का उपयोग होता है, जो यूरेनियम जैसे शीर्ष-गुरु (Top-heavy) अणुओं के चूर्णित किए जाने पर मुक्त होती है। उद्जन बम में हाइड्रोजन जैसे लघु-भार अणुओं का गुरुतर भार वाले अणुओं से मिश्रण होता है; उनके आकर्षण से शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम है विस्फोट और अणु-बम से भी अधिक कष्टकर दाह-व्रण (Flash burns)। उद्जन-बम अणु-बम की अपेक्षा कितना अधिक विनाश-

कारी है, इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि वह अपने फूटने के स्थान से १६ मील की दूरी पर के पत्थरों को पिघला देता है और विस्फोट-स्थल से ८० मील की दूरी पर की इमारतो को धूल में मिला दे सकता है।

आज हम इसी अणु-शक्ति के युग में पहुँच चुके है। अणु-शक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है—उदाहरणार्थ मिल-मजदूरो का काम आसान बनाने के लिए इसके द्वारा यन्त्र चलाए जा सकते है। कच्ची युरेनियम धातु का केवल एक पाउड उतनी बिजली पैदा कर सकता है जितनी १५०० सौ टन कोयले से उत्पन्न होती है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अणु-शक्ति की औद्योगिक सभावनाएँ क्या है। फिर ऐसे जहाज बनाये जा सकते है जो अणु-शक्ति से चलेंगे और उन्हें बार बार कोयले से भरने की जरूरत नही रह जाएगी। युरेनियम से उत्पन्न बिजली इतनी सस्ती होगी कि गाँव-गाँव में बिजली की रोशनी पहुँचाई जा सकेगी। सक्षेप में उत्पादन, परिवहन, यातायात और यात्रा के क्षेत्रो में अणु-शक्ति युगान्तर उपस्थित कर सकती है। किन्तु, यह तो मनुष्य पर निर्भर है कि वह अणु-शक्ति का प्रयोग किस काम के लिए करेगा-—अपने विकास के लिए अथवा अपने सहार के लिए! मनुष्य में, कहते है, देवता और दानव एक ही साथ वास करते है। अणु-शक्ति के प्रयोग में वह किसकी सलाह मानेगा, यह अभी स्पष्ट नही हुआ है! अमरीका के भू० पू० राष्ट्रपति ट्रूमेन ने ठीक ही कहा था—अणु-युग मानो पूर्णत ध्वस का युग होगा, या वह एक ऐसा युग होगा जिसमें शक्ति के एक नये स्रोत से मनुष्य का श्रम हल्का हो जायगा।

अणु-बम के पहले तक जिन भयकर शस्त्रास्त्रो के आविष्कार वैज्ञानिको ने किए थे, उनसे नर-सहार होता था और मानव-सभ्यता को भयानक आघात पहुँचते थे, किन्तु अणु-बम तो मानव-सभ्यता के आमूल विनाश की शक्ति लिए हुए है। वैज्ञानिक एक ओर इसका प्रयास कर रहे हैं कि अणु-शक्ति से मनुष्य को बचाने के साधनो का आविष्कार किया जा सके और दूसरी ओर वे ही दिन-रात यह भी चेष्टा कर रहे है कि अणु-शक्ति भयकर से भयंकरतर युद्धास्त्र बन सके! ब्रिटेन के वैज्ञानिको की परिषद् के एक भूतपूर्व अध्यक्ष ने, थोडे दिन हुए, वैज्ञानिको और राजनीतिज्ञो को चेतावनी देते हुए कहा था—'मनुष्य को

इसके पहले कि वह अपने ऊपर वश रख सके, प्रकृति पर अधिकार प्राप्त हो गया है ।'' यही तो अणु-शक्ति के आविष्कार में निहित खतरा है !

इसी खतरे से आशंकित होकर कुछ ही रोज पहले बर्ट्रेंड रस्सेल और आइन्स्टाइन—जैसे दार्शनिक और वैज्ञानिक के द्वारा प्रेरित होकर समस्त संसार के वैज्ञानिकों ने अणु-शक्ति के संभावित सामरिक प्रयोग के खिलाफ विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञों को चेतावनी दी है कि यदि उन्होंने तृतीय विश्व-युद्ध को अनिवार्य बनाया तो सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की ही समाप्ति हो जा सकती है ! अब यह तो मनुष्य ही निर्णय कर सकता है कि अणु-शक्ति के द्वारा सभ्यता और मनुष्यता का पूर्णतः विनाश करेगा, या वह इसी शक्ति के शांति-साधक प्रयोगों से अहिंसा और प्रेम के सिद्धांतों पर अवलम्बित नवीन गाँधीवादी सभ्यता का निर्माण करेगा !

भारत के वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों का यही दूसरा ध्येय है । भारत में, इस पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए, यहाँ की वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद् के तत्त्वावधान में अणु-शक्ति-सम्बन्धी एक अनुसन्धान-मण्डल की स्थापना हो चुकी है, जिसके अध्यक्ष डा० भाभा जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं । त्रावणकोर के समुद्री तटों पर अणु-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक 'मोनाजाइट सैंड' प्रचुर मात्रा में सुलभ है । भारत चाहे तो अणु-शक्ति की विनाशकारी दौड़ में कुछ ही दिनों में बहुत आगे निकल जा सकता है । किन्तु उसने मानव-कल्याण का रास्ता ही अपने लिए चुना है——वह अणु-शक्ति के शान्तिमूलक उपयोग के संबंध में ही अनुसन्धान कर रहा है ।

अखबार पढ़ना

नगरों में, पौ फटने के साथ ही साथ, या शाम होते-होते अखबार बेचनेवाले समाचार-पत्र के शीर्षक चिल्लाते हुए दौड़-धूप करने लगते हैं । शहर हो या गाँव, रेलवे स्टेशन हो या जहाज का स्टेशन, जैसे ही डाक पहुँचती है, अखबार बेचने और पढ़नेवाले अखबारों पर टूट पड़ते हैं । सुदूर गाँवों में गाँव का

डाक्टर या शिक्षक वडी उत्सुकता के साथ अखवार की प्रतीक्षा करता रहता है।

वहुतेरे लोगों को अखवार पढने का अभ्यास होता है, कुछ को रोग भी हो जाता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें सुवह की चाय के साथ अखवार जरूर ही चाहिए, नही तो वे परीशान हो उठते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो सार्वजनिक पुस्तकालयो में या चौराहो पर खडे होकर दूसरो के हाथों में खुले अखवार के शीर्षक और समाचार पढ लेने की कोशिश करते हैं। हम ऐसे लोगों को भी देखते हैं, जिन्हें अगर समाचार-पत्र न मिले तो वदहजमी हो जाय।

एक समाचार-पत्र में समाचार और विचार दोनो ही पढने को मिलते हैं। एक अखवार के लिए एक अभिनेता के कुशल अभिनय से लेकर अणु-त्रम के विस्फोट तक की जितनी वातें सभव हैं, सभी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं। ऐसा कोई भी विषय, जिसमें जनता की दिलचस्पी हो, समाचार-पत्र में स्थान पाता है, और उसके पक्ष तथा विपक्ष में विभिन्न विचार छापे जाते है। वाजार-दर, सट्टेवाजी, खेल-कूद के विवरण आदि समाचार की नियमित विशेषताएँ होती हैं। उसमें वच्चो और स्त्रियो के लिए भी अलग स्तभ या पृष्ठ रहते हैं। समाचार-पत्र वस्तुतः दैनिक विश्वकोष के समान है, जिनमें वहुत कम मूल्य पर ही, ज्ञान और सूचनाओं का भाडार मिल जाया करता है। फलत. यह आधुनिक जीवन का एक अनिवार्य उपकरण वन गया है और हर शिक्षित व्यक्ति, वह व्यवसायी हो या राजनीतिज्ञ, अध्यापक हो या वैज्ञानिक, उच्चपदाधिकारी हो या मामूली किरानी, इस आवश्यकता का अनुभव करता है कि वह नियमित रूप से अखवार पढा करे।

किंतु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—अति किसी चीज की बुरी होती है—यह सिद्धात अखवार पढने के मामले में भी लागू है। यदि अखवार इसलिए पढा जाता है कि कल की खवरें मालूम हो सकें, तो ठीक है। नीद वुलाने के लिए भी अखवार पढने में कोई हर्ज नही। लेकिन यदि अखवार गीता या वाइवुल का स्थान ले ले, वह ऐसा धर्म-ग्रथ वन जाए, जिसे लेकर कोई घटो अपना वक्त वरवाद करे, तो यह थोडे ही वाछनीय माना जा सकता है। हमें इसके लिए

तो सावधान रहना ही चाहिए कि कहीं अखबार पढने की आदत किसी अमल की आदत की तरह नही बन जाती !

एक बात और है जिससे अखबार पढनेवालों को बचना चाहिए। वह यह कि अखबार में छपी सभी खबरें सर्वथा विश्वसनीय और सत्य मान ली जाती है। किन्तु अखबार के एक समझदार पाठक को यह भूलना नही चाहिए कि अखबार की खबरें आखिर मनुष्यों के द्वारा ही तो प्रस्तुत की जाती है—ऐसे मनुष्यो के द्वारा जो अपनी रुचि और पूर्वाग्रहो से प्रेरित होते है, जो अपने मालिको का हुक्म बजाते है, जो गलती करने से बच नही सकते, जो अपने स्वार्थों के साधन के लिए सचेष्ट रहा करते है !

अतः अखबार पढने के समय हमें अपनी बुद्धि और आलोचनात्मक निर्णय का व्यवहार करना उचित है। अखबार के मुख्य उद्देश्यो में एक यह भी है कि जनमत को प्रेरित किया जाय, किन्तु इसके लिए बहुधा पक्षपातपूर्ण विचारों को सामने रखा जाता है। इसलिए जो कुछ अखबार मे छपा है, उसके प्रति हमें आत्म-समर्पण नही कर देना चाहिए, बल्कि हमें उनपर तभी विश्वास करना चाहिए, जब वे हमारे वैयक्तिक विवेक को ग्राह्य प्रतीत हो।

अखबार पढने से हमें सिर्फ खबर ही नही मिलती। इससे दूभर समय कट पाता है। इससे अकेलापन दूर हो पाता है। दूर देश की यात्रा करते समय, जब हम अपने प्रिय-जनो से अलग रहते है, अखबार नीरव, पर साथ न छोडनेवाला मित्र सिद्ध होता है। हम जब नाना चिंताओं से ग्रस्त रहते है तो अखबार उन्हें भूल सकने में हमारी सहायता करता है। और तो और, हममें से कुछ लोग इतने व्यस्त होते है कि उन्हें खुद अखबार पढने का समय नही मिलता; फिर भी वे अखबार खरीदते है जिससे प्रतीक्षा करनेवाले अभ्यागतो को समय काटने में कठिनाई का अनुभव न हो ! हममें से कुछ—केवल कुछ ही—ऐसे भी हो सकते है, जो केवल शान के लिए एक साथ अनेकों अखबार खरीदते है, पर पढते एक भी नही।

एक प्रजातांत्रिक देश का विकास बहुत दूर तक वहाँ के निवासियों के

अखवार पढ़ने की आदत पर निर्भर करता है। यह जरूरी है कि अखवार स्वतंत्र हो, किन्तु इससे भी जरूरी यह है कि उनके समझदार पढनेवालो की वहुत बड़ी सख्या हो। जनता के अधिकारो और स्वतत्रता की रक्षा के लिए सावधान रहना अखवारो का कर्त्तव्य है। उनसे ही जनता को मालूम होता है कि शासक अपने अधिकारो और स्वतंत्रता की सीमाओ का अतिक्रमण तो नही कर रहे !

दुर्भाग्य से हमारे देश में समस्याओ और सघर्षों की कोई सीमा नही है। हमारे यहाँ असख्य दल और सगठन है, जो आपस में लडते-झगडते रहते है। हमारे पत्रकारो को साप्रदायिकता और प्रातीयता पक्षपातपूर्ण वनाए रहती है। अत हमें तो अखवार पढते समय वहुत ही सावधान रहना चाहिए, अन्यथा हम घटनाओ की असलियत नही समझ पाएँगे और अपने को भावुकता के प्रवाह में वह जाने देंगे।

सामुदायिक विकास-योजना

सामुदायिक विकास-योजना (Community project) भारत-सरकार की अनेक राष्ट्रीय विकास-योजनाओ में से एक है, मगर अन्य योजनाओ से सर्वथा भिन्न और निराली भी है। दामोदर-घाटी-योजना, पचवर्षीय योजना आदि जहाँ पूर्ण रूप से सरकारी योजनाएँ है, वहाँ सामुदायिक विकास-योजना एक अर्द्ध-सरकारी सस्था है। इसके अनुसार समुदाय यानी जनता के विकास-सम्बन्धी काम सामुदायिक रूप में, सरकार और जनता के सहयोग से, चलेंगे। वल्कि, समुदाय की उन्नति और कल्याण का सारा उत्तरदायित्व जनता पर होगा। इस योजना के चलाने में सारा श्रम जनता का होगा। सरकार अपेक्षित व्यय के लिए धन, औजार और प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले विशेषज्ञो की व्यवस्था करेगी। इस योजना का लक्ष्य यह है कि भारतवर्ष की जनता अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने के उपाय स्वय करे। वह स्वावलम्वी वने और अपने परिश्रम एव उद्योग से स्वयं ही ग्राम-स्वराज्य की स्थापना करे।

भारत के प्रधान मत्री और सर्वाधिक लोकप्रिय नेता जवाहरलाल नेहरू

ने इस ओर सकेत करते हुए कहा कि 'आज राष्ट्र को तरक्की और खुशहाली की ओर ले जाने के लिए मेहनत करनी है। हमको अपनी मेहनत, पसीने और खून से एक नया और सुखी भारत बनाना है और ऐसा कुछ करना है जिससे देश की जनता की तकलीफ हमेशा के लिए खत्म हो जाय।'

इस प्रकार के ग्राम-स्वराज्य की कल्पना सर्वप्रथम आधुनिक भारत के पिता महात्मा गांधी ने ही की थी। उन्होंने कहा था कि 'ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना तो यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतो के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, वह परस्पर सहयोग से कार्य करेगा। हर गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी आवश्यकता का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास पैदा कर ले। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए कि वहाँ ढोर चर सकें और गाँव के बडो व बच्चों के लिए मनोरंजन के साधन और खेल-कूद के मैदान इत्यादि का प्रबन्ध हो सके। हर गाँव में गाँव की एक अपनी नाट्यशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना सुप्रबन्ध रहेगा। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायँगे।'

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत-सरकार को राष्ट्रपिता की इस कल्पना को साकार करने का अवसर मिला। यह अनुभव किया गया कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, किसानो का देश है। भारत वस्तुतः गाँवो में बसा है। यहाँ लगभग सौ में अस्सी लोग कृषि पर निर्भर करते और गाँवो में रहते हैं। अतः भारत का विकास और समृद्धि गाँवो के विकास और समृद्धि के बिना सम्भव नही है। ग्रामीण लोगो के जीवन का स्तर बहुत गिरा हुआ है और इसके कारण हैं—गरीबी, अशिक्षा और सामंती अर्थ-व्यवस्था। ये तमाम कारण तभी दूर हो सकते है, जब गाँवो का सारा समुदाय एक साथ मिलकर काम करे। किसी एक आदमी से कुछ नही हो सकेगा। गाँव के लोगो मे इसी भावना को भरने के लिए, उनके सामने एक आदर्श रखने के लिए और उनकी तन्द्रा भगकर उन्हें काम में लगा देने के लिए सरकार ने यह योजना उपस्थित की है, जो 'सामुदायिक विकास-योजना' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस योजना का उद्देश्य, जैसा कि पूर्व में कहा है गया, गान्धी की ग्राम-स्वराज्य की कल्पना को साकार करना है यानी हर दृष्टि से ग्रामीण जीवन को उन्नत करना है, जैसे खेती के लिए भूमि तैयार करना, खाद, सिंचाई, अच्छे बीज, नल, सड़क, शिक्षणालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, स्वास्थ्यप्रद कुएँ, घर, गली, मनोरंजन के लिए खेल-कूद, कला-कौशल, सांस्कृतिक प्रदर्शन, प्रशिक्षण-केन्द्र, ग्रामोद्योग, उद्यान, पशु-चिकित्सालय, मछली-उत्पादन आदि की व्यवस्था करना।

इस योजना के अनुसार एक गाँव को एक इकाई माना जायगा। प्रत्येक गाँव में आबादी के अनुसार कम से कम-एक-या दो कुएँ और तालाब होंगे। कम-से-कम आधी जमीन के लिए सिंचाई का प्रबन्ध होगा। मवेशियों के लिए चारागाह होगा। एक पाठशाला होगी। मछली के लिए तालाब होगा। पशु-चिकित्सा और दाई की व्यवस्था रहेगी? यातायात का यथासम्भव इन्तजाम होगा। प्रत्येक गाँव को स्वास्थ्य, कृषि और उद्योग-सम्बन्धी कामों के लिए विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त होगी।

कई गाँवों को मिलाकर मंडी-क्षेत्र बनेगा। प्रत्येक मंडी में कम-से-कम एक माध्यमिक शिक्षा देनेवाली संस्था, एक चिकित्सालय, मवेशी-अस्पताल, एक डाक-तार घर, ग्रामोद्योग (Village industries), मछली-केन्द्र, उद्यान और सड़क की व्यवस्था रहेगी।

फिर कई मंडियों को मिलाकर एक नागरिक क्षेत्र बनेगा, जहाँ, डाक-तार-टेलीफोन-घर, बिजली, उच्च विद्यालय, कृषि एवं उद्योग-विद्यालय, प्रशिक्षण-केन्द्र, बिक्री-केन्द्र, कुटीर-उद्योग (Cottage industries) के बड़े केन्द्र, दाई-शिक्षा-केन्द्र, अस्पताल आदि का इन्तजाम रहेगा।

यह योजना विगत २ अक्टूबर, १९५२ ई० से शुरू हुई है। सबसे पहले डेढ़ करोड़ आबादी वाले १८,४६४ गाँवों के २८,९५० वर्गमील क्षेत्र में इसका प्रयोग आरम्भ हुआ और ५५ योजनाएँ चालू हुई। ८१ केन्द्रों में काम शुरू हुआ। यह योजना अभी तीन वर्षों की है। इन तीन वर्षों में इन योजनाओं में ग्यारह करोड़ से ऊपर रुपए खर्च होंगे। खर्च का ७५ प्रतिशत केन्द्रीय सरकार

देगी और २५ प्रतिशत राज्य-सरकार । इस खर्च का एक हिस्सा अमरीकी सरकार और अमेरिका-स्थित 'फोर्ड फोउण्डेशन' से प्राप्त होगा ।

सभी योजनाओं का प्रबन्ध एक केन्द्रीय समिति के द्वारा होता है, जिसके अधीन कई अफसर नियुक्त हुए है; जैसे एक प्रधान अफसर, दो सहायक अफसर, तीन कृषि-इन्जीनियर, तीन सिविल इन्जीनियर, साठ ग्राम्य कार्यकर्त्ता, सदेश-वाहक, स्वास्थ्य प्रबन्धकर्त्ता, डाक्टर, दाइयाँ, पशु-चिकित्सक, कृषि-स्नातक इत्यादि ।

थोड़े ही अर्से में इन योजनाओ की कार्यान्विति में आशातीत सफलता मिली है । पंजाब में लगभग एक हजार पोखरो की मरम्मत अथवा निर्माण हुआ है । नवाशहर में २० कृषि-फार्मों का निर्माण हुआ है, सात मील लम्बी नहर बन चुकी है । उड़ीसा में ४०० तालाब बने है, सिंचाई के लिए पम्प लगे है, लम्बी सडकें बनी है । उत्तर प्रदेश में सैकडो पाठशालाएँ इस योजना के अधीन आई है । बिहार भी किसीसे पीछे नही है । दानापुर के पास एक आदर्श गाँव बना है, जिसके निर्माण का बहुत बडा श्रेय पटना रोटरी क्लब को है । एकगरसराय और बरबीघा क्षेत्र में सहकारिता-सस्था खुली है । यहाँ चार योजना-क्षेत्रो में काम हो रहा है ।

इतना होते हुए भी इस योजना की पूर्ण सफलता समस्त जनता के सहयोग पर निर्भर है ।

वैसे कुछ लोगो ने इन योजनाओ की कडी आलोचना की है । उनका कहना है कि इस योजना में विदेशी धन लगा है और इसमें स्त्रियो, आदिम जातियो, हरिजनो तथा पिछडे वर्ग के लोगो के लिए स्थान नही है । किन्तु इन तर्कों में विशेष बल नही है । विदेशी धन किसी आदर्श की हत्या पर, किसी समझौते पर नही लिया गया है; बल्कि एक सौहार्दपूर्ण भेंट के रूप में । भारत किसी शक्ति-गुट में शरीक नही है । इसकी वैदेशिक नीति पूर्ण स्पष्ट है और यही उसकी शक्ति है । फिर स्त्रियो, हरिजनों और आदिम जातियो के लिए अलग

योजनाएँ है और वे चल रही है । यह भी नही कहा जा सकता कि इन योजनाओ का उनपर प्रभाव नही पडेगा । इसका फायदा तो सबको मिलेगा ।

अत आवश्यकता इस बात की है कि शीघ्र-से-शीघ्र हम इन योजनाओ को सफल बनायें । हम अपना पूरा श्रम इन्हें दें ।[1]

भू-दान-यज्ञ

भू-दान-यज्ञ के विधाता है सन्त विनोवा भावे । उन्होने इस यज्ञ की कल्पना १८ अप्रैल, १९५१ को की । यहाँ 'दान' शब्द प्रसगवश विचारणीय है । यह शब्द साधारणत परलोक के लिए अथवा दयावश किसीको कुछ दे देने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है । लेकिन विनोवा जी इस शब्द का अर्थ सम-विभाजक यानी सम्यक् (उचित) वँटवारा वतलाते हैं और कहते है कि श्री शकराचार्य ने इस शब्द का अर्थ 'सविभाग' ही किया है । इस प्रकार भू-दान का अर्थ हुआ भूमि का प्रेमपूर्ण सम-विभाजन या उचित वँटवारा । इस रूप में विनोवा का यह यज्ञ आधुनिक और क्रान्तिकारी है ।

इस यज्ञ की प्रेरणा विनोवाजी को गाँधीजी से मिली । विनोवाजी के शब्दो में—'यह जो भू-दान-यज्ञ का कार्य मैंने आरम्भ किया है, वह मेरी ताकत नही है, उनकी (गाँधीजी की) प्रेरणा ही काम कर रही है ।'

गाँधीजी 'रामराज्य' और 'ग्राम-स्वराज्य' आदि के प्रसग में जमीन की समस्या पर भी सोचा-विचारा करते थे । एक बार मीरा बहन के यह पूछने पर कि स्वराज्य में जमीन का वँटवारा किस प्रकार किया जायगा, गाँधीजी ने कहा था कि 'जमीन राज्य की होगी । मैं मान लेता हूँ कि शासन-तन्त्र ऐसे लोगो का होगा, जो कि इस आदर्श को माननेवाले होगे । अधिकाश जमीदार खुशी से अपनी जमीनें छोड देंगे । जो नही छोडेंगे, उनसे कानून छुडवा लेगा ।'

---

1. प्रस्तुत लेख के आँकडे एव उद्धरण 'नया समाज', अगस्त—१९५३ में प्रकाशित 'सामुदायिक विकास-योजनाएँ' शीर्षक निवध पर आधारित हैं ।

तो स्वराज्य होने पर विनोबाजी ने भूदान की कल्पना की और एक योजना बनाई जिसके अनुसार १९५७ तक पाच करोड एकड़ जमीन मिल जानी चाहिए। वे गांव-गांव जाते है और जमीनवालो से उनकी जमीन का छठा हिस्सा मांगते है और जहां जो जमीन मिलती है, उसे वहां के बेजमीन या कम जमीनवालो में बांट देते है। सक्षेप में यही विनोबा की योजना है। इधर उन्होंने भू-दान के साथ सम्पत्ति-दान की योजना भी बनाई है और जहाँ जो सपत्ति मिलती है, उसे जमीन की तरह ही, वहा के गरीबो को दे देते है।

वैसे जमीन का बँटवारा जापान और चीन में हुआ है, किन्तु विनोबा की योजना निराली है। वे कानून के जरिए नही, बल्कि प्रेम से जमीन लेते है। वे वस्तुत बेजमीन को जमीन, निर्धन को धन देनेवाले एक देवदूत है। चाडिल के प्रवचन में उन्होंने कहा कि 'भू-दान-यज्ञ में हम किसी तरह जमीन बटोरते नहीं। हम दबाव से जमीन नही लेते। न किसीको ठगकर जमीन लेते है। विचार समझाकर जमीन लेते है। जमीन देते है तो मनुष्य के मन में प्रेम और दया होनी ही चाहिए, और बेदखलियाँ बन्द होनी ही चाहिएँ।'

अपने अनुष्ठान में विनोबा को आशातीत सफलता मिली है। महाराष्ट्र में बारह-तेरह सौ एकड़ जमीन मिली। केवल बिहार प्रान्त में ग्यारह लाख एकड़ से भी अधिक जमीन मिल चुकी है। उत्तर प्रदेश में पाँच लाख एकड़ से अधिक, राजस्थान में दो लाख से अधिक जमीन मिल चुकी है। ३१ अगस्त १९५३ तक सम्पूर्ण भारत में २०,६६,८३१ एकड जमीन मिल चुकी है। इस यज्ञ में सभी राजनैतिक दलो का सहयोग प्राप्त है। भारतीय समाजवादी दल के सस्थापक श्री जयप्रकाश नारायण तो इसके लिए विनोबाजी की तरह गाँवो का दौरा भी कर रहे है। विनोबा गीता का उद्धरण देते हुए कहते है कि जो व्यक्ति समाज को कुछ दिये बिना खाता है, वह चोर है। गीता के इस वचन को विनोबा के साथ काम करनेवाले कार्यकर्त्ता भी मानते है और उनमें से बहुतो ने, जिन्हें केवल साठ रुपए मिलते है, अपने १२ वें भाग का दान देना स्वीकार किया है। इस बचत से उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले में एक कार्यकर्त्ता बहाल किया गया है।

कुछ लोग इस यज्ञ में सन्देह करते है। विनोबाजी कहते है कि बहुत-से लोग पूछते है कि गाँधी-निधि है, कस्तूरबा-निधि है, उन सबका जैसा हाल हुआ, वैसा ही इनका भी हाल होगा। हम कहते है नही, जमीन तो कही उठकर नही जा सकती। जमीन तो गाँव में रहेगी। यह एक क्राति का काम हो रहा है। किसके हाथ में क्या रहेगा, इसका कोई सवाल ही नही रहता। अगर ऐसा हो कि खुद उठकर गाँव के बेजमीनवाले को जमीन दे दें, तो हमारा क्या बिगड़ेगा? पर आज ऐसा नही हो रहा है। इसलिए हमें बीच में पड़ना पड़ता है। हमने बँटवारे के जो नियम बनाए है, उनमें पक्षपात को कोई गुंजाइश नही है। हाँ, गलती की गुंजाइश है।'

कुछ लोग कहते है कि यदि शीघ्र-से-शीघ्र और अधिक-से-अधिक जमीन लेनी है, तो विनोबाजी भारतीय सरकार पर जोर डालकर इस सबंध का एक कानून क्यो नही बनवा लेते। इसके पहले कि इस सम्बन्ध में हम विनोबाजी के विचार जानें, हमें समझ लेना है कि यह भूदान-यज्ञ एक शोषणहीन समाज स्थापित करने का पहला कदम है और शोषणहीन समाज के लिए शासनहीन समाज का होना जरूरी है। शासनहीन समाज की कल्पना दुनिया के सभी महान् विचारक खासकर समाजवादी और साम्यवादी करते रहे है। किन्तु अभी तक अराजकता और हिंसा से यह समस्या हल नही हो पाई है और इस प्रकार के सभी प्रयत्न विफल हुए है। विनोबा ने सर्वोदय-शैली अपनाकर एक प्रेम और स्वेच्छिक दान का नया तरीका प्रस्तुत किया है। भू-दान इस मानी में एक नया दर्शन है। यदि यह सफल हुआ तो गान्धीजी के सत्याग्रह की तरह यह संसार को भारत की महान् देन होगा। और जो काम मार्क्सवाद नही कर सका, उसे यह कर सकेगा। यदि सफल नही हुआ तो सम्भव है कानून का सहारा लिया जाय। विनोबाजी का ऐसे प्रश्नकर्त्ताओं को जवाब होता है—'मै कानून बनाने से रोकता कहाँ हूँ। आप कानून बनवाइए न, लेकिन मेरा तो यज्ञ का ही तरीका है। अगर कानून बिना ही भूमि-समस्या हल होगी तो मै नाचूँगा, लेकिन अगर अन्ततोगत्वा कानून बनाना ही पड़े तो मै उसे बर्दाश्त कर लूँगा।'

भू-दान-यज्ञ की सम्भावनाएँ अपार है। यह समता का अपूर्व मार्ग है।

मार्क्संवाद भी समता चाहता है, किन्तु उसके तरीको से दुनिया भयभीत है। भूदान-यज्ञ उस भय को प्रेम में बदल रहा है।

इन सम्भावनाओं की ओर सकेत करते हुए श्री जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि 'भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने अब जन-मानस पर अच्छा असर जमाया है। आज यद्यपि कम्युनिस्ट भू-दान का विरोध कर रहे हैं, परन्तु आगे चलकर उनको भी भू-दान-यज्ञ की शरण मे आना होगा ऐसा मुझे विश्वास है।' राष्ट्र में भूदान-यज्ञ के कारण आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्त्तन होकर हमारे जीवन मे पूर्णत क्रान्ति होनेवाली है। भूदान-आन्दोलन की एक और बडी संभावना ध्यान देने योग्य है। इसकी सफलता में से एक नया राजकीय तत्त्व-ज्ञान का निर्माण होनेवाला है। आज पक्षनिष्ठ-राजनीति के कारण सब कार्य-कर्ता जनता की आवश्यकताओं और अन्न-समस्या-सम्बन्धी विषयो पर एक नही हो सकते। इतना ही नही, विरोध करने से आज काफी शक्ति नष्ट हो रही है।

परन्तु भूदान-यज्ञ के कारण अब सहयोग की एक ऐसी हवा बन रही है कि उसके फलस्वरूप कभी वह दिन भी आयेगा, जब इस देश में निर्दलीय शासन स्थापित होगा और कदाचित् ससार के प्रत्येक देश मे ऐसी ही सरकारें होगी।

विनोबाजी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "हमने तो यह ठानी है कि आज की रचना बदल कर ही ठहरेंगे। उसके लिए भूदान-यज्ञ पहला कदम है। हमारा उद्देश्य मामूली नही है, गैर-मामूली है। स्वराज्य के बाद आर्थिक क्रांति सामाजिक क्रांति होगी, आर्थिक क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र में समता होगी तभी हमारी अहिंसा विजयी होगी। 'विश्व-विजय करके दिखलावें, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।' इसका अर्थ यह नही होता कि दुनिया को गुलाम बनाकर हम विजयी होना चाहते है। सारी दुनिया में समता होगी तभी हमारा प्रण पूर्ण होगा।"

अनुशासन, नागरिकता और शिक्षा

अक्सर अनुशासनहीनता और नागरिक उत्तरदायित्वों की उपेक्षा की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं । समाचार-पत्र ऐसी खबरों से भरे रहते हैं और लोग परेशान हैं कि किस तरह इस अस्तव्यस्तता को दूर कर एक अनुशासित और दायित्वपूर्ण नागरिक-समाज की स्थापना की जाय ।

अनुशासनहीनता के प्रधान क्षेत्र हैं—शिक्षण-संस्थाएँ, राजनैतिक पार्टियाँ और शहरों के मजदूर-संगठन । रोज ही ऐसे समाचार मिलते हैं कि किसी स्कूल या कॉलेज का विद्यार्थी परीक्षा में चोरी करते पकड़ा गया और उसने पकड़नेवाले शिक्षक को अपमानित ही नहीं किया, उनपर हाथ भी छोड़ दिया; इम्तहान की तारीख बढ़ा देने के लिए छात्रों ने आम-हड़ताल कर दी और उन दूकानों को लूट भी लिया जो उनकी सहानुभूति में हड़ताल के दिन बन्द न थीं; लड़की को छेड़ने के कारण जिसके प्रति अनुशासन की कार्रवाई की गई थी, उसने मजा उठा देने के लिए अधिकारी के दरवाजे पर अनशन शुरू कर दिया; टिकट माँगने के जुर्म में बस-कंडक्टर की टोपी किसीने फेंक दी और प्रतिवाद करने पर उसके साथियों ने बस के शीशे तोड़ दिये, इत्यादि । राजनैतिक सभाओं में होनेवाले हुड़दंग, छोटी-छोटी बातों पर होनेवाली मेहतरों और मजदूरों की हड़ताल, आवश्यक विभागों जैसे रेल, डाक, बिजली इत्यादि के कर्मचारियों की धमकियाँ इत्यादि तो अब अत्यन्त साधारण बात हो गई है ! खैरियत है कि सेना अभी तक पूर्ण अनुशासित है। बिहार में पुलिस ने एक बार हड़ताल की थी, किन्तु वह जनता की सहानुभूति के अभाव में तुरन्त खत्म हो गई।

आखिर इस व्यापक अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता के क्या कारण और इन्हें कैसे रोका जाय ? कुछ लोग तो इसपर गलत ही ढंग से विचार करके निराश हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि इससे तो अच्छा था कि अँगरेजी राज्य ही बना रहता, जहाँ भय था और जिस भय के कारण बाघ-बकरी एक घाट पानी पीते थे । मगर क्या कोई भी अच्छा विचारक और भारत का नागरिक

सही मानी में ऐसी कल्पना भी कर सकता है ? हम किसी भी कीमत पर भारत की स्वतन्त्रता बनाए रखना चाहेंगे और किसी विदेशी शासन की छाया भी अपनी भूमि पर पड़ने नहीं देंगे । विदेशी शासन से जर्जर अपने पुराने घर की मरम्मत करेंगे, उसकी फटी दीवारों को भरेंगे और उसके हिलते खम्भों को अचल करेंगे । जो लोग अँगरेजी राज्य की तुलनात्मक अच्छाइयों की वंदना करते हैं, वे या तो ऐसे लोग हैं जो तत्कालीन शासन के लूट-खसोट में शामिल थे और जिनकी अब नहीं चलती, या ऐसे लोग हैं जो विदेशी हुकूमत को दिल से बुलाना नहीं चाहते; बल्कि देश में छाई हुई उच्छृंखलता और उत्तरदायित्वहीनता की परिस्थिति से ऊबकर, झुँझलाहट में ऐसी बात कह जाते हैं और ऐसे लोगों की झुँझलाहट अकारण नहीं है । मगर निराश होने का भी विशेष कारण नहीं है ।

जब हम अनुशासन और नागरिक भावना के अभाव पर विचार करेंगे तो अनेक बातें सामने आयेंगी और हमें निराश होने नहीं देंगी ।

पहली बात तो यह है कि हम अभी एक संक्रांति-काल (Transitional period) से गुजर रहे हैं । कुछ दिन पहले हम गुलाम थे और अपने को स्वतन्त्र करने के लिए तरह-तरह से क्रांतियाँ कर रहे थे । हमने कानून तोड़े क्योंकि हम उन्हें अनुचित समझते थे । हमने कर-बन्दी-आन्दोलन किया । हमने सत्याग्रह किया और अपने तरीकों को अहिंसात्मक रखा । यह अहिंसात्मक कार्य इसीलिए लोकप्रिय हुआ कि हम निहत्थों के लिए तोपों के मुकाबिले में खड़े होने का यही एकमात्र सफल तरीका था। वैसे हिंसात्मक क्रांतियाँ १८५७ से होती रहीं और प्रायः विफल ही रहीं । गाँधीजी के प्रयत्नों के बावजूद चौराचौरी-कांड हुआ । १९४२ में क्रांति का बिल्कुल दूसरा तरीका था। वह द्वितीय विश्व-युद्ध का जमाना था और उस साम्राज्यवादी युद्ध में लगी अँगरेजी सत्ता को हिन्दुस्तान से निकाल-बाहर करने की अन्तिम चेष्टा थी । रेल की पटरियाँ उखाड़ी गईं । तार काटे गए। अनेक अँगरेजों की हत्या हुई । पुल तोड़े गए । सशस्त्र क्रांति की चेष्टा हुई । 'भारत छोड़ो' के साथ 'स्कूल-कॉलेज छोड़ो' के नारे लगाये गये । जय-प्रकाशजी कई साथियों के साथ हजारीबाग जेल से भाग निकले । इस प्रकार हमने आजादी हासिल की और इस प्रकार आजादी के पूर्वकाल में उग्रता देशसेवा

का पर्याय थी। शान्ति चाहनेवाले को हमने गद्दार कहा। स्कूल-कालेजों को गुलाम बनानेवाले कारखाने माना। रेल को विदेशी सरकार की सम्पत्ति मानने के कारण तब बिना टिकट चलने में विशेष दुविधा नहीं होती थी। पुलिसवालो के साथ दुर्व्यवहार करने में आत्मा को विशेष चोट नहीं पहुँचती थी, क्योकि वे विदेशी शासन के पुर्जे थे। सरकारी आज्ञा की अवहेलना करने में ताजगी मिलती थी। अधिकारियो को चकमा देने में नैतिक आनन्द मिलता था।

इसलिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति-काल के प्रथम चरण में थोडी अनुत्तरदायिता रहेगी ही। उग्र से उदार बनने में थोडी कठिनाई होगी। उन्मुक्तता से सयम की ओर आने में कुछ दिक्कत होगी ही। विद्यार्थी नौजवान लोग होते है। घर की जिम्मेदारियो से मुक्त होने के कारण उनमें स्वच्छन्दता की एक विशेष प्रवृत्ति रहती ही है। फिर हमारे नेता क्रांति का सारा श्रेय उन्हें देते रहे है। कुछ राज-नैतिक पार्टियाँ तो अब भी छात्रो को दीक्षित किए बैठी है। कुछ ने राज-नैतिक छात्र-सघ बना लिए है। गरज यह कि राजनैतिक सस्थाएं विद्यार्थियो को बहकावे दे-देकर उन्हें अपना पुछल्ला बनाए रखना चाहती है। ऐसी परिस्थिति में उनसे अनुशासन की मांग करना ही मुश्किल है। यदि हम चाहते है कि विद्यार्थी अनुशासन और नागरिक-भावना (Civic sense) बनाये रखे, तो जरूरी है कि राजनैतिक दल विद्यार्थियो पर कृपा करें और उनसे क्रियात्मक सहयोग की अपेक्षा न करें। छात्र-जीवन बटोरने का है, बाँटने का नही। यह सीखने का समय है, पक्तिबद्ध (Regimented) होने का नही। अपरिपक्व मस्तिष्क को बरगलाने से राष्ट्र का अहित होगा, ऐसा राजनीति के नेता समझें। फिर पढ़ाई में थोडा अन्तर लाना होगा। अबतक केवल नौकरियो के लिए पढाई होती थी। अब आदमी को कामकाजू बनाने के लिए होनी चाहिए। यह जरूरी है कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच घना सबध हो। दोनो एक-दूसरे के निकट आवें। यह निकटता शिक्षालयो में अनुशासन के पहले कदम का निर्माण करेगी। फिर अधिक-से-अधिक प्रकार के

खेल-कूद, आदि ललित कलाओं की शिक्षा-दीक्षा की भी व्यवस्था हो और विद्यार्थियों की रुचि को इनकी ओर मोडा जाय । देखा गया है कि जिन शिक्षण-संस्थाओं में खेल-कूद, गायन-वादन, नृत्य-नाटक, वाद-विवाद, भाषण आदि की समुचित व्यवस्था नही रहती, वहाँ के विद्यार्थी खाली समयो में लडाई-झगडे, हल्ला-गुल्ला, राजनैतिक चर्चा, गुटबन्दी आदि किया करते है। और जहाँ इनकी व्यवस्था है, वहाँ के विद्यार्थी अपेक्षाकृत अधिक अनुशासनप्रिय होते है; क्योकि खेल-कूद एवं ललित कलाएँ उनकी अतिरिक्त शक्ति को अनजाने ही उनके मनोनुकूल मनोरंजक शैली पर एक रचनात्मक योग्यता की ओर ले जाती है। शिक्षण-संस्थाओ के अहाते में काफी खुली जमीन होनी चाहिए। विभाग अलग-अलग हो । देखा गया है कि जहाँ खुली जगह कम है, वहाँ क्लास खत्म होते ही हजार-पन्द्रह सौ विद्यार्थी छोटे-से बरामदे या सहन पर धक्कामधुक्की करने लगते है और यही से अशान्ति का वातावरण शुरू हो जाता है ।

जो अपढ मजदूर आदि है, वे भी राजनैतिक दलों से परिचालित होते है; इसे रोकना होगा । उन्हें सर्वप्रथम शिक्षित करना होगा। उन्हें बतलाना होगा कि किसी देश में जन्म लेने के साथ आदमी उस देश का नागरिक हो जाता है । नागरिक होने से ही उसे नागरिकता के सारे अधिकार (Civic rights) मिल जाते है । मगर प्रत्येक नागरिक अधिकार के साथ एक नागरिक दायित्व भी लगा हुआ है । हमें स्वतन्त्रतापूर्वक, सुखपूर्वक, विकासपूर्वक रहने का हक है, किन्तु साथ ही उस समाज के प्रति भी हमारा कर्त्तव्य होता है जिसकी समुचित व्यवस्था से हम उपर्युक्त अधिकार पाते है । किन्तु व्यवहार में हम इसे भूल जाते है । हमें छोटी-से-छोटी बातों का भी ध्यान रखना होगा । देखिए न, हम सस्ते मूल्य पर सुखपूर्वक रेल में चलने का अधिकार माँगते है, किन्तु दूसरी ओर रेल के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल जाते है—मूँगफली खाकर छिलके डब्बे में ही फेंक देते है, औरतें बर्थ पर ही बच्चो को पेशाब करा देती है; क्योकि एक स्टेशन बाद ही उन्हे उतर जाना है; बैठने की जगह पर हम पाँव फैलाकर सो जाते है और दूसरो को खडे रहने को मजबूर करते है । मजदूर एक ओर मजदूरी बढाने के लिए आन्दोलन करते है और जनता की सहानुभूति

माँगते है, मगर अगर भीड हो, तो जहाज-घाट पर, स्टेशनो पर, मेलो में कुली भाई साधारण लोगों की मजबूरियो से फायदा उठाकर उनसे अधिक-से-अधिक मजदूरी वसूलना चाहते है, पिछले जमाने के पण्डो की तरह। लुटे जानेवाले लोग साधारण ही होते है, क्योकि बडे लोगो के पास तो अपने चपरासी, नौकर-चाकर होते है। किन्तु हमारा विश्वास है कि धीरे-धीरे नागरिक दायित्व की भावना भी जनता में आवेगी। यह जो लूट-खसोट की भावना है, वह इसलिए कि देश में किस्म-किस्म के वर्ग है—अवर्ण और सवर्ण, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर, जमीदार और किसान इत्यादि। अब कुछ वर्ग तो समाप्त हो चले। हिन्दुस्तान से अस्पृश्यता लगभग उठ गई। जमीदारियाँ उठ चली। सत विनोवा अमीर-गरीब के भेद को मिटाने चले है। इस प्रकार जब आर्थिक भेद ज्यादा नही रहेगा तब परस्पर ईर्ष्या की जो भावना है, वह नष्ट हो जायगी और परस्पर सहानुभूति उत्पन्न होगी। हम शासनहीन समाज की ओर चल रहे है। अत. अगले चरण में अनुशासन और नागरिक-उत्तरदायित्व का विशेप आग्रह होगा। अवश्य हम अभी से उसके लिए प्रयत्न करें और जनमत को शिक्षित करें।

एक और वात है। हिन्दुस्तान में अभी तक नेता पूजे जाते रहे है। और ये नेता भी सर्वसाधारण से नही आए है, समाज के उच्च वर्गों से आये है। सो आज भी लीडरी की हवस है। हरेक आदमी लीडर ही होना चाहता है, स्वय-सेवक कोई नही। हरेक आदमी के मन में सबके आगे खडे हो जाने की लालसा है और आगे खडे होनेवाले के प्रति उसकी यह शिकायत है कि वह सिफारिश से, पिछले दरवाजे से आगे बढा है। यह मनोवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है और यह उच्चवर्गीय नेतागिरी का परिणाम है। हमें इसे दूर करना है। सोचिए तो सही, कि अगर सभी आदमी नेता ही हो जाएँगे, तो समाज चलेगा कैसे ? हमें इस मनोवृत्ति को रोकना है और इसका तरीका यह है कि लोगो को इस प्रकार प्रेरित करें कि वे काम को पूजें, व्यक्ति को नही।